गीता धर्म

छान्दोग्य-उपनिषद्

हिंदी संस्करण वार्षिक विशेषाङ्क (भाग-२)

वर्ष १४] जनवरी, फरवरी १९४९ [अङ्क १-२
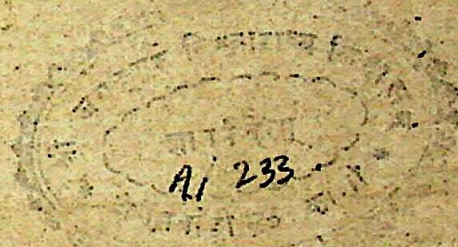
प्रधानसंपादक—स्वामी श्री रामानन्दजी संन्यासी, दर्शनशास्त्री, व्याकरणार्य
सम्पादक—चिरञ्जीवलाल शास्त्री

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अनासक्ति, लोकसंग्रह का शिक्षक,
धार्मिक आध्यात्मिक सचित्र मासिक पत्र—

गीताधर्म

उपनिषद्-वार्षिकविशेषाङ्क

(द्वितीय खण्ड)

छान्दोग्यउपनिषद्

विद्याविनोद भाष्यसहित

रचयिता—
श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही
गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी
श्री विद्यानन्दजी महाराज।

मूल्य ५) पाँच रुपया

वर्ष—१४] जनवरी, फ़रवरी—१९४९ [अङ्क १-२

प्रभु प्रार्थना

ऐसी कृपा हो भगवन्, जब प्राण तन से निकलें।
प्रिय ओम् नाम लेकर, फिर प्राण तन से निकलें॥
वेदों के मन्त्र पावन, कर दें पवित्र मुझको।
हो ब्रह्मज्ञान मन में, जब प्राण तन से निकलें॥
गायत्री मन्त्र गाऊँ, ध्वनि ओम् की लगाऊँ।
जिससे तुम्हें ही पाऊँ, जब प्राण तन से निकलें॥
चैतन्य ब्रह्म व्यापक, जिसके कि हम उपासक।
होवे वही प्रकाशक, जब प्राण तन से निकलें॥
विषयों को भूल जाऊँ, दुख अन्त में न पाऊँ।
एक आप ही को ध्याऊँ, जब प्राण तन से निकलें॥
सब कर्मफल तुम्ही को, करता हूँ मैं समर्पित।
भगवन् उबार लेना, जब प्राण तन से निकलें॥
ब्रह्मानन्द आर्य की, अरजी तुम्ही से भगवन्।
आखिर को तार देना, जब प्राण तन से निकलें॥

श्री गोवर्धनभाई मङ्गलभाई पटेल द्वारा
गीताधर्मप्रेस, मिश्रपोखरा. काशी में मुद्रित और प्रकाशित।

संस्थापक—श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु
महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज।
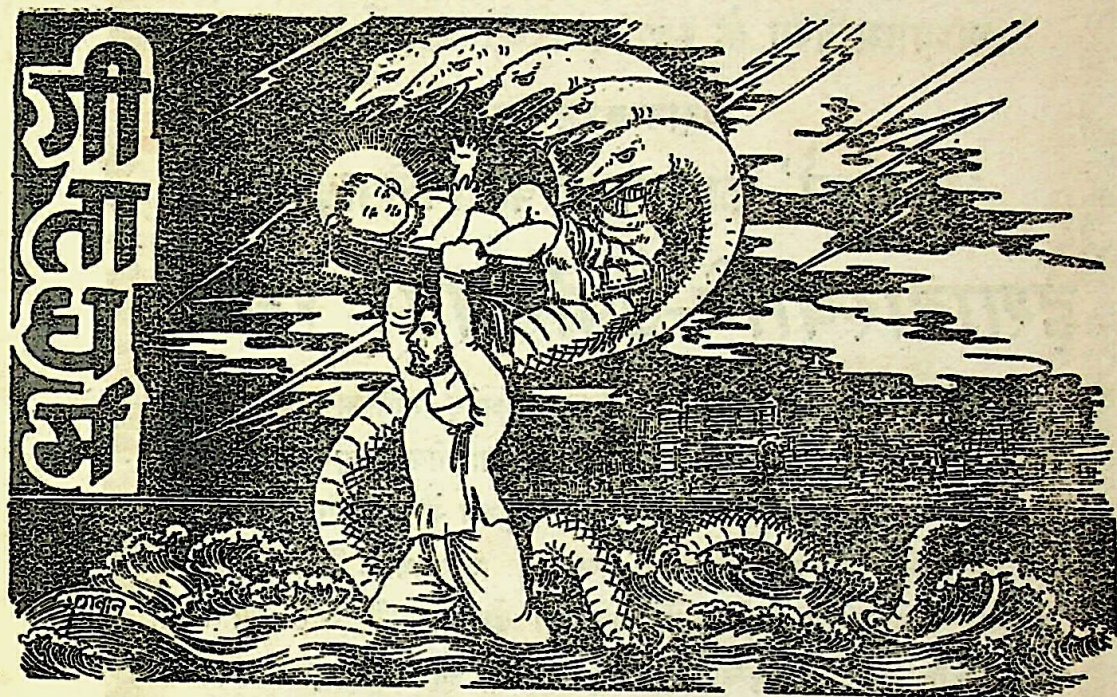
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

वर्ष १४ } जनवरी, फरवरी १९४९. काशी { अङ्क १-२

भूम-ब्रह्म-गीत

(छान्दोग्य अ. ७ ख. २५ के अनुसार)

मैं ही हूँ भूमा परमेश्वर भूमा मैं ही हूँ॥

मैं ही सारा जगत् चराचर, जगदीश्वर भी मैं ही हूँ।
मैं ही अन्न तथा भोक्ता भी, नर वा नारी मैं ही हूँ॥ १॥

मैं ही द्वैत तथा अद्वैत, अभेदक भेदक मैं ही हूँ।
मैं ही द्रष्टा दृश्य सभी कुछ, अस्ति नास्ति सब मैं ही हूँ॥ २॥

मैं ही चेतन जड भी मैं ही, बाहर भीतर मैं ही हूँ।
मैं ही क्रिया कार्य कारण हूँ, ज्ञेय ज्ञान भी मैं ही हूँ॥ ३॥

मैं पुरुषोत्तम पूर्ण पुरातन, सद्योजातक मैं ही हूँ।
मैं ही सर्वपूर्ण सर्वात्मा, सुखभोक्ता सुख मैं ही हूँ॥ ४॥

—श्री शारदाप्रसाद मिश्र 'औपनिषद'—

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८
जगद्गुरु महामंडलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज

શ્રીમત્પરમહંસ પરિવ્રાજકાચાર્ય બ્રહ્મનિષ્ઠ લોકસંગ્રહી ગીતાવ્યાસ શ્રી ૧૦૮
જગદ્ગુરૂ મહામંડલેશ્વર સ્વામી શ્રી વિદ્યાનન્દજી મહારાજ

प्रकाशक का निवेदन

प्रभुप्रेमी पाठक महानुभावों की सेवा में 'गीताधर्म' का यह वार्षिक विशेषाङ्क ग्रन्थ समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। इस विशेषांक द्वारा 'गीताधर्म' चौदहवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। गत वर्ष से पाठकों के समक्ष हम महान् से महान्, गम्भीर और परमपावन पारमार्थिक साहित्य भेट कर रहे हैं, जो वेदों के मस्तकस्थानीय उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हैं। गीताधर्म का आरम्भिक संकल्पसूत्र यह था कि गीता, रामायण, वेद जैसे मान्य ग्रन्थों का सरल, सरस, लौकिक भाषा में विस्तार कर प्रकाशन किया जाय। तदनुसार विशाल 'गीतागौरवभाष्य' और 'रामचर्चाभाष्य' व्याख्यान के साथ गीता एवं अध्यात्मरामायण के प्रकाशन द्वारा दो विषयों की यथासाध्य पूर्ति की गई। इतने ही प्रकाशन में उन दोनों अगाध ग्रन्थों का व्याख्यान पूरा हो जाता हो ऐसी बात नहीं है। फिर भी स्वाध्यायप्रिय जनता के बुद्धिबल रुचि अनुकूल अवसर आदि को देखते हुए, उक्त दोनों भाष्यों का प्रकाशन अपूर्व लोकप्रिय हुआ है। क्योंकि उन को जनता ने इतना महत्त्वपूर्ण माना कि हजारों की संख्या में कई कई बार वे प्रकाशित हुए और हाथों हाथ बिक गये। फिर भी उन के लिए पाठकों की माँग वैसी ही बनी हुई है, एवं उसे कागज सामग्री की दुर्लभ परिस्थिति के कारण पूरी करना असंभव हो रहा है।

गीता और रामायण के अपूर्व प्रकाशन के बाद गत वर्ष से उपनिषदों का प्रकाशन आरम्भ किया गया है। ईशावास्योपनिषद् से लेकर ऐतरेयोपनिषद् तक आठ उपनिषदों के रूप में पहला खण्ड पिछले वर्ष प्रकाशित किया गया था। इस वर्ष उन आठ उपनिषदों की अग्रवर्ती छान्दोग्योपनिषद् उसी शैली और आकार प्रकार में प्रकाशित की जा रही है। छान्दोग्यउपनिषद् का कलेवर गत आठ उपनिषदों की अपेक्षा भी अधिक है। अतः विशेषांक का परिमाण इतने से ही परिपूर्ण हो जाने के कारण इस वर्ष यही एक उपनिषद् प्रकाशित की जा रही है।

गीताधर्मसंस्थापक पूज्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज

अपने प्रसिद्ध गीताप्रवचनों में स्थल स्थल पर उपनिषदों के प्रसंग कहा करते हैं। गीता और उपनिषदों का जन्यजनकरूप संबन्ध "सर्वोपनिषदो गावो....दुग्धं गीतामृतं महत्" इस उक्ति से प्रसिद्ध ही है। यह देखकर हमने पूज्य स्वामीजी महाराज से निवेदन किया कि गुरुदेव! आप अपने उपनिषत्संबन्धी प्रवचनों को आनुपूर्वी क्रम से लिपिबद्ध कराने का सुअवसर दीजिये, जिस से उपनिषत्प्रेमी मुमुक्षु जनता भी उपकारभागी हो। स्वामीजी महाराज ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया और अपनी जंगमवृत्ति में से भी समय निकालकर लेखकों से इस उपनिषद्भाष्य का पूर्वरूप लिखाने लगे। स्वामीजी महाराज के पास गुरुपरंपरा से प्राप्त उपनिषदों की अपूर्व व्याख्यानशैली है। क्योंकि आप की आचार्यपरंपरा में बड़े बड़े वेदान्तशास्त्रवेत्ता संन्यासी महानुभाव हो गये हैं, जैसे स्वामी श्री गोविन्दानन्दजी महाराज, उन के पूर्ववर्ती स्वामी श्री चिद्घनानन्दजी महाराज आदि। उन के निबन्धों में स्वामी चिद्घनानन्दजी की "दशोपनिषद् भाषान्तर" पुस्तक आप को अतिप्रिय है। इस विशेषांक के लेखन में उक्त पुस्तक, एवं मणिप्रभा, शांकरभाष्यानुवाद का भी उपयोग किया गया। उक्त सामग्री तथा स्वानुभव से प्रसूत इस भाष्य को स्वामीजी महाराज ने वेदशास्त्रनिष्णात, वेदमूर्ति, संन्यासीसम्राट् स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज काशीनिवासी की सेवा में भेजते हुए संशोधित, संस्कृत करा लेने की आज्ञा दी। तदनुसार उक्त स्वामीजी की संमति से यह ग्रन्थ "विद्याविनोदभाष्य" रूप में प्रस्तुत हुआ है।

स्वामीजी महाराज के प्रवचन जनता को बड़े ही रुचिकर तथा प्रबोधन करनेवाले होते हैं यह प्रसिद्ध ही है। इन के द्वारा लोगों को गंभीर अध्यात्मविषयों का अध्ययन अनायास हो जाता है। किन्तु प्रवचन करने की भाषा से वेदान्तिक भाषा कठिन दुरूह हो ही जाती है। फिर भी स्वामीजी महाराज ने लिखाते समय इस अंक की भाषा को सरल सुबोध रखने का ही प्रयास किया है। तो भी विषय की गहनतावश क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ा है। क्योंकि ऊँचे अध्यात्मविषय को बोलचाल की भाषा में प्रकट करना अशक्य है। साधारण बोली में इन बातों को प्रकट करने की योग्यता भी नहीं है।

विशेषाङ्क की अन्तरङ्ग रचना जिस प्रकार स्वामीजी के बुद्धिवैभव से पूर्ण हुई है, उसी प्रकार इस की बाह्य रचना भी उन्हीं के आश्रय और आशीर्वाद के भरोसे पर की गई है। क्योंकि छपाई की सामग्री की भाववृद्धि तथा दूसरे व्ययभार

वर्षों से बेहद बढते जा रहे हैं। इस दशा में ऐसा सर्वाङ्गसुन्दर और पिछले वर्षों के बराबर ही आकार प्रकार का विशेषांक पाठकों को भेंट करना हमारी स्वल्प शक्ति के बाहर है। इस के लिए गीताधर्मप्रेमी सहृदय सहायकों, आजीवन-सदस्यों, सेवाभावी शाखासंचालकों एवं प्रचारक महानुभावों ने जो सहायता और तत्परता दिखाई है, आशा है उन का वैसा ही प्रेम गीताधर्म पर आगे भी बना रहेगा। ये महानुभाव एवं प्रेमी पाठक दो दो नये ग्राहक बनाने का क्रम उत्साह से जारी रखें, ऐसी हमारी प्रार्थना है। आशा है इधर ध्यान देकर सब महानुभाव हमारी कठिनाई को कम करने में सहायक बनेंगे। इस दृढ आशा से प्रभुकृपा के सहारे पर जैसा कुछ बन पडा, यह विशेषांक पाठकों की सेवा में समर्पित है। मानवस्वभाव सुलभ दोषवश इस में जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें विज्ञ पाठक क्षमा करते हुए संशोधित करने के लिए हमें सूचित करने की कृपा करेंगे।

इस अवसर पर हम अपने सभी संरक्षक, सहायक, निष्काम सेवक, प्रचारक एवं संमान्य लेखक महानुभावों के सहयोग का आभार मानते हैं एवं शिष्टाचार परंपरा से उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करते हैं। वैसे तो यह पारमार्थिक आयोजन उनका अपना ही है, अतः वे सब गीताधर्म के ही अङ्गभूत हैं। इसी प्रकार अपने नित्य के सहयोगी, कागज आदि सामग्री सुलभ करनेवाले महानुभावों के प्रति भी हम कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं। अपने प्रधान संपादक पूज्य स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज की सेवा में तो हम आभार प्रदर्शनपूर्वक प्रणामाञ्जलि ही अर्पण करने के अधिकारी हैं। एवं इस उपनिषद् के समायोजक पं० श्री कमलाशंकर शास्त्री, संपादकमण्डल के बन्धु श्री चिरञ्जीवलाल शास्त्री, विद्यावयोभक्तिवृद्ध श्री मणिभाई जसभाई देसाई (गुजराती भाषान्तरकार) के भी हम हृदय से कृतज्ञ हैं। साथ ही अपने निकट सहयोगी सभी प्रेसकर्मचारी बन्धुओं के भी हम अत्यन्त आभारी हैं, इनके ही अथक परिश्रम, लगन और हार्दिक प्रेम के बल से यह विशेषांक इस रूप में समय पर प्रकाशित हो सका है। ये सब सज्जन अपने ही हैं, इनका धन्यवाद अपनी ही प्रशंसा के तुल्य है। अन्त में हम सब के प्रति यही शुभकामना प्रकट करते हैं कि सब को गीतामति श्री कृष्ण प्रभु आयु, आरोग्य, योग क्षेम प्रदान कर अपने भक्त बना लें।

प्रार्थी— 'गीताधर्म' व्यवस्थापक।

औपनिषद पुरुष की
स्वाभाविक जिज्ञासा

हे केन्द्रसूत्रधार ! ये अनेकानेक जगत्; ग्रहपिण्ड, ब्रह्माण्ड एवं इनके अन्तवर्ती स्थावर जंगम भूतजात आप से ही सत्ता स्फूर्ति चेष्टा पाकर आपकी परिधि में भ्रमण कर रहे हैं। ये सब अपने क्रान्तिवृत्त, विचरणभूमि या कर्मक्षेत्र में अहम्-अहमिका से जो अनेकों नर्तन, भ्रमण या जीवनयात्राओं में लगे हैं वह सब आपके नवल धवल स्मितहास्य की अत्यल्प सी रेखाकोर के बल पर ही तो ! यद्यपि आपकी विस्मापयनी अनिर्वाच्य शक्ति ने हम जगत् और जीवों को बहिर्मुख अलीकदर्शी इन्द्रियहस्तकों में उलझा दिया और हम सब कल्पित देश, काल, लोक, लोकान्तरों तथा वस्तुओं के बनाव चुनाव उपभोग में दृढ़ता से आसक्त हुए इन्हीं में भ्रमण और रमण करते हुए मग्न हैं।

किंतु क्या आप के वैभवकण से चेष्टित हम कभी आपके वैभवदर्शन के विघातक हो सकेंगे ? नहीं। हम तो उन हिंसित इन्द्रियों के जाल से सुलझकर आप ही में समा जाना चाहते हैं। समुद्र से जल मेघों द्वारा कितनी ही दूर ले जाये जाने पर भी घूम फिरकर अन्तर्बाह्य आदि स्रोतों से समुद्र में ही मिलता चला जाता है। अरूप शक्ति तेजस् रूप में द्रवित हो कालान्तर में धातु उपधातु रज के आकार में विकीर्ण होकर फिर एक अणु-विस्फोट से मूल अरूप शक्ति में ही विलीन हो जाती है। प्रकाशों से चमचमाता हुआ ग्रहपिण्ड अपनी ऊष्म-शक्तियों और ज्योतियों को अन्य पिण्डों में विकीर्ण करता हुआ एक समय तीक्ष्ण रेखारूप से खंचित होकर अपनी मूल अनन्तशक्ति में ही समा जाता है। केन्द्रशक्ति से चेष्टित होने के कारण दूर जाते हुए भी जगत् और जीवों का अपने शक्तिस्रोत-उद्गम की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक घटना है। तभी तो क्रान्तदर्शी कालिदास के शब्दों में 'सुखमय विहार विलासों में रममाण भी प्राणी कभी उन्मन हो उठता है', उसकी अतृप्ति की आन्तरिक कसक इधर के भोगों से विरत करती हुई अपने अखण्ड सच्चिदैश्वर्यधाम आनन्द-कन्द केन्द्र के लिए मादक उत्कण्ठा जागृत करती है। इसीलिए उपासक उपास्य से कहता है—"मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते हि त्वाम्।" "अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-त्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि संतृप्यते।" इसीलिए ऐश्वर्यशाली जानश्रुति दरिद्र रैक्व से कहता है—"भगवः एतां देवतां शाधि याम् उपास्से।" विनोदमूर्ति नारद भी सनत्कुमार से कहते हैं—"भगवान् मां शोकस्य परं पारं तारयतु।" ऋषि परम-ऋषि से कहते हैं—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।" यही हम सबकी स्वाभाविक असली प्रवृत्ति सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षी परमप्रेष्ठतम आप में है भगवन् ! इसे अङ्गीकार कीजिये !!

—चिरञ्जीव

प्राक्कथन

[ले०—स्वामी श्री रामानन्दजी महाराज, दर्शनशास्त्री, व्याकरणाचार्य]

इस छान्दोग्य उपनिषद् का सामवेद से सम्बन्ध है, यह केनोपनिषद् की तरह सामवेदीय ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत है, इसी लिए दोनों का शान्तिपाठ एक ही है। अभिप्राय यह है कि यह उपनिषद् सामवेदीय ब्राह्मण का एक बहुत विस्तृत भाग है, उस के दो अध्याय और हैं जिन का गृह्यविधि से सम्बन्ध है।

गायत्री, त्रिष्टुप्, उष्णिक्, बृहती, पङ्क्ति आदि छन्दों में मन्त्रों के निबद्ध होने से वेदों को छन्दस् कहा जाता है तथा वेदों के गायन करनेवालों का नाम छन्दोग है, इस लिए छन्दोगों का धर्मसम्बन्धी जो शास्त्र है उस का नाम छान्दोग्य है। उपर्युक्त अर्थ है सही, किन्तु आज कल केवल सामवेद के पाठकों में ही छन्दोग शब्द और इस उपनिषद् में ही छान्दोग्य शब्द रूढ सा हो गया है। अतएव सामवेदपाठी ही छन्दोग और यह उपनिषद् ही छान्दोग्य कही जाती है।

छान्दोग्योपनिषच्छ्रेष्ठा ताण्ड्यब्राह्मणनिःसृता।
अष्टौ प्रपाठकाः खण्डाः समुद्र–भूत–भू–युताः॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि सब उपनिषदों में श्रेष्ठ छान्दोग्योपनिषद् तांड्य ब्राह्मण से निकली है, इस में आठ प्रपाठक (अध्याय) हैं और ११४ खण्ड हैं। यह उपनिषद् बड़ी प्रतिष्ठित है, इस में बहुत से उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है। इस का ज्ञानकाण्ड जिज्ञासुओं की अक्षय निधि है। इसी से वेदान्तसूत्रों में जिन श्रुतियों पर विचार किया गया है उन में सब से अधिक इसी उपनिषद् की हैं। आरुणि ने अलग अलग उदाहरण देकर जिस से नौ बार अपने पुत्र श्वेतकेतु को आत्मैक्य बोध कराया है और जो अद्वैत सम्प्रदाय के वेदान्तियों के आत्मबोध का प्रधान साधन है, वह 'तत्त्वमसि' महावाक्य इसी उपनिषद् के छठे अध्याय में आता है। नारद ऋषि को ऋक्, साम, यजु, अथर्ववेद, अर्थवेद, धनुर्वेद, ज्योतिष, इतिहास पुराणरूप पञ्चमवेद, व्याकरण, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षा, भूततन्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, उत्पातज्ञान, श्राद्धकल्प, संगीत और गारुड़ आदि विद्याओं के

ज्ञाता होने पर भी शान्ति नहीं मिली, वह उन्हें आत्मज्ञान से ही प्राप्त हो सकी। यह सनत्कुमार नारद का संवाद जो सर्वसाधारण जनता के उद्धार के लिए परमोपयोगी है, इसी उपनिषद् के सातवें अध्याय में आता है। इस से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि केवल शास्त्रज्ञ होने से ही कल्याणमार्ग का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता, उस के लिए आत्मज्ञ होना आवश्यक है।

मल, विक्षेप, आवरण इन अविद्या की जिन तीन शक्तियों से जीव आवृत हो रहा है, उन की निवृत्ति का उपाय इस ग्रन्थ में बहुत ही उत्तम रीति से बताया गया है। अर्थात् निष्काम कर्म से अन्तःकरण के मलिन संस्कारजनित दोषों (मलों) की निवृत्ति, उपासना से चित्तचाञ्चल्य (विक्षेप) का नाश और ज्ञान से स्वरूप-स्मृति अथवा अज्ञानविनाश कैसे होता है; इस में इस का विवेचन किया गया है। इस में उषस्ति आदि की आख्यायिकाओं के उल्लेख द्वारा उपासना और ज्ञान के विषय को अच्छी तरह समझाया गया है। मनुष्य को कितने त्याग, तप, सेवा, सत्य और विनय आदि की आवश्यकता है तथा उसे कल्याणकारिणी उत्कृष्ट विद्या को चाहे जिस के पास से भी ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए; इत्यादि उपदेश शिलक, चैकितायन तथा प्रवाहण आदि के संवाद में अच्छे प्रकार से दिये गये हैं।

राजा जानश्रुति ने गाड़ीवान रैक्व का तिरस्कार सहकर और बहुत सा धन तथा कन्या देकर भी संवर्गविद्या ग्रहण करने में जरा भी ननु नच नहीं की। इस से आज कल के उन विद्याभिलाषी छात्रों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये जो जरा सी गुरुशुश्रूषा से भाग खड़े होते हैं। इन्द्र का शतवार्षिक ब्रह्मचर्यव्रत (जो ब्रह्म-विद्या प्राप्ति के लिए किया गया था) ध्यान देने योग्य है। आचार्य हारिद्रुम के पास विद्या प्राप्त्यर्थ जाकर सत्यकाम ने जिस सचाई के साथ अपना वंशविषयक परिचय दिया वह जिज्ञासुओं के अनुकरण करने योग्य है।

आर्य जाति सांसारिक प्रगति की दौड़ धूप में चाहे जितनी पिछड़ गई हो किन्तु पारलौकिक उन्नति जो उस ने अति प्राचीन काल में की थी, उस की समता आज भी कोई सभ्यता के प्रचार का दम भरनेवाली जाति नहीं कर पाई है। इस का कारण ऋषियों द्वारा प्रचारित वेद वेदान्त की अनन्त ज्ञानराशि है। वेदान्त वेदों का निचोड़ है। यद्यपि वेदान्त शब्द में ब्रह्मविद्या के उपदेश करनेवाले सभी विषयों का समावेश हो जाता है, तथापि ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों को ही प्रधानतया वेदान्त कहा गया है। इन्हीं को प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। किन्तु गीता और ब्रह्मसूत्र स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं, ये उपनिषदों के ही सारभूत हैं। भेद इतना ही

है कि जहाँ उपनिषदों में मतभेद सा प्रतीत होता है वहाँ श्री बादरायण व्यास ने एकवाक्यता सिद्ध करने का यत्न किया है। इसी प्रकार गीता में उपनिषदों का संक्षिप्त भावार्थ दिखाया गया है।

उपनिषदें १०८ मानी जाती हैं (कहीं अधिक संख्या भी मिलती है), किन्तु मुख्य दस ही हैं, जैसे ऋग्वेद की ऐतरेय, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय और कठ, शुक्ल यजुर्वेद की ईश और बृहदारण्यक, सामवेद की केन और छान्दोग्य तथा अथर्ववेद की प्रश्न, मुण्डक एवं माण्डूक्य उपनिषद् हैं। ईश, केन और प्रश्न उपनिषदों में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का तथा मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय में पंचभूतों का तथा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का विचार किया गया है। छान्दोग्य में प्राणविद्या और आदित्यविज्ञान का प्रधानतया विवरण है। प्रश्नोपनिषद् आदि में आदित्य को प्राण (भोक्ता) और चन्द्र को रयि (भोग्य) कहा है।

उपनिषदों की महत्ता सुनकर बादशाह शाहजहाँ के बड़े पुत्र दाराशिकोह ने इन का फारसी में अनुवाद किया था। और भी फारसी में कुछ उल्थे हुए थे, जिन के आधार पर मौलाना रूम ने अपनी मस्नवी की रचना की थी, जो तसव्वुफ या सूफी सम्प्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थ फारसी भाषा में समझा जाता है। वह तसव्वुफ और कुछ नहीं हमारा वेदान्त ही है। ब्रह्मविद्या को ही वहाँ 'इल्मे इलाही' कहा गया है। फारसी से ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं द्वारा उपनिषदों का ज्ञान यूरोप पहुँचा। और यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि जर्मनी के प्रख्यात प्रोफेसर शोपेनहार ने इन का अध्ययन करके यह कहा था कि ये (उपनिषद् याने ब्रह्मविद्या) मेरे जीवनकाल में मुझे सांत्वना देंगी। मानवजीवन का प्रधान उद्देश्य याने परमपुरुषार्थ औपनिषद विज्ञान का सम्यग् दर्शन है, जिस से भवभय से निर्भय हो अत्यन्तानन्द की प्राप्ति करनी चाहिये। यही परमपुरुषार्थ है, इसे पा लेना ही सब से बड़ा लाभ है और न पाये बिना जीवन ही व्यर्थ है। औपनिषद विज्ञान का अधिकारी परम भाग्यशाली ही हो सकता है।

उपासक हो चाहे ज्ञानी हो सब के लिए यह छान्दोग्य उपनिषद् हितकर है। इस के कुल आठ अध्याय हैं जिन में पहले पाँच अध्यायों में प्रधानतया उपासकों का वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में ज्ञान का। इसके अध्ययन से परमार्थिक लाभ तो है ही पर व्यापारिक फायदा भी कम नहीं है। इस में जिस प्रकार अन्यान्य विषयों का सविस्तर वर्णन है उसी प्रकार मनुष्य के संकल्पबल की भी विशद चर्चा की गई है।

एक दृढ़संकल्प पुरुष क्या अद्‌भुत काम कर सकता है, यह इस में जगह जगह प्रकट किया गया है। इस में मनुष्य को यह शिक्षा दी गई है कि पवित्र और दृढसंकल्प व्यक्ति को कोई रोग शोक आदि विपत्ति दबा नहीं सकती। सब प्रकार के रोगादि उपद्रवों को जीतकर मनुष्य शतायु ही क्या, ११६ वर्ष तक जीवित रह सकता है। वास्तव में ब्रह्माण्ड में मनुष्य ऐसी दुर्बल वस्तु नहीं है जैसा कि उस ने अपने आप को समझ रखा है। वह एक बड़ी प्रबल शक्ति है। पर मनुष्य को अपने ऊपर भरोसा नहीं है, इसी से दुर्बल बना हुआ है। जिस दिन मनुष्य अपने ऊपर विश्वास कर लेगा तब कोई भी उस का मार्गावरोध नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार मनुष्य अपने आप को पलट देता है उसी प्रकार वह दूसरों में भी उथल पुथल कर देता है। मनुष्य का ऐसा करना आत्मिक बल की महिमा का माहात्म्य है। यह आत्मिक बल उपनिषदों की शिक्षा से ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति उपदिषदों के अध्ययन से ही विस्तृत हो सकती है। उस के लिए यह छान्दोग्य उपनिषद् प्रधान साधन है।

परिस्थितियों की परवशता से आर्यजाति ने जैसे अपनी बहुत सी विशेषता खो दी, उसी तरह इस की उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्या की परंपरा भी उच्छिन्न हो गई। इस उपनिषद् में (तथा अन्य उपनिषदों में भी) कई एक ऐसी उपासनाएँ पाई जाती हैं जिन की साधना करनेवालों का सम्प्रदाय अब प्रायः नहीं ही रहा। उन में यह परंपरा चली आती थी कि वे जिज्ञासुओं को इन उपासनाओं की रीति सरलता से अथच यथार्थतया बोधन करा देते थे। किन्तु अब यह बात नहीं है, इसीलिए ऐसी जगह उन उपासनाओं के प्रकरण में सिवाय अक्षरार्थ कर देने के और कुछ नहीं बन पड़ता। लिखनेवाले टीका, भाष्य, व्याख्या, टिप्पण तथा विवरण आदि लिख देते हैं, छापनेवाले छाप भी देते हैं और पढनेवाले पढ भी जाते हैं तथा पढा सुना भी देते हैं, पर वास्तविक तत्त्व से सभी कोरे रह जाते हैं। क्योंकि जो विषय गुरुपरंपरा से अनुगम्य है वह बातों से कैसे जाना जा सकता है?

इस का मतलब यह नहीं है कि हम 'ऐसे निष्फल प्रयास में क्यों माथापच्ची की जाय' ऐसा समझकर इस में यत्न करना छोड़ दें। क्योंकि ज्यों ज्यों प्राचीन शास्त्रों और तत्त्वों की खोज की जायगी त्यों त्यों धीरे धीरे सब रहस्य खुलता चला जायगा और खुलता जा रहा है। जो हमने अब तक समझ लिया है उतने से लाभ उठावें और आगे के लिए यत्न जारी रखें। अर्थात् "न दैन्यं न पलायनम्" इस महामन्त्र को आचरण में लाते रहें, तभी इस उपनिषद् का अध्ययन सफल होगा।

अन्य-धर्मियों का उपनिषद्-प्रेम

[लेखक—श्री देवीनारायण, एडवोकेट, विद्यासागर, शास्त्राचार्य, काशी]

संसार में सदा से आध्यात्मिक शक्ति का ही महत्त्व रहा है। प्रत्येक देश में दैवी शक्ति किसी न किसी रूप में मान्य रही है। तत्त्वज्ञानी कांट, हेगल, शोपनहार, मौलाना रूम, हाफिज, ओमरखय्याम तथा हमारे यहाँ के स्वामी शंकराचार्य, स्वामी रामानुजाचार्य आदि महान् आचार्य अपनी दैवी शक्ति तथा अलौकिक सत्ता के कारण सदा के लिए अमर हो गये हैं।

भारतवर्ष सदा से अपनी अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति के लिए प्रसिद्ध है। सिकन्दर, बाबर, योरोपियनों आदि ने भारत की आध्यात्मिक शक्ति के आगे शिर झुका दिया। गीता, उपनिषद् आदि महान् ग्रन्थों ने विदेशी साहित्य तथा फिलासफी पर बड़ा प्रभाव डाला। फारसी में गीता का बड़ा सुन्दर अनुवाद पद्य में फैजी ने किया है, एवं दाराशिकोह ने पचास उपनिषदों का अत्यन्त मधुर ललित तथा सरल फारसी भाषा में अनुवाद किया है। दाराशिकोह दिल्लीश्वर शाहजहाँ का पुत्र तथा औरंगजेब का ज्येष्ठ भ्राता था। वह बड़ा विद्वान् तथा सच्चा फकीर था, वह दिन रात आध्यात्मिक विद्या की चर्चा में रहता था। उसने अपने धर्मग्रन्थ कोरान, हदीस आदि पढ़े परन्तु उसको सन्तोष न हुआ। उसने बाइबिल, जिन्दावस्ता, तौरेत आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया परन्तु फिर भी तबियत न भरी। अन्त में सन् १६४० ई० में वह महात्माओं व फकीरों की तलाश करता हुआ कश्मीर पहुँचा। कश्मीर में उसको एक सच्चा फकीर मिल गया। वह बुल्लाशाह के नाम से प्रसिद्ध थे। वह पहुँचे हुए फकीर सूफी व वेदान्ती थे। उनकी 'सी हरफी' बड़ी प्रसिद्ध है। वह उपनिषदों का सार है, यथा—

अलफ: आपणे आपनू समझ पहिले।
की वस्तु है तेरडा रूप प्यारे॥
बाझ आपणे आपदे सही कीते।
पिओ विच्च विसूरेदे दुःख भारे॥
होर लक्ख उपाव ना मुक्ख होवी।
पुच्छ देख सिआनडे जग्ग सारे॥

सुखरूप अखंड चैतन्य है तूँ।
'बुल्लाशाह' पुकारदे वेद चारे॥

दारा ने इन्हीं बुल्लाशाह का दरबार किया। शाहजी ने वेदान्त की दीक्षा उसको दी और वेदान्त पढ़ने पर बहुत जोर दिया। दारा ने गीता आदि वेदान्त-ग्रन्थों को पढा, पर उपनिषदों के पढ़ने की लगन उसकी बढती गई। सौभाग्यवश वह बनारस आदि प्रान्तों का शासक नियुक्त हुआ। उसकी अभिलाषा पूरी हुई। काशी में दारानगर महल्ले में वह रहने लगा। यह महल्ला अभी तक दारा के नाम से ही प्रसिद्ध है। वहाँ काशी के उच्चकोटि के विद्वानों, पण्डितों तथा संन्यासियों को उसने एकत्रित किया। रात दिन वेदान्त की चर्चा होने लगी। दारा ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से उपनिषदों का पूर्ण अध्ययन करके उनका फारसी भाषा में अद्वितीय अनुवाद कर दिया। उसका नाम "सिर्रे अकबर" (महान् रहस्य) रखा। दारा ने चारों वेदों की ५० उपनिषदों का अनुवाद किया है। जिन में कौषीतकि, वाष्कल तथा ऐतरेय ऋग्वेद की, छान्दोग्यउपनिषद् सामवेद की, ईशावास्य, बृहदारण्यक आदि १२ उपनिषद यजुर्वेद की, तथा मुण्डक, कठवल्ली, परमहंस आदि ३४ उपनिषद् अथर्ववेद की; इस प्रकार कुल ५० उपनिषदों का अनुवाद शाहजादा दाराशिकोह ने स्वयम् पूर्ण किया।

यह अनुवाद १६५६ ई० में समाप्त हुआ था। इसमें छै महीने का समय लगा। इसकी भूमिका अद्भुत भावों तथा सच्ची भावनाओं से भरी है। मेरे पूर्वजों की हस्तलिखित फारसी उपनिषदों की प्रति में सात पृष्ठ में भूमिका आई है। उसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है—

"चूँ दरीं अय्याम बुलदये बनारस के दारुल इल्म ईं कौम अस्त ताल्लुक बा ईं हक जुइ दाश्त पण्डितान व संन्यासियान रा के सिर आमद वक्त व वेद व उपनिखतदां वूदन्द जमा साख्ता खुद आं खुलासये तौहीद रा के उपनिखद् यानि इसरार पोशीदनी व मुनतहाय मतलव जमीअ अवलिआए अल्ला अस्त दर सन् एक हजार व शस्त व हफ्त (१०६७) हिजरी वेगरजाना तरजुमा नमूद"।

अर्थात् 'क्योंकि इस अवसर में शहर बनारस जो कि इस जाति (हिन्दुओं) का विद्यापीठ है और दारा को यानि मुझ को वेदान्त अध्ययन की लगन लगी हुई है और मुझ को यहाँ प्रबन्ध के लिए आने का अवसर मिला। पण्डितों व संन्यासियों को जो कि उस समय के उच्चकोटि के विद्वान् तथा वेद व उपनिषद् के ज्ञाता थे, एकत्रित किया। मैंने खुद उस वेदान्त के ग्रन्थों यानि उपनिषदों का जो कि

अद्वैतवाद के स्पष्ट रहस्यमय ग्रन्थ हैं और जिनका अर्थ अगम्य है और जो परमात्मा के महान् भक्तों का गुप्त रहस्य व गूढ अर्थ का खजाना है, सन् १०६७ हिजरी में परमार्थ के लिए अनुवाद किया।' दारा के उपनिषद्—अनुवाद का निदर्शन भी नमूने के तौर पर देखना चाहिये, यथा—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥ (छान्दोग्य, अ० ८ ख० ७ मन्त्र १)

"आं आत्माए के ऊ रा बदी व पीरी व मर्ग व अन्दोह व आरज़ूए खुरदन व आशा मीदन नेस्त व रास्त इज्म अस्त व हर ख्वाहिशे के मी कुनद मौजूद मी शवद। आं आत्मा रा बायद जुस्त व बायद दानिस्त व आं रा खुद बखुद बायद दानिस्त। हर के आत्मा रा चुनीं वेदानद बर हमा मुल्कहा व ख्वाहिशहा जफर मी यावद ईं चुनीं गुफ्त परजापत।"

अर्थात्—'वह आत्मा कि जिसको बुराई व बुढ़ाई व मौत व शोक व खाने व पीने की इच्छा नहीं है और जो सत्य का चाहनेवाला है और जो इच्छा करता वह मौजूद हो जाती है ऐसे आत्मा को ढूढ़ना चाहिये और जानना चाहिये और उसको खुद बखुद जानना चाहिये। जो व्यक्ति कि आत्मा को ऐसा जानता है तो वह तमाम संसार पर व इच्छाओं पर विजय प्राप्त करता है। यह बात प्रजापति ने कही है।'

शाहजादा दाराशिकोह के ही इस अनुवाद का यह एक विशेष महत्त्व है कि इस के द्वारा उपनिषदों का प्रचार यूरोप में हुआ। १७७५ ई० में जनटिल नाम के फ्रेंच राजदूत ने इसकी एक प्रति बरनियर यात्री द्वारा पेरान के पास भेज दी। पेरान फारसी और ईरानी भाषाओं का विशेषज्ञ था। इसी ने जिन्दवस्ता का अन्वेषण किया था। पेरान ने इसकी एक प्रति और प्राप्त की और दोनों के आधार पर फ्रेंच व लाटिन भाषाओं में अनुवाद किया। वह लाटिन का अनुवाद सन् १८०२ ईसवी में छपा। उसका "औपनिषत् आइडिस्ट सीक्रीटम टेगेनडम" नाम से प्रकाशन हुआ। इस अनुवाद की बड़ी धूम मची। यूरोप के फिलासफर उपनिषदों की ओर आकर्षित हुए। शोपेनहार ने इनकी बड़ी खोज की। उसने मुग्ध होकर एक स्वर से इनकी प्रशंसा की। उसने कहा कि मेरे जीवन के

आधार यही उपनिषद् हैं। बड़े बड़े ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गये और पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों में एक नवजीवन पैदा हो गया। तभी फ्रांस तथा जर्मनी के विद्वानों का ध्यान वेदों की तरफ आकर्षित हुआ। अदम्य उत्साह से पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत की मूल उपनिषदों को खोज निकाला, और भी अद्भुत खोज की। सम्पूर्ण ऋग्वेद आदि ग्रन्थों को भाष्यों व टीकाओं के साथ मुद्रित व प्रकाशित किया। तब भी भारतवर्ष सोता रहा, पर जागृत यूरोप ने वैदिक साहित्य में नवजीवन व नवयुग पैदा कर दिया।

कुछ वर्ष बाद राजा राममोहन राय ने बहुत सी उपनिषदों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। उनके बाद कूलब्रुक, कावेल, रेगनाड, विनटरनिज, ओलडेनवर्ग, वोट्लिंग, वीवर, कीथ आदि ने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं में अनुवाद व भाष्य किये। परन्तु सब से महत्त्वपूर्ण भाष्य व अनुवाद मैक्समूलर व ड्यूसन के हैं। पाल ड्यूसन की उपनिषदों की भूमिका बड़े महत्त्व की है। इनकी पुस्तक "दी फिलासफी आफ उपनिषद्" पढ़ने योग्य है। इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी हो गया है। ब्लूमफील्ड की "दी रिलिजन आफ दि वेदाज" अपूर्व पुस्तक है। श्रीमती एनीवेसेंट ने थियासोफिकल साहित्य में उपनिषदों का बड़ा उच्च स्थान रखा है। इस विषय पर अनेक व्याख्यान व भाष्य प्रकाशित किये हैं। अवश्य भारत दाराशिकोह तथा पाश्चात्य विद्वानों का भी आभारी है, जिन्होंने इस ब्रह्मविद्या के सच्चे सन्देश का प्रचार किया।

इस अवसर के लिए हम गोपालनन्दन आनन्दकन्द भगवान् कृष्ण की शरण में जाते हैं, जिन्होंने इस भारतवर्ष को स्वतन्त्रता की झलक दिखाई और भारत में बड़ी बड़ी विभूतियाँ पैदा कर दीं, जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से सम्पूर्ण जगत् को प्राचीन समय से लेकर अब तक चकित कर दिया है। महात्मा गांधी आदि महापुरुषों को यह शक्ति उपनिषदों व गीता के ही द्वारा प्राप्त हुई थी। कहा भी है कि "सर्वोपनिषदो गावः······दुग्धं गीतामृतं महत्" उपनिषद् अमृत पिलानेवाली गाय हैं, उन्हीं से गीता आदि का प्रादुर्भाव हुआ है। भारत की जनता स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर की भी हृदय से आभारी है, जिन्होंने उपनिषद् व गीता का प्रचार सर्वसाधारण जनता में सर्वाधिक किया है और सामान्य जनता तक इस रहस्यज्ञान को सर्वप्रथम पहुँचाया है।
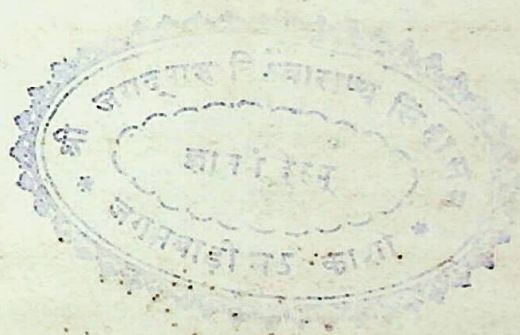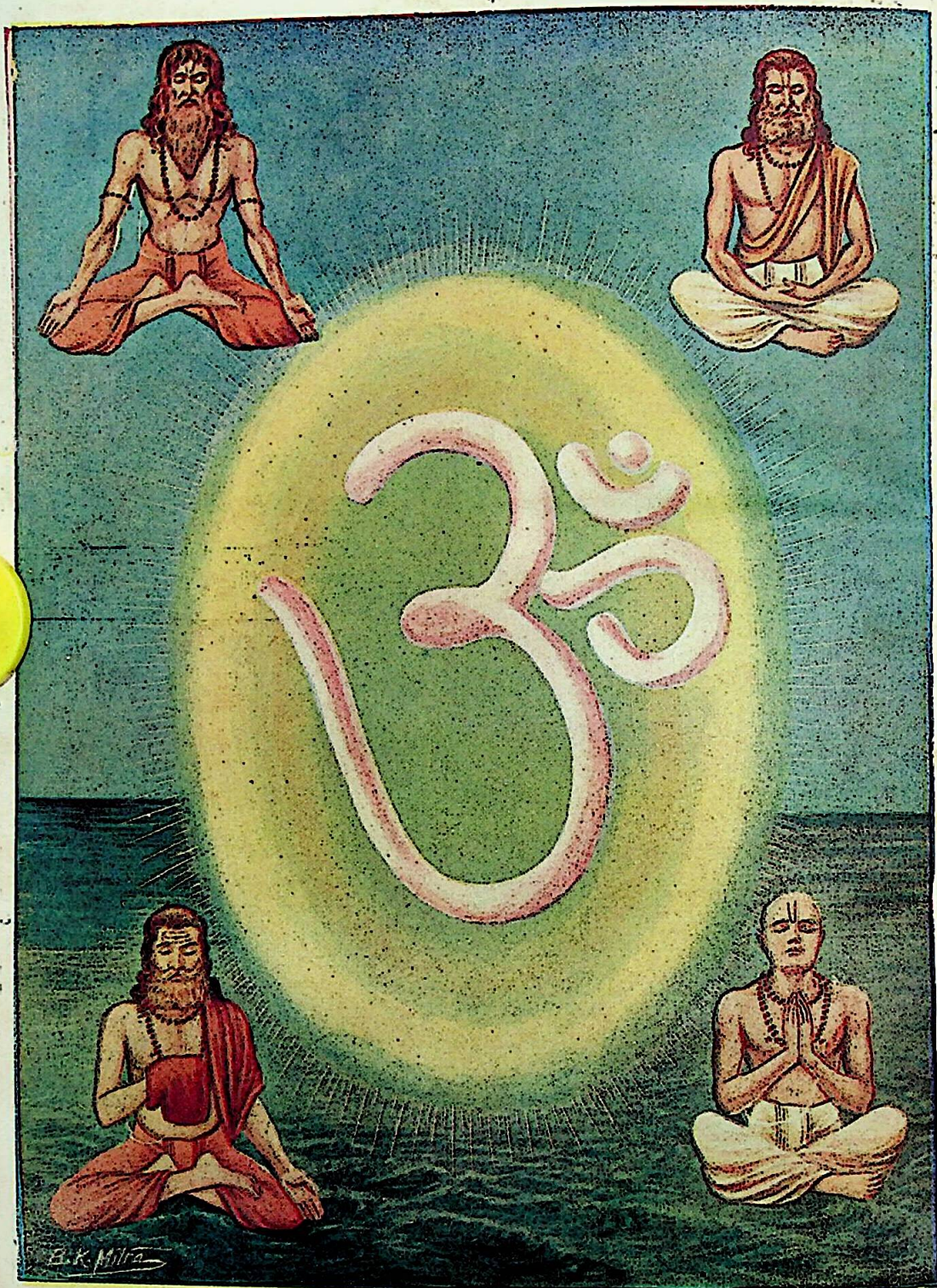
उद्गीथ अक्षर ॐ की उपासना (अ. १ ख. १)
ઉદ્ગીથ અક્ષરં ॐ ની ઉપાસના (અ. ૧ ખં. ૧)

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

छान्दोग्योपनिषद्

विद्याविनोद भाष्य सहित

प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड

अध्ययन की निर्विघ्न समाप्ति के लिए सर्वप्रथम शिष्य के द्वारा प्रार्थनारूप शान्तिपाठ किया जाता है—

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भावार्थ—मेरे सब अङ्ग, वाक्, प्राण, चक्षु, कर्ण एवं अन्य सब इन्द्रियाँ परिपुष्ट हों। उपनिषत्प्रतिपाद्य ब्रह्म मेरे प्रति प्रकाशित हो। मैं ब्रह्म को अस्वीकार न करूँ और ब्रह्म भी मुझ को अपने से पृथक् न करे। ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ ब्रह्म का संबन्ध नियत बना रहे। उपनिषदों में कथित जो धर्म हैं वे मुझ आत्मनिष्ठ में प्रकाशित हों। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक तीनों प्रकार के तापों की शान्ति हो।

अब शान्तिपाठ के अनन्तर प्रथम मन्त्र की प्रारम्भिक अवतरणिका की जाती है—

प्राकृत पुरुषों में कर्माभ्यास की अनादि वासना में अत्यन्त दृढता होने के कारण कर्मों को छोड़कर उपासना में ही मन को लगाना बहुत कठिन है, अतः सब से पहले कर्माङ्गसम्बन्धिनी उपासना का ही उल्लेख किया जाता है, यथा—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भावार्थ—उद्गीथ शब्द जिसका वाचक है, ऐसे 'ओम्' इस अक्षर की उपासना करनी चाहिए। क्योंकि उद्गाता यज्ञ में 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके उद्गान—उच्च स्वर से सामगान—करता है। उस उद्गीथोपासना का ही व्याख्यान किया जाता है॥ १ ॥

विद्याविनोद भाष्य—सामवेदीय स्तोत्रविशेष का नाम 'उद्गीथभक्ति' है। ओंकार उसका अंश है, अतः इसे उद्गीथ कहा गया है। उद्गीथ से वाच्य 'ओम्' यह अक्षर जगन्नियन्ता जगदीश का सबसे निकटवर्ती प्रियतम नाम है। इसीका बारम्बार प्रयोग करनेवालों के ऊपर वह अत्यन्त प्रसन्न होता है, जैसे कि साधारण लोक अपना प्रिय नाम उच्चारण करने पर प्रसन्न होते हैं। प्रकृत मन्त्र में आगे 'इति' शब्द दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि 'ओम्' यह ब्रह्म का अभिधायक होने के कारण इति शब्द द्वारा पृथक् निर्दिष्ट होकर केवल शब्दरूप से प्रतीत होता है। जैसे मूर्ति आदि परमात्मा का प्रतीक है, वैसे ही ओंकार भी उसीका प्रतीक है। इस प्रकार अखिल वेदान्तग्रन्थों में नाम और प्रतीक रूप से यह परमात्मा की उपासना का उत्तम साधन बतलाया गया है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (गीता १७ । २४)

इस भगवदुक्ति से तथा जप, कर्म और स्वाध्याय के आदि एवं अन्त में बहुधा प्रयोग दर्शन से इसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है। अतः उद्गीथशब्दवाच्य तथा परमात्मा के प्रतीकरूप ओंकार में अविच्छिन्न भाव से एकाग्र हो चित्त को लगावे। ओंकार उद्गीथ शब्द का वाच्य है, इसमें कारण का प्रतिपादन श्रुति स्वयं ही करती है कि उद्गाता 'ओम्' इस शब्द से आरम्भ करके सामवेद का गान करता है, अतः ओंकार उद्गीथ है। इस प्रकार उसकी उपासना होती है, यह उसका ऐश्वर्य है और और यह फल है, इत्यादि जो यहाँ कथन किया जाता है उसे उपव्याख्यान कहते हैं॥ १ ॥

विशेष—ओम् और उद्गीथ दोनों एक ही वस्तु हैं। यहाँ अक्षर का अर्थ अविनाशी है, जो अविनाशी है वही ओम् है। किसी आचार्य का सिद्धान्त है कि अक्ष माने नेत्रादि इन्द्रियाँ, और 'र' माने रहनेवाला, अर्थात् इन्द्रियों में रहनेवाला ही अक्षर है, वही अविनाशी ब्रह्म है, वही उद्गीथ भी कहा जाता है। उद्गीथ माने जो स्थान सबसे बड़ा है, जिसको सम्पूर्ण वेद गाया करते हैं, उसी की उपासना करनी चाहिए। जब जीवों के कर्मफलभोगार्थ सृष्टि रचने की ईश्वर की इच्छा हुई तो सबसे पहले ध्वन्यात्मक 'ओम्' ऐसा प्रादुर्भूत हुआ, उसके बाद उसीसे वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' अर्थात् एक मैं ओंकाररूप ब्रह्म बहुत हो जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा होते ही चराचर सृष्टि की उत्पत्ति हो गई। अतः जितनी सृष्टि है चाहे वह प्रकट या अप्रकट किसी भाव से हो, वह सब ओंकाररूप ब्रह्म ही है। वेदों की ऋचाओं के आदि एवं अन्त में ओम् शब्द के प्रयोग करने का तात्पर्य यही है कि ओम् के पहले अथवा पीछे जो कुछ है वह सब ओंकाररूप ही है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। ओंकार के 'अ, उ, म्' इन तीनों अक्षरों का अभिप्राय यह है कि जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं के अभिमानी देवता क्रमशः जो विश्व, तैजस, प्राज्ञ हैं, वे ओंकाररूप ही हैं, तथा मायाविशिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् ये भी ओंकाररूप ही हैं, अर्थात् ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त याने अखिल प्रपञ्च ओंकाररूप ही है। जो पुरुष ओंकार का उच्चारण करता है, उसके ऊपर परमात्मा प्रसन्न होता है। ओंकार का उच्चारण करके जो वैदिक कर्म किये जाते हैं, वे ही सिद्धि को प्राप्त होते हैं॥ १॥

उद्गीथ सामवेद का एक भाग है, जो ओम् से प्रारम्भ होता है। उद्गाता इसको सोमयज्ञ में गाता है। सोमयज्ञ—'अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, और आप्तोर्याम इस प्रकार सात भेदों में विभक्त है। यही सोमयाग 'सप्तम-संस्था' कहाता है। इन यज्ञों में सोलह सोलह ऋत्विक् होते हैं, उनमें चार सामवेदी होते हैं, उनमें उद्गाता मुख्य है और दूसरे तीन—प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य—उसके सहायक होते हैं। उद्गाता इन यज्ञों में साम के उद्गीथभाग को गाता है। यह उद्गीथ ओम् से प्रारम्भ होता है, जिसको उद्गाता पहले एक लंबे और ऊँचे स्वर में गान करता है, फिर शेष उद्गीथ को गाता है। तात्पर्य यह है कि—सारे उद्गीथ का निचोड़ होने के कारण सामवेदी ओम् को उद्गीथ ही कहते हैं। सब रसों में यही उद्गीथ रसतम है, इसी बात को स्पष्ट करते हैं, यथा—

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामो-

षधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

भावार्थ—सचराचर भूतों का रस पृथिवी है। पृथिवी का रस जल, जल का रस ओषधियाँ, ओषधियों का रस पुरुष, पुरुष का रस वाणी, वाणी का रस ऋचा, ऋचा का रस साम और साम का रस उद्गीथ है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—ये चराचर जीव पृथिवी से उत्पन्न होते हैं। इसी में स्थित रहते हैं तथा अन्त में मरकर सब इसी में लीन भी हो जाते हैं, अतः पृथिवी सम्पूर्ण प्राणियों का कारण है। पृथिवी का हेतु जल है, क्योंकि जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। जल का सार अन्नादिक हैं, अन्नादिकों का सार मनुष्य है। पुरुष के अवयवों में वाणी ही सबसे अधिक सार वस्तु है अतः वाणी को पुरुष का रस कहते हैं। उस वाणी का भी उससे अधिक सारभूत ऋचा ही रस है। ऋचा का रस साम है, जो उससे भी अधिक सारतम वस्तु है, तथा साम का भी रस उद्गीथ याने ओंकार है, यह साम से भी अधिक सारतर वस्तु है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूप है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि पृथिवी का अभिमानी देवता सब जीवों की अपेक्षा बढ़कर है। इससे भी बढ़कर जल का अभिमानी देवता वरुण है। वरुण से बढ़कर सोम है। सोम से बढ़कर सरस्वती, सरस्वती से बढ़कर ऋचा, ऋचा से बढ़कर प्राण, प्राण से बढ़कर नारायण है, और उद्गीथ सबसे बड़ा है, उससे बड़ा कोई नहीं है।

यहाँ 'रस' शब्द भिन्न भिन्न अभिप्राय का बोधन करता है, जैसे—आश्रय, कारण, सार, तत्त्व। प्रकृत में 'रस' शब्द तत्त्व के अभिप्राय से आया है। भाव यह है कि—पुरुष का सार वेदवाणी है, और वेदवाणी का सार उद्गीथ है, अतएव ओंकार के अर्थरूप ब्रह्म की उद्गीथरूप साधनों से (वैदिक ज्ञान का आश्रय लेकर) उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥

स एष रसाना रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः ॥३॥

भावार्थ—वह यह जो उद्गीथ है, वह सब रसों में अतिशय रस, उत्कृष्ट परमात्मा का आश्रयस्थान तथा पृथिव्यादि रसों में आठवाँ है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—लोक में जितने सार पदार्थ होते हैं याने सूक्ष्म होते हैं, उतने ही वे पूज्य हैं। अन्नादिक पृथिवी और जल का सार है। अतः पृथिवी

और जल से बढ़कर अन्नादिक अधिक पूज्य हैं। इसी कारण अन्न देव कहा गया है,—"अन्नं ब्रह्मेति"। अन्न का सार पुरुष है, अतः अन्न से बढ़कर पुरुष अधिक पूज्य है। पुरुष का सार वाणी है, क्योंकि जिस पुरुष की जिह्वा पर सरस्वती वास करती है, वह अधिक पूज्य होता है। वाणी का सार ऋचा है, अर्थात् जो पुरुष वेदवेत्ता है, वह और भी अधिक पूज्य है। और ऋचाओं का सार सामवेद है, अतः जो पुरुष सामवेद को जाननेवाला तथा सामवेदीय मन्त्रों से परमात्मा का गान करनेवाला है, वह और भी अधिक पूज्य है। सामवेद का सार उद्गीथसंज्ञक ओंकार है, वह भूत आदि के उत्तरोत्तर रसों में रसतम है एवं परमात्मा का प्रतीक है। अतः परम याने उत्कृष्ट परार्ध्य अर्थात् श्रेष्ठातिश्रेष्ठ है, इसकी उपासना करनेवाला मनुष्य भी श्रेष्ठातिश्रेष्ठ याने अतिपूजनीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। पृथिव्यादि रसों की गणना में यह आठवाँ है ॥ ३ ॥

विशेष—यद्यपि ईश्वर की सृष्टि सारी ही चमत्कारपूर्ण है, उसकी रचनाओं को देखकर बुद्धि चकरा जाती है। किन्तु सारी सृष्टि का निचोड़ मनुष्य है, यदि समग्र सृष्टिवैलक्षण्य को कोई एक जगह देखना चाहे तो मनुष्यसंस्थान को देख ले। मनुष्य मणि मन्त्र, ओषधि तथा योगादि के बल से पर्वत से भारी और तूल (रुई) से भी हलका होने की योग्यता रखता है। यह पनडुब्बी नावों के साधन से महीनों मछली की तरह पानी में रह सकता है, और व्योमयानों के कौशल से पक्षी बनकर आकाश की ऊँचाई नाप लेता है। विज्ञान की सहायता से यह आग में जलने से भी बच जाता है। अतः मनुष्य ईश्वरीय सृष्टि का एक अनिर्वाच्य तत्त्व है—रस है—सार है। किन्तु उस दशा में यह सर्वथा अनुपयुक्त हो जाता है जब कि इसकी वाणी इसका साथ नहीं देती। याने मनुष्य का सार तत्त्व वाणी है, जिसे बोलना आता है वह लोगों को बिना दाम मोल ले लेता है। पर उस वाणी में रस तभी आता है जब वह उस ओम् के तत्त्व को जानने में समर्थ होती है, जिस ओम् के वाच्य परब्रह्म से रस का प्रवाह प्रवाहित होता है। रसगङ्गा की धारा का आदि उद्गमस्थान ब्रह्मरूप हिमालय है। भाव यह है कि पुरुष के रसतत्त्व को समुन्नत करनेवाली रसीली वाणी को सरस करनेवाला ओंकार है।

प्रकृत मन्त्र में परार्ध्य शब्द का यह तात्पर्य है कि अर्ध स्थान को कहा जाता है, जो पर होते हुए अर्ध हो उसका नाम परार्ध्य है, अभिप्राय यह है कि परमात्मा के सदृश उपास्य होने के कारण यह परमात्मा का आश्रय होने योग्य है ॥ ३ ॥

रसतमत्व गुण को कहकर आप्तिगुण को कहने के लिए शिष्यरूपा श्रुति ऋगादि जाति को पूछती है, यथा—

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—कौन कौन ऋक् है, कौन कौन साम है, और कौन कौन उद्गीथ है ? यह विचार किया जाता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—तब ऋचा क्या है ? साम क्या है ? और उद्गीथ क्या है ? यह विचार है याने प्रश्न किया जाता है।

इस सृष्टि में 'उद्गीथ रसों का रस है' इस तत्त्व के बोधन करने के लिए जो पहले रस गिनाये गये हैं, उनमें जो ऋचा, साम, उद्गीथ आये हैं, ये क्या चीज है ? अब इस मन्त्र में यह विचार करते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—पूर्वोक्त मन्त्र में ऋक्, साम, उद्गीथ ये तीन शब्द आये हैं, इनका अन्य ग्रन्थों में प्रयोग होता है। अन्यत्र कहा गया है कि छन्दोबद्ध श्लोक मात्र को ऋक्, गायन को साम, और उद्गातृकर्तृक गायन मात्र को उद्गीथ कहते हैं। अब यहाँ प्रश्न होता है कि उक्त शब्दों का प्रकृत में क्या अर्थ लेना उचित है ? यही इस मन्त्र में जिज्ञास्य है। कतम शब्द का दो बार उच्चारण करना सम्मान के बोधन करने के लिए है ॥ ४ ॥

शिष्यरूपा श्रुति से इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्यरूपा श्रुति उत्तर देती है, यथा—

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥

भावार्थ—वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है तथा ओम् यह अक्षर उद्गीथ है। यह जो वाणी, प्राण, ऋचा और साम हैं, सो निश्चय करके मिथुन याने जोड़े हैं ॥५॥

वि० वि० भाष्य—वाणी के बिना ऋचाओं का उच्चारण तथा प्राण के बिना सामवेद का गान नहीं हो सकता, अतः ऋचा का कारण वाणी और साम का कारण प्राण है। कार्य कारण का अभेद होने से जो वाणी है वही ऋचा है, जो प्राण है वही सामवेद है, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार कारणभूत वाणी और प्राण के ग्रहण करने से समस्त ऋचा और समस्त साम का अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसा

होने पर ऋचा तथा साम से सिद्ध होनेवाले सब कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है, और उन का अन्तर्भाव होने पर सम्पूर्ण कामनाएँ उन के अन्तर्भूत हो जाती हैं। "ऋक् च साम च" इस में ऋचा और साम के कारण ही ऋक् और साम शब्दों से कहे गये हैं। अतः यह जो समस्त ऋचा और साम के हेतुरूप वाणी और प्राण हैं, सो मिथुन याने जोड़ा हैं। और यह मिथुन ही अविनाशी ओंकार उद्‌गीथ है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि समस्त कामनाओं की उपलब्धि का हेतुरूप ओंकार व्याप्तिगुण विशिष्ट है ॥ ५ ॥

विशेष—(क) यद्यपि प्रकृत मन्त्र में वाणी और ऋचा की एकता बतलाई गई है, तो भी तृतीय मन्त्रोक्त उद्‌गीथ के अष्टमत्व का व्याघात नहीं होता, क्योंकि यह पूर्ववाक्य से भिन्न वचन है।

(ख)—प्रकृत मन्त्र में उद्‌गीथ शब्द से समस्त उद्‌गीथ का ग्रहण न हो जाय इस शंका की 'ओम् यह अक्षर ही उद्‌गीथ है' ऐसा कहकर निवृत्ति की गई है।

(ग)—प्रकृत मन्त्र में किसी का कहना है कि ऋचा और साम का एक मिथुन तथा वाणी व प्राण का दूसरा मिथुन, इस प्रकार दो मिथुन हैं। किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऋचा और साम से कारण का ही निर्देश अभिप्रेत है, अतः कारणरूप वाणी और प्राण का ही एक मिथुन है। किञ्च यदि उपर्युक्त प्रकार से दो मिथुन मान लिये जायँ तो 'तद्वा एतद् मिथुनम्' यह एकवचन अनुपपन्न हो जायगा। अतः वस्तुतः एक ही मिथुन है। तात्पर्य यह है कि ऋचा और साम स्वतन्त्रता से मिथुन नहीं हैं ॥ ५ ॥

ओंकार में संसृष्ट मिथुन के समागम का फल कहते हैं, यथा—

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब वह यह मिथुन ओम् इस अक्षरमें संसृष्ट होता है तब ओंकार का समस्त कामनाओं की उपलब्धिरूप गुण से युक्त होना सिद्ध होता है। जब मिथुन के अवयव परस्पर मिलते हैं, तब एक दूसरे की कामना पूर्ण कर देते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—वह यह सर्व कामनाओं की प्राप्तिरूप गुण से विशिष्ट वाक्प्राणात्मक मिथुन अविनाशी इस ओंकार में संबद्ध रहता है, अतः ओंकार की सकल कामनाओं की उपलब्धिरूप गुणवत्ता प्रसिद्ध है। ओंकार का वाङ्मय तथा प्राणनिष्पाद्य होना ही मिथुन से संसृष्ट होना है। कामनाओं की प्राप्ति करा देना यह

मिथुन का धर्म प्रसिद्ध है, इस विषय में दृष्टान्त कहा जाता है—जैसे संसार में मिथुन के अवयवभूत स्त्री और पुरुष ग्राम्यधर्म से आपस में संबन्ध करते हैं, उस समय वे एक दूसरे की कामना पूर्ण कर देते हैं। इसी प्रकार अपने से अनुप्रविष्ट मिथुन के द्वारा ओंकार की समस्त कामनाओं की उपलब्धिरूप गुणवत्ता सिद्ध होती है ॥ ६ ॥

विशेष—पूर्व मन्त्र में कहा गया है कि दो मिथुन नहीं हैं किन्तु एक ही मिथुन है, अन्यथा 'तद्वा एतद् मिथुनम्' इस एकवचन की अनुपपत्ति हो जायगी। जब ऐसी बात है तब प्रकृत मन्त्र में 'मिथुनौ' यह द्विवचन कैसे संगत होगा? इस शंका का समाधान यह है कि प्रकृत में मिथुन के अवयवभूत स्त्री और पुरुष हैं, अतः अवयव के दो होने से 'मिथुनौ' इस द्विवचन का देना व्यर्थ नहीं है।

मनुष्य की वाणी और प्राण ब्रह्म के आश्रित होकर ही सफल होते हैं, जो पुरुष वाणीरूप ऋक् तथा प्राणरूप साम को लक्ष्य में रखता है उसी को उक्त मिथुन फलप्रद होता है, अन्य को नहीं।

'ओम्' इस में वाणी और प्राण का जोड़ा जैसा मिला हुआ है उस का कुछ साधारण दिग्दर्शन इस प्रकार है कि—वाणी की उत्पत्ति का मुख में सब से पहला स्थान कण्ठ है और अन्तिम ओष्ठ, उस से भी आगे का स्थान नासिका है। व्याकरण की रीति से ओम् नाम—अ उ , अकार का उच्चारण कण्ठ में होता है, उस समय मुँह खुला रहता है, उकार ओष्ठों को संकुचित करता हुआ उच्चरित होता है। अनन्तर मकार के कहते समय मुख बिलकुल बन्द हो जाता है। यद्यपि मकारोच्चारण में नासिका का भी कुछ व्यापार है पर उस का मुख के खुले रहने में या खुले रहने से कोई उतना सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् ओम् वाणी के सारे स्थानों को व्याप्त कर उच्चरित होता है, और जब यह ऊँचे स्वर में उच्चारण किया जाता है तब इस में प्राण और वाणी दोनों का मेल हो जाता है। स्वर प्राण का रूप है। प्राण और वाणी मनुष्य का उत्तम जीवन है, उस की सारी कामनाओं का साधक है। यह जोड़ा ओम् में मिलकर अपनी शक्ति की ओम् में स्थापना करता है। इस शक्ति को जो जानता है वह उद्गाता अपनी तथा यजमान की सारी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ ६ ॥

अब उद्गीथ दृष्टि से ओंकार की उपासना करने का फल कहते हैं, यथा—

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस प्रकार जो विद्वान् पुरुष इस उद्गीथरूप अविनाशी ओंकार

की उपासना करता है, वह निश्चय ही समस्त कामनाओं की उपलब्धि करानेवाला हो जाता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रकार जो उपासक पूर्वोक्त आप्तिगुणविशिष्ट उद्गीथसंज्ञक नित्य ओंकार का सेवन करता है तथा फिर यजमान को यज्ञ कराता है, वह यजमान की सकल कामनाओं का पूर्ण करनेवाला होता है। अर्थात् उसके द्वारा यजमान और उसकी स्त्री के मन में जो जो लौकिक अथवा पारलौकिक कामनायें उठती हैं वे सब पूर्ण हो जाती हैं ॥ ७ ॥

विशेष—जिस देवता में जितनी सामर्थ्य होती है वह अपने उपासक का उतना ही उपकार कर सकता है। जैसे तुलसीदास पर प्रसन्न हुआ भूत उन्हें रघुनाथजी का दर्शन न करा सका, किन्तु हनुमान्‌जी ने वह काम कर दिया। इसी प्रकार अन्यान्य देवता परिमितशक्ति होने के कारण उपासक की सभी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकते। हाँ, उद्गीथ दृष्टि से उपासनीय ओंकार अपरिमित शक्ति-शाली होने के कारण सभी कामनाओं के सफल करने में समर्थ है।

फिर यह भी बात है कि उद्गीथप्रतिपाद्य ब्रह्म के ज्ञाता को सर्वोत्तम फल-प्राप्ति इसलिए कथन की गई है कि उसका ज्ञान भ्रान्तिरहित होता है। पहले मन्त्र में जो ओंकार की महिमा का महत्त्व प्रदर्शन किया गया है उसे जाननेवाला वैदिक उद्गाता अवश्य ही यजमान की ही क्यों, सारे जगत् की कामना को पूर्ण कर सकता है। बड़े से ही बड़ा काम होता है। उद्गीथरूप से कथित ओंकार महाप्रभु से और कौन बृहत् हो सकता है ? ॥ ७ ॥

ओंकार समृद्धिगुणवाला भी है, इस बात को कहते हैं, यथा—

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह यह ओंकार ही अनुमतिवाचक शब्द है। क्योंकि विद्वान् पुरुष जो कुछ अनुमति देता है तो 'ओम्' ऐसा ही कहता है। यह अनुज्ञा ही प्रसिद्ध समृद्धि यानी सम्पत्ति है। जो विद्वान् पुरुष इस अक्षर ओंकार का इस प्रकार सेवन करता है वह निश्चय ही सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—व्यवहारदशा में कोई मनुष्य किसी को धन धान्य आदि देने के लिए अनुमति देता है तो उस विषय में वह अपनी अनुमति देता हुआ 'ओम्' ऐसा कहकर अनुमोदन करता है। ओंकार अनुज्ञा—अनुमति है, ओम् यह समृद्धि है, क्योंकि समृद्धिमूलक है। समृद्ध पुरुष ही ओम् कहकर अनुमति देता है। भावार्थ यह हुआ कि ओंकार समृद्धि गुणवाला है, जो मनुष्य ऐसा जानकर उद्गीथ अक्षर की उपासना करता है वह समृद्धिशाली ओंकार का उपासक समृद्ध होकर अपने यजमान की अभिलाषाओं को समृद्ध करता है, अर्थात् उन की पूर्ति करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

विशेष—लोक में किसी से कोई मनुष्य कहता है कि मैं तेरी सम्पत्ति लेता हूँ। वह कहता है कि ओम्। प्राचीन काल में याज्ञवल्क्य ऋषि से शाकल्य ब्राह्मण के 'देवता कितने हैं?' यह पूछने पर उसने उत्तर दिया कि 'तेतीस'। ऐसा सुनकर शाकल्य ने ओम् यह कहकर अपनी अनुमति प्रदान की। लोक में अनुमति ही सब कुछ है। श्रीमानों की अनुमति श्रीयुक्त होती है, और ओंकार ही अनुज्ञाक्षर है, वह समृद्धिगुणयुक्त है।

जो धर्म में, धन में, प्रभुता में तथा विद्या आदि में दूसरों से बढ़ा हुआ नहीं है, उस से कोई अनुज्ञा नहीं माँगता, न वह किसी को दे ही सकता है। प्रत्युत उस को दूसरों से अनुज्ञा माँगने की आवश्यकता पड़ती है। भावार्थ यह है कि जिन जातियों तथा राष्ट्रों के पास धन, वाणिज्य, विद्या, सामग्री है वे ही अभावग्रस्त देशवासियों के माँगने पर ओम् कहकर स्वीकृत प्रदान करने का गौरव प्राप्त करने का अधिकार रखते हैं। वे ही दूसरों की आवश्यकता पूर्ण करनेवाले समृद्ध देश-वासी हैं। इसी समृद्धि का बोधक ओंकार है।

ओंकार उपास्य है, अतः उस की उपासना में रुचि की उत्पत्ति के लिए अब श्रुति उस ओंकार की स्तुति करती है, यथा—

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳ-सत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ।९।

भावार्थ—उस ओंकार से ही त्रयी विद्या की प्रवृत्ति होती है। अध्वर्यु 'ओम्' ऐसा कहकर ही देवता या यजमान को श्रवण कराता है, 'ओम्' ऐसा कहकर होता शंसन करता है तथा 'ओम्' ऐसा कहकर ही सामवेदी ऋत्विक् गान करता

है। सम्पूर्ण वैदिक कर्म भी 'ॐ' इस अक्षर की ही पूजा के लिए हैं और इसी की महिमा तथा रस से सब कर्मों की प्रवृत्ति होती है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—उस अविनाशी ओंकार से ही ऋक् यजुः तथा सामरूप त्रयी विद्या अर्थात् त्रयीविद्याविहित कर्म प्रवृत्त होते हैं। यज्ञ में प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु होता है तथा वह यजुर्वेदी होता है। 'ओम्' ऐसा कहकर ही अध्वर्यु आश्रावण कर्म करता है अर्थात् जब अध्वर्यु कहता है कि 'ॐ आश्रावय' उस समय ऋग्वेदी ऋत्विक् होता 'ओम्' ऐसा कहकर प्रशंसा करता है तथा 'ओम्' ऐसा कहकर ही सामवेदी ऋत्विक् उद्गाता उच्च स्वर से सामवेद का गान करता है। इस अविनाशी ओंकार की पूजा के लिए ही समस्त वेदोक्त कर्म हैं। क्योंकि यह परमात्मा का प्रतीक है अतः इस की पूजा परमात्मा की ही पूजा है। तथा ओंकार की महिमा तर्थात् ऋत्विक् एवं यजमान आदि के प्राणों से ही और रस यानी व्रीहि यवादि रस से बने हुए हवि से ही सब वैदिक कर्म संपन्न होते हैं ॥ ९ ॥

विशेष—जब ऐसी बात है तो क्या वे प्राण और हवि उस अक्षर के विकार हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विकार नहीं हैं, परन्तु वे याग होमादि उस अक्षर के उच्चारणपूर्वक ही किये जाते हैं।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

अर्थात् इस अक्षर के उच्चारणपूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है। आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और उस अन्न से वीर्यादि द्वारा प्रजा की उत्पत्ति होती है तथा प्राण और अन्न से यज्ञ का विस्तार किया जाता है। यही कारण है कि 'इस अक्षर की महिमा से और इस से' ऐसा कहा गया है ॥ ९ ॥

ऐसी अवस्था में अक्षरज्ञानवान् को ही कर्म करना चाहिए, याने अक्षरविज्ञानवान् से विहित कर्म ही फलातिशय का हेतु होता है। इसी बात को दृढ करने के लिए श्रुति आक्षेप करती है, यथा—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

भावार्थ—जो इस को इस तरह जानता है तथा जो नहीं जानता, वे दोनों इस ओंकार करके ही कर्म करते हैं, क्योंकि ज्ञान पृथक् है और अज्ञान पृथक् है, अतः विद्या, श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक जो कर्म करता है, उस का वह कर्म निश्चय ही अधिक फल को देनेवाला होता है। इस प्रकार यह सब इस ओंकार का ही व्याख्यान है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपर्युक्त प्रकार से इस ओंकार अक्षर के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं और नहीं जानते, वे दोनों ही यद्यपि कर्मानुष्ठान करते हैं। तथापि विद्या और अविद्या दोनों ही भिन्न भिन्न वस्तु हैं, अतः नहीं जाननेवालों की अपेक्षा 'ओंकार रसतम तथा आप्ति और समृद्धि इन गुणों से युक्त है' ऐसा जाननेवाले पुरुषों से श्रद्धा भक्तिपूर्वक किये गये कर्मों के फल में उत्कृष्टता रहती है। जैसे लोक में व्यापारी और भील इन दोनों में से व्यापारी को पद्मरागादि मणियों की बिक्री का अधिक ज्ञान होने से अधिक फल होता है। अनेक विशेषणों के द्वारा बहुत तरह उपासनीय होने के कारण निश्चय ही यह सब इस उद्गीथसंज्ञक प्रकृत ओंकार अक्षर की ही व्याख्या है ॥ १० ॥

विशेष—जैसे लोक में हरीतकी के रस को जाननेवाले और न जाननेवाले इन दोनों को ही हरीतकी खाने से रोगनाशरूप समान ही फल देखा गया है, ओंकार के विषय में वैसी बात नहीं है। क्योंकि यहाँ तो अविद्वान् के कर्म से विद्वान् का कर्म वीर्यवत्तर बतलाया गया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अविद्वान् का भी कर्म वीर्यवान् होता है। अविद्वान् का कर्म में अधिकार ही नहीं है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि इस अध्याय के दशम खण्ड में अविद्वानों को भी ऋत्विक्-कर्म करते देखा जाता है। वह अक्षर आप्त्यादिगुणविशिष्ट है, ऐसी एक उपासना है, कारण कि इस का निरूपण करते समय मध्य में कोई प्रयत्नान्तर नहीं देखा गया, अतः यह सम्पूर्ण अक्षर की ही व्याख्या है।

ऋत्विजों के लिए ओङ्कार के अर्थ का रहस्य जानना आवश्यक है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो मनुष्य ओम् अक्षर का केवल शुद्ध उच्चारण कर सकता है और दूसरा जो इस के गूढ अर्थ को जानता है, दोनों ही यज्ञ को पूरा कर सकते हैं, तो क्या आवश्यकता है कि ऋत्विक् इस के अर्थ को जाने? लोकानुभव भी है कि हरीतकी के गुण को कोई जाने या न जाने, उस के सेवन का अज्ञ तथा तज्ज्ञ दोनों को फल समान होगा। न्याय भी है कि "नहि द्रव्यशक्तिर्ज्ञानमपेक्षते" किसी भी पदार्थ की सामर्थ्य यह परवाह नहीं रखती कि अमुक मनुष्य मुझे जाने। अग्नि की दाहकत्वशक्ति को कोई जाने या न जाने वह तो अपना काम कर

ही देगी। इसी प्रकार यज्ञानुष्ठान और ॐ का शुद्ध उच्चारण अपना फल देगा ही; वह किसी के ज्ञान की अपेक्षा क्यों करने लगा ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि न जानने की अपेक्षा जानना अच्छा है, क्योंकि किसी रत्न से अनभिज्ञ उतना लाभान्वित नहीं हो सकता जितना अभिज्ञ। इस में सन्देह नहीं कि रत्न (हीरा) रत्न ही है, पर उस से जितना लाभ जौहरी उठा सकता है उतना शाकवणिक् गँवार नहीं। हम चाहते हैं लोग ओम् के गुणों को जौहरी की तरह परखें, श्रद्धा से भरे हुए हृदय से उस का उच्चारण करें और उस के रहस्य पर ध्यान दें। इसी से कई गुना अधिक लाभ होगा।

प्रकृत में ओम् के सम्बन्ध में विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर ये तीनों प्रत्येक धर्मकार्य के अङ्ग हैं। धर्मकार्यों में जिस स्वाभाविक शक्ति का प्रयोग होता है यदि वह उक्त इन तीन अङ्गों से युक्त हो जाय तो अधिक बलशाली हो जाती है। क्योंकि इस से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, और मनुष्य की संकल्पशक्ति और भी अधिक सुदृढ बन जाती है ॥ १० ॥
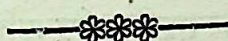
द्वितीय खण्ड

अब प्राणोपासना की उत्कृष्टता सूचित करनेवाली आख्यायिका को कहते हैं, यथा—

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥ १ ॥

भावार्थ—विख्यात है कि पूर्व समय में प्रजापति के पुत्र देव और दानव किसी कारणवश आपस में लड़ाई करने लगे। उनमें से देवताओं ने यह विचार करके कि इसके द्वारा दानवों का पराजय करेंगे, उद्गीथ का अनुष्ठान किया ॥१॥

वि० वि० भाष्य—प्रसिद्ध है कि एक ही पुरुष में इन्द्रियों की दो प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। एक सत्त्वगुणी, और दूसरी उसके विपरीत जीवनोपयोगी प्राणव्यापारों में ही रमण करनेवाली होने के कारण प्रकृति से ही तमःप्रधान। ये दोनों तरह की वृत्तियाँ परस्पर में विषयभोग के लिए इस प्रकार लड़ती हैं जैसे कश्यप ऋषि के संतान देवता और राक्षस यज्ञ में बलि के निमित्त लड़ते हैं। तथा जैसे

असुरों को सबल पाकर देवता विष्णु भगवान् की शरण लेते हैं, वैसे ही सत्त्वगुणी इन्द्रियवृत्तियाँ भी तमोगुणी वृत्तिरूप राक्षस को सबल पाकर उद्गीथ नामक पर-ब्रह्म की शरण को प्राप्त होती हैं। वे यह विचार करती हैं कि हम उसके द्वारा इन तामसी वृत्तियों को पराजित करेंगी ॥ १ ॥

विशेष—शास्त्रीय प्रकाशवृत्ति का पराभव करने के लिए प्रवृत्त हुई प्रकृति से ही तमोरूप इन्द्रियवृत्तियाँ असुर हैं। तथा उनसे विपरीत शास्त्रार्थविषयक विवेकज्योतिःस्वरूप देवगण स्वाभाविक तमोरूप असुरों का पराभव करने के लिए प्रवृत्त हैं। इस प्रकार परस्पर की वृत्तियों के अभिभव उद्भवरूप संग्राम के समान यह देवासुरसंग्राम अनादि काल से सम्पूर्ण प्राणियों में, प्रत्येक देह में होता आ रहा है।

कर्म और उपासना के अधिकारी पुरुष का नाम प्रजापति है। उसी की शास्त्रीय और स्वाभाविक ये परस्पर विरुद्ध इन्द्रियवृत्तियाँ सन्तान के समान हैं। एक तरफ तो कश्यप के पुत्रों में से देवताओं ने विष्णु की शरण ली, दूसरी ओर पुरुष की इन्द्रियवृत्तियों में से सत्त्वगुणी इन्द्रियवृत्तियों ने उद्गीथसंज्ञक परब्रह्म की शरण ली। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियाँ देवता हैं, और पाप की वृत्तियाँ असुर, और प्रजापति मनुष्य को जानो। उसकी उक्त दोनों वृत्तियाँ सन्तान हैं। धर्म की वृत्तियाँ पाप की वृत्तियों को दबाना चाहती हैं, इसी तरह पाप की वृत्तियाँ धर्म की वृत्तियों को। इसी देवासुरसंग्राम के कथन करने के लिए यह आख्यायिका कही गई है।

यहाँ उद्गाता अपने उद्गीथ के गाने में दूसरों की याने यजमान आदि की भलाई की प्रार्थना करना चाहता है, यह उद्गाता की प्रवृत्ति स्वार्थ नहीं किन्तु परार्थ है। इसलिए उसको ऐसे स्वरूप पर ध्यान रखना चाहिए जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थ न हो, प्रत्युत परार्थ हो। यही कारण है कि यहाँ सारी इन्द्रियों की परीक्षा करके सब में स्वार्थ दिखलाकर अन्त में प्राण को केवल परार्थी दिखलाया गया है।

इस आख्यायिका को सन्त लोग यों भी समझाया करते हैं कि शास्त्र के अभ्यास द्वारा वेदानुशासन पालन करनेवाली वृत्तियों का नाम देव और तद्विपरीत बहिर्मुख वृत्तियों का नाम यहाँ असुर है। इस मानवदेहरणाङ्गण में उक्त दोनों वृत्तियों का अहर्निश देवासुर-संग्राम होता रहता है। इसे सभी मनुष्य अच्छी तरह अनुभव कर रहे हैं। आप लोग यह खूब जानते हैं कि जो पुरुष शास्त्रीय ज्ञानालोक से भले बुरे को देख रहे हैं, जो शमदमादि साधनसम्पत्ति से धनी हैं, जो अनुष्ठानपूर्वक

वेदाज्ञा का पालन करते हैं और जो वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थ हैं, उनकी आसुरी वृत्तियाँ दबकर शिथिल हो जायँगी। उस समय उत्तम वृत्तियों का साम्राज्य स्थापित होगा। इस लिए मनुष्य को उचित है कि वह उद्गीथरूप ब्रह्म की उपासना में अहर्निश प्रवृत्त रहे, जिससे आपातरमणीय आसुरी वृत्तियाँ उसको व्यामोह से मुग्ध कर मन्द कर्मों में खींच न ले जा सकें॥ १॥

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तꣳ हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः॥ २॥

भावार्थ—उन्होंने नासिका में रहनेवाले प्राण की उद्गीथ रूप से उपासना की। परन्तु असुरों ने उसे अधर्म से विद्ध कर दिया। इसलिए वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों को ही सूँघता है, क्योंकि वह पाप से संयुक्त है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—इन इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तियों ने चेतनावान् नासिक्य प्राण की उद्गीथरूप से अर्थात् उद्गीथसंज्ञक ओंकार अक्षर की नासिक्य प्राणदृष्टि से उपासना की। इस तरह अर्थ करने से प्रकृतार्थत्याग और अप्रकृतार्थ की कल्पना करनी भी नहीं पड़ती, क्योंकि 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्य' इस श्रुति वचन के अनुसार यहाँ उपास्य रूप से ओंकार का ही प्रकरण है। इन्द्रियों की तामसी वृत्तियों ने नासिका में रहनेवाले उस चैतन्य प्राण को अधर्म और आसक्ति-रूप अपने पाप से वेध दिया। अर्थात् वह नासिक्य प्राण पुण्य गन्ध को ग्रहण करने के अभिमान और आसक्ति से अभीभूत, विवेक और विज्ञानवाला हो गया, अतः उस पाप से प्रेरित हुआ ही वह प्राणियों का घ्राणसंज्ञक प्राण दुर्गन्ध को ग्रहण करनेवाला है। इसीसे वह सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों ही को सूँघता है, क्योंकि पाप से विद्ध है॥ २॥

विशेष—(क) पहले तो 'उद्गीथ' से उपलक्षित कर्म का अनुष्ठान कहा गया था। सम्प्रति उद्गीथसंज्ञक ओंकार अक्षर की ही नासिक्यप्राणदृष्टि से उपासना की, ऐसा क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ उद्-गीथ कर्म में ही उद्गीथ का कर्ता जो प्राणदेवता है उसी की दृष्टि से उद्गीथभक्ति का अवयवभूत ओंकार उपास्य रूप से विवक्षित है, स्वतन्त्र ओंकार नहीं। अतः उसी के लिए औद्गात्र कर्म का अनुष्ठान किया, ऐसा जो कहा है वह उचित ही है।

'नासिका में होनेवाले प्राण को उद्गीथरूप से उपास्य माना' इसका भाव यह है कि यह प्राण जो नासिका में चलता है यह उद्गीथ है, ऐसा जानकर उद्गीथ की उपासना की। पाप का फल केवल दुर्गन्ध है, यदि घ्राण पाप से न लिप्त हो जाता तो केवल सुगन्ध ही सूँघता। सुगन्ध सूँघने में घ्राण की अपनी आसक्ति है, लालच है, यही इसमें पाप है। यद्यपि सुगन्ध सूँघने का फल सारी इन्द्रियों को मिलता है, तथापि घ्राण का काम स्वार्थ से शून्य नहीं, जैसा कि प्राण का है।

(ख) जैसे 'यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छति' इस वाक्य में 'उभयम्' यह पद विवक्षित नहीं है, वैसे ही प्रकृत मन्त्रोक्त उभय पद भी विवक्षित नहीं है। क्योंकि 'पाप से विद्ध होने के कारण लोक दुर्गन्ध को ग्रहण करता है' केवल इतना ही कहना उचित है। बृहदारण्यक श्रुति में भी इसी के समान यही सुना गया है कि 'जो इस अननुरूप गन्ध को सूँघता है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'उभय' शब्द का ग्रहण करना उचित नहीं है ॥ २ ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ताँ हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः उन्होंने वाणी का उद्गीथरूप से सेवन किया। परन्तु असुरों ने उसे पाप से विद्ध कर दिया। अतएव मनुष्य उसके द्वारा सत्य तथा असत्य दोनों बोलता है, क्योंकि वह पाप के संसर्ग से युक्त है ॥ ३ ॥

[३ से ६ तक चार मन्त्रों का भाष्य और विशेष आगे इकट्ठा लिखा जायगा।]

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—फिर उन्होंने चक्षु की उद्गीथरूप से उपासना की। असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध कर दिया। इसीसे मनुष्य दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों प्रकार की वस्तुओं को देखता है, क्योंकि चक्षु पाप से विद्ध है ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना

विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुनः उन्होंने श्रोत्र की उद्गीथरूप से उपासना की। असुरों ने उसे भी पापविद्ध कर दिया। इसी से मनुष्य उससे श्रोतव्य और अश्रोतव्य दोनों प्रकार की बातों को सुनता है, क्योंकि वह पाप से विद्ध है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—फिर उन्होंने मन की उद्गीथरूप से उपासना की। असुरों ने उसे भी पाप से वेध दिया। इसीसे उसके द्वारा मनुष्य संकल्प करने योग्य और संकल्प न करने योग्य दोनों ही प्रकार के संकल्प को करता है, क्योंकि वह पाप से विद्ध है ॥६॥

वि० वि० भाष्य—जैसे जिस जिस स्थान में देवता वास करते थे, उस उस स्थान को असुर भ्रष्ट कर देते थे, वैसे ही सात्त्विक वृत्तियाँ शरीर की जिस जिस इन्द्रिय में वास करने लगीं उसी उसी इन्द्रिय की तमोगुणी वृत्तियों ने उस को पाप से संयुक्त करना आरम्भ कर दिया। वाणी, चक्षु, श्रोत्र तथा मन में स्थित चेतन की तमोगुण-वृत्तियों द्वारा पाप से संयुक्त तथा भ्रष्ट हुई पूर्वोक्त इन्द्रियों से मनुष्य सत्य तथा झूँठ दोनों बोलता है, दर्शनीय तथा अदर्शनीय दोनों वस्तुओं को देखता है, श्रोतव्य तथा अश्रोतव्य दोनों बातों को सुनता है, और संकल्प करने योग्य तथा संकल्प न करने योग्य दोनों ही पदार्थों का संकल्प करता है, क्योंकि वे इन्द्रियाँ पाप से वेध दी गई हैं ॥ ३-४-५-६ ॥

विशेष—प्रधान प्राण को उपासनीय सिद्ध करने के लिए उस की विशुद्धता का अनुभव कराने के निमित्त से श्रुति ने यह विचार करना शुरू किया है। अतः चक्षु आदि के अभिमानी देवता आसुर पाप से विद्ध हैं, इस प्रकार क्रमशः विचार कर-के उनका अपवाद किया जाता है। बाकी सब इसी के समान हैं। इसी तरह उन्होंने वाणी, नेत्र, कर्ण और मन आदि को भी पाप से विद्ध कर दिया। "इस प्रकार निश्चय ही ये देवता पाप से संयुक्त हैं" इस अन्य श्रुति के अनुसार दूसरे बिना कहे हुए त्वक् एवं रसना आदि के अभिमानी देवताओं को भी पापसंसृष्ट ही समझना चाहिए ॥ ३-४-५-६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तꣳ हासुरा ऋत्वा विदध्वꣳ सुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुनः जो यह मुख्य प्राण है, उसी की उद्गीथरूप से उन्होंने उपासना की। असुरसमूह उस प्राण के निकट जाकर इस तरह विनष्ट हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला कठिन पत्थर पर गिरकर फूट जाता है॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—फिर जो यह प्रसिद्ध मुख में रहनेवाला चेतन प्राण है उस की इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तियों ने उद्गीथरूप से उपासना की। तब उस को इन्द्रियों की तमोगुणवृत्तियों ने भी पूर्ववत् विद्ध करने की इच्छा की। परन्तु प्राण के पास जाते ही उस का कुछ भी न बिगाड़कर केवल उस का वेध करने का संकल्प करके वे नाश को प्राप्त हुईं। जैसे मिट्टी का बर्तन दुर्भेद्य पाषाण पर गिरने से चूर चूर हो जाता है और उस पत्थर की कोई हानि नहीं होती, उसी तरह मुख्य प्राण ज्यों का त्यों बना रहा, उस को किसी तरह की हानि नहीं पहुँची॥ ७॥

विशेष—भाष्योक्त कथन से सिद्ध होता है कि प्राण सर्वश्रेष्ठ है तथा दुर्भेद्य पाषाण के समान है। अतः इस मुख्य प्राण को उद्गीथदृष्टि से उपासना करनेवालों के सामने जो कोई दुर्बुद्धि से व्यवहार करना चाहेगा, वह पत्थर पर घड़े के समान चूर चूर हो जायेगा।

उपर्युक्त मन्त्रों का भाव यह है कि असुर (दुष्ट) वृत्तियों के विजयार्थ देव (इन्द्रिय) अपने उपास्यदेव का अन्वेषण करते हुए प्रथम नासिकागत प्राण वायु की उद्गीथरूप से उपासना करने लगे। तब असुररूप वृत्तियों ने नासिका में दुर्गन्ध सूँघने का भाव भरकर विघ्न उपस्थित कर दिया। ऐसे दोषयुक्त स्वार्थी उपास्य देव के कारण देवता असुरों को न जीत सके। क्योंकि जिस सेना का नेता स्वार्थी हो वह दल कदापि कृतकार्य नहीं हो सकता। इस के अनन्तर देवता वाणी को, चक्षु और मन को उपास्य देवता बनाने पर भी सफलता न प्राप्त कर सके। कारण इन को भी मिथ्या भाषण, दूषित दर्शन और प्रतिकूल संकल्प से दुष्टों ने दूषित करके ही दम लिया। अन्त में देवगण प्राण को उपास्यदेव बनाकर सफलता प्राप्त कर सके। क्योंकि प्राण को दूषित करने में उन की कोई चाल न चल सकी।

मनुष्य के मुख में जो प्राण है अथवा प्राणों में प्रधान जो भी प्राण है, इस से

मनुष्य न सुगन्धिवाली वस्तु को जान सकता है और न दुर्गन्धियुक्त को। क्योंकि यह प्राण पापों से बचा हुआ है। इस से मनुष्य जो खाता पीता है उस से दूसरे प्राणों की (इन्द्रियों की) रक्षा होती है, क्योंकि प्रधान को सब से पहले दूसरों का ध्यान रखना पड़ता है ॥ ७ ॥

अब प्राणोपासक का महत्त्व वर्णन करते हैं, यथा—

एवं यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे मिट्टी का वर्तन कठिन पत्थर पर गिरकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही वह व्यक्ति नाश को प्राप्त हो जाता है जो इस प्रकार जाननेवाले पुरुष के प्रति पापाचरण की इच्छा करता है तथा जो इस को दुःख देता है। क्योंकि यह प्राण की उपासना करनेवाला दुर्भेद्य पाषाण ही है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस प्रकार मिट्टी का वर्तन अभेद्य पाषाण पर गिरकर चूर चूर हो जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति विनाश को प्राप्त हो जाता है जो इस प्रकार पूर्वोक्त प्राण को जाननेवाले उपासक के प्रति उस के अयोग्य पापाचरण करने की कामना करता है तथा जो इस प्राणवेत्ता के प्रति आक्रोशन एवं ताडनादि का प्रयोग करता है। क्योंकि वह प्राणवेत्ता प्राणस्वरूप होने के कारण अभेद्य पाषाण के समान अश्माखण अर्थात् दुर्धर्ष है। याने यह प्राण अविकारी ब्रह्मरूप है, सब पापकर्मों को ऐसे भस्म कर देता, जैसे वशिष्ठ के ब्रह्मदण्ड ने लड़ाई में विश्वामित्र के शस्त्रप्रहार को निष्फल कर दिया था ॥ ८ ॥

विशेष—जब मुख्य प्राण तथा नासिक्य प्राण दोनों वायुरूप ही हैं तब नासिक्य प्राण की तरह मुख्य प्राण भी पाप से विद्ध क्यों नहीं हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नासिक्य प्राण के वायुरूप होने पर भी स्थानावच्छिन्न इन्द्रिय के दोष के कारण तामसी इन्द्रियवृत्तियों ने उसे पाप से वेध दिया। परंतु मुख्य प्राण में आश्रयदोष का होना असंभव है तथा वह स्थान देवता से अधिक प्रबल भी है, अतः मुख्य प्राण पाप से विद्ध नहीं हुआ; यह बात ठीक ही है।

जैसे वसूला आदि औजार शिक्षित पुरुष के हाथ में रहने पर विशेष कार्य करते हैं, परंतु अशिक्षित के हाथ में पड़ने पर वैसा नहीं करते। उसी तरह दोषयुक्त

घ्राण का साथी होने के कारण घ्राणदेवता पाप से विद्ध है और मुख्य प्राण पाप से विद्ध नहीं है ॥ ८ ॥

असुरों ने मुख्य प्राण को पाप से विद्ध नहीं किया, अतः उसके विषय में कहा जाता है कि—

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति । एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

भावार्थ—तामसी वृत्तियों करके जो विद्ध नहीं है और जिससे पाप नष्ट हो गया है, वह मुख्य प्राण इस नासिका द्वारा न सुगन्ध को जानता है न दुर्गन्ध को ही जानता है। उसी विशुद्ध प्राण द्वारा पुरुष जो कुछ खाता है और जो कुछ पीता है उस खान पान करके नासिक्यादि प्राणरूपी देवताओं का अच्छी तरह पालन करता है। अन्त में इस मुख्य प्राण को प्राप्त न होने के कारण ही जब (घ्राणादि प्राणसमूह) उत्क्रमण करता है तब इसी कारण पुरुष अन्त में निश्चय करके मुख फाड़ देता है ॥ ९ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पुरुष इस मुख्य प्राण के द्वारा न सुगन्ध को जानता है और न दुर्गन्ध को ही। इन दोनों को वह घ्राण के द्वारा ही जानता है। अतः पाप का कार्य न देखने के कारण यह मुख्य प्राण अपहतपाप्मा यानी विशुद्ध है। क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियाँ अपने अपने कल्याण में आसक्त होने के कारण अपना ही पोषण करनेवाली हैं, और उस मुख्य प्राण के द्वारा तो मनुष्य जो कुछ खाते पीते हैं उस खान पान से वह मुख्य प्राण घ्राणादि दूसरे प्राणों का पोषण करता है, क्योंकि उसीसे उन सबकी स्थिति होती है। इसलिए मुख्य प्राण सभी का पोषण करनेवाला होता है, अतः वह विशुद्ध है। परंतु मुख्य प्राण द्वारा खाये पीये पदार्थों से नासिक्यादि प्राणों की स्थिति किस प्रकार जानी जाती है, सो कहते हैं कि इस मुख्य प्राण की वृत्तिरूप अन्नपान को न पाकर ही मृत्युसमय में घ्राणादि इन्द्रियसमूह भाग निकलता है। क्योंकि प्राणहीन पुरुष खाने या पीने में समर्थ नहीं होता। इसीसे उस समय घ्राणादि इन्द्रियसमूह की उत्क्रान्ति प्रसिद्ध है। उत्क्रमण काल में प्राण के भक्षण करने की इच्छा स्पष्ट ही देखी जाती है, इसीसे उस समय वह मुख फाड़ देता है। यही उत्क्रमण करनेवाले घ्राणादि को अन्नादि प्राप्त न होने का चिह्न है ॥ ९ ॥

विशेष—इस मन्त्र में मुख्य प्राण के कई विशेषण हैं, पहला विशेषण यह

है कि वह प्राण तामस वृत्तियों से विद्ध नहीं, दूसरा विशेषण यह है कि सुगन्ध और दुर्गन्ध से कोई संबन्ध नहीं रखता, तीसरा विशेषण यह है कि नासिकादि में स्थित जो देवता हैं उन को वह पालन करता है। यदि प्राण न रहे तो इन्द्रियाभिमानी देवता खान पान को न पाकर अपने अपने स्थान से निकल भागें। जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब उसका मुख खुल जाता है। प्राण के रहने का स्थान मुख है, और मुख में वह्नि का निवास है, और वह्नि शुद्ध है। अतः मुख्य प्राण अग्निस्थानवाला होने से घ्राणादि इन्द्रियों में स्थित प्राणों की अपेक्षा अत्यन्त शुद्ध है। शास्त्र के अनुसार क्षुधा, पिपासा प्राण की ऊर्मि हैं, इसलिए जब तक शरीर में प्राण है तब तक उस का खानपान है। इस खानपान से कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय पुष्ट होती हैं, और जब प्राण निकलने लगता है तब क्षण मात्र भी नहीं ठहर सकती हैं। अतः यह प्रसिद्ध है कि सब इन्द्रियाभिमानी देवता मुख्य प्राण के अधीन हैं।

ब्रह्मोपासक को दुःख का अभाव रहता है, यही इस मन्त्र में कहा गया है। जब उपासक का ब्रह्म के साथ योग होता है तब वह द्वन्द्वों से छूट जाता है, सुगन्धि दुर्गन्धि, सुख दुःख, शीत उष्ण तथा मान अपमान आदि को समान समझता है। ब्रह्मज्ञान का ही यह फल है कि वह अपने आप को दुःखी नहीं मानता, न सुख में सुखी ही। वह सुख दुःख आदि को आगमापायी मानता है। वह जो कुछ खाता पीता है शरीरयात्रा के लिए। जो मनुष्य प्राणरूप ब्रह्म का ज्ञाता नहीं है, वह मानो प्राणत्याग के समय मुख खोलकर यह पश्चात्ताप करता है कि यदि परमात्मा अबकी बार फिर मनुष्यजन्म दें तो मैं ऐसी भूल कभी न करूँ याने परमात्मपरायण अवश्य बनूँ।

भाष्यकार श्री शङ्कराचार्यजी यहाँ यह कहते हैं कि प्राण के निकलते समय जो मनुष्य का मुँह खुल जाता है, वह इस बात का चिह्न है कि अब भी प्राण कुछ खाना चाहता है, जिस से वह अब भी इन्द्रियों को सहायता दे सके। खा पीकर प्राण जब उन की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है तब घ्राण आदि इन्द्रियाँ उस समय शरीर का परित्याग करके चल देती हैं ॥ ९ ॥

अब प्राण का आङ्गिरस नाम होने में कारण प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

भावार्थ—अङ्गिरा मुनि ने इस (मुख्यप्राण) की उद्‌गीथ दृष्टि से उपासना की थी। अतः इस प्राण को ही आङ्गिरस मानते हैं, क्यों कि यह सब अङ्गों का रस है ॥ १० ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जैसे श्रुति माध्यम, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि आदि ऋषियों को ही प्राणत्व की प्राप्ति कराती है, ऐसे ही प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, इत्यादि के समान अङ्गिरा, बृहस्पति और आयास्य इन प्राणोपासक ऋषियों को भी श्रुति अभेदविज्ञान के लिए प्राण बनाती है। इसलिए इस का अभिप्राय यह है कि अङ्गिरा नामक ऋषि ने प्राणस्वरूप होकर ही आङ्गिरस आत्मरूप प्राण की उद्‌गीथ दृष्टि से उपासना की। क्योंकि प्राण होने के कारण वह हस्तपादादि अङ्गों का रस है, अतः आङ्गिरस कहलाता है ॥ १० ॥

विशेष—अङ्गिरा शब्द का अर्थ मुख्य प्राण है, जब से मुख्य प्राण की उपासना अङ्गिरा ऋषि ने की तब से उपास्य उपासक में अभेद होने से मुख्य प्राण का नाम भी अङ्गिरा पड़ गया। उद्‌गीथ तथा अङ्गिरा एक ही हैं, क्योंकि यह दोनों प्राणरूप हैं, और इसी प्रकार अङ्गिरा पिता और आङ्गिरस पुत्र अर्थात् कारण कार्य दोनों एक ही हैं। क्योंकि उपास्य उपासक के भेदाभाव के समान कार्य कारण में कोई भेद नहीं रहता है ॥ १० ॥

प्राण की बृहस्पति संज्ञा होने में कारण का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तेन त ँ ह बृहस्पतिरुद्‌गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥ ११ ॥

भावार्थ—इस मुख्य प्राण की उपासना बृहस्पति ऋषि ने उद्‌गीथ मानकर की, अत एव महर्षियों ने मुख्य प्राण को बृहस्पति माना है। क्योंकि वाणी ही बृहती है और यह उस का पति है ॥ ११ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह मुख्य प्राण वाणी अर्थात् बृहती का पति है, अतः बृहस्पति कहा जाता है। विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ बृहस्पति नामक ऋषि उद्‌गीथरूप ब्रह्म की उपासना करते थे, तथा उसी को सम्पूर्ण विश्व का आधार मानते थे। उक्त वेदवेत्ता ऋषि जो अपहतपात्मा आदि गुणों के धारण करने के कारण सब से बड़े कहलाये, वे जब ब्रह्म की उद्‌गीथ रूप से उपासना करते थे, तब तो मनुष्य को उस सर्वाधार परब्रह्म की उन के बताये हुए प्रकार से उपासना करके मनुष्यजीवन को अवश्य सफल बनाने के यत्न में लग जाना चाहिये।

यतः बृहस्पति ने प्राण की दृष्टि से उद्गीथ ओम् की उपासना की, अतः लोग इस को बृहस्पति मानने लगे ॥ ११ ॥

विशेष—मुख्य प्राण को बृहस्पति मानने में कारण यह है कि उपास्य उपासक में कोई भेद नहीं होता है। जो उपास्य है वही उपासक है, अतः वाणी बृहती का स्वामी बृहस्पति अर्थात् मुख्य प्राण है। क्योंकि वाणी मुख्य प्राण के अधीन है, जब तक मनुष्य में मुख्य प्राण रहता है तब तक उस में वाणी भी रहती है ॥ ११ ॥

प्राण की आयास्य संज्ञा होने में हेतु का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तेन तँ हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

भावार्थ—इसी से आयास्य ऋषि ने मुख्य प्राण की उद्गीथ दृष्टि से उपासना की, अतः पुरुषों से यह प्राण ही आयास्य कहा जाता है, क्योंकि यह आस्य से निकला है ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—यह मुख्य प्राण आस्य अर्थात् मुख से निकलता है, अतः आयास्य ऋषि ने प्राणरूप होकर ही इस की उपासना की।

इस ऋषि ने बहुत काल पर्यन्त गुरु की गायें चराईं और उन के लिए नियमपूर्वक समिधाहरण करने में त्रुटि न की। साथ ही विद्या भी पढता रहा, उसे हृदयङ्गम करने में घोर परिश्रम करता रहा। तदनन्तर वह कृतविद्य हो गुरु की आज्ञा लेकर अनेक कठिनस्थलीय तीर्थों में बहुत काल तक भ्रमण करता रहा। फिर उत्तराखण्ड में सिद्धाश्रमस्थ विद्वान् ऋषियों से अङ्गावबद्ध उपासना, सम्पत् उपासना, प्रतीकोपासना, अहंग्रहोपासना तथा संवर्ग उपासना आदि अनेक उपासनाओं के विषय में बहुत दिनों तक उपदेशामृत का पान करता रहा। ऐसे ही और भी अनेक सदनुष्ठान करने पर भी उसे जैसी शान्ति, सन्तोष तथा स्थिरता मिलनी चाहिए नहीं मिली, अधिकाधिक याने अत्यधिक परिश्रम, आयास करने के कारण उस समय के ऋषियों ने उसका नाम आयास्य रख दिया।

जब उस ने किसी ब्रह्मवेत्ता महापुरुष के कथनानुसार प्राण की उद्गीथ ॐकार रूप से उपासना की तब उस को चरमा शान्ति प्राप्त हो सकी। उसे कहीं बाहर जाकर अन्य आलम्बन नहीं खोजना पड़ा। उस ने अपने में ही आप को पाकर आपा सुधार लिया। तब से इस विद्या का नाम 'आयास्य' पड़ गया ॥ १२ ॥

विशेष—उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दूसरे उपासकों को उचित है कि वे लोग भी आङ्गिरसादि गुणविशिष्ट, आत्मस्वरूप प्राण की उद्गीथ रूप से उपासना करें ॥ १२ ॥

तेन तं ह बको दाल्भ्यो विदांचकार । स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस लिए दल्भ के पुत्र बक ने उसे जाना। वह नैमिषारण्य में यज्ञकर्ताओं का उद्गाता हुआ और उसने उनकी अभिलाषापूर्ति के लिए उद्गान किया ॥ १३ ॥

वि० वि० भाष्य—केवल अङ्गिरा आदि ने ही प्राण का सेवन नहीं किया, किन्तु दल्भ के पुत्र बक ने भी प्रदर्शित प्राण का ज्ञान किया था। इस तरह उसे जानकर वह नैमिषारण्य में यज्ञकर्ताओं का उद्गाता हुआ। उद्गाता बक ऋषि ने निश्चय करके इन यज्ञकर्ता ऋषियों की कामनाओं को पूर्ण किया। अर्थात् जिस कामना से उन्होंने यज्ञ किया था, वे सब सफल हुईं ॥ १३ ॥

विशेष—बक ऋषि मुख्य प्राण को जानकर नैमिषारण्य में यज्ञ करनेवाले ऋषियों का उद्गाता हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि दल्भ का पुत्र उन ऋषियों का उद्गाता नाम से ऋत्विक हुआ, जो सामवेदी होता है। जो यजुर्वेदी अध्वर्यु की आज्ञा से यज्ञ में सामवेद की शाखानुसार काम करता है, वह उद्गाता होता है ॥ १३ ॥

अब आगे कही जानेवाली अधिदैवत उद्गीथोपासना में बुद्धि को समाहित करने के लिए आत्मविषयिणी उद्गीथोपासना कही जाती है, यथा—

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् इस प्रकार मुख्य प्राण को इस अविनाशी उद्गीथरूप से सेवन करता है, वह पुरुष सम्पूर्ण अभिलाषाओं का निश्चय करके पूर्ण करनेवाला होता है। ऐसी यह अध्यात्म उपासना है ॥ १४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासक इस प्रकार उपर्युक्त गुणविशिष्ट मुख्य प्राण की अविनाशी तथा उद्गीथसंज्ञक ओंकाररूप से उपासना करता है, वह सब

कामनाओं का सिद्ध करनेवाला होता है। 'इति अध्यात्मम्' यानी यह उद्‌गीथोपासना आत्मविषयिणी है ॥ १४ ॥

विशेष—सकल कामनाओं को पूर्ण करनेवाला हो जाता है; यह इसका दृष्ट फल बतलाया गया है। 'देवता होकर ही देवताओं को प्राप्त होता है' इस अन्य श्रुति के अनुसार प्राणस्वरूपता की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल तो सिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि "देवो भूत्वा देवानप्येति" इस श्रुति के अनुसार उपासक उपास्यरूप हो जाता है। ओंकार विनाशरहित है, अतः उपासक भी अविनाशी ब्रह्मरूप हो जाता है।

जो शरीर अथवा शरीर के आश्रित इन्द्रियों से संबन्ध रखता है उसे अध्यात्म कहते हैं। अथवा जिसमें केवल अक्षर ब्रह्म का ही अनुसन्धान किया जाय उसका नाम अध्यात्मोपासना है।

शालग्राम शिला में विष्णुबुद्धिरूप उपासना की अपेक्षा इस उपासना में सौकर्य है—आसानी है। क्योंकि इसमें अन्य पूजनोपहारादि सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्यपि लिङ्गाकार में शिवबुद्धिरूप उपासना प्रभृति की साधारण अधिकारियों को आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि मन्दाधिकारी ऊँची उपासनाओं के ग्रहण करने में असमर्थ हैं। तथापि उच्चाधिकारप्राप्त मुमुक्षुओं को प्रकृतोपासना में प्रवृत्त होना चाहिये ॥ १४ ॥
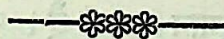
तृतीय खण्ड

आदित्य दृष्टि से उद्‌गीथ की उपासना कही जाती है, यथा—

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्‌गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्‌गायति उद्यꣳस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद अधिदैवत उपासना का कथन किया जाता है—जो कि यह प्रत्यक्ष तपता है तद्रूप से उद्‌गीथ की उपासना करे। यह निकलता हुआ निश्चय करके प्रजाओं के कल्याण के लिए उद्‌गान करता है, निकलता हुआ तम और भय का नाश करता है। जो इसको ऐसा जानता है वह तम और भय का विनाशक होता है ॥१॥

वि० वि० भाष्य—उद्गीथ के बहुधा उपास्य होने से अध्यात्म-प्राण-दृष्टि से उद्गीथोपासना के कथन करने के अनन्तर अधिदैवत—देव दृष्टि से उद्गीथोपासना का वर्णन आरम्भ किया जाता है, यथा—उपासक को उचित है कि जो यह प्रत्यक्ष आदित्य उदित होता है और प्रजाओं के कल्याण के लिए प्रकाश करता है तथा तम और तम के भय को नाश करता है, उस आदित्यरूप से उद्गीथ यानी ओंकार की उपासना करे। जो पुरुष इस प्रकार के गुण से युक्त आदित्य दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करता है, वह जन्म मरणादिरूप आत्मा के भय और तम का याने उसके हेतुभूत अज्ञान का विनाश करनेवाला होता है ॥ १ ॥

विशेष—इस मन्त्र में अलङ्काररूप से सूर्य को उद्गीथ कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार भौतिक सूर्य तपता हुआ अन्धकार तथा तत्कृत भय का निवर्तक होता है उसी प्रकार उद्गीथरूप दैवत उपासन अज्ञानरूप अन्धकार तथा मोहरूप भय का नाशक होता है। 'तम् उद्गीथम्' इसमें 'उद्गीथ' शब्द अक्षर का वाचक होता हुआ आदित्य अर्थ में कैसे प्रयुक्त हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सूर्य ऊपर की ओर जाता हुआ प्रजाओं के अन्न की उत्पत्ति के लिए उद्गीथ को गाता है। क्योंकि उस आदित्य के उदित न होने पर व्रीहि आदि अन्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस लिए जैसे उद्गाता अन्न के निमित्त उद्गान करता है वैसे ही वह उद्गान करने के समान उद्गान करता है। अतः आदित्य उद्गीथ है यह बात सिद्ध हो गई ॥ १ ॥

आदित्य तथा प्राण की तुल्यता और प्राणदृष्टि से उद्गीथोपासना कहते हैं, यथा—

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममं चोद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥

भावार्थ—यह प्राण और यह आदित्य तुल्य ही हैं। यह प्राण उष्ण है और यह आदित्य भी उष्ण ही है। यह प्राण 'स्वर' ऐसा कहा जाता है और आदित्य भी 'स्वर' तथा 'प्रत्यास्वर' ऐसा कहा जाता है। इस लिए प्राणरूप से और सूर्यरूप से उद्गीथ की उपासना करे ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—प्राण और सूर्य दोनों ही उष्ण हैं तथा प्राण को 'स्वर'

ऐसा कहकर पुकारते हैं और आदित्य को भी 'स्वर' एवं 'प्रत्यास्वर' कहकर पुकारते हैं। क्योंकि प्राण तो केवल स्वरण (गमन) ही करता है, मृत्यु के बाद वह फिर लौटता नहीं। परन्तु आदित्य रोज रोज अस्त होकर भी फिर लौटता है, अतः वह प्रत्यास्वर भी कहलाता है। इस तरह गुण और नाम से भी ये प्राण और सूर्य एक दूसरे के समान ही हैं। इसलिए वास्तविक अभेद होने के कारण इस प्राण और आदित्यरूप से उद्गीथ की उपासना करे॥ २॥

विशेष—प्राण के रहने से ही शरीर उष्ण (गरम) रहता है, और सूर्य के रहने से यह समग्र ब्रह्माण्ड गरम रहता है। इस से प्राण और सूर्य में समता प्रदर्शित करनेवाला यह मन्त्र है। केवल गुण की ही नहीं, प्रत्युत नाम की भी समानता है। जैसे प्राण स्वर है और सूर्य भी स्वर कहाता है, अन्तर इतना है कि सूर्य प्रत्यास्वर भी है। अर्थात् प्राण केवल गमन ही करता है, मरने के बाद वह लौट-कर नहीं आता, पर सूर्य उदय अस्त होता रहता है। अतः वास्तव में अभेद होने के कारण अर्थात् प्राण और आदित्य को समान जानकर उन में ईश्वर की महिमा का चिन्तन करना चाहिए। यानी प्राण और आदित्य की उद्गीथरूप से उपासना करनी चाहिए।

प्रकृत मन्त्रार्थ के विषय में किसी आचार्य का कहना है कि जो प्राण इस देह में स्थित है वही आदित्य में भी स्थित है। जिस प्रकार शरीरस्थित प्राण उष्ण है, उसी प्रकार आदित्यस्थित प्राण भी उष्ण है। जैसे शरीरस्थित प्राण स्वर कहलाता है, वैसे ही सूर्यस्थित प्राण भी स्वर कहलाता है। अतः उपासक को उचित है कि आदित्यस्थित प्राण का अपने में स्थित प्राण से अभेद समझकर प्राणदृष्टि से तथा आदित्यदृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे॥ २॥

अब व्यान दृष्टि से उद्गीथोपासना कहते हैं, यथा—

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वा-चमभिव्याहरति ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस के बाद दूसरे प्रकार से उद्गीथ की उपासना कही जाती है कि व्यानदृष्टि से ही उद्गीथ की उपासना करे। पुरुष जिस वायु को बाहर

निकालता है वही प्राण है और जिस वायु को नीचे को ले जाता है वही अपान है। प्राण और अपान की जो सन्धि है वही व्यान है। जो व्यान है वही वाणी है। इसी से मनुष्य प्राण और अपान के व्यापार को रोकता हुआ वाणी का उच्चारण करता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य जो मुख और नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकालता है वह वायु का प्राण नामक वृत्तिविशेष है तथा वह जो मुख और नासिका से वायु को भीतर खींचता है वह उस की अपानसंज्ञक वृत्ति है। प्राण और अपान के बीच का जो वृत्तिविशेष है वही व्यान है वही वाणी है। क्योंकि वाणी की निष्पत्ति व्यान से ही होती है, अतः प्राण और अपान की क्रियाएँ न करता हुआ मनुष्य वाणी का उच्चारण करता है ॥ ३ ॥

विशेष—श्रुति द्वारा विशेष रूप से व्यान का निरूपण किया गया है, अतः यहाँ जो सांख्यादि शास्त्र में विख्यात सर्वशरीरव्यापी व्यान है वह व्यान अभि-प्रेत नहीं है। प्राण और अपान का परित्याग कर अत्यन्त परिश्रम से व्यानदृष्टि से ही उद्गीथोपासना का निरूपण करने का कारण यह है कि यह वीर्यवान् कर्म की निष्पत्ति का हेतु है। क्योंकि व्यान से ही वाणी की निष्पत्ति होती है। प्राण अपान की जो सन्धि है, याने श्वास का अंदर ही थमना है, वह व्यान है। जो व्यान है, वह वाणी है। इसलिए जब हम वाणी बोलते हैं, तो न बाहर श्वास लेते हैं, न अंदर को खींचते हैं। भाव यह है कि जब हम बोलते हैं तो हमारा श्वास थम जाता है। जब लगातार बोलते हैं तो बीच बीच में श्वास को भी अवसर मिलता रहता है। जब श्वास का आना जाना थम जाता है, बस उसी अवस्था का नाम व्यान है, और वही वाणीरूप में प्रकट हो जाता है। यदि श्वास आता जाता रहे तो वाणी नहीं बोली जा सकती। पर श्वास लेने और बोलने के पूर्वापर व्यापार का पता नहीं चलता, क्योंकि यह प्रक्रिया अति अभ्यस्त हो गई है ॥ ३ ॥

वाग् विशेष ऋक् , ऋचा में स्थित साम तथा साम का अवयव उद्गीथ केवल व्यान से ही निर्वर्त्य है; इस बात को कहते हैं, यथा—

या वाक्सर्क् तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क् तत्साम तस्मादप्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो वाणी है वही ऋचा है। अतएव पुरुष प्राण तथा अपान क्रिया न करता हुआ ऋचा का उच्चारण करता है। जो ऋचा है वही साम है अतएव प्राण तथा अपानक्रिया न करता हुआ सामगान करता है। जो साम है वही उद्गीथ है, अतएव प्राण तथा अपानक्रिया न करता हुआ व्यान वायु के द्वारा उद्गीथ का गान करता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वाणी ही ऋचा है, इसी कारण प्राण अपान की गति रोककर पुरुष ऋचा का उच्चारण करता है। ऋचा ही सामवेद है, अतएव प्राण अपान के व्यापार को रोककर मनुष्य सामवेद का गान करता है। और जो सामवेद है वही उद्गीथ है, अतएव प्राण अपान के व्यापार को रोकता हुआ मनुष्य सामवेद के मन्त्रों से व्यान वायु के द्वारा उद्गीथ की उपासना करता है ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का संक्षेप में तात्पर्य यह है कि वाग्विशेष ऋक्, ऋक्स्थित साम और साम के अवयवभूत उद्गीथ को भी पुरुष प्राण और अपान क्रिया न करता हुआ केवल व्यान से ही संपन्न करता है। व्यानरूप ब्रह्म की प्रतिपादक होने से यहाँ वाणी को ऋग्वेदरूप कथन किया गया है। तथा ऋग्वेद की सामरूपता इस अभिप्राय से कथन की गई है कि वेद वास्तव में एक है, केवल विषयविभाग से उसका भेद है। और यह साम उद्गीथरूप है जो उच्च स्वर से गाया जाता है। उक्त वेद का गायन प्राण तथा अपान के निरोधपूर्वक किये जाने से वेद की व्यान के साथ समता कथन की गई है ॥ ४ ॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाऽग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस कारण ऐसे जो और अधिक उपायसाध्य कर्म हैं, जैसे अग्नि का मन्थन, किसी नियुक्त जगह सो दौड़ना तथा सुदृढ धनुष का खींचना—इन सब कर्मों को प्राण के व्यापार को रोकता हुआ और अपान के व्यापार को रोकता हुआ पुरुष व्यान वायु के द्वारा करता है। इस कारण व्यान दृष्टि से ही उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके अलावा जो दूसरे बहुत बड़े दुःसाध्य कर्म हैं जैसे यज्ञ में अग्नि का मन्थन, मर्यादा तक दौड़ना, या लड़ाई की ओर वेग से जाना और

कठोर धनुष का खींचना, इन कर्मों को पुरुष प्राण और अपान क्रिया की गति को रोकता हुआ ही करता है। अतः उपासक को उचित है कि व्यान दृष्टि से ही उद्गीथ की उपासना करे ॥ ५ ॥

विशेष—जैसे औरों की अपेक्षा राजा की उपासना विशेष फलवती है, वैसे ही प्राणादि वृत्तियों की अपेक्षा विशिष्ट फलवाली होने के कारण व्यानदृष्टि से ही उद्-गीथोपासना करनी चाहिए, किसी अन्य वायुवृत्ति की दृष्टि से नहीं। कर्म की अधिक वीर्यवत्ता ही इसका फल है ॥ ५ ॥

अब उद्गीथाक्षरों में प्राणादि दृष्टि का कथन करते हैं, यथा—

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीद ँ सर्व ँ स्थितम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—इसके बाद अवश्य ही उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करे। 'उद्गीथ' पद में प्राण ही 'उत्' है, क्योंकि प्राण से ही पुरुष उठता है, वाणी ही 'गी' है, क्योंकि गी को ही वाक् कहते हैं तथा अन्न ही 'थ' है, क्योंकि अन्न में ही निश्चय करके सब स्थित हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—उद्गीथ की उपासना के अनन्तर उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करनी चाहिए। 'उद्गीथ' इस शब्द में जो उत् अक्षर है उसका अर्थ मुख्य प्राण है, क्योंकि सब लोग प्राण से ही उठते हैं। जो प्राणरहित हैं उनका पराभव देखा गया है, अतः उत् और प्राण की तुल्यता स्पष्ट ही है। गी का अर्थ वाणी है, क्योंकि शिष्ट लोग वाणी को 'गिरः' ऐसा कहते हैं। तथा 'थ' का अर्थ अन्न है, क्योंकि अन्न में ही सारा जगत् ठहरा है। ऐसा जानकर उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करे ॥६॥

विशेष—'उद्गीथ' पद से उद्गीथभक्ति के अक्षर न जान लिये जायँ, अतः 'उद्गीथ' ऐसा कहकर उसे विशेष रूप से निर्दिष्ट करते हैं। अभिप्राय यह है कि 'उद्-गीथ' इस नाम के अक्षरों की उपासना करनी चाहिए। क्योंकि 'अमुक मिश्र' ऐसा कहने से जैसे उस नामवाले व्यक्तिविशेष का बोध होता है, वैसे ही नाम के अक्षरों की उपासना करने से भी नामी की ही उपासना की जाती है। इस मन्त्र में उद्गी-थाक्षरों के अर्थ का व्याख्यान किया गया है। अर्थात् 'उद्' 'गी' 'थ' इन तीन अक्षरों से मिलकर उद्गीथ शब्द बना है। इन्हीं अक्षरों का अर्थ इस मन्त्र में समझाया गया है ॥ ६ ॥

अब उद्गीथाक्षरों में द्युलोकादि तथा सामवेदादि दृष्टि का विधान करते हैं—

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थꣳ सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—स्वर्ग ही 'उत्' है, आकाश 'गी' है और पृथिवी 'थ' है। आदित्य 'उत्' है, वायु 'गी' है और अग्नि 'थ' है। सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है और ऋग्वेद 'थ' है। जो विद्वान् ऐसे इन उद्गीथ के अक्षरों को जानता हुआ उपासना करता है, उस उपासक के लिए वह उपासना वाणी के फल को पूर्ण करती है तथा वह उपासक अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—ऊँचे स्थानवाला होने के कारण स्वर्गलोक ही 'उत्' है, लोकों का ग्रासकर्ता होने से अन्तरिक्ष 'गी' है और प्राणियों का स्थान होने के कारण पृथिवी 'थ' है। ऊँचा होने के कारण सूर्य ही 'उत्' है, वह्नि आदि को ग्रस्त करने के कारण वायु 'गी' है, और याज्ञिक कर्म का आश्रय होने से वह्नि ही 'थ' है। तथा स्वर्ग में स्तुत होने के कारण सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है, क्योंकि यजुर्वेदियों के दिये हुए हवि को देवता लोग खाते हैं, तथा ऋग्वेद 'थ' है क्योंकि ऋचा में ही सामवेद अधिष्ठित है। इन उपर्युक्त उद्गीथाक्षरों को उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट जानकार जो विद्वान् 'उद्गीथ' इस रूप से उपासना करता है, उस के लिए वह उपासना ऋग्वेदादि शब्द से साध्य मोक्षरूप फल को पूर्ण करती है याने देती है। तथा वह अन्नवाला और दीप्ताग्नि भी हो जाता है ॥ ७ ॥

विशेष—जो पुरुष द्युलोकादि तथा सामवेदादि दृष्टि से उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करता है, वह जबतक इस संसार में जीता है तबतक अन्न संपत्तिवाला और भोगशक्तिवाला होता है। याने उस के घर में अन्न वस्त्रादिक का बाहुल्य होता है, उसका शरीर तन्दुरुस्त रहकर उन प्राप्त पदार्थों को अच्छी तरह भोगता है और मरने के बाद वह मोक्षरूप फल को प्राप्त करता है। यह उद्गीथ के अक्षरों की उपासना का महत्फल है ॥ ७ ॥

अब अभिलाषाओं की समृद्धि के साधन का वर्णन किया जाता है, यथा—

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत् ॥ ८ ॥

भावार्थ—इस के बाद फ़लसिद्धि जिस प्रकार अच्छी तरह हो उसे कहा जाता है, अपने ध्येयों की इस प्रकार उपासना करे, याने जिस सामवेद के मन्त्रों से उद्गाता को चिन्तन करना हो उस सामवेद के मन्त्रों का पहले चिन्तन करे ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—इस के अनन्तर अब निश्चय ही जिस प्रकार फल की सिद्धि होगी उस को कहते हैं—जो 'उपसरणानि'—ध्यान करने योग्य ध्येय वस्तु अनेक रूप से हैं (एकं बहुधा वदन्ति), उनकी उपासना करने से पहले जिस सामवेद के मन्त्रों से उपासक उपासना करना चाहता है, उस सामवेद के मन्त्रों का अच्छी तरह उपधावन, उपसरण याने चिन्तन करे ॥ ८ ॥

विशेष—सामवेदीय मन्त्रों को भली प्रकार चिन्तन करे, इस का तात्पर्य यह है कि उन मन्त्रों के ऋषि, छन्द, देवता आदि का चिन्तन करे याने स्मरण करे। परमात्मा के उपासनाकाल में जो जो विषय चिन्तनीय होते हैं उन का नाम 'उपसरण' है, या यों कहो कि ईश्वरप्राप्ति के साधनभूत जिन मन्त्रों द्वारा उसका निदिध्यासन किया जाता है, उन का नाम 'उपसरण' है। कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों को बोधन करनेवाले मन्त्र ईश्वरप्राप्ति के साधन कहलाते हैं, अतः इन तीनों का विचार करना चाहिये ॥ ८ ॥

यही बात अगले मन्त्र से स्पष्ट की जाती है, यथा—

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥ ९ ॥

भावार्थ—वह सामवेद जिस ऋचा में स्थित हो उस ऋचा का, जिस ऋषिवाला हो उस ऋषि का तथा जिस देवता की स्तुति करनेवाला हो उस देवता का चिन्तन करे ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—वह साम जिस ऋचा में स्थित हो उस के देवता के सहित उस ऋचा का चिन्तन करे तथा उस साम का जो ऋषि हो उस ऋषि का और वह साम जिस देवता की स्तुति करनेवाला हो उस देवता का भी चिन्तन करे ॥ ९ ॥

विशेष—सामवेद में बहुत सी ऋचायें हैं, जिस ऋचा के द्वारा उद्गीथ की उपासना उपासक करना चाहता है, उस ऋचा का वह पहले ध्यान कर ले और जिस ऋषि ने उस ऋचा का स्मरण किया है उस ऋषि का भी ध्यान पहले कर ले। एवं जिस देवता की स्तुति उस ऋचा से करना चाहता है उस देवता का भी चिन्तन पहले कर ले ॥ ९ ॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्त ँ स्तोममुपधावेत् ॥ १० ॥

भावार्थ—वह जिस छन्द से स्तुति करनेवाला हो उस छन्द का चिन्तन करे तथा जिस स्तोम से स्तुति करनेवाला हो उस स्तोम का चिन्तन करे ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—जिस गायत्री आदि छन्द से उपासक उद्गीथ की उपासना करना चाहता है उस को पहले जान ले और जिस स्तोम=स्वर से स्तुति करना चाहता है उस स्वर को भी अच्छी तरह जान ले ॥ १० ॥

विशेष—सामवेद सात स्वरों से गाया जाता है, वे ये हैं—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, पञ्चम। इन के अलग अलग भेद हैं। जो साम की ऋचाओं से उद्गीथ की उपासना करना चाहे वह इन स्वरों के भेद को अच्छी तरह जान ले और इन के साथ ही साथ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदिकों को जान ले जिससे उपासना का फल उसे यथोचित हो। स्तोम कर्म का अंगभूत फल कर्ता को प्राप्त होनेवाला है, अतः यहाँ 'स्तोष्यमाणः' इस पद में आत्मनेपद का प्रयोग किया गया है।

जिस स्तोम से स्तुति करनी हो उस को भी भले प्रकार से विचार करना चाहिए। स्तुति करनेवाले मन्त्रसमुदाय का नाम स्तोम है। ऐसे स्तोम प्रायः सामवेद में पाये जाते हैं। गायत्री, बृहती, जगती, उष्णिक् अनुष्टुप्, पङ्क्ति और त्रिष्टुप् ये सात छन्द और उक्थ, शस्त्र, रथन्तर, स्तोत्र आदि सामवेदसम्बन्धी स्तोम हैं, जिन को समय समय पर उद्गाता आदि गाते हैं ॥ १० ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस दिशा की स्तुति करनेवाला हो उस दिशा का चिन्तन करे ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—उद्गीथ का उपासक जिस दिशा की स्तुति करनेवाला हो उस दिशा के अभिमानी देवता का ध्यान करे ॥ ११ ॥

विशेष—वह साम जिस दिशा की स्तुति करनेवाला हो उस दिशा का उसके अधिष्ठाता देवता आदि के सहित चिन्तन करे।

भाष्यकार यहाँ दिशा का दिक् अर्थ करके कहते हैं कि दिशा का ध्यान उसके अधिष्ठाता देवता आदि के सहित करे। क्योंकि दिक् जड़ है अतः तदधिष्ठातृदेवता सहित उसकी उपासना फलदा हो सकेगी। और यदि प्रकृत मन्त्र में आये "यां दिशं स्तोष्यन् स्यात्" इसका अर्थ 'जिस रीति से परमात्मा की स्तुति की जा सके' ऐसा किया जाय, वहाँ ऐसा अभिप्राय समझना, यथा—

परमात्मा की प्राप्ति का सुगम से सुगम जो उपाय हो उसी के द्वारा उपासक उस का चिन्तन करे। अर्थात् सच्चिदानन्दादि गुणों द्वारा उसका चिन्तन करे, उसकी रचना द्वारा उसके महत्व का चिन्तन करे। अथवा पुरुष के सुख दुःखादि भोग द्वारा उस के न्याय का चिन्तन करे। इसी प्रकार अवतारलीला श्रवण से, प्रतिमादर्शन से, तथा शास्त्रप्रतिपादित महिमा से उसकी उपासना करे। और चन्द्र, सूर्य, जल, अग्नि आदि रचना को देखकर उसका चिन्तन करे। इत्यादि परमात्मचिन्तन के अनेक उपाय हैं, इनमें से जिसमें उपासक की रुचि हो उसी के द्वारा उसको विचारे। योगदर्शन के "यथाऽभिमतध्यानाद्वा" इस सूत्रानुसार जिस तरह बन पड़े वैसे ध्यान से ही भगवद्भक्तिपरायण हो॥ ११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति॥ १२॥

भावार्थ—अन्त में अपने स्वरूप का चिन्तन कर अपने मनोरथ का चिन्तन करते हुए सावधान होकर स्तुति करे। जिस फल की कामना से युक्त होकर वह स्तुति करता है शीघ्र ही वह मनोरथ स्तुतिकर्ता के लिए फलदायक होता है॥ १२॥

वि० वि० भाष्य—उपासक ऋषि, छन्द, देवता, स्वर आदिकों को अच्छी तरह जानकर अपनी कामनाओं को स्मरण करता हुआ उद्गीथ और उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करे। इसके बाद यदि उद्गीथ का गान करनेवाला अपने आत्मा की स्तुति करे तो जिस कर्म में वह जिस कामना के निमित्त गान करता है, उस कर्म यज्ञ में उसकी कामना पूर्ण होती है॥ १२॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में अप्रमत्त पद आया है, उसका तात्पर्य यह है कि स्वर,

ऊष्म एवं व्यंजन वर्णोच्चारण में प्रमाद न करता हुआ स्तुति करे। श्रुति में 'यत् कामः स्तुवीतेति यत् कामः स्तुवीतेति' यह द्विरुक्ति आदर सूचन करने के लिए है। इस मन्त्र में यह वर्णन किया गया है कि मन का भली भांति निरोध करके समाहित चित्तवाला होकर परमात्मा का अभ्यास करे। यदि ऐसा न करेगा तो जो कानानायें उसके हृदय में होंगी, वे ही उसके सामने आकर उसके चित्तको विक्षिप्त करेंगी। ऐसा होने पर वह परमात्मा का पूर्ण रीति से ध्यान न कर सकेगा अतः जिज्ञासु को चाहिये कि सब कामनाओं को दबाकर परमात्मा का अनुसंधान करे॥ १२॥
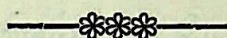
चतुर्थ खण्ड

अब उद्गीथसंज्ञक ओंकारोपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भावार्थ—'ओम्' यह अक्षर उद्गीथ है; ऐसी इसकी उपासना करे। 'ओम्' ऐसा कहकर उद्गाता उद्गान करता है। उसका ही व्याख्यान किया जाता है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—'ओम्' यह अक्षर उद्गीथ है, अतः उद्गीथरूप से इसकी उपासना करनी चाहिए। ओंकार ही अविनाशी ब्रह्मरूप है और इसी को उद्गाता यज्ञ में 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके गान करता है॥ १॥

विशेष—पहले ओंकार अक्षर की उपासना का वर्णन चला था, बीच में 'उद्गीथ' शब्द के अक्षरों की उपासना कही गई। अब फिर भी उद्गीथ प्रकरण के अविच्छेद ज्ञापन के लिए प्रासङ्गिक 'उद्गीथ' पद की अक्षरोपासना का कथन छोड़कर 'ओमित्येतत्' इत्यादि वाक्य द्वारा उस पूर्वप्रस्तावित अमृत और अभय गुणविशिष्ट अक्षर की ही उपासना का अनुसंधान करते हैं॥ २॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥२॥

भावार्थ—किसी समय देवगण मृत्यु से डरते हुए तीनों वेदों की शरण में गये।

देवताओं ने अपने को छन्दों से यह समझकर आच्छादित कर लिया याने ढक लिया कि इन छन्दों में छन्दस्त्व है। अर्थात् देवताओं ने यह समझकर त्रयीविद्यारूप छन्दों का आश्रय लिया कि मृत्यु के आने पर ये हमें छिपा लेगें, यही इन मन्त्रों का छन्दस्त्व है ॥२॥

वि० वि० भाष्य—किसी समय देवता = इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तियाँ, मृत्यु से = इन्द्रियों की तामसी वृत्तियों से, भय मानकर वेदत्रयी द्वारा प्रतिपादित जप होमादि कर्मों में प्रविष्ट हुईं। क्योंकि वे सात्त्विक वृत्तियाँ अपने को मन्त्रों से आच्छादित याने सुरक्षित समझती थीं। वे जानती थीं कि आच्छादन करने के कारण छन्दों में याने मन्त्रों में आच्छादकत्व है। क्योंकि रक्षा करनेवाले मन्त्रों को छन्द कहते हैं ॥ २ ॥

विशेष—यह तो सभी जानते हैं कि देवता लोग राक्षसों से अत्यन्त भयभीत होकर भगवान् की शरण लेते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में भी इन्द्रियों की सात्विक वृत्तियों ने उनकी तामसी वृत्तियों से अधिक भययुक्त होकर उस भय से बचने के लिए वैदिक कर्मानुष्ठानों का आश्रय लेना उचित समझा। क्योंकि उनकी धारणा थी कि छन्द याने वेद मृत्यु के आ जाने पर हमें छिपा लेंगे।

देवताओं ने मृत्यु से बचने के लिए वेदत्रयीप्रतिपादित कर्म में प्रवेश किया। अर्थात् उन्होंने वैदिक गायत्री आदि छन्दों से अपने आपको आच्छादित कर लिया। इसका अभिप्राय यह है कि देवों ने वेदों के स्वाध्याय में प्रवृत्त हो आलस्य का परित्याग कर दिया। क्योंकि उनकी धारणा थी कि वेदों का अनभ्यास ही मृत्यु और उनमें तत्पर होना ही जीवन है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदों के अभ्यास में तत्पर रहते हैं, वे मृत्यु का अतिक्रमण कर जाते हैं। और जो ऐसे नहीं हैं वे प्रतिदिन मृत्यु के भय से भयभीत रहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो वेदों के स्वाध्याय में तत्पर होंगे उन्हें सदाचार से रहना आवश्यक होगा। सदाचारी की आयु कदापि क्षीण नहीं हो सकती। यही समझकर देवता छन्दों में प्रवृत्त हुए। त्रुटि यही रह गई कि वे केवल कर्माश्रयी हो गये। उन्होंने यह ख्याल नहीं किया कि कर्मफल चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो वह एक दिन क्षीण हो जायगा। सुदृढ पत्थर चाहे जैसे सीमेंट आदि मसालों से जोड़ दिये जायँ, पर वे काल पाकर एक दिन अवश्य अलग हो जायँगे ॥ २ ॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि। ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मछली मारनेवाला मछली को पानी में देख लेता है, वैसे ही ऋक्, साम तथा यजुः सम्बन्धी कर्मों में प्रवृत्त हुई उन सात्त्विक वृत्तियों को तामसी वृत्तियों ने देख लिया। जब सात्त्विक वृत्तियों को यह बात ज्ञात हो गई कि तामसी वृत्तियों ने हमें देख लिया, तब वे ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के कर्मों से उपरत होकर स्वर=ओंकार की शरण को दृढता के साथ प्राप्त हुईं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य--जैसे मछलियाँ अत्यन्त गहरे जल में नहीं पकड़ी जा सकतीं, किन्तु थोड़े जल में जाल आदि के द्वारा पकड़ी जा सकती हैं। इस बात को जाननेवाला धीवर कम गहरे जल में उन मछलियों को देख लेता है। वैसे ही ऋक्, यजु और साम के कर्मों से रक्षित देवताओं को मृत्यु ने देख लिया। अर्थात् मृत्यु को यह बात मालूम हो गई कि ये देवता कर्म के नाशरूप यत्न से ही पकड़े जा सकते हैं याने अपने वश में किये जा सकते हैं। वैदिक कर्मानुष्ठानों से शुद्ध-चित्त उन देवताओं ने इस बात को जान लिया कि मृत्यु ने हम लोगों को देख लिया, अब इतने ही कर्म से हम लोगों की रक्षा नहीं हो सकती। यह समझकर देवताओं ने ऋगादिसम्बन्धी कर्मों से निवृत्त होकर अमृत और अभयगुणयुक्त स्वरसंज्ञक अक्षर की ही शरण ली। याने वे ओंकारोपासना में तत्पर हो गये ॥ ३ ॥

विशेष—सम्पूर्ण संसार में यह नियम है कि लोग साधारण उपायों के द्वारा ही शत्रुओं से बचने की चेष्टा करते हैं। लेकिन जब यह बात मालूम हो जाती है कि इस से रक्षा होनी कठिन है तो विशेष यत्न करने लगते हैं। इसी तरह प्रकृत में भी देवताओं ने मृत्युरूप शत्रु से केवल साधारण वैदिक कर्मानुष्ठानों के द्वारा ही अपनी रक्षा असम्भव जानकर अजेय किले के समान अविनाशी ओंकार की शरण ली।

यह जानकर कि मृत्यु ने हम को देख लिया है, देवताओं ने ऋग्वेद से परमात्मा की स्तुति की। जब वहाँ भी मृत्युभय दूर न हुआ तो सामवेद द्वारा ब्रह्म का गायन करने लगे। जब वहाँ भी मृत्यु ने पीछा न छोड़ा, यजुर्वेद में जाकर यज्ञानुष्ठान करने लगे। जब ऐसा करने पर भी अपनी रक्षा न हो सकी तो ब्रह्म में प्रविष्ट हुए। बात यह है कि ऋक्, यजु तथा सामरूप त्रयीविद्या केवल धर्म, अर्थ और काम इन तीनों फलों को उत्पन्न करती है। इन तीनों में मृत्यु का भय बराबर बना रहता है, क्योंकि धर्मपरायण मनुष्य मृत्यु का सामना करने के लिए धर्मपथ पर दृढ रहते हैं, पर वे मृत्यु से नहीं बच सकते। इसी प्रकार

अर्थसंचय और सन्ततिवर्ग मनुष्य की मृत्यु को नहीं टाल सकते। मृत्यु से बचने का तो एकमात्र उपाय मोक्ष है। यही समझकर अन्त में देवताओं ने स्वर यानी ओंकार की शरण ग्रहण की। "स्वयं राजते शोभते इति स्वरः" इस अर्थ से ब्रह्म ही वह स्वर है, जो देव गणों का अभीष्ट सर्वाभिभवविनिर्मुक्त रक्षास्थल है ॥ ३ ॥

ओंकार में स्वर शब्द की प्रवृत्ति किस प्रकार हुई, इस बात को कहते हैं, यथा—

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब उपासक 'ओम्' ऐसा कहकर ऋक् को प्राप्त करता है और इसी प्रकार 'ओम्' ऐसा कहकर ही साम तथा यजु को प्राप्त करता है तब यह ओम् स्वर है। जिस कारण यह ओम् अक्षररूप है और जिस कारण यह ओम् अनृत तथा अभय है, इसी कारण देवता ओंकार की शरण को प्राप्त होकर अमृत तथा अभय हो गये ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस समय उपासना करनेवाला पुरुष 'ओम्' ऐसा कहकर ऋग्वेद के मन्त्रों को उच्चारण करता है और इसी प्रकार 'ओम्' ऐसा कह-कर ही सामवेद के मन्त्रों को तथा यजुर्वेद के मन्त्रों को उच्चारण करता है, तब यह 'ओम्' स्वर है यानी स्वतन्त्र है, किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं करता। जिस कारण यह ओम् अक्षर यानी अविनाशीरूप है और जिस कारण यह ओम् मरणधर्मरहित तथा भयरहित है, इसी कारण ओम्रूप इस ब्रह्म से देवता यानी इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तियाँ अमर और अभय हो गईं ॥ ४ ॥

विशेष—यह बात सिद्ध है कि ओंकार के उच्चारण के बिना किसी वेदमन्त्र का उच्चारण नहीं किया जा सकता। किन्तु ओंकार के उच्चारण में किसी के उच्चारण की अपेक्षा नहीं होती अत एव यह स्वर यानी स्वतन्त्र कहा गया है। तथा इस ओंकार में अभयादिगुण भी हैं इसलिए देवताओं ने साधारण कर्मों के द्वारा अपने को अरक्षित समझकर मृत्यु से बचने के लिए अविनाशी ओंकार की शरण को अप-नाया। ऐसा करते ही अपने आप देवगण अमर हो गये।

ओंकारप्रतिपाद्य ब्रह्म ही सार है और ऋगादि वेद उसकी प्राप्ति के साधन हैं। ब्रह्म की प्राप्ति ही अमृत पद की प्राप्ति है। सांसारिक पदार्थों में मनुष्य

आजन्म चाहे जितनी मत्थापच्ची करता रहे पर वे उसे मरने से नहीं बचा सकते। बुद्धिमान् मनुष्य संसार के पदार्थों को साधन बना लेते हैं, वे संसार से द्वेष नहीं करते, प्रत्युत शास्त्रविधि से उस में प्रवृत्त हो लोकसंग्रह द्वारा उस वातावरण को उत्पन्न करते हैं, जहाँ अन्त में मोक्ष का सुन्दर उपवन तैयार हो जाता है। मूढ लोग संसार तथा तद्भव पदार्थों को ही सब कुछ समझकर उन्हीं में फँसे पड़े हुए कोल्हू के चारों ओर चक्कर काटनेवाले बैल की तरह अमूल्य नरजीवन व्यतीत करके हीरा से कौड़ी बदलने की किंवदन्ती चरितार्थ करते हैं। किंतु बुद्धिमान् संसार में रहकर उन्हें अपने प्रधान लक्ष्य का साधन बना लेते हैं, वे समझते हैं कि सांसारिक विषयानन्द से भी बढकर एक आनन्द है, जिस आनन्दसागर के एक कण से विषयों में आनन्द प्रतीत हो रहा है, उस अमृतार्णव का नाम ब्रह्मानन्द है आत्मानन्द है परमानन्द है। कहाँ तक कहें उस का नाम निजानन्द है ॥ ४ ॥

अब ओङ्कारोपासना का फल कहते हैं, यथा—

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो पुरुष इस ओम् अक्षर को जानता हुआ उपासना करता है वह इस अक्षर, अभय और स्वर (स्वतन्त्र) ओंकार में ही प्रवेश कर जाता है तथा इस में प्रवेश कर जैसे देवता अमर हो गये वैसे ही अमर हो जाता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासक पूर्वोक्त रीति से इस अविनाशी ओंकार की स्तुति उपासना करता है वह उपासना करनेवाला पुरुष मरणभयादिशून्य स्वतन्त्र इस ओंकार को प्राप्त हो जाता है। जैसे इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तिरूप देवगण ओंकाररूप ब्रह्म का ध्यान करके अभय और अमर हो गये थे, वैसे ही उस अमृतत्वादि गुण से विशिष्ट होकर यह उपासक भी उन देवताओं के समान मरणधर्मरहित हो जाता है ॥ ५ ॥

विशेष—जैसे जितने मनुष्य राजकुल में प्रवेश करनेवाले होते हैं उन में कोई राजा का अन्तरङ्ग तथा कोई बहिरङ्ग होता है। वैसे परब्रह्म में प्रवेश करनेवाले उपासकों में से न कोई अन्तरङ्ग होता है न तो कोई बहिरङ्ग ही होता है। क्योंकि परब्रह्म में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग का भेद नहीं रहता। किन्तु उपासक परब्रह्म का

शरणागत होने से अमर हुए देवों के समान अमर हो जाता है। इस के अमरत्व में न तो न्यूनता रहती है और न अधिकता ही ॥ ५ ॥

पञ्चम खण्ड

प्राण और रश्मियों के भेदरूप गुण से युक्त दृष्टि से उस उद्गीथावयवभूत ओंकार की अनेक पुत्ररूप फलवाली उपासना का निरूपण करने के लिए प्रणव और उद्गीथ के एकत्व प्रतिपादनपूर्वक पहले कही गई आदित्यदृष्टि से उद्गीथ की उपासना का अनुवाद करते हैं, यथा—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के बाद अवश्य ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है, तथा जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इस प्रकार यह सूर्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है, क्योंकि यह सूर्य 'ओम्' ऐसा उच्चारण करता हुआ ही निकलता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उपर्युक्त कथन के अनन्तर निश्चय ही जो सामवेदियों का उद्गीथ है वही ऋग्वेदियों का प्रणव है, तथा जो ऋग्वेदियों का प्रणव है वही सामवेदियों का उद्गीथ है। इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष सूर्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है, क्योंकि यह आदित्य 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ प्राणियों के उपकार तथा रक्षा के लिए उदयाचल पर्वत से निकलता है ॥ १ ॥

विशेष—आदित्य उद्गीथ किस प्रकार है सो कहते हैं—यह आदित्य उद्गीथसंज्ञक अक्षर का 'ओम्' ऐसा उच्चारण करते हुए जाता है। अथवा 'स्वरन्' यानी चलनेवाला सूर्य [प्राणों की प्रवृत्ति के प्रति 'ओम्' ऐसी अनुज्ञा करता हुआ] जाता है। अतः यह सूर्य उद्गीथ ही है। प्रकृत मन्त्र में 'स्वरन्' इस शब्द की सिद्धि 'स्वर आक्षेपे' इस धातु से होती है इसलिए यद्यपि इस का अर्थ 'आक्षेप करते हुए' होना चाहिए, तो भी धातु के अनेकार्थ होने से 'उच्चारण करते हुए' इस अर्थ के होने में भी कोई आपत्ति नहीं है।

उद्गीथ और प्रणव ये दोनों ईश्वर हैं क्योंकि ये दोनों ओंकारवाच्य ब्रह्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। अर्थात् उक्त दोनों परमात्मा के नाम होने से इन को एकार्थवाची कथन किया गया है। और जिस परमात्मा के ये नाम हैं उस को सम्पूर्ण अज्ञानान्धतमनाशक होने से आदित्य कहा गया है। ओङ्कार को परमात्मा का अभिधायक इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि वह उच्च स्वर से उच्चारण किया हुआ परमात्मा ब्रह्म का गमक होता है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक लोग परमात्मा की आदित्य, प्रणव तथा उद्गीथ आदि अनेक नामों से उपासना किया करते हैं॥ १॥

पहले जो कहा गया कि सूर्य ही उद्गीथ है, उस की निन्दा करके रश्मिभेद-दृष्टि की सफलता को बतलाते हैं, यथा—

एतमु एवाहमभ्यागासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मी ँ स्त्वं पर्यावर्तयाद् बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से ऐसा कहकर कि हे पुत्र ! मैंने प्रमुख होने के कारण आदित्य की ही उपासना की थी, इसी से तू मुझको एक ही पुत्र प्राप्त हुआ। तू रश्मियों की उपासना कर, इस से अवश्य ही तुझ को बहुत पुत्र प्राप्त होंगे। यह अधिदैवत उपासना है॥ २॥

वि॰ वि॰ भाष्य—कुषीतक ऋषि का पुत्र अपने पुत्र से ऐसा कहता है कि हे पुत्र ! मैंने इस प्रत्यक्ष सूर्य के ही सामने उद्गीथ का गान किया था। अर्थात् मैंने आदित्य और उस की रश्मियों को एक समझकर आदित्यदृष्टि से उद्गीथ की उपासना की थी। यही कारण है कि मुझको तू एक ही पुत्र है। अतः तू सूर्य और रश्मियों में भेद जानकर रश्मिदृष्टि से उद्गीथ की उपासना कर। इस से अवश्य ही तुझ को बहुत पुत्र होंगे। यह देवताविषयक उद्गीथ की उपासना है॥ २॥

विशेष—यहाँ अधिदेवोपासना का फल याने परमात्मोपासना का परिणाम आध्यात्मिक होना चाहिये। फिर भी पुत्रोत्पत्तिरूप पितृऋण की पूर्ति यहाँ इस अभिप्राय से कथन की गई है कि प्राकृत जनों की प्रवृत्ति पुत्रादिकों के निमित्त उपासना में अधिक है। क्योंकि लोक में सर्वसाधारण की प्रवृत्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा

तथा लोकैषणारूप एषणात्रय में पायी जाती है। इसीलिए साधारण लोगों के प्रवृत्त्यर्थ यहाँ पुत्ररूप सांसारिक फल कथन कर दिया है।

यहाँ पुत्रलाभफल के कथन में श्रुति का गूढ अभिप्राय है। जैसे कि पुत्रलाभ-लोभयुक्त मनुष्य को स्त्री द्वारा प्राप्त सेवा आदि सुख अनायास ही प्राप्त हो जायगा। वह स्त्री-पुत्र के निर्वाह के लिए धन भी एकत्र करेगा ही। लोक में 'पुत्रवान्' यह प्रतिष्ठा भी उसे स्वाभाविक प्राप्त हो जायगी। यदि पुत्र विद्वान्, धनी या बली हो गया तो बापजी की कीर्ति सात समुद्र पार या स्वर्ग में डंका बजावेगी। पुत्र के अयोग्य होने का भय है नहीं क्योंकि वह श्रुति के अनुष्ठान से जन्य होगा। मजबूत धागों से पूर्ण, कुशल कारीगर के हाथ से बना कपड़ा कमजोर हो ही नहीं सकता। जैसे षड्रसपूर्ण,छत्तीस व्यंजनों के रसातिरेक करने के लिए चटनी परोस दी जाती है उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रकरण में पुत्रलाभप्रदर्शन करके साधारण जनों को इधर समाकृष्ट करने के लिए स्पष्ट करने का कष्ट किया गया है॥ २॥

मुख्य प्राणदृष्टि से उद्गीथोपासना कहते हैं, यथा—

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब अध्यात्म उपासना कहते हैं—जो यह मुख्य प्राण है उसी की उद्गीथ रूप से उपासना करे। क्योंकि यह 'ओम्' ऐसा उच्चारण करता हुआ गमन करता है॥ ३॥

वि॰ वि॰ भाष्य—देवताविषयक उपासना के कथन के बाद आध्यात्मिक उपासना कहते हैं कि जो यह मुखसम्बन्धी चैतन्य प्राण है, उसकी उद्गीथदृष्टि से उपासना करे। क्योंकि यह प्राण सूर्य के समान वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के लिए 'ओम्' ऐसी अनुज्ञा=उच्चारण करता हुआ सा चलता है॥ ३॥

विशेष—'अनुज्ञां कुर्वन्निव' यानी उच्चारण करता हुआ सा, इस वाक्य में 'इव' यह पद क्यों दिया गया? सो कहते हैं कि मनुष्य जब मरने लगता है उस समय उसके निकट स्थित रहनेवाले लोग प्राण का 'ओम्' उच्चारण करना नहीं सुनते, अतएव 'अनुज्ञा करता हुआ सा' ऐसा कहा गया है। इसी समानता से सूर्य में भी ओंकारोच्चारण केवल अनुज्ञामात्र समझना चाहिए॥ ३॥

प्राणभेददृष्टि से मुख्य प्राण की व्यस्तोपासना का विधान और फल कहते हैं, यथा—

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से इस प्रकार कहा कि हे पुत्र! मैंने इसी प्राण के सामने उद्गीथ गान किया था. अतः तू मुझको एक पुत्र प्राप्त हुआ। इसलिए तू वागादि इन्द्रियसम्बन्धी प्राणों की उपासना कर। इससे अवश्य ही तुझको बहुत पुत्र प्राप्त होंगे ॥४॥

वि॰ वि॰ भाष्य—कुषीतक ऋषि का पुत्र अपने पुत्र से ऐसा कहता है कि हे पुत्र! मैंने इसी चैतन्य प्राण की उद्गीथरूप से उपासना की, अतः तू मुझको एक ही पुत्र प्राप्त हुआ। इसलिए तू वागादि इन्द्रिय और मुख्य प्राण दोनों में भेद समझकर भेददृष्टि से उद्गीथ की उपासना कर, तुझको अवश्य बहुत पुत्र प्राप्त होंगे ॥४॥

विशेष—इस खण्ड में आदित्यदृष्टि से उद्गीथोपासना तथा मुख्य प्राणदृष्टि से उद्गीथोपासना का एक पुत्र की प्राप्तिरूप फल बतलाकर उसकी निन्दा की गई है। अतः उपसंहार में बहुत पुत्रों की प्राप्ति होने के लिए रश्मि और प्राण इनकी भेददृष्टि से उद्गीथोपासना का प्रतिपादन किया गया है ॥४॥

अब प्रणव और उद्गीथ का अभेद कहते हैं, यथा—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥ ५ ॥

भावार्थ—अवश्य ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इसलिए उद्गाता होत्रकर्म के द्वारा निसंदेह दोषयुक्त उद्गान को भी सँभाल लेता है। द्विरुक्ति आदरार्थ अथवा खण्डसमाप्ति के सूचन के लिए है ॥५॥

वि॰ वि॰ भाष्य—प्रणव और उद्गीथ में कोई भेद नहीं है अर्थात् दोनों एक ही हैं। ऐसा जानता हुआ उद्गीथ का गान करनेवाला ऋत्विक् सम्यक् प्रकार से किये हुए होत्रकर्म के द्वारा अपने उद्गीथ के गान में जो स्वर वर्णादि के अशुद्ध उच्चारण से पाप होता है, उसका समाहार याने अनुसंधान, सुधार कर देता है। अर्थात् उस पाप से निःसंदेह निवृत्त हो जाता है ॥५॥

विशेष—जैसे वैद्य अपनी चिकित्सा से धातुओं की विषमता को दूर कर देता है वैसे ही प्रकृत में भी वैद्यस्थानीय उद्गाता चिकित्सास्थानीय सम्यक् अनुष्ठित होत्र-कर्म से धातुओं की विषमतास्थानीय वेद के अशुद्ध उच्चारणरूपी पाप को दूर कर देता है। भाव यह है कि जो उद्गीथ है वही प्रणव है, जो प्रणव है वही उद्गीथ है। जो ब्रह्मवित् पुरुष इस प्रकार जानता है वह होता के आसन पर से ही उद्गातृकृत उद्गीथ-गान सम्बन्धी दोष को दूर कर देता है। अर्थात् जो होता इस बात को भली भाँति जानता है कि प्रणव तथा उद्गीथ एक ही हैं वह होता होने योग्य है, उससे यदि उद्गीथ के उच्चारण में कोई दोष भी आ जाय तो उद्गीथ तथा प्रणव का पूर्ण ज्ञान उसका मार्जन कर देता है। जो ब्रह्मवित् नहीं है वह कदापि होतृसदन के योग्य नहीं, क्योंकि जो ब्रह्मवेत्ता नहीं है उसका लक्ष्य ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता। यदि ऐसा आदमी होता बनता है तो वह केवल दक्षिणा के लोभ से ऐसा करता है, उसका और कोई उत्तम भाव नहीं हो सकता। ब्रह्म को लक्ष्य रखकर तो ब्रह्मवेत्ता ही उद्गीथ का गायन कर सकता है। 'अनुसमाहरतीति' यह दो बार पाठ खण्ड की समाप्ति के लिए आया है ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

यहाँ तक पुत्रादिप्राप्तिरूप एकदेशीय फलवाली उपासनाओं का वर्णन किया गया है। अब सम्पूर्ण फल की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की आधिदैविक उद्गीथो-पासनाएँ कही जाती हैं, यथा—

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥ १ ॥

भावार्थ—यह पृथिवी ही ऋग्वेद है तथा अग्नि सामवेद है। वह यह सामवेद इस ऋग्वेद में स्थित है। अतः सामवेदियों से ऋग्वेद में स्थित सामवेद का ही गान किया जाता है। यह पृथिवी ही 'सा' है तथा अग्नि 'अम' है, इस तरह से दोनों मिलकर साम हैं ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥ २ ॥

भावार्थ—अन्तरिक्ष ही ऋग्वेद है और वायु सामवेद है। वह यह सामवेद इस ऋग्वेद में अधिष्ठित है, इसलिए सामवेदी लोग ऋग्वेद में स्थित सामवेद का ही गान करते हैं। यह अन्तरिक्ष ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है, इस प्रकार दोनों मिलकर साम हैं ॥ २ ॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत् साम ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्वर्ग ही ऋग्वेद है और सूर्य सामवेद है। वह यह सूर्यरूप सामवेद स्वर्गरूप ऋग्वेद में अधिष्ठित है, इसलिए ऋग्वेद में अधिष्ठित सामवेद का ही गान किया जाता है। यह स्वर्ग ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है, इस तरह दोनों मिलकर साम हैं ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

भावार्थ—नक्षत्र ही ऋग्वेद हैं, चन्द्रमा ही सामवेद है। वह यह चन्द्रमारूप सामवेद इस नक्षत्ररूपी ऋग्वेद में स्थित है। इसलिए ऋग्वेद में अधिष्ठित सामवेद का ही गान सामवेदी लोग करते हैं। नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है, इस तरह दोनों मिलकर साम हैं ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते ॥ ५ ॥

भावार्थ—तथा जो यह सूर्य की श्वेत दीप्ति है वही ऋग्वेद है और उसमें जो

नीलवर्ण अत्यन्त श्यामलता है, जो कि एकमात्र समाहित दृष्टिवाले मनुष्य को ही दिखाई देती है वही सामवेद है। वह यह नीलवर्णरूप सामवेद श्वेत प्रकाशरूपी ऋग्वेद में आधेय रूप से स्थित है। इसलिए सामवेदियों से ऋग्वेद में स्थित सामवेद ही गाया जाता है॥ ५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः॥ ६॥

भावार्थ—तथा जो प्रसिद्ध यह सूर्य की श्वेत ज्योति है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण तथा विशेष कृष्णवर्ण है वही 'अम' है। तथा जो यह सूर्यमंडल के बीच में सुवर्ण ऐसा प्रकाशमान पुरुष दिखाई देता है, जिसके मुख के बाल कनकसदृश हैं और जिसके केश कनक के समान हैं, तथा जिसका समपूर्ण शरीर शिर से लेकर नख तक सुवर्ण के सदृश है वही यह पुरुष है॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—"इयमेवर्गग्निः साम" इस पहले मन्त्र से लेकर "अथ यदेवैतदादित्यस्य" इस छठे मन्त्र तक का भाष्य व विशेष साथ ही दिया जाता है, क्योंकि ये सब एक ही तरह के हैं—

पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, नक्षत्र तथा सूर्य की श्वेत दीप्ति; ये ऋग्वेद हैं और अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा सूर्य की अतिश्यामता; ये सामवेद हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उपासक को उचित है कि ऋक् में पृथिव्यादि दृष्टि करे और साम में अग्न्यादि दृष्टि करे। अब पृथिव्यादि तथा अग्न्यादि का ऋग्भाव एवं सामभाव किस प्रकार है सो कहते हैं—वे ये आधेयरूप अग्न्यादिसंज्ञक साम अधिकरणस्वरूप पृथिव्यादिसंज्ञक ऋक् में अध्यूढ=अधिगत याने स्थित हैं। अतएव आचार्य से इस प्रकार का उपदेश पाकर सामगान करनेवाले ऋग्वेद में अधिष्ठित सामवेद का ही गान करते हैं।

साम शब्द की रचना दो पदों से हुई है एक 'सा' और दूसरा 'अम'। सा का वाच्य पृथिव्यादिक हैं और अम का वाच्य अग्न्यादिक हैं। इस तरह 'साम' इस समुदाय का वाच्य पृथिव्यादि और अग्न्यादि दोनों ही हैं। अतः जैसे जो ऋग्वेद है वही सामवेद है याने दोनों में भेद नहीं है, अर्थात् दोनों एक ही हैं

क्योंकि ऋग्वेद आधाररूप से है और दूसरा सामवेद आधेयरूप से है। वैसे ही पृथिव्यादि और अग्न्यादि भी भिन्न नहीं हैं अर्थात् दोनों एक ही हैं। भाव यह है कि इसी कारण पृथिव्यादि और अग्न्यादि की ऋक् एवं सामरूपता है ॥ १-२-३-४-५-६ ॥

विशेष—किसी आचार्य का सिद्धान्त है कि पृथिव्यादि ही 'सा' हैं और अन्यादि 'अम' हैं, इस प्रकार का आचार्य का उपदेश साम शब्द के अक्षरों में पृथिव्यादि और अन्यादि दृष्टि का विधान करने के लिए ही किया गया है।

छठे मन्त्र में हिरण्मय शब्द आया है, उसके आगे उपमावाचक 'इव' शब्द का लोप हुआ है। इसलिए उसका अर्थ ज्योतिर्मय है। इसके विपरीत आदित्य का विकाररूप होना सम्भव नहीं, क्योंकि सुवर्णमय अचेतन वस्तुओं में तो पापादि की संभावना ही नहीं हो सकती, जिस कारण से उनका प्रतिषेध किया जाय। इसी मन्त्र में 'पुरुष' पद दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि वह ज्योतिर्मय शरीररूपी पुर में शयन करता है। अथवा अपने द्वारा संपूर्ण संसार को पूर्ण करता है, अतः उसको श्रुतियों में पुरुष कहा गया है ॥ १-२-३-४-५-६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ—कपि-आसनवत् (?) लाल वर्णवाले कमल के सदृश उसके दोनों नेत्र हैं। उसकी 'उत्' ऐसी संज्ञा है क्योंकि वह यह पुरुष सब पापों से ऊपर गया है। जो इस तरह जानता है वह अवश्य ही सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—इस तरह सब ओर से सुवर्णमय=ज्योतिर्मय होने पर भी उसके नेत्रों की विशेषता का प्रतिपादन किया जाता है—बन्दर के बैठने का स्थान लाल होता है, अतः उस (?) ही के समान लालवर्णवाले कमल के सदृश आदित्यमंडलान्तर्गत सुवर्णमय पुरुष की दोनों आँखें हैं। उस सूर्यमंडलस्थ पुरुष का 'उत्' यह नाम है, क्योंकि वह सब पापों से याने पापों सहित उनके कार्यों से उदित=उत् (ऊपर) इत (गया हुआ), अर्थात् अखिल पापों को उलंघन करके स्थित है, अपहतपाप्मा है। जो उपासक इस तरह उस ज्योतिर्मय पुरुष को जानता है, वह संपूर्ण पापों से निश्चय ही निवृत्त हो जाता है ॥ ७ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में पुण्डरीक को कप्यास की उपमा दी गई है, याने कप्यास उपमान है और पुण्डरीक उपमेय है। तथा नेत्रों को पुण्डरीक की उपमा दी गई है अर्थात् पुण्डरीक उपमान है और नेत्र उपमेय हैं। इस तरह उपमानोपमेय भाव होने से यहाँ हीनोपमा नहीं है ॥ ७ ॥

सूर्यादि के सदृश उस उत्संज्ञक देव का उद्गीथत्व कहना इष्ट है, अतः श्रुति भगवती कहती है—

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गीतैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—उस देव के ऋक् और साम गानेवाले हैं, इसलिए वह उद्गीथ है। इसी से उसका गानकर्ता उद्गाता कहा जाता है। वह यह उत् संज्ञक देव सूर्यलोक से ऊपर के जो लोक हैं तथा जो देवों की अभिलाषाएँ हैं उनका ईशन करता है। यह आधिदैविक उपासना का फल है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—उस आदित्य के बीच में रहनेवाले उत्संज्ञक पुरुष के बायें दहिने ऋग्वेद और सामवेद गान करनेवाले हैं। इस कारण वह देव उद्गीथरूप है। इसलिए अवश्य ही उस उत् नामक पुरुष का गान करनेवाला ‘उद्गाता’ ऐसे नाम से प्रसिद्ध है। वह यह उत्संज्ञक देव आदित्यलोक से ऊपर के जो लोक हैं उनका ईशन करता है। केवल इतना ही नहीं बल्कि प्रकृतमन्त्रोक्त ‘च’ शब्द से सिद्ध होता है कि वह उनका धारण भी करता है, जैसा कि—“उसने इस पृथिवी को और द्युलोक को धारण किया” इत्यादि मन्त्रवर्ण से सिद्ध होता है। यही नहीं किन्तु देवताओं की अभिलाषाओं को भी वह पूर्ण करता है। यह देवताविषयक उद्गीथोपासना का फल है ॥ ८ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कहा गया है—“तस्यर्क्च साम च गेष्णौ” याने ऋक्=पृथिव्यादि और साम=अग्न्यादि ये दोनों उस उत्संज्ञक देव के पक्ष हैं। क्योंकि वह देव सर्वरूप है, अतः ऋक् सामरूप पक्षोंवाला होने से उस में प्राप्त उद्गीथत्व का परोक्षरूप से प्रतिपादन हो जाता है, क्योंकि वह देव परोक्षप्रिय है। देवताओं की परोक्षप्रियता “परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः” इस श्रुति से प्रमाणित होती है। इसलिए वह देव उद्गीथ है ऐसा कहा गया है ॥ ८ ॥

सप्तम खण्ड

अब अध्यात्म उद्गीथोपासना का कथन करते हैं, यथा—

अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

भावार्थ—आधिदैविक उपासना के बाद अब अभेद आध्यात्मिक उपासना का कथन किया जाता है—जो वाणी है वही ऋग्वेद है और नासिकाभ्यन्तर प्राण-वायु साम है। इसलिए ऋग्वेद में अधिगत सामवेद का ही गान किया जाता है। वाणी ही 'सा' है और प्राण 'अम' है। इस तरह वे ही दोनों मिलकर साम-वेद है ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। चक्षुरेव साऽऽत्माऽमस्तत्साम ॥ २ ॥

भावार्थ—नेत्र ही ऋग्वेद है और उसका प्रतिविम्ब साम है। इस तरह इस नेत्ररूप ऋग्वेद में प्रतिविम्बरूप साम अधिगत है। अतः ऋग्वेद में अधिगत सामवेद का ही गान किया जाता है। नेत्र ही 'सा' है और आत्मा 'अम' है। इस तरह वे ही दोनों मिलकर सामवेद है ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

भावार्थ—कर्ण ही ऋग्वेद है और मन सामवेद है। इस तरह इस कर्ण-रूप ऋग्वेद में कर्ण का अधिष्ठाता मनरूप सामवेद अधिगत है। अतः ऋग्वेद में अधिगत सामवेद का ही गान किया जाता है। कर्ण ही 'सा' है और मन 'अम' है। इस तरह वे ही दोनों मिलकर सामवेद है ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥ ४ ॥

भावार्थ—तथा जो यह नेत्रों का श्वेत प्रकाश है वही ऋग्वेद है और जो आदित्य के सदृश दृक्शक्ति की अधिष्ठानभूत नीलवर्णविशेष श्यामता है वह सामवेद है। इस तरह ऋक् में साम अधिष्ठित है। इसलिए ऋग्वेद में अधिगत सामवेद का ही गान किया जाता है। तथा जो यह आँखों की श्वेत दीप्ति है वही 'सा' है और जो नीलवर्ण का अति श्यामत्व है वही 'अम' है। इस तरह वे ही दोनों मिलकर सामवेद है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—कुछ विशेष बात न होने से इन चार मन्त्रों का भाष्य और विशेष एक साथ ही किया जाता है। वाणी, चक्षु, कर्ण और नेत्र का श्वेत प्रकाश; ये ही ऋग्वेद हैं और नासिकाभ्यन्तर प्राणवायु, नेत्र का प्रतिबिम्ब (छायात्मा), मन तथा नेत्र की अतिश्यामता; ये सामवेद हैं। इस का अभिप्राय यह है—उपासक का कर्तव्य है कि ऋक् में वाणी आदि की दृष्टि करे और साम में प्राणवायु आदि की दृष्टि करे। वाणी आदि और प्राणवायु आदि का ऋग्भाव एवं सामभाव किस प्रकार है, सो कहते हैं—वह यह आधेयरूप प्राणवायु-आदिसंज्ञक सामवेद आधारस्वरूप वाणी-आदिसंज्ञक ऋग्वेद में अध्यूढ याने स्थित है। अतः ऋग्वेद में स्थित सामवेद ही सामवेदियों करके गाया जाता है। साम शब्द दो पदों से बना है, एक 'सा' दूसरा 'अम'। वाणी, चक्षु, कर्ण तथा नेत्र के श्वेत प्रकाश का वाचक 'सा' है और प्राणवायु, छायात्मा, मन तथा नेत्र की अतिश्यामता का वाचक 'अम' है। इस प्रकार 'साम' यह समुदाय 'वाणी-आदि तथा प्राणवायु-आदि' इन दोनों ही का वाचक है। अतः जैसे 'ऋक् और साम' इन दोनों में कुछ भेद नहीं है वैसे ही 'वाणी-आदि और प्राणवायु आदि' इन दोनों में भी कुछ भेद नहीं है, याने दोनों एक ही हैं। भाव यह है कि इसी से वाणी-आदि और प्राणवायु-आदि को ऋग्रूपत्व एवं सामरूपत्व है ॥ १-२-३-४ ॥

विशेष—किसी किसी का मत है कि वाण्यादि ही 'सा' है और प्राणवाय्वादि 'अम' है। इस प्रकार का जो गुरु का उपदेश है वह साम शब्द के

अक्षरों में वाण्यादि और प्राणवाय्वादि दृष्टि का विधान करने के लिए ही किया गया है।

गत षष्ठ खण्ड के अधिदैवत की पाँच ऋचाओं में कही गई हैं—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र और सूर्य की श्वेतदीप्ति। और ये पाँच साम कहे गये हैं—अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और सूर्य का अति कृष्णरूप। यह कहकर बतलाया गया है कि ऋचा और साम उसके जोड़ हैं। अर्थात् पृथिवी आदि पाँच जो ऋचायें हैं और अग्नि आदि पाँच जो साम हैं, यह उसके पक्ष=जोड़ हैं।

इस प्रकार इस सप्तम खण्ड में अध्यात्मसम्बन्धी इन चार ऋचाओं में कही गई हैं—वाणी, नेत्र, श्रोत्र और आँख की श्वेत दीप्ति, और ये चार साम कहे हैं—प्राण, छायात्मा, मन और आँख का अतिकृष्ण रूप। यह कथन करके बतलाया गया है कि जो उसके जोड़ हैं, वे इसके जोड़ हैं। अर्थात् वाणी आदि चार ऋचा और प्राण आदि चार साम ये इसके जोड़ हैं। सो ऐसा पुरुष जो सर्वत्र परिपूर्ण है, सबका अन्तरात्मा है, सब कुछ जिसका शरीर है, ऐसा तो वह परमेश्वर ही हो सकता है, दूसरा नहीं। उसी की उपासना करणीय है। सहारा भी ले तो पूरे का ही ले, जिससे सभी कामना पूर्ण हो जायें ॥ १-२-३-४ ॥

सूर्य के अन्तर्गत और चक्षु के अन्तर्गत पुरुषों की अभेदता को श्रुति बतलाती है, यथा—

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तस्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

भावार्थ—तथा जो यह चक्षुओं के भीतर पुरुष देख पड़ता है वही ऋग्वेद है, वही सामवेद है, वही उक्थ है, वही यजुर्वेद है और वही ब्रह्म है। उस नेत्रस्थ पुरुष का वही रूप है जो उस सूर्यमण्डलस्थ पुरुष का रूप है। जो उसके अङ्ग हैं वही इसके भी अङ्ग हैं, जो उसकी संज्ञा है वही इसकी भी संज्ञा है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—नेत्रान्तर्गत पुरुष ही ऋक् (उक्थ से अन्य शस्त्र यानी मन्त्रविशेष) है, वही साम (स्तोत्र) है, वही उक्थ (सामवेद की ऋचा) है, वही यजु यानी स्वाहा, स्वधा और वषट् आदि सम्पूर्ण वाक्य है और वही ब्रह्म यानी ब्राह्मणभाग है। अब स्थानभेद के होने से आदित्यपुरुष से अक्षिपुरुष के भेद की शंका को दूर करते हैं—जो उस सूर्यमंडलस्थ पुरुष का हिरण्मय आदि

अधिदैवतरूप से वर्णित रूप है, जो उसके पद्य हैं तथा जो उस (आदित्यपुरुष) के उत् अथवा उद्गीथ आदि नाम हैं, नेत्रान्तर्गत पुरुष का भी वही रूप है, वे ही पद्य हैं तथा वे ही नाम हैं ॥ ५ ॥

विशेष—जैसे घटपटादि उपाधि के भेद होने से आकाश में कोई भेद नहीं होता है, वैसे ही नेत्रादित्यादि के भेद होने से निरवयव चेतन उस आत्मा में भी कोई भेद नहीं है। आदित्य पुरुष के रूप, गुण और नाम का चाक्षुष पुरुष में अतिदेश करना उनके भेद का कारणप्रदर्शक नहीं है, किन्तु आश्रय का भेद होने से उनके भेद की शंका को दूर करने के लिए है। अतः अध्यात्म (नेत्रस्थ पुरुष) और अधिदैवत (आदित्यान्तर्गत पुरुष) इन दोनों की एकता है ॥ ५ ॥

आधिदैविक के सदृश आध्यात्मिक के भी निरंकुश ऐश्वर्य के श्रवण से दोनों की एकता को श्रुति भगवती बतलाती है, यथा—

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह यह नेत्रस्थ पुरुष जो इस प्रत्यक्ष सूर्य से नीचे के लोक हैं उनका तथा पुरुषों की अभिलाषाओं का ईशन करता है। इसलिए जो ये वीणा में गान करते हैं वे उसी का गान करते हैं, अतः वे धनलाभयुक्त होते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो इस आध्यात्मिक आत्मा से नीचे के लोक हैं उनका वही नेत्रस्थ पुरुष स्वामी होता है और पुरुषों की सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण करता है। अतः उक्त रीति से जो गान करनेवाले वीणा में आदित्यमंडलस्थ पुरुष का गान करते हैं, वे नेत्रस्थ पुरुष का ही गान करते हैं। इसलिए वे गान करनेवाले पुरुष सम्पत्तिशाली होते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—संसार के अन्दर असीम निर्धनता के कारण दुःखसागर में डूबते हुए और सम्पत्ति की उपलब्धि के लिए अनेक मानसिक तर्कजालों में निमग्न रहने पर भी विफलप्रयास हुए मनुष्यों को उचित है कि वे प्रकृत मन्त्र के आदेशानुसार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन दोनों को एक समझकर उनका गान करें। निश्चय ही उनकी इष्टसिद्धि हो जायगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ६ ॥

अब चाक्षुषात्मा और आदित्यात्मा की अभेद दृष्टि से उपासना करने का फल कहते हैं, यथा—

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामाꣳश्च ॥ ७ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर जो विद्वान् पुरुष इस तरह इस सामवेद को गाता है, वह दोनों को ही गाता है। वही पुरुष दोनों की इसी अभेद उपासना द्वारा जो इस सूर्यलोक से ऊपर के लोक हैं उन सब को प्राप्त होता है। वही यह उपासक देवताओं के भोगों को भी प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले कहे हुए इस उद्‌गीथ देव के संबन्ध में नेत्रस्थ और सूर्यमंडलस्थ पुरुष की अभेदरूपता जाननेवाला जो पुरुष सामवेद का गान करता है वह इन दोनों ही को गाता है। तथा वही पुरुष 'चाक्षुष और आदित्य' इन दोनों की इस एकतोपासना से जो लोक आदित्य से ऊपर दाहिने बाये हैं उन्हें प्राप्त होता है। वही यह उपासना करनेवाला देवगणों से भोग्य वस्तुओं का भी उपभोग करनेवाला हो जाता है ॥ ७ ॥

विशेष—चाक्षुष और आदित्य को एक जानकर उद्‌गीथ देव की उपासना करनेवाला पुरुष आदित्यान्तर्गत देवरूप होकर आदित्य से ऊपर के लोक को प्राप्त होता है। उस उपासक का यजमान उस उपासक के द्वारा अपनी कामना को देवताओं से पाता है ॥ ७ ॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—तथा इसीसे जो इस लोक के नीचे के लोक हैं उन्हें और पुरुष-संबन्धिनी अभिलाषाओं को वह उपासक प्राप्त करता है। इसलिए ऐसा जाननेवाला उद्‌गाता यजमान से इस तरह कहे—॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो ऐसा ज्ञाता होकर सामगान करता है वह उद्‌गाता अभि-लाषाओं को पूरी करने में समर्थ होता है। अतः उद्‌गाता यजमान से पूछता है कि तुम्हारे किस मनोरथ के लिए गान करूँ ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों का भाष्य, विशेष साथ ही दिया जाता है—सामगान का ऐसा प्रभाव है कि जो इस लोक के अलावा और इसके नीचे के लोक हैं उन्हें तथा जितनी मनुष्यसंबन्धी कामना हैं उन सब को नेत्रस्थ और सूर्यमंडलस्थ पुरुष के द्वारा ही उद्गाता अपने यजमान के लिए प्राप्त कर सकता है। अतः उद्गाता अपने यजमान से 'कं ते कामम्' इस मन्त्र के अनुसार पूछता है कि मैं तेरे किस मनोरथ के लिए सामवेद का गान करूँ ? क्योंकि उद्गाता नेत्रस्थ पुरुष-विषयक सामगान करके अपने यजमान के मनोरथ पूरे करने में समर्थ होता है। ऐसा पूछने पर जब यजमान अपनी कामना को सुनाता है तब वह उद्गाता यजमान की कामना को सुनकर उसकी पूर्ति के लिए सामवेद का गान करता है, सामवेद का गान करता है ॥ ९ ॥

विशेष—अक्षिपुरुष के द्वारा ही स्वयं भी नेत्रान्तर्गत देवरूप होकर याने सकल कामना को पूरी करनेवाली शक्ति से संपन्न होकर उद्गाता यजमान से कही गई कामना पूरी करने के लिए सामगान करता है। 'साम गायति' इस पद की द्विरुक्ति उपासना समाप्ति के सूचन करने के लिए की गई है।

उद्गाता जब उद्गीथ गान करता है तो यजमान के लिए वर माँगता है। पर वर माँगना कोई हँसी खेल की बात नहीं है, वह भी दूसरे के लिए। केवल कह देने से कुछ नहीं बनता। पहले अपने आपको इस योग्य बनाना होता है कि जो चाहो सो पूरा हो सके। यह प्रभाव तभी प्राप्त होगा जब उससे सम्बन्ध स्थापित करोगे जो सब कामनाओं का अधिपति है। यह उपनिषद् यही उपदेश देती है कि पहले उपासक बनना चाहिये। तभी उद्गाता यजमान को यह कहने योग्य होगा कि कहो ! तुम्हारे लिए क्या कामना गाऊँ। क्योंकि वह जिस परमेश्वर के गीत गाता है, वह उसकी बात सुनता है ॥ ९ ॥

अष्टम खण्ड

उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता दिखलाने के लिए शिलक, दाल्भ्य और प्रवाहण का संवाद कहना आरम्भ किया जाता है, यथा—

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्य-

श्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥१॥

भावार्थ—शलावान् का पुत्र शिलक ऋषि, चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य और जीवलपुत्र प्रवाहण ये तीनों उद्गीथ ज्ञान में अच्छी तरह निपुण थे। इन लोगों ने एक दूसरे से कहा कि हम लोग उद्गीथ विद्या में कुशल हैं, इस लिए यदि इच्छा हो तो ज्ञानप्राप्ति के लिए उद्गीथविद्याविषयक विचार करें ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—किसी समय कहीं पर किसी निमित्तविशेष से एकत्रित हुए पूर्वोक्त ये तीनों ऋषि उद्गीथविद्या में कुशल थे। ये ही कुशल थे और कोई कुशल था ही नहीं; यह बात नहीं, क्योंकि उषस्ति, जानश्रुति और कैकेय आदि सर्वज्ञकल्प पुरुषों की भी कुशलता श्रुति में प्रसिद्ध है। फिर प्रकृत शिलकादि ऋषियों ने आपस में विचार किया कि हम लोग उद्गीथविद्या में दक्ष हैं, अतः यदि हम सब की सम्मति हो तो ज्ञानप्राप्ति के निमित्त पक्ष प्रतिपक्षपूर्वक उद्गीथ-विद्या के सम्बन्ध में मिथः विवाद करें ॥ १ ॥

विशेष—श्रुति भगवती ओंकार के बहुधा उपास्य होने के कारण अन्य रीति से उसकी परोवरीयस्त्वगुणविशिष्ट फलवाली एक दूसरी उपासना प्रस्तुत करती है। इसको सुगमता से समझाने के लिए यहाँ प्रकृत कथा शुरू की गई है।

प्रवाहण को कोई 'द्व्यामुष्यायण' भी कहते हैं। 'यह मुझे जल और पिण्ड-दान देने का अधिकारी होगा' ऐसा कहकर धर्मपूर्वक गृहीत पुत्र द्व्यामुष्यायण कहलाता है। प्रकृत इतिहास का यह भी प्रयोजन है कि वस्तुतत्त्व के ज्ञाता पुरुषों के पारस्परिक संवाद से विपरीत ज्ञान का नाश, अपूर्व ज्ञान की उत्पत्ति और संशय की निवृत्ति होती है। इस लिए ऐसे पुरुषों का साथ अवश्य करना चाहिए ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳ श्रोष्यामीति ॥२॥

भावार्थ—'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर जब वे लोग स्वस्थ होकर बैठ गये, तब जीवलसुत प्रवाहण ने 'आप दोनों पहले कहें, कहनेवाले आप दोनों विप्रों के वचन को मैं सुनूँगा' ऐसा कहा ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—तीनों ऋषि एक दूसरे की बात सुनकर बोले कि

ज्ञानप्राप्ति के निमित्त हम लोग बात चीत करें। इस प्रकार कहकर जब वे लोग बैठ गये, तब जीवल के पुत्र प्रवाहण ने कहा कि आप दोनों माननीय तथा ब्राह्मण हैं, अतः मेरी इच्छा है कि आप लोगों से कही गई वाणी को मैं श्रवण करूँ ॥ २ ॥

विशेष—'आप दोनों ब्राह्मणों के' इस कथनरूप चिन्ह से मालूम होता है कि प्रवाहण क्षत्रिय है। अतः यदि प्रवाहण पहले बोलता तो उसकी धृष्टता सिद्ध होती। इस लिए पहले न बोलकर उस ने अपनी नम्रता सूचित की। 'वाचम्' ऐसा विशेषण होने से अन्य व्याख्याताओं का कहना है कि अर्थरहित शब्द मात्र सुनूँगा, यह प्रवाहण का आशय है ॥ २ ॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—तब उस शलावत्सुत शिलक ने चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य से कहा कि अगर तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं तुमसे कुछ पूछूँ? उसने कहा कि पूछो ॥३॥

वि॰ वि॰ भाष्य—ऐसा सुनकर उपर्युक्त दोनों में से शलावत्कुमार चिकितायनपुत्र दाल्भ्य ऋषि से बोला कि अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं आप से कुछ प्रश्न करूँ। ऐसा सुनकर दाल्भ्य ऋषि ने कहा कि तुम बड़े हर्ष के साथ पूछो। तब उसकी अनुमति पाकर शिलक ऋषि ने पूछा ॥ ३ ॥

विशेष—इस खंड के सातवें मन्त्र में 'भगवतो वेदानि' यह पद आया है और प्रकृत मन्त्र में भी 'यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम से कुछ पूछूँ' ऐसा कहा गया है। इन दोनों बातों से स्पष्ट होता है कि मन्त्रोक्त दोनों ब्राह्मणों में से शिलक ही श्रेष्ठ था। तथा इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि अपने से बड़ों के सामने इसी तरह बोलना चाहिए ॥ ३ ॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥४॥

भावार्थ—(प्रश्न) साम की गति क्या है? (उत्तर) स्वर है। (प्र०) स्वर की गति क्या है? (उ०) प्राण है। (प्र०) प्राण की गति क्या है? (उ०) अन्न है। (प्र०) अन्न की गति क्या है? (उ०) जल है ॥ ४ ॥

छान्दोग्य-उपनिषद्

ऋषिकुमार शिलक, दाल्भ्य तथा प्रवाहण सामगानसंवन्धी उद्गीथउपासना में अत्यन्त कुशलता प्राप्त कर चुके हैं। अब वे एकान्त में बैठकर उद्गीथ के विशेष ज्ञान के विषय में विचार कर रहे हैं। [अ० १ ख० ८]

ऋषिकुमार दाल्भ्य वक सन्मुखस्थ श्वेत कुत्ते की सहायता से अन्य कुत्तों तथा प्राणियों को अन्न प्राप्त हो इसके लिए सामगान कर रहा है। [अ० १ ख० १२]

वि॰ वि॰ भाष्य—जब शिलक ऋषि ने दाल्भ्य ऋषि से पूछा कि साम की गति याने आश्रय क्या है ? तब दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि स्वर है, क्योंकि साम स्वरस्वरूप है। यह नियम है कि जो पदार्थ यदात्मक होता है उस पदार्थ का आश्रय वही होता है। जैसे घट मृत्तिकास्वरूप है, इसलिए घट का आश्रय मृत्तिका है। इसके बाद उसने पूछा कि स्वर का आश्रय क्या है ? इसका उत्तर मिला कि प्राण है, क्योंकि प्राण स्वर से ही निष्पन्न होता है। पुनः प्राण का आश्रय क्या है; ऐसा पूछने पर उसने उत्तर दिया कि अन्न है, क्योंकि अन्न के ही आश्रय से प्राण स्थित है, अन्यथा अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। अन्न का आश्रय क्या है; ऐसा प्रश्न पूछने पर दाल्भ्य ने कहा कि जल है, क्योंकि जल के बिना अन्न की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः अन्न का आश्रय जल ही है ॥ ४ ॥

विशेष—पहले से उद्गीथ का प्रकरण चला है, इसलिए 'साम का आश्रय क्या है' इसका तात्पर्य यह है कि सामरूप उद्गीथ का आश्रय क्या है। क्योंकि यहाँ उपास्यरूप से उद्गीथ का ही प्रकरण है, जैसा कि "परोवरीयांसमुद्गीथमुपासते" इत्यादि श्रुति में भी कहेंगे। सामविषयक प्रश्न का तात्पर्य यह भी है कि उद्गीथ का ज्ञान वेदों के अधीन है, और यह छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय होने के कारण प्रथम सामवेदसम्बन्धी विचार करना आवश्यक था। क्योंकि जब तक किसी विषय के मूल को स्पष्ट न किया जाय तब तक उस विषय का निर्णय होना कठिन है। अतः यहाँ प्रथम सामविषयक-प्रश्न करना उचित ही था। यह भी एक विचार है कि यद्यपि चारों वेद स्वर के आश्रित हैं, किन्तु यहाँ गेय होने से याने गाया जानेवाला होने के कारण सामवेद में स्वर स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। यही हेतु है साम के स्वराश्रय कहने का ॥ ४ ॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ५ ॥

भावार्थ—(प्र॰) जल की गति क्या है ? (उ॰) निश्चय ही लोक है। (प्र॰) इस लोक की गति क्या है ? इस का उत्तर दाल्भ्य ने यह दिया कि स्वर्ग का कोई उलंघन नहीं कर सकता। हम भी स्वर्ग की सामरूप से अच्छी तरह प्रतिष्ठा

करते हैं, क्योंकि साम की स्तुति स्वर्गरूप से की जाती है। इस तरह प्रश्नोत्तर की समाप्ति हुई ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—फिर शिलक ऋषि ने पूछा कि जल का कौन आश्रय है ? दाल्भ्य ने उत्तर दिया कि स्वर्गलोक है। फिर भी उसने पूछा कि स्वर्गलोक का कौन आश्रय है ? इस पर दाल्भ्य ऋषि ने कहा कि स्वर्गलोक का उलंघन करके साम को किसी दूसरे आश्रय में ले जाना ठीक नहीं है, मैं भी स्वर्गलोक की प्रतिष्ठा सामरूप से करता हूँ। अर्थात् जो स्वर्ग है वही साम है, क्योंकि सामवेद की स्तुति स्वर्गरूप से की गई है ॥ ५ ॥

विशेष—दाल्भ्य ने शिलक को उत्तर दिया कि साम को स्वर्गलोक से आगे नहीं ले जाना चाहिये। हम स्वर्ग को साम ठहराते हैं, क्योंकि साम स्वर्ग के तौर पर स्तुत किया गया है। "स्वर्गो वै लोकः सामवेदः" इस श्रुति में सामवेद की स्वर्गलोक के रूप में स्तुति की है। फिर आगे प्रश्न की परंपरा ही नहीं बनती। "स्वर्गो वै लोकः सामवेद" निश्चय स्वर्गलोक ही साम है ऐसा जाने, इसका तात्पर्य यह है कि साम की स्तुति यानी उद्गीथ की उपासना स्वर्गलोकदृष्टि से करे ॥ ५ ॥

तꣳ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति ॥ ६ ॥

भावार्थ—उस चिकितायनकुमार दाल्भ्य से शलावत्सुत शिलक ने कहा कि हे दाल्भ्य ! तुम्हारा साम अवश्य ही अप्रतिष्ठित है। इसके विपरीत प्रतिष्ठित कहनेवाले तुम से जो इस समय कोई सामवेदी ऐसा कह दे कि तुम्हारा मस्तक भूमि पर पतित हो जाय, तो अवश्य ही तुम्हारा मस्तक पतित हो जायगा ॥ ६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—शिलक ने दाल्भ्य से कहा कि हे दाल्भ्य ! तुम्हारा साम अवश्य ही अप्रतिष्ठित=असंस्थित याने परोवरीय रूप से असमाप्त गतिवाला है। इसके विपरीत 'यह प्रतिष्ठित है' इस प्रकार कहनेवाले तुम अपराधी से यदि इस समय पूर्वोक्त अपराध को नहीं सहन करनेवाला कोई सामवेदी ऐसा कह दे कि तुम्हारी मूर्धा पृथिवी पर गिर जाय, तो उसके कहने से तुम्हारा मस्तक गर्दन से अलग होकर अवश्य ही भूमि पर पतित हो जायगा, इस में संशय नहीं ॥ ६ ॥

विशेष—यदि उस वक्ता ने शिर के पतित होने योग्य अपराध किया है तो दूसरे के बिना कहे भी शिर का पतन अवश्य हो ही जायगा और यदि वस्तुतः उसका

वैसा पाप न होगा तो सैकड़ों के कहने पर भी शिर का पतन नहीं हो सकता। अन्यथा 'कृतहानि और अकृत की उपलब्धि' ये दो दोष हो जायँगे। इस शंका का समाधान यह है कि वस्तुतः इन दोषों का देना ठीक नहीं है, क्योंकि कृत शुभाशुभ कर्म की फलप्राप्ति देश, काल और निमित्त की अपेक्षा रखती है। ऐसी दशा में शिर-पतन के निमित्तभूत अज्ञान में भी दूसरे के कथनरूप निमित्त की अपेक्षा रहती है।

किसी विद्वान् का यह कहना है कि उपर्युक्त कथन अर्थवाद है, इस मन्त्रार्थ की योजना यों है—जब कि तुम साम के विषय में निश्चित विचार नहीं रखते हो, उसके प्रति तुम्हारी कोई दृढ धारणा ही नहीं है, तब तो इस विषय के ज्ञाता यही कहेंगे कि 'तू कुछ नहीं जानता, तेरा शिर इन उद्गीथसम्बन्धी भावनाओं से शून्य है, एक दम गिरा हुआ है'। ऐसा निर्णय देने पर सचमुच लोकदृष्टि में तुम्हारा शिर गिर जायगा याने विद्वानों की सभा में जनता के समक्ष मस्तक नीचा हो जायगा। प्रामाणिक लोगों से विना प्रमाणपत्र पाये उन के बीच में तुम स्वयं लज्जा के मारे शिर झुका लोगे, लोग भी जानेंगे कि यह दिमागी विचार करने में गिरा हुआ है ॥ ६ ॥

इस प्रकार शिलक के कहने पर दाल्भ्य कहता है—

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामाभिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—हन्त ! यदि आप कहें तो मैं आप से इसे जानूँ। तब शिलक ने कहा कि जान लो। इसके बाद दाल्भ्य ने पूछा कि उस लोक का कौन आश्रय है ? शिलक ने उत्तर दिया कि यह लोक है। इस लोक का कौन आश्रय है, दाल्भ्य के पुनः ऐसा पूछने पर शिलक ने उत्तर दिया कि इस प्रतिष्ठाभूत लोक का अतिक्रमण करके साम का दूसरा आश्रय कोई नहीं है। अतः हम लोग प्रतिष्ठाभूत इस लोक में साम की स्थिति मानते हैं, क्योंकि साम की स्तुति प्रतिष्ठारूप से ही की गई है। इस प्रकार प्रश्नोत्तर की समाप्ति हुई। ७ ॥

वि० वि० भाष्य—दाल्भ्य ने कहा कि साम जिसमें प्रतिष्ठित है उसे मैं

आप पूज्य से जानना चाहता हूँ। इस पर शालावत्य ने उत्तर दिया कि जान लो। तब दाल्भ्य ने पूछा कि उस स्वर्गलोक का आश्रय कौन है ? शालावत्य ने उत्तर दिया कि मर्त्यलोक है, क्योंकि यही याग, दान और होमादि के द्वारा उस स्वर्गलोक का पोषण करता है। फिर भी दाल्भ्य ने पूछा कि इस मृत्युलोक का कौन आश्रय है ? इसका उत्तर शिलक ने यह दिया कि आश्रयभूत इस मृत्युलोक को उल्लंघन करके साम को अन्यत्र ले जाना उचित नहीं, इस लिए हम लोग आश्रयभूत इस मृत्युलोक में ही साम की अन्तिम स्थिति का निश्चय करते हैं। क्योंकि साम की स्तुति वेद में पृथिवीरूप से ही की गई है, यथा—"इयं वै रथन्तरम्" यह पृथिवी ही रथन्तर साम है ॥ ७ ॥

विशेष—'मृत्युलोक से ही यागादि के द्वारा स्वर्गलोक का पोषण होता है, यह बात जो पहले कही गई है, इसको श्रुतियाँ भी प्रमाणित करती हैं, यथा—"अतः प्रदानं देवा उपजीवन्ति" दान के आश्रय से देवता लोग जीवित रहते हैं। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि समस्त प्राणियों का आश्रय पृथिवी ही है, अतः इसी को साम का भी आश्रय मानना उचित है ॥ ७ ॥

तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥ ८ ॥

भावार्थ—तब शिलक ऋषि से जीवल के पुत्र प्रवाहण ने स्पष्ट कहा कि हे शालावत्य ! अवश्य ही तेरा साम अन्तवान् है। अगर कोई इस प्रकार कह देता कि तेरा शिर गिर जाय तो तेरा शिर गिर जाता। शालावत्य ने कहा कि मैं इसे आप से जानना चाहता हूँ। तब प्रवाहण ने कहा कि जान ले ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जीवलकुमार प्रवाहण ऋषि ने शालावत्य से कहा कि हे शालावत्य ! इस प्रकार से कहा हुआ साम नश्वर है। जब कभी कोई सामवेत्ता सुनेगा कि साम पृथिवी के आश्रित है, तब इस कथन से असन्तुष्ट उस सामवेदी के शाप से तेरा शिर पृथिवी पर गिर जायगा। यह सुन शिलक ऋषि ने कहा कि यदि आज्ञा हो तो मैं आप से प्रश्न करके इसको अच्छी तरह से जान लूँ। तब इस विनीत वचन को सुनकर प्रवाहण ऋषि ने कहा कि मैं इसे बताऊँगा। यह सुनकर शिलक ऋषि ने अग्रिम मन्त्र के अनुसार पूछा ॥ ८ ॥

विशेष—भाव यह है कि जिस को साम निश्चित किया है वह यद्यपि प्रतिष्ठा है, तथापि अन्तवाला है, इस लिए यह भी साम का वास्तविक अर्थ नहीं है। वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होकर जिसको विपरीत ही ज्ञान होगा, वह विपरीत ज्ञान उस व्यक्ति के अधःपात का कारण अवश्य होगा। जैसे महाभारतप्रसिद्ध दुर्योधन का जल को स्थल समझ लेने से अधःपतन हुआ। इस अधःपतन के भय से ही शिलकादि महर्षियों ने वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने की पूरी चेष्टा की है ॥ ८ ॥

नवम खण्ड
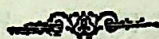
प्रवाहण की आज्ञा पाकर शिलक ने पूछा कि—

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मृत्युलोक का कौन आश्रय है? इस पर प्रवाहण ने उत्तर दिया कि आकाश, क्योंकि आकाश से ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है, आकाश में ही सब का लय होता है और आकाश ही सब की अपेक्षा बड़ा है, इस लिए आकाश ही इनका आश्रय है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मर्त्यलोक का कौन आश्रय है; शिलक के ऐसा प्रश्न पूछने पर प्रवाहण ऋषि ने कहा कि आकाश है। क्योंकि आकाश से स्थावर जंगम सब निश्चय उत्पन्न होते हैं, और आकाश ही में लीन होते हैं। इसी कारण आकाश ही इन स्थावर जंगम पदार्थों से अवश्य श्रेष्ठ है और आकाश ही सम्पूर्ण भूतों का प्रधान आश्रय है। यह आकाश सब में व्याप्त है, सब इसके अन्तर्भूत हैं, कोई पदार्थ या कोई प्राणी इस से अलग नहीं रह सकता है, यह सब का पूज्य है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में आकाश शब्द से परमात्मा विवक्षित है, भूताकाश नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि आकाश परमात्मा का देह है, देह देही में अभेद होता है याने देह देही से पृथक् नहीं रह सकता है, अतः आकाश परमात्मा का रूप है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी; इस क्रम से उत्पत्ति होती है और प्रलय काल में पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में लीन होते हैं। सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण प्राणी उसी से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं, अतः आकाश ही सबका आधार है ॥ १ ॥

आकाशसंज्ञक उद्गीथ की उत्कृष्टता और उसकी उपासना का फल बतलाते हैं, यथा—

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—वह यह उद्गीथ अत्यन्त उत्कृष्ट है, वह यह अनन्त है। उस ज्ञाता का जीवन श्रेष्ठातिश्रेष्ठ हो जाता है, जो उक्त प्रकार से ब्रह्म को जाननेवाला है, तथा जो अति श्रेष्ठ उद्गीथ की उपासना करता है वह परमोत्कृष्ट लोकों को अपने वश में कर लेता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वही यह आकाश उद्गीथ है, वही यह परोवरीयान्= परमात्मारूप है, वही यह अन्तरहित ब्रह्म है। यह सर्वोत्तम उद्गीथ—ब्रह्म—अनादि, अनन्त और परमपवित्र है, जो पुरुष उक्त उद्गीथरूप ब्रह्म को जानता हुआ उपासना करता है उसका जीवन पवित्र हो जाता है और निश्चयपूर्वक आगे पीछे की अवस्थाओं को वह जय कर लेता है। अर्थात् प्रकृति से परे जो अतिसूक्ष्म परब्रह्म है उसको जो जान लेता है वह सब अवस्थाओं को जीत लेता है। या यों समझो कि उसको जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें तथा अन्य शारीरिक अवस्थायें मोह में नहीं डाल सकतीं। क्योंकि उसे परमात्मा का तत्त्वज्ञान हो चुका है ॥ २ ॥

विशेष—आकाशरूप उद्गीथोपासक को श्रुति भगवती यह दृष्ट फल बतलाती है कि उक्त उपासक का जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर हो जाता है तथा उसका अदृष्ट फल यह होता है कि वह उत्तरोत्तर ब्रह्माकाशपर्यन्त विशिष्ट लोकों को अपने अधीन कर लेता है ॥ २ ॥

तᳫं हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वो-वाच यावत्त एनं प्रयाजमुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥ ३ ॥

भावार्थ—अतिधन्वा नामक शुनककुमार ने अपने शिष्य उदरशांडिल्य के प्रति उद्गीथ का निरूपण कर उससे कहा कि जब तक तेरे वंश के लोग इस उद्-गीथ को जानते रहेंगे तब तक इस लोक में साधारण लोगों से उनका जीवन परमो-त्कृष्ट अवश्य रहेगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस उद्गीथ को जाननेवाले शुनक ऋषि के पुत्र अति-धन्वा नामक ऋषि ने अपने शिष्य उदरशांडिल्य नामक ऋषि से उद्गीथदर्शन याने उद्गीथविद्या को अच्छी तरह अनुभव कराकर कहा कि हे उदरशांडिल्य ! जब तक तेरे वंश में तेरे गोत्रज इस उद्गीथ की उपासना करते रहेंगे, उस समय तक वे संसार में अत्यन्त प्रतिष्ठित पद को अवश्य ही प्राप्त होते रहेंगे ॥ ३ ॥

विशेष—वसिष्ठादि ब्रह्मर्षियों की तथा युधिष्ठिरादि क्षत्रिय महाराजाओं की जो इहलोक और परलोक में अति उन्नत व्यवस्था सुनी जाती है वह ऐसी ही उपा-सनाओं की महिमा से है। अतः अपने को तथा अपने वंशजों को इहलोक तथा परलोक में उत्कृष्टतर बनाने की जिन लोगों की इच्छा हो उन लोगों को उचित है कि इस उपासना को करें। उद्गीथरूप ब्रह्म के ज्ञाता का जीवन अतिपवित्र और उच्च होता है, क्योंकि वह इस लोक के मनुष्यों में अतिश्रेष्ठ माना जाता है। उद्गीथ के इस महत्त्व को समझकर अतिधन्वा ऋषि ने अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को यह तत्त्व समझाया था कि तू ही क्यों, प्रत्युत जब तक तेरे परिवार में इस विद्या के ज्ञाता उत्पन्न होते रहेंगे तब तक वे अपने जीवन को उच्च बनाकर सुखपूर्वक कालक्षेप करने में समर्थ होंगे। अर्थात् तू अपने परिवारवालों को उद्गीथ-ब्रह्म के ज्ञान का संस्कार दृढ कर दे। अस्तु, ऋषि का यह ठीक ही कहना है, जो सद्गुरु होगा, वह शिष्य को ही शोकसागर से तारने का यत्न नहीं करेगा बल्कि उसके स्वजनों के उद्धार का भी मार्ग दिखाता रहेगा। गुरुदेव लोहे को पारसमणि की तरह उस शिष्य का उद्धार कर देते हैं जो उनके संपर्क में रहता है। किन्तु सद्गुरु महाराज अपने शिष्य के सारे सम्बन्धियों का इस प्रकार बेडा पार कर देते हैं, जैसे मलयाचल का वायु निकटवर्ती सभी वृक्षों को चन्दन बना देता है ॥ ३ ॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतदेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँ-ल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—तथा जो कोई इस उद्गीथ को उपर्युक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है वह दूसरे लोक में उत्तम पुरुष होता है और अवश्य ही इस लोक में उस उपासक का जीवन उत्कृष्टतर होता है। "लोके लोक इति लोके लोक इति" यह द्विरुक्ति खंडसमाप्ति की सूचक है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो कोई पुरुष ऊपर कही हुई रीति से उद्गीथ की उपासना करता है वह इस लोक में श्रेष्ठ पद को प्राप्त होता है और निश्चय ही मृत्यु के बाद उत्तम लोकों को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

विशेष—शुनककुमार अतिधन्वा ऋषि ने शांडिल्य से कहा कि तुमको इस लोक में तथा अदृष्ट परलोक में भी उत्तम लोक की प्राप्ति होगी। 'यह फल पूर्व-कालिक अत्यन्त भाग्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होगा, आधुनिक युग के पुरुषों को नहीं होगा' इस शंका के दूर करने के लिए श्रुति भगवती कहती है कि इस समय भी ऐसा जाननेवाला जो कोई पुरुष उद्गीथ की उपासना करता है वह इस लोक में तथा परलोक में परमपद को प्राप्त होता है। इस उद्गीथोपासना की ऐसी महिमा सम्पूर्ण प्राणियों के हित के लिए कही गई है, यह उपासना तीनों वर्ण के अधिकारी पुरुषों के लिए है ॥ ४ ॥

इस खण्ड तक प्रकृत उपाख्यान का सार यह है कि दाल्भ्य और शालावत्य ब्राह्मण और जैबलि राजा (क्षत्रिय) ये तीनों उद्गीथ विद्या में निपुण थे, इन्होंने तत्त्वज्ञान के अनुगमार्थ वादिप्रतिवादी रूप से मिलकर विचार किया कि उद्गीथ का परम आश्रय कौन है? उन में से दाल्भ्य ऋषि का पक्ष यह था कि स्वर्गलोक से आये हुए जलों से प्राण को जीवन मिलता है, और प्राण से उद्गीथ गाया जाता है, इसलिए उद्गीथ का परम आश्रय स्वर्गलोक है। इस पक्ष में अप्रतिष्ठा (अस्थिरता, अनित्यता) का दोष दिखलाकर शालावत्य ऋषि ने यह सिद्ध किया कि यह लोक कर्म द्वारा स्वर्ग का भी हेतु है, इस लिए साम का परम आश्रय यह प्रतिष्ठालोक है। जैवलि ऋषि ने इस में 'यह भी अन्तवान् है' यह दोष दिखाकर आकाश को साम का परम आश्रय बतलाया है। इसमें कोई आशङ्का न करे कि आकाश भी नाशवान् है,

क्योंकि साथ ही जैवलि ने यह भी बताया कि आकाश से यहाँ परब्रह्म का ग्रहण करना। यह उन्होंने भावतः बोधन किया है, अक्षरतः नहीं। अथवा उनके कथन का यह आशय रहा हो कि ब्रह्म भी आकाश इसलिए कथंचित् हो सकता है कि वह भूताकाश का अन्तर्यामी है।

यहाँ साम के मूल को खोजते हुए आगे आगे बढकर परब्रह्म तक पहुँचते हैं, अतः यह उद्गीथ 'परोवरीयस्' (बड़े से बड़ा) कहलाता है, और इसके गुण-सदृश इसकी उपासना का फल है।

इस उपनिषद् के नौ खण्डों का संक्षिप्त सार यह है, यथा—ओंकार की उपासना से यह ग्रन्थ प्रारम्भ किया गया है। वहाँ लिखा है कि इस ओंकार अक्षर का उद्गीथरूप से ध्यान करे। जैसे वस्त्र के एक हिस्से के जलने से 'कपड़ा जला' ऐसा व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार साम के भाग का नाम उद्गीथ है। उस उद्गीथ के अवयवरूप ब्रह्म को उद्गीथरूप जानकर उपासना करे। इस प्रकार उद्गीथरूप से ओंकार की उपासना का निरूपण करके उस ओंकार में पृथिवी जलादिकों से अत्यन्त सारतारूप रसतमत्वगुण का विधान किया गया है। पश्चात् सर्व कामों की प्राप्ति की कारणतारूप आप्तिगुण का विधान किया, फिर आप्तकामों की वृद्धिरूप समृद्धिगुण का विधान किया गया है। इस प्रकार ओंकार की उद्गीथरूप से रसतमत्व, आप्ति, समृद्धिरूप गुणों से विशिष्ट उपासना निरूपित की गई है। इसके अनन्तर इस ओंकार की प्राणदृष्टि से उपासना कही है। और इन्द्रियजन्य सात्त्विकी वृत्तिरूप देवता तथा इन्द्रियजन्य तामसी वृत्तिरूप असुर, ऐसे देवासुरसंग्राम को कथन करके प्राण की ही श्रेष्ठता वर्णन की गई है। इस प्रकार श्रेष्ठ अध्यात्म प्राण रूप से उद्गीथरूप ओंकार की उपासना का निरूपण करके अधिदैव आदित्यरूप से उस उद्गीथ की उपासना का वर्णन किया गया है। पश्चात् सब में श्रेष्ठतादि गुणविशिष्ट परमात्मदृष्टि से उस उद्गीथ की उपासना के विधान करने के लिए शिलक, दाल्भ्य और जैवलि इन तीनों का संवाद वर्णन किया गया है।

—❀❀❀—

दशम खण्ड

उद्गीथोपासना के प्रसंग से प्रस्ताव एवं प्रतिहारविषयक उपासना को सरलता से समझाने के लिए इस आख्यायिका का आरम्भ किया जाता है—

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥ १ ॥

भावार्थ—उषस्ति नामक चक्रकुमार कुरुदेश के वज्राहत हो जाने पर अपनी अल्पवयवाली स्त्री के साथ अति बुरी दशा से ग्रस्त होकर इभ्य ग्राम में निवास करता था ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उषस्ति नामक ऋषि चाक्रायण=चक्र का पुत्र कुरुदेश के खेतों में जो अन्नादिक थे उनका मटची=ओलों के द्वारा नाश हो जाने पर याने दुर्भिक्ष हो जाने पर आटिकी=अल्पवयस्का अपनी पत्नी के साथ इभ्य=धनी या हाथीवान् के ग्राम में बुरे हाल होकर अर्थात् अन्नादिकों के न मिलने से किसी के आश्रय में रहता था ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में प्रद्राणक पद द्रा धातु से बना है, उसका प्रयोग निन्दा अर्थ में होता है। अतः इसका तात्पर्य यह हुआ कि दुर्गति अवस्था में याने भीख माँगता हुआ निवास करता था। उद्गाता साम का जो भाग गाता है उसे उद्गीथ कहते हैं। जो प्रस्तोता के गाने का है उसे प्रस्ताव और जो प्रतिहर्ता के गाने का है उसे प्रतिहार कहते हैं। यहाँ तक केवल उद्गीथ के देवता का विचार हुआ। अब इसके आगे इस प्रकरण में प्रस्ताव और प्रतिहार के देवता का भी विचार करते हैं ॥ १ ॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳ होवाच नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥ २ ॥

भावार्थ—उषस्ति ने निश्चय करके निन्दित उरदों को खानेवाले धनिक से माँगा। वह धनिक उससे बोला कि जो ये मेरे बर्तन में रखे हैं उनसे अन्य उरद नहीं हैं, जिन्हें मैं आपके लिए दूँ ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वह उषस्ति नामक ऋषि उस इभ्य ग्राम में अन्न के लिए इधर से उधर पर्यटन करता हुआ एक धनिक के पास पहुँचा, जो कि पात्र में उरद रखकर खा रहा था। उषस्ति ने उस धनिक से कहा कि थोड़े उरद मुझे भी दो। तब धनिक ने उत्तर दिया कि जो कुछ उरद मेरे पास थे उन सबको मैंने अपने बर्तन में रख लिया है। अब इन जूठे उरदों के सिवा दूसरे उरद मेरे पास नहीं हैं, जिन्हें देकर मैं आपकी याचना को पूर्ण करूँ ॥ २ ॥

विशेष—धनिक उरद खा रहा था तथा इससे अधिक और उसके पास नहीं थे, इस कथन से उस देश की असीम दुर्भिक्षता प्रकट होती है। यह भी इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुभुक्षित पुरुष विचारशून्य हो जाता है, अतएव उषस्ति ऋषि जूठे उरद खाने के लिए तैयार हो गया, जैसा कि अगले मन्त्र में कहा गया है ॥ २ ॥

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳ स्यादिति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब उषस्ति ने उससे कहा कि तुम इन्हीं को मुझे दो, तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उसने उषस्ति को वे उरद दे दिये और कहा कि अनुपान भी लो। इस पर उषस्ति ने कहा कि जूठा जल मुझ से पिया हुआ अवश्य समझा जायगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रकार धनिक के कथन को सुनकर उषस्ति ऋषि ने कहा कि जूठे उरदों को ही मेरे लिए दे दो। तब धनिक ने कहा कि यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो लो। ऐसा कहकर उसने उषस्ति के लिए उरद देकर कहा कि पीने के लिए इस जल को भी लो। उषस्ति ने उत्तर दिया कि जूठा जल नहीं पीऊँगा, क्योंकि मुझे उच्छिष्ट जल पीने का दोष लगेगा ॥ ३ ॥

विशेष—उषस्ति के इन आचरणों से हम लोगों को शिक्षा मिलती है कि संकटकाल में किसी का जूठा खाकर अथवा किसी भी उपाय से प्राण की रक्षा की जा सकती है। लिखा भी है कि—'आत्मानं सततं रक्षेदिति'। ऐसा करने में कोई दोष नहीं है।

भारतवर्षीय आर्यजाति (हिन्दुओं) में किसी का उच्छिष्ट (जूठन) न खाने का आचार है। ऐसी दशा में ऋषि होकर उषस्ति ने इभ्य का जूठा क्यों खाया ? उषस्ति चाहे किसी दशा में रहा हो पर उसे धार्मिक जनता के समक्ष यह बुरा उदाहरण नहीं उपस्थित करना चाहिये था। उच्छिष्ट न खाना धर्माङ्ग, सदाचार या शिष्टाचरण है, फिर उसने इसे क्यों भङ्ग किया ? इस शङ्का का समाधान यह है कि आपत्तिकाल में उन असाधारण आचारों का आश्रय लेना पड़ता है जो साधारण दशा में कभी नहीं करने चाहियें। इसमें यह तर्क है कि शरीर तथा प्राण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग के साधन हैं, अतः ऐसे अमूल्य शरीर-साधन की रक्षा के लिए सभी कुछ कर डालना बुरा नहीं है। मानवधर्मशास्त्र तो यहाँ तक आज्ञा देता है कि—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥

विना अन्न मर जाने की सम्भावना से जो मनुष्य चाहे जहाँ से जैसा भी अन्न खाकर जिन्दा रह सके तो उसे ऐसे ही कोई दोष नहीं लगता, जैसे आकाश में कीचड़। वेद्प्रमाण है—"शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नात्"। फिर वेदान्त तो अन्न की बुराई करने को बुरा बताता है, यथा—"अन्नं न निन्द्यात्, अन्नं न परिचक्षीत, तद् व्रतम्, अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम्, अन्नाद्धै प्रजाः प्रजायन्ते।" सामवेद में अन्नदान की महिमा लिखी है, यथा—"यो मा ददाति स इदमेवमाऽवदहमन्नमहमन्नमदन्तमद्मि" अर्थात्—जो विवेकी दूसरों को अन्न देकर खाता है, वह प्राणिमात्र की रक्षा करता है और जो लोभवश अकेला खाता है, उसे मैं (अन्न) खा जाता हूँ। यजुर्वेद में अन्न की प्रार्थना करनी लिखी है, यथा—"अन्नपते अन्नस्य नो देहि।" (यजु० ३४।४८) तथा–

धर्म्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान्निघ्नता किन्न हतं रक्षता किन्न रक्षितम्?॥

यहाँ जलग्रहणाभाव से साथ ही यह भी सूचित कर दिया कि जो सुलभ है ऐसे पदार्थ में उच्छिष्टादि दोष हो सकते हैं।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति॥ ४॥

भावार्थ—धनिक ने कहा कि ये उरद जूठे नहीं हैं? तब उषस्ति ने स्पष्ट कहा कि यदि इनको मैं न खाता तो अवश्य ही नहीं जीता, जलपान तो मेरी इच्छा पर है॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—'क्या ये उरद भी उच्छिष्ट नहीं हैं?' धनिक के ऐसा कहने पर उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया कि उच्छिष्ट उरद खाये बिना मेरे प्राण का बचना असम्भव था। क्योंकि खाने के लिए दूसरा कुछ मिल नहीं रहा था। जल का पीना तो मेरी इच्छा पर है अर्थात् अभी न पीऊँ तो मर नहीं सकता हूँ। दूसरी बात यह भी है कि जल मुझे यथेच्छ मात्रा में मिल जाया करता है॥ ४॥

विशेष—चाक्रायण ने अत्यन्त आपद्ग्रस्त होने ही पर उच्छिष्ट भोजन किया था, इससे सिद्ध होता है कि विधि का व्यतिक्रम जीवनरक्षा के लिए कोई साधन न रहने ही पर किया जा सकता है, अन्यथा कभी नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि

प्राणरक्षा के लिए अनिन्द्य उपाय के रहने पर यदि निन्दनीय कर्म किया जाय तो नरक में पतन अवश्य होगा ॥ ४ ॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह उषस्ति ऋषि उरदों को अच्छी तरह खाकर अवशिष्टों को अपनी स्त्री के लिए ले आया। किन्तु वह पहले ही से सुअन्न प्राप्त कर चुकी थी इसलिए उन्हें लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—उषस्ति ऋषि ने उरद पहले खूब खाये, फिर जो कुछ बचे उन्हें दयावश अपनी स्त्री को दिया। लेकिन उसकी पत्नी को पहले ही अच्छा अन्न मिल चुका था और उसको वह अच्छी तरह खा चुकी थी। तो भी स्त्रीस्वभाव-वश पति के दिये हुए उन उरदों का तिरस्कार न करके उन्हें पति के हाथ से लेकर रख दिया ॥ ५ ॥

विशेष—स्त्रियों का कर्तव्य है कि इस मन्त्रोक्त विषय पर अच्छी तरह ध्यान दें, क्योंकि उनको इससे पूरी शिक्षा मिलती है कि किसी दशा में अपने पति का अपमान नहीं करना चाहिये। उषस्ति की पत्नी को यद्यपि पहले ही से अच्छे अच्छे भोज्य पदार्थ मिल चुके थे तो भी पति के दिये हुए उच्छिष्ट उरदों के अपनाने में उसे जरा सी भी हिचकिचाहट नहीं हुई। ऐसे ही और स्त्रियों को भी होना उचित है ॥५॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्द बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳ राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यै-र्वृणीतेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—उषस्ति ऋषि ने प्रातःकाल बिस्तर से उठते ही खेद के साथ कहा कि मुझे थोड़ा सा भी अन्न मिल जाय तो मैं कुछ धन प्राप्त कर लूँ। क्योंकि एक राजा यज्ञ करनेवाला है, वह सम्पूर्ण ऋत्विक्कर्मों के लिए मेरा वरण कर लेगा ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—उषस्ति ऋषि ऋत्विक्कर्म का पूर्ण ज्ञाता था, अतः वह प्रातःकाल शय्या या निद्रा का त्याग करने के बाद खेद के साथ अपनी स्त्री से बोला कि यदि खाने के लिए मुझे थोड़ा सा भी अन्न मिल जाता तो मुझ में चलने

की शक्ति आ जाती और चल फिरकर कहीं से कुछ धन प्राप्त कर लेता। मैं ने सुना है कि थोड़ी ही दूर पर एक राजा यज्ञ करनेवाला है, वह ऋत्विक्कर्म जानने के लिए यज्ञ में अवश्य मेरा वरण कर लेगा ॥ ६ ॥

विशेष—जिसमें शक्ति नहीं वह किसी काम को पूरा नहीं कर सकता है। अन्न के बिना मनुष्य के अंदर शक्ति आ नहीं सकती, क्योंकि अन्न से ही प्राणिमात्र में शक्ति की उत्पत्ति होती है। अतएव श्रुति भगवती 'अन्नं ब्रह्म' ऐसा उपदेश करती है ॥ ६ ॥

तं जायोवाच हन्त इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥ ७ ॥

भावार्थ—'हे स्वामिन्! उरद ही मौजूद हैं' ऐसा खेद के साथ ऋषिपत्नी ने अपने पति से कहा। तब वह उन्हें खाकर विस्तृत यज्ञ में गया ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—ऐसा कहनेवाले उषस्ति ऋषि से खेद के साथ उसकी पत्नी ने कहा कि हे स्वामिन्! आपके दिये हुए ये कुल्माष ही मेरे पास मौजूद हैं। तब यह सुनकर उषस्ति ने कहा कि लाओ, इन्हीं से अपनी उदरपूर्ति करूँगा। इस प्रकार कहकर उषस्ति उन्हीं उरदों को खाकर राजा की उस विशाल यज्ञशाला में पहुँचा ॥ ७ ॥

विशेष—उषस्ति ने विचार किया कि कुछ खाकर ही राजा के यहाँ जाना ठीक होगा, क्योंकि वहाँ विद्वानों के बीच में राजा से बोलना पड़ेगा। कई दिन से पौष्टिक आहार तो क्या साधारण भोजन भी नहीं खाने को मिला है, यदि क्षुधार्त मैं राजसभा में न बोल सका तो बड़ी भद्द होगी। कदाचित् अवक्ता समझकर राजा यज्ञ में मेरा निर्वाचन न करे। कुछ भोजन मिल जाय तो कृतकार्य होने की आशा है।

इस संसार के अंदर विद्वान् मनुष्य सब कुछ कर सकता है। जिस के पास विद्या नहीं वह पशु है, विद्या ही उन्नति के सकल साधनों में श्रेष्ठ है। अतएव नीतिशास्त्रों के जाननेवालों ने कहा भी है कि "विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्। पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥" उषस्ति ऋषि की विद्वत्ता बड़ी गम्भीर थी, अतः उसके द्वारा धनोपलब्धि की इच्छा से वह राजा की उस यज्ञशाला में पहुँचा जहाँ ऋत्विक् लोग उपस्थित थे ॥ ७ ॥

राजा की यज्ञशाला में उषस्ति और ऋत्विजों का संवाद कहते हैं, यथा—

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥ ८ ॥

भावार्थ—वहाँ पहुँचकर वह आस्तावकर्म में स्तुति करनेवालों के समीप बैठ गया और उसने प्रस्तोता से स्पष्ट कहा ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा की उस विशाल यज्ञशाला में पहुँचकर उषस्ति ऋषि आस्तावकर्म में उद्गीथ का गान करनेवाले उद्गाता पुरुषों के समीप बैठ गया और वहाँ बैठकर प्रस्तोता ऋत्विक् से स्पष्ट कहा ॥ ८ ॥

विशेष—जिस स्थान में प्रस्तोतागण उद्गीथ की स्तुति याने गान करते हैं वह आस्ताव कहा जाता है, वहाँ जाकर उषस्ति प्रस्तोता के प्रति नीचे लिखी हुई रीति से पूछने लगा ॥ ८ ॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस तरह अपनी ओर लक्ष्य कराने के लिए उषस्ति ऋषि सम्बोधन करते हुए बोला कि हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावभक्ति में अनुगत है, अगर तू उसको न जानता हुआ गान करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा ॥ ९ ॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥ १० ॥

भावार्थ—इसी तरह उषस्ति ऋषि ने उद्गाता से भी कहा कि हे उद्गातः ! उद्गीथभक्ति में अनुगत जो देवता है, यदि तू उसको न जानता हुआ गान करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति । ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे ॥ ११ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार से उषस्ति ऋषि ने प्रतिहर्ता के प्रति कहा कि हे प्रतिहर्ता ऋत्विक् ! प्रतिहार कर्म में अनुगत जो देवता है, अगर तू उसको न जानता

हुआ प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा। तब वे सब ऋत्विक् अपने अपने कर्मों से उपरत हो चुपचाप बैठ गये ॥ ११ ॥

वि० वि० भाष्य—नवम, दशम, एकादश तीनों मन्त्रों का भाष्य तथा विशेष एक समान होने के कारण साथ ही लिखा जाता है। उषस्ति ऋषि ने प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता को संबोधन करके कहा कि प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार कर्म में अन्वायत्त=अनुगत याने इन कर्मों से संबन्ध रखनेवाला अर्थात् इन कर्मों का जो अधिष्ठातृ देव है, उसको न जानते हुए अगर तुम लोग उसे जाननेवाले मेरे सामने यज्ञ में प्रस्तवन, उद्गान तथा प्रतिहरण करोगे, तो तुम लोगों का मस्तक गर्दन से अवश्य गिर जायगा। यह सुनकर उन सब ऋत्विजों ने अपना अपना कर्म उस देवता के जानने के लिए बंद कर दिया और उषस्ति के सन्मुख शान्त भाव से स्थित हो गये ॥ ९-१०-११ ॥

विशेष—'उस देवता को जाननेवाले मेरे समीप उस को न जानते हुए प्रस्तावादि कर्म में प्रवृत्ति होने से तुम लोगों का शिरपतन अवश्यंभावी है' इस उषस्ति के कथन के विपरीत देवताज्ञानियों के परोक्ष में भी यदि मस्तकपतन मान लिया जाय तो कर्ममात्रज्ञाताओं का कर्म में अनधिकार ही सिद्ध हो जायगा। और यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म तो अविद्वानों को भी करते देखा जाता है। यही बात दक्षिणमार्गप्रतिपादिका श्रुति से भी सिद्ध होती है, अन्यथा वेद में केवल उत्तरमार्ग का ही प्रतिपादन किया जाता, परन्तु श्रुति में तो दोनों मार्ग प्रतिपादित हैं। क्योंकि वेद में कई जगह अविद्वान् के लिए भी कर्मानुष्ठान की आज्ञा देखी जाती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि विद्वान् के सामने ही उसे कर्म में अधिकार नहीं है, उस कर्म के अधिष्ठातृदेवताज्ञानियों के परोक्ष में तो केवल कर्ममात्रज्ञाताओं का भी कर्म में अधिकार है। जिसके पास खाने को अन्न न हो, जूठा और बासी खाता फिरता हो, उसने राजा के यज्ञ में आकर बड़े बड़े विद्वानों को हैरान कर दिया। इसका कारण यह था कि पहले के विद्वान् विद्या बेचा नहीं करते थे। उनकी दृष्टि में वेदविद्या ज्ञान का साधन थी, वह केवल रुपया कमाने की कला नहीं थी। द्रव्यप्राप्ति का साधन व्यवसाय हैं, विद्वान् को कहाँ अवकाश रहता है कि वह द्रव्य कमाने के कामों को कर सके। न उसे धनियों के दरबार करने की फुरसत है। स्वतन्त्र विचार का विद्वान् धनिकों की सभी बातों में हाँ में हाँ नहीं मिला सकता। यही कारण है कि विद्वान् प्रायः अकिञ्चन ही रहा करते हैं। यह भी सुना है कि लक्ष्मी और सरस्वती प्रायः एकाधिकरण में नहीं रह सकतीं। विद्या अर्थंकरी हो सकती है,

विद्या से साधारण निर्वाहोपयुक्त धनप्राप्ति में कमी नहीं रह सकती, किन्तु कोई भी शास्त्राचार्य या एम० ए० होकर विड़ला तथा ताता नहीं वन जा सकता। इसके लिए स्वतन्त्र व्यवसाय करना अपेक्षित है। यों समझ लो; समय तो उतना ही है, मनुष्य की शक्ति परिमित है, उसे चाहे धन के समुद्र में मिला दो और चाहो तो विद्या के उत्तुङ्ग शैलशिखर पर चढा दो। एक काम ही प्रधानतया होगा। उषस्ति को भी स्वाध्याय से कहाँ अवकाश मिलता होगा? जो वह धनसंग्रह कर सकता ॥ ९-१०-११ ॥

एकादश खण्ड

अब राजा और उषस्ति का संवाद आरम्भ होता है—

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥ १ ॥

भावार्थ—तब उषस्ति से यजमान ने कहा कि मैं आपको जानने की इच्छा करता हूँ। इस प्रकार पूछने पर उसने कहा—मैं निश्चय करके चक्र का बेटा उषस्ति हूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सब ऋत्विजों के चुपचाप बैठ जाने पर यजमान राजा ने उषस्ति ऋषि से कहा कि मैं पूज्य आप को जानना चाहता हूँ। राजा की ऐसी जिज्ञासा होने पर ऋषि ने कहा कि यदि आपने सुना हो तो मैं चक्र ऋषि का पुत्र उषस्ति नामक ऋषि हूँ ॥ १ ॥

विशेष—अनादिकाल से ऐसी शिष्टाचारपरम्परा आज तक आ रही है कि जब कोई किसी से उसका परिचय पूछता है तब वह अपना विशेष परिचय देने के लिए पिता का नाम लेता है। इसी प्राचीन प्रणाली के अनुसार उषस्ति ने राजा से अपना परिचय देने के लिए पिता का नाम लिया ॥ १ ॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्याऽन्यानवृषि ॥ २ ॥

भावार्थ—यजमान ने पूज्य उषस्ति से कहा कि मैंने सम्पूर्ण ऋत्विक्कर्मों के लिए आपका अन्वेषण किया था। आप के न मिलने ही पर मैंने अन्य ऋत्विजों का वरण किया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—तब यजमान राजा ने चाक्रायण उषस्ति से कहा कि मैंने श्रीमान् को बहुत बड़ा गुणवान् सुनकर इन समस्त ऋत्विक्कर्मों के लिए आपकी खोज की थी। परन्तु आपके न मिलने पर दूसरों को इन कर्मों के लिए नियुक्त करना पड़ा ॥ २ ॥

विशेष—सारे संसार का यह नियम है कि अपनी कार्यपूर्ति के लिए मनुष्य गुणवान् पुरुष को ही चाहता है। ऐसे गुणी पुरुष के न मिलने पर उसको विवश हो साधारण की नियुक्ति करनी पड़ती है। अतएव राजा ने उषस्ति का पता तो लगाया लेकिन जब वह न मिल सका तो दूसरों को ऋत्विक्कर्मों के लिए वरण कर लिया ॥ २ ॥

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—यजमान ने कहा कि मेरे सम्पूर्ण ऋत्विक्कर्मों के लिए आप ही रहें। तब यह सुनकर उषस्ति ने कहा कि अच्छा, ऐसा ही होगा और बोला कि तो अब मुझ से सहर्ष आदिष्ट ये ही यज्ञ में स्तुति करें। और आप जितना धन इनके लिए दें उतना ही धन मेरे लिए भी दें। ऐसा सुनकर यजमान ने स्पष्ट कहा कि ठीक है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा ने प्रार्थना की कि अब आप ही मेरे इन समस्त कर्मों के लिए ऋत्विक रहें। तब उषस्ति ऋषि ने कहा कि ठीक है लेकिन पहले आपने जिन ऋत्विजों का वरण कर लिया है वे ही मेरी आज्ञानुसार यज्ञ में स्तुति करें और जितना धन आप इन लोगों को दें उतना धन मेरे लिए भी दें, उससे अधिक मत दें। इस बात को राजा ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और कहा कि मैं ऐसा ही करूँगा ॥ ३ ॥

विशेष—पहले के राजाओं में असीम शिष्टता थी, वे लोग महर्षियों की आज्ञा का पालन करना ही अपना कर्तव्य समझते थे, अतएव उन लोगों की सदा उन्नति

ही होती थी। ध्यान से देखिये कि राजा ने उषस्ति की आज्ञा को किस प्रकार सहर्ष स्वीकार किया। इस समय भी राजाओं को ऐसा ही होना उचित है ॥ ३ ॥

अब उषस्ति के प्रति प्रस्तोता प्रश्न करता है, यथा—

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ४ ॥

भावार्थ—उसके बाद प्रस्तोता ने उषस्ति के पास आकर कहा कि श्रीमान् ने मुझ से पहले कहा था कि हे प्रस्तोतः! प्रस्ताव में अनुगत जो देवता है उसको बिना जाने ही यदि तू प्रस्तवन करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा। उसको आपने बतलाया नहीं कि वह देवता कौन है ? सो कृपा करके बतलाइए ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यजमान की बात सुनने के अनन्तर प्रस्तोता ऋत्विक् ने उषस्ति ऋषि के पास आकर कहा कि आपने मुझ से पहले कहा था कि जो देवता प्रस्तावभक्ति से संबन्ध रखनेवाला है याने उसका अधिष्ठाता है, अगर उसको न जानकर तू यज्ञ में स्तुति करेगा तो तेरा मस्तक तेरी गर्दन से अवश्य गिर जायगा। सो हे भगवन्! आपने यह नहीं कहा कि प्रस्तावभक्ति में कौन देवता अनुगत है ? उसको बतलाने की आप कृपा करें ॥ ४ ॥

विशेष—कोई भी अज्ञात विषय बिना किसी आप्त व्यक्ति से पूछे नहीं मालूम होता, अतएव प्रकृत में भी प्रस्तोता को प्रस्तावभक्ति में अनुगत देवता का ज्ञान नहीं था। उस देवता को जानने के लिए प्रस्तोता उषस्ति ऋषि से पूछता है कि आप कृपया बतलावें कि वह देवता कौन है ? ॥ ४ ॥

अब उषस्ति ऋषि उत्तर देते हैं, यथा—

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ५ ॥

भावार्थ—निश्चय ही वह देवता प्राण है, ऐसा उषस्ति ने कहा। क्योंकि सम्पूर्ण भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं और प्राण में ही लीन होते हैं, अतः वही यह देवता

प्रस्तावभक्ति में अनुगत है। अगर तू उसको न जानता हुआ स्तुति करता तो मुझ से ऐसा कहे जाने पर तेरा मस्तक अवश्य गिर जाता ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जब प्रस्तोता ने उषस्ति से इस प्रकार पूछा तब चाक्रायण उषस्ति ने उत्तर दिया कि जिस देवता के विषय में मैंने तुझ से प्रश्न किया था वह देवता प्राण है। क्योंकि उसी प्राण से सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम भूतों की उत्पत्ति होती है और प्रलयकाल में उस प्राण में ही लय होता है। इस लिए प्रस्ताव कर्म का अधिष्ठाता देव प्राण ही है। तू अगर उसको विना जाने ही प्रस्तावभक्ति करता तो उस समय मेरे इस प्रकार कहने पर कि तेरा मस्तक गिर जायगा, तेरा मस्तक अवश्य गिर जाता ॥ ५ ॥

विशेष—प्रस्तावभक्ति में अनुगत देवता का ज्ञान न रहने पर प्रस्तोता का प्रस्तवन करना उसके शिरपतन का कारण अवश्य बन जाता, परन्तु बहुत अच्छी बात हुई कि उषस्ति के कहने पर अपने में वस्तुतः उस देवता का ज्ञान न देखकर भयभीत हो प्रस्तोता प्रस्तवन कर्म से उपरत हो गया ॥ ५ ॥

अब उद्गाता प्रश्न करता है, यथा—

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ६ ॥

भावार्थ—उसके अनन्तर उद्गाता उषस्ति के पास आया और बोला कि आपने मुझ से पहले कहा था कि हे उद्गातः ? उद्गीथ में अनुगत जो देवता है उसको विना जाने ही अगर तू उद्गान करेगा तो तेरा शिर गिर जायगा। उसको आपने वतलाया नहीं कि वह देवता कौन है ? उसे बतलाने की कृपा कीजिए ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यजमान की वात सुनने के अनन्तर उद्गाता ऋत्विक् ने इस उषस्ति ऋषि के पास आकर कहा कि आपने मुझ से पहले कहा था कि जो देवता उद्गीथभक्ति का अधिष्ठाता है, यदि उसको न जानकर यज्ञ में उद्गान करेगा तो तेरा मस्तक तेरी गर्दन से अवश्य गिर जायगा। सो हे भगवन् ! आपने यह नहीं कहा कि उद्गीथभक्ति में कौन देवता अनुगत है ? उसको बतलाने की आप अवश्य कृपा करें ॥ ६ ॥

विशेष—वस्तुतः उद्गीथभक्ति के अधिष्ठातृ देव के ज्ञान के बिना केवल

उद्‌गान करने से फलोपलब्धि होनी असम्भव है। क्योंकि अचेतन में फलदातृत्व शक्ति नहीं होती, अतएव पाषाण की शिवादिमूर्ति में मन्त्रादि द्वारा चेतन का आरोप करके जब पूजा की जाती है तभी सफलता होती है, अन्यथा नहीं ॥ ६ ॥

प्रकृत प्रश्न का उषस्ति ऋषि उत्तर देते हैं, यथा—

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्‌गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—'वह देवता सूर्य है' ऐसा उषस्ति ने कहा। क्योंकि निश्चय ही समस्त भूत ऊपर स्थित सूर्य का ही गान करते हैं, वही यह सूर्यदेवता उद्‌गीथ से संबन्ध रखनेवाला है। उस देवता को यदि न जानता हुआ तू स्तुति करता तो मुझसे इस प्रकार कहे जाने पर तेरा मूर्धा अलग होकर गिर जाता ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—उषस्ति ऋषि ने 'उद्‌गीथानुगत देवता कौन है ?' इस प्रश्न का उत्तर यह दिया कि वह देवता आदित्य है। जिसकी सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम प्राणी स्तुति करते हैं, वही सूर्य देवता उद्‌गीथ का अधिष्ठाता है। तू यदि उसको बिना जाने ही उद्‌गान करता तो उस समय मेरे ऐसा कहने पर कि तेरा मस्तक गिर जायगा, तेरा मस्तक गर्दन से अलग होकर अवश्य गिर जाता। किन्तु अच्छी बात हुई कि तू अपने कर्म से उपरत हो गया ॥ ७ ॥

विशेष—जैसे प्रस्ताव में 'प्र' शब्द है और प्राण में 'प्र' शब्द है, अतः प्रस्ताव के एकदेश 'प्र' शब्द से समानता होने के कारण 'प्राण' प्रस्तावदेवता है। वैसे ही उद्‌गत आदित्य=ऊपर स्थित आदित्य में 'उद्' शब्द है और उद्‌गीथ में भी 'उद्' शब्द है। अतः उद्‌गीथ के एकदेश 'उद्' शब्द से समानता होने से आदित्य उद्‌गीथ देवता है ॥ ७ ॥

अब उषस्ति से प्रतिहर्ता प्रश्न करता है, यथा—

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुनः प्रतिहर्ता भी इस उषस्ति ऋषि के पास आया और बोला कि आप ने मुझ से पहले कहा था कि हे प्रतिहर्तः ! प्रतिहार में अनुगत जो देवता है उसको बिना जाने ही अगर तू प्रतिहार कर्म करेगा तो तेरा मस्तक गिर जायगा। उसको आप ने बतलाया नहीं कि वह देवता कौन है ? उसे बतलाने की कृपा कीजिए ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—यजमान की बात सुनने के अनन्तर प्रतिहर्ता ऋत्विक् ने इस उषस्ति ऋषि के पास आकर कहा कि आपने मुझ से पहले कहा था कि जो देवता प्रतिहार कर्म से संबन्ध रखनेवाला है याने उस का अधिष्ठाता है, अगर तू उसको न जानता हुआ प्रतिहरण करेगा तो तेरा शिर गर्दन से अलग होकर गिर जायगा। सो हे भगवन् ! आप ने यह नहीं कहा कि प्रतिहारकर्म से संबन्ध रखनेवाला देवता कौन है ? उसको बतलाने की कृपा आप अवश्य करें ॥ ८ ॥

विशेष—जैसे पूर्वोक्त मन्त्रों में कहा गया है कि उद्गीथादि देवता को बिना जाने केवल कर्म करने से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। वैसे ही प्रकृत में भी प्रतिहार कर्म से संबन्ध रखनेवाले देवता को न जानकर कर्म करना व्यर्थ है, क्योंकि उस कर्म के अधिष्ठातृदेव का ज्ञान होना ही सार वस्तु का ज्ञान होना है। और यह नियम है कि किसी कार्य में जब तक सारपदार्थ का ज्ञान नहीं होता तब तक उस कार्य में सफलता नहीं मिलती। अतः सम्पूर्ण कर्मों के अधिष्ठातृदेव का ज्ञान होना परमावश्यक है ॥ ८ ॥

अब प्रतिहर्ता के प्रश्न का उत्तर उषस्ति ऋषि देते हैं, यथा—

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥ ९ ॥

भावार्थ—'वह देवता अन्न ही है' ऐसा उषस्ति ऋषि ने कहा, क्योंकि निश्चय करके ये सम्पूर्ण भूत अन्न को ही खाते हुए जीते हैं, अतः अन्नदेवता प्रतिहार कर्म का अधिष्ठाता है। अगर उस को बिना जाने ही तू प्रतिहार कर्म करता तो मुझ से उस तरह कहे जाने पर तेरा शिर अवश्य पतित हो जाता ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रकार पूछे जाने पर उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया

कि वह देवता अन्न है, क्योंकि ये सकल प्राणी अन्न ही को खाते हुए जीवित रहते हैं। वह यह अन्न देवता ही निश्चय करके प्रतिहार कर्म से संबन्ध रखनेवाला है। तू यदि उसको बिना जाने ही प्रतिहार कर्म करता तो उस समय मेरे इस प्रकार कहने पर कि तेरा मस्तक गिर जायगा, तेरा मस्तक गर्दन से अलग होकर अवश्य गिर जाता। परन्तु अच्छी बात हुई कि तू अपने कर्म से उपरत हो गया ॥ ९ ॥

विशेष—'तां चेदविद्वान्' यहाँ से लेकर 'तथोक्तस्य मया' यहाँ तक के सम्पूर्ण मन्त्रों का वास्तविक तात्पर्य यह है कि प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार-भक्तियों को क्रम से प्राण, आदित्य और अन्नदृष्टि से उपासना करनी चाहिए। प्राणादि रूपता की उपलब्धि या कर्म में समृद्धि प्राप्त करना पूर्वोक्त उपासना का फल है। 'तथोक्तस्य मयेति' इस पद की द्विरुक्ति खण्डसमाप्ति की सूचक है।

जूठा खाने में धर्मशास्त्रों में दोष तो लिखा ही है, पर उस में स्वभावतः ही घृणा होती है। भोजन वही पुष्टिकर होता है, जिसको देखकर चित्त प्रसन्न हो जाय। घृणा से तो प्रतिकूल परिणाम देखने में आता है। दूसरे उच्छिष्ट से रोगों का संचार भी होता है। फिर यह मनस्विता के भी विपरीत है कि हम दूसरे का बचा हुआ खायें। उषस्ति के सामने या तो मरकर प्राण देने का प्रश्न था, या जूठा खाने का। उसने प्राण बचाने के लिए उच्छिष्ट भक्षण करना ही उचित समझा। पर यह विशेष बात है कि अन्न जूठा खाने पर भी उच्छिन्न पानी नहीं पिया। इसमें उसने अपने आपको संभाला है।

प्रायः देखा जाता है कि जब किसी मनुष्य से कोई अनुचित कर्म हो जाता है तो वह समझ बैठता है कि अब तो यह हो ही गया, फिर दुबारा इसे करने में हर्ज ही क्या होगा ? एक बार मांस भक्षण करनेवाला अपने को सदा के लिए मांसाशी मान बैठता है। वह इस लिए उस दोष में प्रवृत्त हो जाता है कि अब क्या रहा, धर्म तो चला गया ही है।

किन्तु यह बात नहीं है, सदा पाप से बचना ही चाहिये। यह कोई सिद्धान्त या शास्त्राज्ञा नहीं है कि एक बार का किया पाप सदैव करने योग्य है। विश्वामित्र पराशर प्रभृति महापुरुषों ने जो एक बार किया उसे फिर नहीं दोहराया। उषस्ति ने उच्छिष्ट खाने का एक अनियमित काम तो किया, पर उस के हाथ का जल ग्रहण नहीं किया। यह समझो कि दोष शत्रु है, उसके सामने कभी मत झुको। चोट खाओ, तो भी उसको मार हटाओ। यही इस उपाख्यान से प्राप्त होनेवाली शिक्षा है ॥ ९ ॥

द्वादश खण्ड

पीछे के खण्ड में अन्न के न मिलने से उच्छिष्ट अन्न भक्षणरूप दुःखमयी दशा का वर्णन किया गया है। अब किसी को वैसी दशा न हो अतः अन्नप्राप्ति के लिए शौवोद्गीथ का आरम्भ किया जात है, यथा—

अथातः शौव उद्गीथस्तद्धः बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व्राज ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के बाद अन्नलाभ की इच्छा से शौवोद्गीथ प्रारम्भ किया जाता है। वहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि दल्भ का पुत्र बक या मित्रा का पुत्र ग्लाव कभी स्वाध्याय के लिए किसी जलाशय के नजदीक गया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस के अनन्तर अन्नप्राप्ति की कामना से कुत्तों से संबन्ध रखनेवाले उद्गीथ=उद्गान साम का आरम्भ किया जाता है। वहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्व काल में दल्भ ऋषि का पुत्र बक ऋषि या मित्रा का पुत्र ग्लाव ऋषि कभी उद्गीथ का अध्ययन करने के लिए ग्राम से बाहर एक पवित्र निर्जन देश में स्थित जलाशय के समीप गया ॥ १ ॥

विशेष—इस मन्त्र में जो कुत्तों से संबन्ध रखनेवाला उद्गीथ लिखा है, उस का अभिप्राय यह है कि अन्न के न मिलने से बुभुक्षित कुत्ते जिस समय भूँकते थे उस समय उन के शब्द को सुनकर अन्न के न मिलने से जो दुःख होता है उस का अनुभव करके उस दुःख की निवृत्ति के लिए और अन्नोपलब्धि के लिए बक ऋषि उद्गीथ का गान करना आरम्भ कर देता था, अतः इस उद्गीथ का नाम 'शौव उद्गीथ' पड़ गया। बक ऋषि दल्भ का पुत्र था और मित्रा नाम की ऋषिपत्नी ने उस को गोद लिया था, अतः वह मैत्रेय और दाल्भ्य नाम से विख्यात हुआ ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥ २ ॥

भावार्थ—उसके निकट एक सफेद कुत्ता प्रकट हुआ। उस कुत्ते के नजदीक

दूसरे कुत्तों ने आकर इस प्रकार कहा कि आप हमारे निमित्त अन्नोत्पत्ति के लिए गान करें ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वक ऋषि के गाने से संतुष्ट हो उस ऋषि के निमित्त दया करने के लिए कोई एक ऋषि या देवता सफेद कुत्ते के रूप में उसके समीप प्रत्यक्ष हुआ। उस सफेद कुत्ते के आस पास बहुत से छोटे छोटे कुत्ते पहुँचे और उससे कहा कि आप हम लोगों के लिए अन्न की उत्पत्ति के निमित्त गान करें, ताकि हम सब अन्न को खाकर अपनी क्षुधा की निवृत्ति करें ॥ २ ॥

विशेष—स्वामी शंकराचार्यजी ने प्रकृत मन्त्र के अर्थ का प्रतिपादन इस प्रकार भी किया है कि वागादि गौण प्राणों ने मुख्य प्राण से उसके स्वाध्याय से संतुष्ट हो छोटे छोटे कुत्तों के रूप में प्रकट होकर कहा कि अवश्य ही हम लोग भूखे हैं, अतः हमारे निमित्त अन्नप्राप्ति के लिए गान आप अवश्य करें।

कोई लोग यहाँ यह अर्थ करते हैं कि उस परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करने के लिए साधनसम्पन्न शुद्ध अन्तःकरण जीव उपस्थित हुआ। उस मुख्य जीव से अन्य साधारण प्राणी बोले कि आप कृपा करके हम लोगों के लिए भी परमात्मा से अन्न की प्रार्थना करें, क्योंकि हम लोग बुभुक्षित हो रहे हैं। किसी का कहना है कि यह विधि जिन लोगों ने की, उनकी जाति श्वा थी, वे कुत्ते नहीं थे। ऐसा कथन करनेवाले लोग रामचन्द्रजी की सेना के वानर तथा रीछ जन्तुओं को जंगली मनुष्य मानते हैं। इसमें युक्तायुक्त क्या है, इसे पाठक जान सकते हैं ॥ २ ॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयायेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार ॥ ३ ॥

भावार्थ—छोटे छोटे कुत्तों से सफेद कुत्ते ने कहा कि तुम लोग सवेरे यहीं मेरे पास अवश्य आना। तब दाल्भ्य वक या मैत्रेय ग्लाव उस श्वेत कुत्ते की प्रतीक्षा करने लगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह सुनकर उस ऋषि ने जो सफेद कुत्ते के रूप में था उन छोटे कुत्तों से कहा कि कल से तुम सब लोग मेरे पास आना। इस बात को सुनकर दाल्भ्य वक ऋषि भी उसी जगह सवेरे उस सफेद कुत्ते के आने की राह देखने लगा ॥ ३ ॥

विशेष—उस श्वेत कुत्ते ने प्रातःकाल सब लोगों को बुलाया। इस से यह

तात्पर्य निकलता है कि सबेरे ही उद्गान करना चाहिए, क्योंकि दोपहर के बाद अन्न को देनेवाला आदित्य उद्गाता के सामने नहीं रहता है ॥ ३ ॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे कर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करनेवाले उद्गाता अवश्य ही आपस में मिलकर अच्छी तरह भ्रमण करते हैं, वैसे ही उन कुत्तों ने भी भ्रमण किया और पुनः वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—सामवेद में तीन सूक्त हैं जो तीन तीन ऋचा के हैं। वे तीनों सूक्त मिलकर बहिष्पवमान स्तोत्र कहलाता है। सामवेदी लोग स्तोत्र-विशेष का आरम्भ करते समय जो तीन बार 'हिं–हिं–हिं' ऐसा करते हैं, वह हिंकार अर्थात् हिं करना कहलाता है। जिस प्रकार यज्ञकर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र से गान करने के लिए स्तुति करनेवाले अध्वर्यु आदि ऋत्विक् परस्पर मिले हुए एक दूसरे के पीछे चलते हैं, उसी प्रकार उन छोटे कुत्तों ने भी मुँह से एक दूसरे की पूँछ पकड़कर परिभ्रमण किया और इस प्रकार भ्रमण करके पुनः उसी स्थान में बैठकर "हिं हिं" ऐसा शब्द करने लगे ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में अन्योक्ति अलंकार है, यह अलंकार वहीं होता है जहाँ पर एक के बहाने से दूसरे का कथन किया जाता है। यहाँ सफेद कुत्ते से तात्पर्य मुख्य प्राण से है और छोटे छोटे कुत्तों से तात्पर्य वागादि गौण प्राणों से है। वह दाल्भ्य बक ऋषि अपने वागादि प्राणों से कहता है कि हे वागादि प्राणों ! तुम लोग उद्गीथ की उपासना करके अन्न को उत्पन्न करो और मेरे मुख्य प्राण के लिए दो, जिससे कि मैं अन्न की प्राप्ति न होने के कारण भूख से पीड़ित न होऊँ ॥ ४ ॥

ओ३ मदा३ मों३ पिबा३ मों३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता २ न्नमिहा २ हरदन्नपते ३ न्नमिहा २ हरा २ हरो ३ मिति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके बाद सब कुत्तों ने कहा कि हे ओंकारदेव वरुण प्रजापति सविता ! हमारे लिए इस संसार में अन्न को दो। हे अन्नपत्ते ! यहाँ अन्न को दो और पानी को भी दो, ताकि हम लोग 'ओम्' ऐसा कहकर अन्न को खाएँ और 'ओम्'

ऐसा कहकर जल को पीएँ। प्रकृत मन्त्र में 'आहर' इस क्रिया की पुनरावृत्ति आदर के लिए है। 'ओमिति' यह पद उपासना की समाप्ति सूचित करने के लिए है ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इसके अनन्तर सम्पूर्ण कुत्तों ने 'ओम्' ऐसा उच्चारण करके सूर्य से कहा कि हे प्रकाशमान, वृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, सृष्टिकर्ता सूर्य ! इस संसार में हमारे लिए अन्न को उत्पन्न कर, क्योंकि तू अन्नपति है। अतः हे अन्न-स्वामिन् ! इस संसार में हमारे लिए अन्न और जल को दे, ताकि 'ओम्' ऐसा कहकर हम अन्न को खाएँ और जल को पीएँ ॥ ५ ॥

विशेष—आदित्य ही सम्पूर्ण अन्न को उत्पन्न करनेवाला है, अतः वह अन्न-पति कहलाता है, क्योंकि यदि सूर्य अन्न को न पकाये तो उत्पन्न हो जाने पर भी प्राणियों के लिए थोड़ा सा भी अन्न खाने लायक नहीं हो सकता। इसलिए सूर्य को 'अन्नपते' ऐसा संबोधन करके उनसे अन्न के लिए प्रार्थना करना ठीक ही है ॥ ५ ॥

त्रयोदश खण्ड

भक्तिविषयक उपासना को कहकर साम के अवयवभूत स्तोभाक्षर-संबन्धिनी उपासना को कहते हैं, यथा—

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १ ॥

भावार्थ—यह लोक निश्चय करके हाउकार है, पवन हाइकार है, चन्द्रमा अथकार है, आत्मा इहकार है और अग्नि ईकार है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह संसार हाउ शब्द में आरोपित है, पवन हाइ शब्द में आरोपित है, अथ में चन्द्र आरोपित है, इह में आत्मा और ई में वह्नि आरोपित है। पृथिवी लोक के गुणों के विज्ञानार्थ हाउकार शब्द का गान होता है, अर्थात् उक्त शब्द द्वारा ऋत्विक् लोग परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे दयानिधे ! आप अपनी परम कृपा से हमको वह विज्ञान प्रदान करें जिसके द्वारा हम पार्थिव गुणों को जानें। इसी प्रकार हाइकार शब्द से यह प्रार्थना की जाती है कि आप अपनी कृपा से वायुसम्बन्धी गुणों का विकास हमारे हृदय में करें। अथकार शब्द से

चन्द्रमासम्बन्धी गुणों के लिए, तथा इहकार शब्द से आत्मोद्देश्य सम्बन्धी प्रार्थना की जाती है कि हे परमात्मन्! आप अपनी कृपा से हमारे आत्मा को महान् करें। और ईकार शब्द द्वारा अग्निसम्बन्धी गुणों की प्रार्थना से तात्पर्य है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र के द्वारा पूर्वोक्त से अन्य तरह की उपासना का वर्णन किया गया है, यह उपासना स्तोभ नाम करके विख्यात है। यह स्तोभ सामवेद का एक अवयव है, सामवेदीय गान के यह स्तोभाक्षर साधक हैं। हाउ, हाइ, अथ, इह, ई आदि स्तोभाक्षर जब आवें तो उनके अभिमानी देवता का ध्यान पढते समय करना चाहिए। उपासक हाउकार साम की लोकदृष्टि से, हाइकार साम की वायुदृष्टि से, अथकार की चन्द्रदृष्टि से, इहकार की आत्मदृष्टि से और ईकार की अग्निदृष्टि से उपासना करे। तात्पर्य यह है कि सामवेद के मन्त्रों के गाने में गाने को पूरा करने के लिए बीच बीच में कुछ अक्षर गाये जाते हैं, जो ऋचा के अन्दर नहीं होते, जैसे—हाउ, हाइ, औ हो, हाइ इत्यादि; इन अक्षरों को स्तोभाक्षर कहते हैं। यहाँ पूर्व उद्गीथ प्रस्ताव आदि का विषय समाप्त करके अब उनके गाने में जो स्तोभाक्षर आते हैं, प्रपाठक की समाप्ति में उनका रहस्य बतलाकर इस विषय को समाप्त करते हैं ॥ १ ॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य ऊकार अक्षर है, निहव=आह्वान एकार अक्षर है, विश्वेदेव औहोइकार है, प्रजापति हिंकार है, प्राण स्वर है, अन्न या है और वाणी विराट् है ॥ २ ॥

वि० बि० भाष्य—देवतासम्बन्धी साम में ऊ स्तोभ सूर्य है, क्योंकि यह उष्णता देनेवाला है। जब किसी व्यक्ति को पुकारना होता है उस समय लोग 'एहि' ऐसा कहकर पुकारते हैं, अतः वह निहव=आह्वान एकार स्तोभ है। वैश्वदेव साम में औहोइकार स्तोभ देखा जाता है, अतः विश्वेदेव औहोइकार है, क्योंकि सामवेदीय गान में औहोइकार के उच्चारण होते ही विश्वेदेव के आराधन का अनुभव होने लगता है। हिंकार अवर्णनीय है, इसी तरह प्रजापति भी अनिर्वचनीय है, अतः अनिर्वचनीयत्वरूप साम्य से हिंकार प्रजापति है। प्राण स्वर है, क्योंकि प्राण स्वर के निकलने का स्थान है, अन्न से ही प्राणियों में गमन करने की शक्ति आती है, अतः प्राण 'या' अक्षर है और 'वाक्' यह स्तोभ विराट् अन्न देवताविशेष है। क्योंकि वैराजसाम में विराट् की स्तोभ वाणी है ॥ २ ॥

विशेष—उपासक को उचित है कि ऊकार की आदित्यदृष्टि से उपासना करे, एकार अक्षर की उपासना निह्व याने इन्द्र दृष्टि से करे, क्योंकि एकार शब्द इन्द्र का निर्देशक है। औहोइकार की विश्वेदेव दृष्टि से, हिंकार की प्रजापति दृष्टि से, स्वर की प्राण दृष्टि से, या अक्षर की अन्न दृष्टि से, और वाणी की विराट् दृष्टि से उपासना करे ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥ ३ ॥

भावार्थ—विशेष रूप से अनीरूपणीय तथा कार्यरूप से सब में संचार करनेवाला तेरहवाँ स्तोभ हुङ्कार है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—अव्यक्त होने के कारण विशेष रूप से जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, याने कारणरूपी आत्मा और संचर=विकल्प्यमानस्वरूप याने कार्यरूपी आत्मा तेरहवाँ स्तोभ हुङ्कार है। इस खण्ड में पीछे पृथिवी, चन्द्रमा तथा सूर्य प्रभृति पदार्थों के ज्ञापनार्थ हाउकार (१) हाइकार (२) अथकार (३) इहकार (४) ईकार (५) ऊकार (६) एकार (७) औहोइकार (८) हिङ्कार (९) स्वर (१०) या (११) और वाक् (१२) ये बारह स्तोभ कथन किये गये हैं। अब उक्त परमात्मा के ज्ञापनार्थ यह तेरहवां हुङ्कार (१३) नामक स्तोभ कथन किया गया है, जो सब स्तोभों से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् सब पदार्थों को जानते हुए अन्त में वही अनिरुक्त जिज्ञासनीय है। क्योंकि उसके जाने विना मनुष्य का आत्मकल्याण हो नहीं सकता ॥ ३ ॥

विशेष—इस स्तोभाक्षर का अर्थनिर्वचन भी किसी तरह नहीं किया जा सकता, यह तेरहवाँ स्तोभाक्षर हुङ्कार अनिरुक्त विशेष रूप से ही उपासनीय है। इसकी उपासना करने से जिस अर्थ की सिद्धि होती है उस अर्थ का भी निर्वचन नहीं हो सकता है अर्थात् यह अत्यन्त उत्कृष्ट है, इसलिए इसकी उपासना अवश्य करनी चाहिए ॥ ३ ॥

अब स्तोभाक्षरसंबन्धिनी उपासनाओं का फल बतलाते हैं, यथा—

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥४॥

भावार्थ—जो वाणी का फल है उस फल को उस उपासक के लिए यह उपासना देती है। जो सामवेदीय स्तोभाक्षरों की इस उपनिषद् को उपरोक्त रीति से जानता है वह अन्नवान् तथा भोजनशक्तिवाला होता है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—स्तोभाक्षरों की उपासना वाणी के जितने फल हैं उन सम्पूर्ण फलों को उपासना करनेवालों के लिए देती है। जो उपासक सामावयवभूत स्तोभाक्षरसंबन्धिनी उपनिषद् याने विषय को ऊपर कहे हुए प्रकार से भली भाँति जानता है, वह अन्नसंपत्तिवाला और अन्न भक्षण करने की शक्तिवाला होता है ॥ ४ ॥

विशेष—वाणी स्वयं वाणीरूप दूध को दुहकर उस साधक को देती है जो उक्त त्रयोदश स्तोभों का ज्ञाता है। अर्थात् उक्त ज्ञाता पुरुष की वाणी में ऐसी अमृतरूप मिठास आ जाती है कि सम्पूर्ण संसार के प्राणी उससे प्यार करते हैं। संसार में उसका कोई अनिष्ट चिन्तन करनेवाला नहीं होता, सम्पूर्ण संसार उसका सुहृद् हो जाता है। वह चाहे जितना अन्न व्यवहार में ला सकता है, याने चाहे जितना अन्न देने और पचाने की शक्ति उसमें प्रभुकृपा से प्राप्त हो जाती है। 'उपनिषदं वेद उपनिषदं वेद' यह पुनरुक्ति अध्यायसमाप्ति की सूचक है अथवा सामावयवविषयक उपासनाविशेष की समाप्तिसूचक है ॥ ४ ॥

त्रयोदश खण्ड और प्रथम अध्याय समाप्त

द्वितीय अध्याय प्रारम्भ

प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय में "ओमित्यैतदक्षरम्" इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अनेक फल देनेवाली सामावयवसंवन्धिनी उपासनाओं को बतलाने के बाद स्तोभाक्षर विषयवाली उपासना का कथन किया गया है। अब द्वितीयाध्याय में श्रुति भगवती सम्पूर्ण साम से संबन्ध रखनेवाली उपासनाओं का वर्णन करती है, यथा—

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति ॥ १ ॥

भावार्थ—'ओं सम्पूर्ण साम की उपासना अवश्य ही साधु है, जो साधु है वही साम है और जो साधु नहीं है वह साम नहीं कहलाता है।' इस प्रकार निपुण सामवेत्ता लोग कहते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सम्पूर्ण याने अखिल अंगों के साथ अर्थात् पाञ्चभक्तिक, साप्तभक्तिक साम की उपासना साधु=करने योग्य है। जो साम अंगों के साथ है, वह अवश्य सामवेद है तथा जो साम अंगों के साथ नहीं है वह सामवेद नहीं है। संसार में जो पदार्थ साधु=शोभन याने निर्दोषरूप से विख्यात है उसको निपुण जन 'साम' ऐसा कहकर पुकारते हैं, इसके विपरीत असाधु को असाम कहते हैं ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में 'साधु' शब्द पूर्वोपासना की निन्दा के लिए नहीं है, किन्तु 'सम्पूर्ण साम में उपासक साधु दृष्टि करके उपासना करे' इसके लिए है। क्योंकि 'साम साधु है इस प्रकार उपासना करे' ऐसा कहकर उपसंहार किया गया है। यह अखण्ड साम की उपासना अति श्रेष्ठ है, इसके करने से उपासक का बहुत कल्याण होता है। मन्त्र में 'खलु' यह निपात वाक्य की शोभा बढ़ाने के लिए है ॥ १ ॥

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त कथन के अनन्तर और भी फल स्पष्ट रीति से कहते हैं कि जब कोई पुरुष राजा के पास साम द्वारा जाय तब वहाँ लोग ऐसा कहते हैं कि वह उसके पास साधु भाव से गया था। और जब वह उसके पास असाम द्वारा जाय तब लोग कहते हैं कि वह असाधु भाव से उसके पास गया था ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—प्रकृत मन्त्र भी साधु और असाधु का ही विचार करता है, जैसे—जब कोई पुरुष शान्तिवचनों के साथ राजा के पास जाय तब वहाँ बन्धनादिक दण्ड से रहित उसको देखकर सब लोग प्रायः ऐसा कहते हैं कि वह राजा के पास साधुभाव याने अच्छी नीयत से गया था। और जब कोई पुरुष असाम्ना=कठोर वचनों के साथ उसके पास जाय तब बन्धनादि दण्ड से युक्त उस पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह असाधु भाव से याने बुरी नीयत से राजा के पास गया था ॥ २ ॥

विशेष—इस प्रकृत राजनैतिक साम शब्द में जो यह गुण है वह इस कारण है कि यह साम उस वेदोक्त साम से अक्षरों में एकता रखता है। यहाँ पर श्लेषालंकार से वेदप्रतिपादित साम की स्तुति की गई है ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसके बाद और भी इस विषय में लोग इस प्रकार कहते हैं कि हमारा साम हुआ, याने जब शुभ होता है तो 'अहा! बहुत अच्छी बात हुई' इस प्रकार कहते हैं। और जब अशुभ होता है तो 'खेद के साथ हमारा असाम हुआ, अरे! बहुत बुरा हुआ!' इस प्रकार कहते हैं ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जिस समय किसी का कोई मंगल होता है तो वह पुरुष अपने मित्रादि से कहता है कि बड़े हर्ष की बात है कि आज मेरा साम याने शुभ हुआ। और जब कोई अमंगल होता है तब वह बड़े दुःख के साथ कहता है कि आज मेरा असाम याने अशुभ हुआ ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत की भाष्योक्ति से यह बात सिद्ध होती है कि 'साम और साधु' ये दोनों एकार्थप्रतिपादक हैं। तथा 'असाम और असाधु' ये दोनों भी एक अर्थ को कहनेवाले हैं। क्योंकि साम शब्द का 'सा' और साधु शब्द का 'सा' एक दूसरे से एकता रखते हैं ॥ ३ ॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥ ४ ॥

भावार्थ—इसे इस प्रकार जाननेवाला जो कोई पुरुष 'साम साधु है' ऐसी उपासना करता है, उसके पास जो साधु धर्म हैं वे अतिशीघ्र आ जाते हैं तथा उसके प्रति विशेष नम्र हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस कारण साम तथा असाम के भेद को जानकर उपासना करनेवाला इस साधु=शोभन अंगसहित साम की 'साम साधुगुणविशिष्ट है' ऐसी उपासना करता है, अतः उस उपासक के पास श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित धर्म अतिशीघ्र प्राप्त होते हैं, और उसके प्रति विनम्र भी हो जाते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में 'यत्' पद क्रियाविशेषण के लिए है, इससे तात्पर्य यह निकला कि श्रुति स्मृति से अविरुद्ध शुभ धर्म केवल उपलब्ध ही नहीं होते वल्कि उस उपासक के प्रति भोग्य रूप से उपस्थित भी हो जाते हैं ॥ ४ ॥
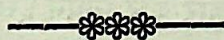
द्वितीय खण्ड

श्रुति भगवती लोकदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना को बतलाती है, यथा—

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

भावार्थ—उपासक पृथिव्यादि लोकों में पञ्चविध साम की उपासना करे। वे पञ्चविध साम कौन कौन हैं ? इसे श्रुति भगवती स्वयं बतलाती है, यथा—पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथमत्वरूप समान गुण होने से पृथिवी हिंकार है, याने हिंकार में पृथिवीदृष्टि करके उपासना करे। कर्मों का प्रस्ताव वह्नि में ही किया जाता है, अतः वह्निदृष्टि से प्रस्ताव की उपासना करे। अन्तरिक्ष गगन का वाचक है और गगन में गकार है तथा उद्गीथ में भी गकार है, इस लिए दोनों में गकाररूप एक व्यञ्जन की सत्तारूप सादृश्य होने से उद्गीथ की अन्तरिक्षदृष्टि से उपासना करे। 'मेरे प्रति मेरे प्रति' ऐसा होने के कारण सूर्य प्रत्येक प्राणी के अभिमुख है, अतः प्रतिहार की आदित्यदृष्टि से उपासना करे। यहाँ से मरकर गये हुए उपासकों का स्थान स्वर्ग है अतः निधन की स्वर्ग दृष्टि से उपासना करे॥ १॥

विशेष—प्रकृत मन्त्रार्थ के विषय में वादी का कहना है कि साम का अर्थ साधु अर्थात् धर्म है और पृथिव्यादिक असाम हैं, अतः साम और असाम का सादृश्य होना असंभव प्रतीत होता है। इसके उत्तर में भगवान् स्वामी श्री शंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं कि यह वादी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि धर्मरूप ब्रह्म से पृथिव्यादिक उत्पन्न होते हैं, अतः ये सम्पूर्ण साम ही हैं असाम नहीं हैं। क्योंकि कारण और कार्य में कोई भेद नहीं होता है। इसी अभिप्राय से मन्त्र ने साम की पाँच प्रकार की उपासना पृथिव्यादिक में आरोप करके कही है। भाव यह है कि पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ इन पाँच लोकान्तरों के मध्य हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन इस पाँच प्रकार के साम को विचारे, अर्थात् सामगीति के जो ये पाँच विभाग हैं इनका भले प्रकार से चिन्तन करे।

दो या अधिक उद्गाता मिलकर जिस साम को गाते हैं उसका नाम हिङ्कार है, इस सामगान में उद्गाता लोग हिं या हुं शब्द का अधिक उच्चारण करते हैं, इसलिए भी इसको हिङ्कार कहते हैं। प्रस्तोता जिस साम को गाता है, उसका नाम प्रस्ताव है। उद्गाता जिस साम को गाता है, उसका नाम उद्गीथ है। प्रतिहर्ता जिसका गान करता है उसका नाम प्रतिहार है। और जिसको सब मिलकर गाते है, उसका नाम निधन है। इसमें पृथिवी लोक को हिङ्कार रूप से विचार करने को कहा गया है, इसका तात्पर्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इस पृथिवी लोक में परमात्मा की विचित्र रचना का भले प्रकार अनुसन्धान करता हुआ साधक उसकी महिमा को सामगान द्वारा लोगों पर प्रकट करे, और इस पृथिवी लोक की रचना के तत्त्व को विचारता हुआ सामगान से अपने चित्त को प्रफुल्लित करके उसकी भक्ति में लगावे। इसी प्रकार अग्नि आदि और

तत्त्वों के सामर्थ्य को देखकर प्रभुमहिमा का वखान करे। इसी प्रकार उत्तरोत्तर विचार करता चला जाय ॥ १ ॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

भावार्थ—पुनः नीचे के लोकों में साम की इस प्रकार उपासना करे—स्वर्ग हिंकार है, सूर्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, वह्नि प्रतिहार है और पृथिवी निधन है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—स्वर्ग अधोमुख लोकों में पहला है अतः द्युलोक हिंकार है। सूर्य का जब उदय होता है तभी सम्पूर्ण प्राणियों के कर्म प्रस्तुत होते हैं, अतः आदित्य प्रस्ताव है। अन्तरिक्ष=गगन और उद्गीथ इन दोनों में गकार व्यंजन के होनेरूप सादृश्य से अन्तरिक्ष उद्गीथ है। अग्नि समस्त प्राणियों का प्रतिहरण कर लेता है, अतः अग्नि प्रतिहार है। ऊपर के लोकों से आये हुओं का स्थान पृथिवी है, इसलिए पृथिवी निधन है ॥ २ ॥

विशेष—ये स्वर्गादि लोक गमनागमन दो प्रकार की वृत्तियों से युक्त हैं, अतः जिस प्रकार वे स्थित हैं उसी प्रकार आवृत्त याने अधोमुख लोकों में पञ्चविध सामोपासना का निरूपण किया गया है। द्युलोक को हिंकार रूप से विचार करने का तात्पर्य यह है कि जैसे उद्गाता लोग हिंकारविधि का सम्पादन करते हैं इसी तरह मानो द्युलोकस्थ तारागण तथा नक्षत्रादि सब मिलकर उसी महान् परमात्मा के ऐश्वर्य का गायन कर रहे हैं। इस भाव को विचारता हुआ पुरुष उसकी महिमा का सामगान द्वारा अनुसन्धान करे। इसी प्रकार आदित्यलोकादिकों का भाव समझना चाहिये। ग्रन्थविस्तार के भय से हमने सबको न लिखकर दिग्दर्शन करा दिया है ॥ २ ॥

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो उपासक इस पञ्चविध साम को पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है उसके लिए ऊर्ध्व और अधोमुख लोक अवश्य ही भोग्य रूप से उपस्थित होते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासक स्तोभाक्षरों के सहित इस उपासना को 'समस्त साधुगुणविशिष्ट साम है' इस प्रकार जानकर पञ्चविध साम की उपासना

करता है, उस उपासक के लिए गमनागमनविशिष्ट ऊपर के लोक और नीचे के लोक निश्चय ही भोग्य रूप से उपलब्ध होते हैं ।। ३ ।।

विशेष—इस खण्ड में तीन मन्त्र हैं, उनमें पहला मन्त्र उत्तरोत्तर ऊपर के लोकों में लोकदृष्टि से की जानेवाली उपासना को बतलाता है । द्वितीय मन्त्र नीचे के लोकों में लोकदृष्टि से की जानेवाली उपासना को बतलाता है । प्रकृत यह तृतीय मन्त्र पूर्व-उभयमन्त्रोक्त उपासना के फल को बतलाता है । अतः इस प्रकार से उत्कृष्ट फल को देखकर जिनके हृदय में ऐसी भावना हो कि मुझे ये लोक भोग्यरूप से प्राप्त हों, उनको उचित है कि उक्त प्रकार से पञ्चविध साम की उपासना अवश्य करें । प्राचीन लोग अनुष्ठानी होने के कारण तत्त्ववेत्ता होते थे । आज उस प्रथा के उठ जाने से लोग ईश्वरीय रचना का अनुसन्धान नहीं करते इसलिए तत्त्वज्ञान से कोरे रह जाते हैं । इस छान्दोग्य में जो उपासनायें आ रही हैं वे पाठकों को विचित्र प्रतीत होंगी । अनेक महाशय इस प्रकरणपाठ से ऊबकर इसके विज्ञान से शून्य रह जाते हैं, क्योंकि उनकी उपेक्षा का भाव उन्हें इनके समझने में बाधक होता है । भारतवर्ष के इस वैदिक उपासनाविज्ञान की परंपरा का लुप्त हो जाना भारतीयों के परम दुर्भाग्य का विषय है । पौराणिक उपासना ने वैदिक उपासना को दबा दिया, इसका कारण यह है कि वैदिकोपासना ब्रह्मविज्ञान पर निर्भर है और ऐसा विज्ञान वे ही सम्पादन कर सकते हैं जो सदाचारी हों, तपस्वी हों । भगवान् ने गीता में अर्जुन को 'इदं ते नाऽतपस्काय' कहकर आज्ञा दी है कि इस गीताप्रतिपाद्य परतत्त्व को उसके सामने नहीं कहना जिसका तपोमय जीवन न हो । अर्थात् इस ज्ञान के अधिकारी तपस्वी जन ही होते हैं । अस्तु, इस लोक से द्यौ को जाते समय ऊपर ऊपर के लोक और द्यौ से नीचे को आते समय नीचे नीचे के लोक उसके लिए भोग देते हैं जो पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है ।। ३ ।।

तृतीय खण्ड

ऊपर के लोक और नीचे के लोक की स्थिति के वृष्टिनिमित्तक होने से उसके बाद वृष्टिदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना को कहते हैं, यथा—

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो

जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि में पञ्चविध साम की उपासना करे। पूर्व वायु हिंकार है, जो मेघ पैदा होता है वह प्रस्ताव है, बरसता है वह उद्गीथ है, चमकता है और शब्द करता है वह प्रतिहार है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उपासक वृष्टि में पाँच प्रकारवाली साम की उपासना इस तरह करे, यथा—पानी आने के पहले जो वायु चलता है वह हिंकार है, क्योंकि वायु और हिंकार ये दोनों पहले हैं। वर्षा ऋतु में जब मेघ उत्पन्न होता है तभी वृष्टि प्रस्तुत होती है, अतः जो मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है। बरसता हुआ मेघ श्रेष्ठता के कारण उद्गीथ है तथा जो प्रकाश के साथ चमकता है और गर्जन करता है वह याने बिजली प्रतिहार है ॥ १ ॥

विशेष—वृष्टि द्वारा ही सृष्टि का कल्याण होता है, जब पूर्वोक्त रीति से वृष्टि में पञ्चविध साम की उपासना की जाती है तो उसका फल प्राणी मात्र के लिए सुखदायक होता है ॥ १ ॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पानी को ग्रहण करता है वह निधन है। जो इसे इस प्रकार जानता हुआ वृष्टि में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसके लिए वृष्टि होती है और वृष्टि के न होने पर वह वृष्टि करा भी लेता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो जल को ग्रहण कर अपने में उस जल को जमा रखता है वही निधन है। क्योंकि अन्त में इन दोनों की समानता है, याने जलग्रहण और निधन दोनों अन्तिम कार्य हैं। जो उपासक इस प्रकार जानता हुआ वृष्टि में पाँच प्रकार के अंग सहित इस साम की उपासना करता है, उसकी इच्छानुसार मेघ वर्षा करता है और वृष्टि के न होने पर वह स्वयं भी वृष्टि करा लेता है ॥ २ ॥

विशेष—जो उपासक वृष्टि में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसके लिए ऊपर तथा नीचे के सब लोक उपलब्ध होते हैं। अर्थात् वह सम्पूर्ण लोकों का प्रभु हो जाता है, अतएव वर्षा के न होने पर वह वृष्टि भी करा लेता है।

प्रकृत दोनों मन्त्रों में वृष्टि द्वारा पञ्चविध साम का विचार और उस विचार का फल कथन किया गया है। अर्थात् हिंकार द्वारा पुरोवात वायु को विचारे। आकाश में जो मेघ चारों ओर से एकत्रित हो उत्पन्न होते हैं वह प्रस्ताव है। अर्थात् उत्पन्न हुए मेघ को देखकर जो वृष्टि होने की आशा प्रजा में होती है वह मेघोन्नति वृष्टि का प्रस्ताव है। वृष्टि उद्गीथ है, जैसे मन्द मन्द स्वर से उद्गीथ गाया जाता है, इसी प्रकार मानो उद्गीथ कर्म का विधान करती हुई जलधारा धीरे धीरे बरसती है। आकाश में बिजली का प्रकाश और गर्जना ये दोनों मिलकर प्रतिहार हैं। और धीरे धीरे वर्षा का समाप्त होना याने वृष्टि का जो उपसंहार है वह निधन है। जो मनुष्य इस भाव को अच्छी तरह जानता है याने वृष्टिविषय में पञ्चविध साम का विचार करता है उसका भला होता है और वह दूसरों का भी कल्याण कर सकता है ॥ २ ॥

चतुर्थ खण्ड

इस खण्ड में वृष्टि का हेतुभूत जो जल है, उस की दृष्टि से पञ्चविध सामोपासना को बतलाते हैं, यथा—

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

भावार्थ—संपूर्ण जलों में पञ्चविध साम की उपासना इस प्रकार करे, यथा—जो मेघ इकट्ठा होता है वह हिंकार है, जो बरसता है वह प्रस्ताव है, जो पूर्व की ओर बहता है वह उद्गीथ है तथा जो पश्चिम की ओर बहता है वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उपासक नदी समुद्रादि के सब जलों में पाँच प्रकार की उपासना इस रीति से करे—जो मेघ परस्पर एक होकर घनीभूत होता है तभी जलों का प्रारम्भ होता है, इसलिए संप्लवन ही हिंकार है। जो बरसता है वह प्रस्ताव है क्योंकि उसी समय जल का सब जगह प्रसार शुरू होता है। जो जल पूर्व की ओर से गङ्गादि नदियों में बहता है वह उत्कृष्ट होने के कारण उद्गीथ है। जो पूर्व से पश्चिम की

ओर नर्मदादि नदियों के रूप में वहता है वह प्रतिहार है, क्योंकि 'प्रतीची तथा प्रतिहार' इन दोनों में एक दूसरे की 'प्रति' शब्द में समानता है। समुद्र निधन है अर्थात् जल के रहने का घर है याने जलों का पर्यवसान उसी में होता है॥ १॥

विशेष—वृष्टिदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना के निरूपण के अनन्तर जलदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना का निरूपण करना ठीक ही है, क्योंकि वृष्टिपूर्वक ही सम्पूर्ण जल होते हैं॥ १॥

न ह्यप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सब जलों में इस तरह पञ्चविध साम को जानता हुआ उपासना करता है उसकी जल में मृत्यु नहीं होती और वह जलवान् याने अपनी इच्छानुकूल जल से संपन्न होता है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासना करनेवाला व्यक्ति उक्त रीति से सम्पूर्ण जलों में पाँच प्रकारवाले साम को जानता हुआ उपासना करता है, जल में डूबकर उसकी मृत्यु नहीं होती और वह जल का स्वामी होता है॥ २॥

विशेष—वह उपासक जल का स्वामी होता है, इसका तात्पर्य यह है कि कहीं पर किसी समय उसके लिए जल की कमी नहीं होती और समुद्रादिक में जो मोती, मूँगा आदि पैदा होते हैं उन सबकी उपलब्धि उस उपासक के लिए सुगम रीति से याने अनायास होती है। क्योंकि जो जिसका मालिक होता है उसके लिए वे सब चीजें उपभोग्यरूप से सदा प्रस्तुत रहती हैं। अतः जब वह उपासक उपासना के बल से जल का प्रभु हो जायगा तब उसके लिए जलान्तर्गत सब वस्तुओं की अनायास उपलब्धि होना ठीक ही है॥ २॥

——❀❀❀——
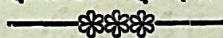
पञ्चम खण्ड

इस खण्ड में ऋतुदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना का और उसके फल का प्रतिपादन किया जाता है—

ऋतुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥१॥

भावार्थ—उपासक ऋतुओं में पञ्चविध साम की इस प्रकार उपासना करे—वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्‌गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पाँच प्रकार के जो ऋतु हैं, उनमें उपासना करनेवाला पुरुष पाँच अंगों सहित साम की उपासना इस प्रकार करे, यथा—वसन्त ऋतु हिंकार है, क्योंकि यही सब से पहला है, ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, कारण यह है कि इसी ऋतु में वर्षा के लिए अन्नों के संग्रह का प्रस्ताव किया जाता है, मुख्य होने के कारण वर्षा ऋतु उद्‌गीथ है, रोगी तथा मरे हुए प्राणियों के प्रतिहरण करने के कारण शरदृतु प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है, क्योंकि इस ऋतु में बहुत जीवों की मृत्यु होती है ॥ १ ॥

विशेष—पहले कहे हुए जलरूप निमित्त से ही ऋतुओं की व्यवस्था होती है, इस लिए पहले जलदृष्टि से उपासना के कहने के अनन्तर ऋतुदृष्टि से पञ्चविध साम की उपासना बतलायी गई है ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो उपासक ऋतुओं में इस तरह पञ्चविध साम को जानता हुआ उपासना करता है, उसके लिए सब ऋतु स्वानुरूप फल देने को तैयार रहते हैं और वह ऋतुमान् होता है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो उपासना करनेवाला पाँच ऋतुओं में इस प्रकार पाँच अंगों सहित साम को उक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है उसके लिए अपने अपने समय में सब ऋतुओं के फल भोग्य रूप से उपस्थित होते हैं और वह उपासक सब ऋतुओं के भोगों से संपन्न होता है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जिन जिन ऋतुओं में जो जो चीज पैदा होती है वह सब उक्त उपासक के लिए अनायास निरन्तर भोग्य रूप से उपलब्ध रहती है। ऐसे ही उत्कृष्ट फल दिखलाने का अभिप्राय यह है कि जिनको सब ऋतुओं के फलों को सदा प्राप्त करने की इच्छा हो, वे इसी उपासना से सफल मनोरथ होने का पूर्ण विश्वास करें ॥ २ ॥

षष्ठ खण्ड

इस खण्ड में पशुदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना तथा उसका फल बतलाया जाता है, यथा—

पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥१॥

भावार्थ—उपासक पशुओं में पञ्चविध साम की उपासना इस प्रकार करे—बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—"अजः पशूनां प्रथमः" इस श्रुति से पशुओं में सर्वप्रथम बकरा है या सब में प्रधान है, अतः बकरे हिंकार हैं। लोक में बकरों और भेड़ों का साहचर्य देखा गया है, इस लिए भेड़ें प्रस्ताव हैं। गौएँ उद्गीथ हैं, क्योंकि ये सर्वश्रेष्ठ हैं। घोड़े प्रतिहार हैं, क्योंकि ये पुरुषों के वहन करनेवाले हैं। पशुओं के पुरुष के आश्रित होने के कारण पुरुष निधन है ॥ १ ॥

विशेष—पहले ऋतुदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना कही गई, उसके बाद पशुदृष्टि से सामोपासना कही गई है। इसमें कारण यह है कि ऋतुओं की समुचित व्यवस्था रहने से पशुओं के लिए अनुकूल समय रहता है, अतः ऋतुदृष्टि से उपासना के अनन्तर पशुदृष्टि से उपासना का प्रतिपादन करना ठीक ही है ॥ १ ॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो उपासक पशुओं में इस प्रकार पञ्चविध साम को जानता हुआ उपासना करता है उसे पशु उपलब्ध होते हैं और वह पशुमान् होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासना करनेवाला पशुओं में इस प्रकार पाँच अंगों सहित साम को उक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है उस उपासक के गृह में बहुत से पशु हो जाते हैं और वह उपासक अवश्य ही बहुत से पशुओं का स्वामी होता है ॥ २ ॥

विशेष—प्राचीन समय में पशु ही धन समझे जाते थे, अतः पशुओं की वृद्धि धन की वृद्धि समझी जाती थी। आज कल भी गाँवों में पशुओं को बड़ी सम्पत्ति लोग मानते हैं। वस्तुतः यह बात ठीक भी है, क्योंकि इनसे घी दूध भी पर्याप्त मिल सकता है और इनके दानादि से स्वर्ग की प्राप्ति भी हो सकती है॥ २॥

सप्तम खण्ड

इस खण्ड में प्राणदृष्टि से पञ्चविध सामोपासना का तथा उसके फल का प्रतिपादन किया जाता है, यथा—

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वैतानि॥ १॥

भावार्थ—उपासक अत्यन्त श्रेष्ठ पञ्चविध साम की इस प्रकार उपासना करे कि प्राण (नासिका) हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, कर्ण प्रतिहार है और मन निधन है। ये इन्द्रियाँ अवश्य ही परोवरीयांसि=उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं॥ १॥

वि० वि० भाष्य—उपासक प्राणादिकों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठत्व गुणविशिष्ट पाँच अंगों सहित साम की इस प्रकार उपासना करे—इन्द्रियों में सर्वप्रथम घ्राण है, अतः वह हिंकार है। वाणी से सबका प्रस्ताव होता है, अतः वह प्रस्ताव है। चक्षु वाणी से उत्कृष्ट है, अतः वह उद्गीथ है। श्रोत्र सब ओर से शब्द को प्रतिहरण=श्रवण करता है; अतः वह प्रतिहार है। मन निधन है, क्योंकि मन के बिना कोई इन्द्रिय काम नहीं कर सकती। इस तरह एक की अपेक्षा एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है॥ १॥

विशेष—'उत्तरोत्तर श्रेष्ठ' इस कथन का स्पष्ट प्रतिपादन इस तरह है—घ्राण से वाणी श्रेष्ठ है, वाणी से नेत्र, नेत्र से कर्ण, कर्ण से मन श्रेष्ठ है। इसी तरह हिंकार से प्रस्ताव, प्रस्ताव से उद्गीथ, उद्गीथ से प्रतिहार और प्रतिहार से निधन श्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ परस्पर में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि घ्राण से केवल प्राप्त गन्ध का ग्रहण होता है। वागिन्द्रिय से गन्ध तथा दूसरों का भी ग्रहण होता है, अतः घ्राण से वाणी श्रेष्ठ है। वाणी से नेत्र इसलिए श्रेष्ठ है कि वाणी

तो केवल विषयों को बतलाती है और नेत्र से वे विषय प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। नेत्र से कर्ण इसलिए श्रेष्ठ है कि नेत्र केवल सामने के पदार्थ को प्रत्यक्ष करता है किन्तु कर्ण अप्रत्यक्ष अर्थात् दूर के शब्द को भी प्रत्यक्ष करता है। मन की सहायता के बिना कोई इन्द्रिय भी अपने भोग्य विषय के ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकती, अतः मन कर्ण से भी श्रेष्ठ है॥ १॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

भावार्थ—जो उपासक इन्द्रियों में इस तरह पञ्चविध, उत्तरोत्तर अत्यन्त उत्कृष्ट साम की उपासना करता है, उस उपासक का जीवन अति श्रेष्ठ होता है और वह उत्कृष्टतर लोकों को प्राप्त होता है। अवश्य ही ऐसी पञ्चविध साम की उपासना है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासना करनेवाला पुरुष प्राणदृष्टि से विशिष्ट उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर साम की उपासना करता है, उसका जीवन अत्यन्त उन्नतिशील और उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करनेवाला हो जाता है।॥ २॥

विशेष—इस तरह यह पञ्चविध साम की उपासना आगे कही जानेवाली सप्तविध सामोपासना में बुद्धि को समाहित करने के लिए कही गई है। इसका कारण यह है कि जब तक पञ्चविध सामोपासना में उपासक की बुद्धि परिपक्व नहीं हो जायगी तब तक वह सप्तविध सामोपासना में समाहितचित्त नहीं हो सकता है॥ २॥

अष्टम खण्ड
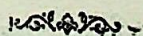
अब वाणीविषयक सप्तविध सामोपासना को कहते हैं, यथा—

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर सप्तविध साम की उपासना इस प्रकार कही जाती है—उपासक वाणी में सप्तविध साम की उपासना इस प्रकार करे कि वाणी में जो कुछ 'हु' ऐसा स्वरूप दृष्ट है वह हिंकार है, जो यह 'प्र' उपसर्ग है वह प्रस्ताव है और जो यह 'आ' उपसर्ग है वह आदि है ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो 'उत्' ऐसा उपसर्ग है वह उद्गीथ है, जो 'प्रति' ऐसा उपसर्ग है वह प्रतिहार है, और जो 'नि' ऐसा उपसर्ग है वह निधन है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले मन्त्र में साम के तीन अङ्गों और दूसरे मन्त्र में चार अङ्गों का प्रतिपादन किया गया है। अतः सातों अङ्गों को एक जगह कहकर दोनों मन्त्रों का भाष्य, विशेष साथ ही लिखा जाता है—

उपासक को उचित है कि वागुदृष्टिविशिष्ट सात अङ्गों सहित साम की उपासना इस प्रकार करे—हुंकार और हिंकार में हकाररूप व्यञ्जन की समानता होने से शब्दों में 'हुं' यह शब्द हिंकार है।'प्र' शब्द प्रस्ताव है, क्योंकि इन दोनों में 'प्र' शब्द का सादृश्य है। आकार और आदित्य में आकार की समता होने से 'आ' आदित्य है। 'उत्' उपसर्ग उद्गीथ है, क्योंकि दोनों में 'उत्' की समता है। 'उप' उपसर्ग उपद्रव है कारण यह है कि दोनों में 'उप' शब्द का सादृश्य है। 'नि' और निधन में 'नि' शब्द की समानता होने से 'नि' उपसर्ग निधन है ॥ १ ॥ २ ॥

विशेष—'आ' उपसर्ग आदि है, यह साम का तीसरा अङ्ग बतलाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि आदि माने आरम्भ, इस तरह सबका आरम्भ ओंकार ही से है, अतः प्रकृत मन्त्र में आदि शब्द से ओंकार ही समझना चाहिए। पहले जो साम-भाग के पाँच अङ्ग बताये गए हैं उनके साथ दो भाग और मिलाने से सात होते हैं। वे दो हैं 'आदि' और 'उपद्रव'। आदि सबसे पहला अर्थात् ओम् है। इन सातों भागों से साम साप्तभक्तिक कहलाता है। पाञ्चभक्तिक साम की उपासना के साथ अब यह साप्तभक्तिक साम की उपासना कही जाती है। अर्थात् इन दोनों मन्त्रों में जो सप्तविध साम की उपासना लिखी है, उसके सात भाग (हिस्से) ये हैं, यथा—हुं, प्र, आ, उत्, प्रति, उप और नि ; ये सप्त प्रकार के साम हैं और ये ही प्रायः सम्पूर्ण गान में आते हैं। इनकी सूक्ष्मता का चिन्तन करे। भाव यह हुआ कि इनको अच्छी तरह विचार करता हुआ सामगान द्वारा भगवान् की महिमा को समझे ॥ १ ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष वाणी में सप्तविध साम को इस प्रकार उक्त रीति से जानता हुआ उपासना करता है, उसके लिए उसकी उपासना वाणी के फल को पूर्ण करती है और वह अन्नवान् तथा अन्नभोक्ता होता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—वाणी के जो फल हैं उन सब फलों को उपासना उस उपासक के लिए पहुँचाती है जो उपासक वाणी में सात अङ्गों सहित साम को जानता हुआ उपासना करता है तथा वह प्रचुर अन्न से सम्पन्न, भोजनशक्तिवाला हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि जो उक्त सप्तविध साम को वाणी में विचारता है, उसके लिए वाणी स्वयं अपने दूध को दुहती है। अर्थात् उसकी वाणी में दूध जैसा रस उत्पन्न हो जाता है, संसार में सब उससे प्रेम करने लगते हैं। ऐसा मनुष्य अन्न आदि धन धान्य से परिपूर्ण हो जाता है। मधुर तथा सत्य बोलनेवाले का आत्मिक बल इतना बढ़ जाता है कि उसके शरीर तथा मन पर किसी प्रकार के रोग शोकादि का आक्रमण नहीं होने पाता। ऐसा पुरुष जो खायगा पचा लेगा। इससे उसका बल बढ़ेगा, बुद्धि विकसित होगी। भाव यह है कि ऐसे मनुष्य की बल, वीर्य और बुद्धि आदि शक्तियाँ मनुष्य को देश तथा धर्म की सेवा में लगा सकेंगी ॥ ३ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि उस उपासक का घर अन्न से परिपूर्ण हो जाता है और उस उपासक की जठराग्नि में अन्न पचाने की इतनी पूर्ण शक्ति आ जाती है कि वह किसी भी अन्न को खाय, वह तुरन्त पच जाता है, जिससे कि उसको कोई रोग नहीं होने पाता ॥ ३ ॥

नवम खण्ड
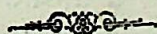
इस खण्ड में सात स्तोभाक्षरों सहित साम की उपासना कही जाती है, यथा—

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत सर्वदा 'समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद अवश्य ही इस सूर्यदृष्टि से सप्तविध साम की उपासना करे। सूर्य सदा सम है, अतः वह साम है। 'मेरे प्रति मेरे प्रति' इस प्रकार होने से वह सबके प्रति सम है, अतः साम है॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वाणी में साम की उपासना के कथन के अनन्तर उस आदित्य को सम्पूर्ण साम में उसके अवयवविभाग के अनुसार आरोपित कर सात प्रकार के साम की प्रकृत खण्ड में उक्त रीति से उपासना बतलाई गई है। वृद्धि और क्षय का अभाव होने के कारण सूर्य निरन्तर सम याने एकरूप है। एकरूप है और सब के लिए समान है, क्योंकि सब प्राणी समझते हैं कि वह आदित्य मेरे सामने है, अर्थात् प्रत्येक के सामने है। इस तरह वह सब में समान बुद्धि की उत्पत्ति करनेवाला है, अतः इस समता के कारण सूर्य साम है॥ १॥

विशेष—जैसे 'उद्‌गीथ के साथ सूर्य का ऊर्ध्वत्वरूप सादृश्य होने से सूर्य उद्‌गीथ है' ऐसा कहा गया है, वैसे ही जब तक साम और सूर्य के सादृश्य का प्रतिपादन नहीं किया जायगा तब तक 'सूर्य साम है' इस बात का सुगमोपाय से समझ में आना कठिन होगा। अतः उसके सम्बन्ध में समता याने एकरूपतारूप कारण का बतलाना ठीक ही है। इस मन्त्र में सूर्य के साथ सप्तविध साम की समानता का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार आदित्यरूप सूर्य मनुष्य से लेकर चिउँटी तक (आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्त) सब जीवों को समान ही भासता है और सब प्राणी उसे मेरा मेरा कहकर प्रसन्न होते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी तथा अज्ञानी सभी सामगान श्रवण कर उसमें निमग्न हो जाते हैं। अतएव जैसे सामगान सर्वप्रिय है उसी प्रकार आदित्य भी सर्वप्रिय होने के कारण समान है, याने दोनों समान हैं। यह सर्वानुभवसिद्ध बात है कि गाना सुनकर सभी आनन्दविभोर हो जाते हैं। यह दूसरी बात है कि आज कल हम सामगायन को नहीं समझते अतः प्रसन्नता भी नहीं प्राप्त होती। किन्तु जिस समय इस मन्त्र का अवतार हुआ था उस समय विद्वानों के सम्मिलित सामगायन को श्रवण करके मनुष्य तो क्या जङ्गली हरिण प्रभृति तिर्यक् जीव तक अपना चरना आदि व्यापार भूल जाते थे। आज कल तो सिनेमा के लचर गानों को सुनकर हमारे कान भी भ्रष्ट हो गये हैं। जो भी हो, गायनविद्या चाहे भले ही नष्ट सी हो रही हो, किन्तु गाने के प्रभाव में तो सभी आ जाते हैं॥ १॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्या-

तस्य यत्पुरोदयात्स हिङ्कारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ २ ॥

भावार्थ—उस सूर्य में ये समस्त भूत अनुगत हैं इस प्रकार जाने। जो उस सूर्य के उदय होने से पहले है वह हिंकार है। उस आदित्य का जो हिंकार स्वरूप है उसके पशु अनुगत हैं अतएव वे हिंकार करते हैं। इसलिए वे निश्चय करके इस सूर्य-रूप साम के हिंकारभाजन हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—उस सूर्य में ये वक्ष्यमाण सम्पूर्ण भूत अवयवविभाग के अनुसार उसके उपजीव्य रूप से अन्वायत्त याने अनुगत हैं, इस प्रकार आदित्य को जाने। उस आदित्य के उदय होने से पहले उस सूर्य का जो स्वरूप है वह हिंकार है। उस हिंकारस्वरूप आदित्य से सम्बन्ध रखनेवाले गवादि पशु हैं। अतएव उस आदित्यरूप साम के हिंकार की उपासना करनेवाले गवादिक पशु निश्चय करके 'हिं हिं' ऐसा शब्द किया करते हैं ॥ २ ॥

विशेष—उस सूर्यरूप साम के गवादि पशु अनुगत हैं याने उस हिंकाररूप से उसके उपजीवी हैं। अतएव गवादि पशु आदित्य के उदय से पहले 'हिं' ऐसा शब्द करते हैं, इसलिए वे इस सूर्यसंज्ञक साम के हिंकारपात्र हैं। उस हिंकार के सेवन में लीन रहने से ही वे आदित्य के उदय से पहले हिंकार करते हैं ॥ २ ॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ३ ॥

भावार्थ—इसके बाद अब दूसरी रीति से उपासना का प्रतिपादन करते हैं—पहले पहल उदय होने पर जो आदित्य का रूप है, वह रूप प्रस्ताव है। उसमें मनुष्य अनुगत हैं, इस कारण इस साम की प्रस्तावभक्ति का सेवन करनेवाले वे मनुष्य प्रकृष्ट स्तुति की इच्छावाले और प्रशंसा की इच्छावाले होते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके अनन्तर अब और प्रकार से उपासना कहते हैं—प्रथम उदित होने पर जो सूर्य का रूप होता है, वह इस सूर्य नामवाले साम का प्रस्ताव है। मनुष्य इस प्रस्ताव में अन्वायत्त=अनुगत याने शरण को प्राप्त हैं। इसीसे आदित्यरूप साम के प्रस्ताव की उपासना करनेवाले वे मनुष्य परोक्ष प्रशंसा और प्रत्यक्ष प्रशंसा के इच्छुक होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जैसे उदय होने के पहले आदित्य के हिंकार स्वरूप में अनुगत, आदित्यरूप साम के हिंकार की उपासना करनेवाले गवादि पशु 'हिं हिं' शब्द करते हैं, वैसे ही उदयकालीन सूर्य के प्रस्ताव स्वरूप में अनुगत, सूर्यरूप साम के प्रस्ताव की उपासना करनेवाले मनुष्य परोक्ष और अपरोक्ष प्रशंसा के चाहनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

अथ यत्सङ्गववेलायाᳬ स आदिस्तदस्य वयाᳬस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥ ४ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर सङ्गव काल में जो सूर्य का रूप है वह आदि है, उसमें पक्षीगण अनुगत हैं। इस कारण इस साम के आदि का सेवन करनेवाले पक्षीगण अपने को आकाश में बिना किसी आधार के चारों तरफ ले जाते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथमोदित सूर्य का रूप प्रस्ताव है, इस के बाद सूर्योदय के तीन मुहूर्त पश्चात् काल में जो आदित्य का रूप है वह सामवेद का भक्तिविशेष आदि याने ओंकार है। पक्षीगण इस ओंकार में अनुगत=प्रविष्ट अर्थात् संबन्ध रखनेवाले हैं। इसी से संगवकालीन सूर्य के स्वरूप सामवेदीय भक्तिविशेष ओंकार की उपासना करनेवाले वे पक्षीगण आकाश में बिना किसी की सहायता के अपने बल का भरोसा रखते हुए चारों तरफ उड़ा करते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—संगव वह काल है जिसमें गो अर्थात् आदित्य की किरणों का संगम हो या जिस में गौओं का अपने बछड़ों से संगम हो। तात्पर्य यह है कि धर्मशास्त्र के अनुसार दिन के पाँच भाग होते हैं, उसमें दूसरे भाग को संगव काल कहते हैं। उस समय सूर्य का रूप आदि याने ओंकार है। क्योंकि "आदायात्मानम्" इसके आरम्भ में आकाररूप सादृश्य देखा जाता है ॥ ४ ॥

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर ठीक मध्याह्न समय में जो सूर्य का रूप है वह उद्गीथ है। उसमें देवता अनुगत हैं, इसी से इस साम के उद्गीथ का भजन करनेवाले वे देवता प्राजापत्यों में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—ठीक दोपहर के समय जो आदित्य का रूप है वह उद्गीथ है। उस उद्गीथ में देवता लोग प्रविष्ट हैं याने देवगण आदित्य के उस रूप के अनुगामी हैं। इसी कारण मध्यकालीन आदित्य की स्वरूपभूत सामवेदीय उद्गीथभक्ति की उपासना करनेवाले वे देवगण प्रजापति से उत्पन्न हुई संतानों में सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ५ ॥

विशेष—मध्याह्नकालीन आदित्योपासक देवगण प्रजापति से पैदा हुए प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ क्यों हैं ? इसका समाधान यह है कि श्रेष्ठ का उपासक श्रेष्ठ ही होता है। मध्याह्न काल का सूर्य सर्वश्रेष्ठ होता है, अतः उसके उपासक को सर्वश्रेष्ठ होना उचित ही है ॥ ५ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यंदिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ६ ॥

भावार्थ—तत्पश्चात् मध्याह्न के बाद और अपराह्न के पहले सूर्य का जो रूप है वह प्रतिहार है। उसमें गर्भ अनुगत हैं, अतः इस सामवेदीय प्रतिहार के भजनेवाले वे गर्भ प्रतिहृत किये जाने पर नहीं गिरते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—मध्याह्न काल से आगे और अपराह्न काल से पहले आदित्य का जो रूप है वह प्रतिहार है। उस प्रतिहार के रूप के अनुगामी गर्भ हैं, अतएव गर्भाशय में स्थापित किये हुए वे योनि के ऊपर जठर के प्रति आकृष्ट किये जाने पर योनिरूप पतन का द्वार रहते हुए भी नीचे नहीं गिरते। क्योंकि वे गर्भ इस सामवेदीय प्रतिहार की उपासना करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

विशेष—पूर्वोक्त कालीन आदित्य का रूप प्रतिहार किस समानता से है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि उस समय आदित्य का अस्ताचल के प्रति हरण याने गमन होता है, अतः प्रतिशब्द सामान्यरूप हेतु के होने से उस काल के सूर्य का रूप प्रतिहार है ॥ ६ ॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

भावार्थ—अब अपराह्न के बाद और अस्तकाल से पहले जो सूर्य का रूप है वह उपद्रव है। उसमें वन के पशु अनुगत हैं, अतएव इस साम के उपद्रव स्तोभ के उपासक वे वन्य पशु मनुष्य को देखकर भयभीत हो श्वभ्रम्=भयरहित कक्ष वन को भाग जाते हैं॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—अपराह्न के अनन्तर और सूर्यास्त से पहले जो आदित्य का रूप है वह उपद्रव है। अरण्य में रहनेवाले पशु उसके उस रूप के अनुगामी हैं याने इस उपद्रव स्तोभ के आश्रय में वन के पशु अपना जीवन रखते हैं। इसी कारण इस सामवेदीय उपद्रव स्तोभ की उपासना करनेवाले वे वन्य पशु पुरुष को देखकर भययुक्त हो भयशून्य वन या गुहा में भाग जाते हैं॥ ७॥

विशेष—उस समय सूर्य अस्ताचल के प्रति उपद्रवण अर्थात् गमन करता है, अतः 'उप' इस उपसर्गरूप साम्य के होने से तत्कालीन आदित्य का रूप उपद्रव है। इसलिए उपासक उपद्रव की तत्कालीन आदित्यदृष्टि से उपासना करे॥ ७॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥ ८॥

भावार्थ—इसके अनन्तर सूर्यास्त से पूर्व जो आदित्य का रूप है वह निधन है, उसमें पितर प्रविष्ट हैं। इसी कारण साम की निधनभक्ति के उपासक उन पितरों को कुशों पर स्थापित करते हैं। इसी प्रकार निश्चय करके उपासक इस आदित्यरूप सप्तविध साम की उपासना करते हैं॥ ८॥

वि० वि० भाष्य—सूर्यास्त से पहले याने जिस समय आदित्य अदृश्य होना चाहता है उस काल में जो उसका रूप है वह निधन है। उसमें पितृगण अनुगत हैं, इसी कारण श्राद्धकाल में उन्हें पिता, पितामह और प्रपितामह रूप से कुशों पर स्थापित किया जाता है या उनके निमित्त से पिण्ड रखा जाता है। क्योंकि वे पिता आदिक इस सामवेद की निधनभक्ति की उपासना करनेवाले हैं। इस प्रकार जो उपासक अवयवरूप से सात भागों में विभक्त हुए सात प्रकार के साम की उपासना करता है, उसको सूर्य की प्राप्तिरूप फल होता है॥ ८॥

विशेष—इस खण्ड में आदित्यदृष्टि से सप्तविध साम की उपासना और उसका फल बतलाया गया। क्रमशः सप्तविध साम ये हैं, यथा—(१) सूर्योदय से

पहले सूर्य का रूप हिंकार है, (२) पहले पहल उदित होने पर आदित्य का रूप प्रस्ताव है, (३) सूर्योदय के तीन मुहूर्त के पश्चात् काल में सूर्य का रूप आदि याने ओंकार है, (४) मध्याह्नकालीन सूर्य का रूप उद्‌गीथ है (५) मध्याह्न के बाद और अपराह्न के पहले सूर्य का रूप प्रतिहार है, (६) अपराह्न के बाद और सूर्यास्त से पहले सूर्य का रूप उपद्रव है, (७) सूर्यास्त से पहले सूर्य का रूप निधन है ॥ ८ ॥

दशम खण्ड
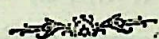
आदित्य मृत्यु है, क्योंकि दिन रात के द्वारा वह संसार का वध करनेवाला है। अतः उसे पार करने के लिए इस सात प्रकार की सामोपासना का उपदेश करते हैं, यथा—

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद अवश्य ही परमात्मा के तुल्य और मृत्यु को जीतनेवाले सप्तविध साम की उपासना करे। 'हिंकार' यह तीन अक्षरोंवाला है और 'प्रस्ताव' यह भी तीन अक्षरोंवाला है, इसलिए हिंकार तथा प्रस्ताव परस्पर ये दोनों समान हैं॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—अब अवश्य ही सूर्यरूप मृत्युविषयक साम की उपासना के अनन्तर परमात्मा के सदृश और मृत्यु को जीतनेवाला जो साम वक्ष्यमाण रीति से सात अंगोंवाला है, उस साम की पहली भक्ति का नामाक्षर हिंकार है। यह तीन अक्षरोंवाला है और दूसरी प्रस्तावभक्ति का प्रस्ताव यह नाम भी तीन ही अक्षरोंवाला है। अतः ये तीन तीन अक्षरों द्वारा सम होने के कारण साम हैं, इसलिए 'हिंकार और प्रस्ताव' इन दोनों की सामबुद्धि से उपासना करे ॥ १ ॥

विशेष—श्रुति में 'अतिमृत्यु सप्तविध साम की उपासना करे' यह कहा गया है, वहाँ शंका होती है कि सप्तविध साम अतिमृत्यु कैसे है ? इसका समाधान यह है—मृत्युविषयक अक्षरों की संख्या बाईसवीं के द्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करने के कारण साम अतिमृत्यु है ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

भावार्थ—'आदि' यह दो अक्षरोंवाला है और 'प्रतिहार' यह चार अक्षरोंवाला है। इसमें से एक अक्षर निकालकर आदि में जोड़ देने से वह आदि प्रतिहार के समान हो जायगा ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—आदि याने ओंकार स्तोभ दो अक्षरोंवाला नाम है, प्रतिहार स्तोभ चार अक्षरोंवाला नाम है। अगर प्रतिहार स्तोभ में से एक अक्षर निकालकर आदि स्तोभ में जोड़ दिया जाय तो दोनों तीन तीन अक्षरों द्वारा समान हो जाते हैं। उपासक इस प्रकार अनुभव करके साम में आदि और प्रतिहार की उपासना करे ॥ २ ॥

विशेष—सात प्रकार के साम की संख्या को पूरी करने में दो अक्षरोंवाला आदि पहला नाम है, चार अक्षरोंवाला प्रतिहार दूसरा नाम है ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—'उद्गीथ' यह तीन अक्षरोंवाला है और 'उपद्रव' यह चार अक्षरोंवाला है। तीन तीन अक्षरों करके ये दोनों बराबर हैं। और जो एक अक्षर शेष रहता है वह भी तीन अक्षरोंवाला होने से उनके बराबर ही है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—उद्गीथ स्तोभ में तीन अक्षर हैं और उपद्रव स्तोभ में चार अक्षर हैं। उद्गीथ तथा उपद्रव ये दोनों तीन तीन अक्षरों के होने से तो समान हैं किन्तु उपद्रव स्तोभ में एक अक्षर बच जाता है, वह भी तीन अक्षरोंवाला होने के कारण उनके समान ही उपासना करने योग्य है। इस अक्षर के उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—उद्गीथ नाम की अपेक्षा उपद्रव स्तोभ में एक अक्षर अधिक हो जाने से साम की समता की हानि देखकर उस समता की रक्षा करने के लिए स्वयं श्रुति भगवती कहती है कि वह एक होने पर भी अक्षर है, अतः वह नाम भी तीन अक्षरोंवाला ही है, इस लिए वह एक भी उन्हीं के बराबर है ॥ ३ ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

भावार्थ—'निधन' यह नाम तीन अक्षरोंवाला है, इस लिए यह भी उनके बराबर ही है। ये ही वे बाईस अक्षर हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इस तरह निधन जो तीन अक्षरवाला स्तोभ है वह प्रथम मन्त्र में कहे हुए आदित्य के तीन अक्षरों के समान ही है। इस प्रकार वे अर्थात् पूर्वोक्त उन्नीस अक्षर और ये तीन अक्षर सब मिलकर बाईस अक्षर हुए ॥ ४ ॥

विशेष—स्पष्ट रूप से बाइसों अक्षरों का परिगणन इस प्रकार है—हिंकार, प्रस्ताव, आदि, प्रतिहार, उद्गीथ तथा उपद्रव; सब मिलकर उन्नीस अक्षर हुए, जो पहले कह आये हैं, और तीन अक्षर निधन के हुए, ये सब मिलकर बाईस अक्षर होते हैं ॥४॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—उपासक इक्कीस अक्षरों के द्वारा सूर्यलोक को प्राप्त होता है, वह सूर्यलोक अवश्य ही इस लोक से इक्कीसवाँ है। उपासक बाईसवें अक्षर से सूर्य से ऊपर उस दुःखरहित एवं शोकशून्य लोक को जीतता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—उपासना करनेवाला हिंकारादि इक्कीस अक्षरों द्वारा सूर्यलोकरूप मृत्यु को प्राप्त होता है। कारण यह है कि इस लोक से सूर्यलोक निश्चय ही संख्या में इक्कीसवाँ है। बाईसवें अक्षर द्वारा अर्थात् जो अक्षर उपद्रव स्तोभ में बच जाता है, जो मृत्यु के अतिक्रमण करने से अतिमृत्यु कहलाता है, उसके द्वारा साधक पुरुष ब्रह्मलोक को जीतता है याने प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्मलोक सुखस्वरूप और मानसिक दुःख से रहित है ॥ ५ ॥

विशेष—आदित्य लोक इस लोक से इक्कीसवाँ किस तरह है, इसको कहते हैं कि वह "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोकाः" बारह महीने, पाँच ऋतु, तीन ये लोक और इक्कीसवाँ यह सूर्यलोक; इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। वस्तुतः ऋतु तो छः होती हैं किन्तु यहाँ शिशिर ऋतु हेमन्त ऋतु के अन्तर्गत होने के कारण पाँच कही गई हैं। जैसे वेदों के चार होने पर भी वेदत्रयी व्यवहार किया जाता है ॥ ५ ॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो

भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् इस प्रकार परमात्मा के तुल्य मृत्यु को जीतनेवाले सप्तविध साम की उपासना करता है वह सूर्य के जय को प्राप्त होता है और सूर्यजय के बाद इस उपासक को ब्रह्मलोक की उपलब्धि अवश्य ही होती है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासना करनेवाला पूर्वोक्त रीति से जानता हुआ परमात्मा के तुल्य और मृत्यु से अतीत सात अंगों सहित साम की उपासना करता है, वह आदित्य लोक को जीतता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और उस लोक में जाकर ब्रह्माजी से उपदेश पाकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

विशेष—इक्कीस अक्षरों की उपासना करने से मृत्युरूप आदित्य लोक की प्राप्ति होती है और बाईसवें अक्षर की उपासना करने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। प्रकृत मन्त्र में "सामोपास्ते सामोपास्ते" साम की उपासना करता है—साम की उपासना करता है; यह द्विरुक्ति उपासना की सप्तविधता की समाप्ति सूचित करने के लिए है ॥ ६ ॥

एकादश खण्ड

पिछले खण्डों में पाँच तथा सात प्रकार के साम की उपासना कही गई है, अब इस खण्ड में अन्य प्रकार से साम की उपासना कही जाती है, यथा—

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, कर्ण प्रतिहार है और प्राण निधन है। यह गायत्र नाम का साम प्राणों में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—समस्त इन्द्रियवृत्तियों में मन पहला है, अतः वह हिंकार है। वाणी प्रस्ताव है क्योंकि वह मन की पश्चात् वर्तिनी है। नेत्र औरों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, अतः वह उद्गीथ है। कर्ण विषयों से प्रतिहृत हो जाता है, इस लिए वह प्रतिहार है तथा सुषुप्ति में पूर्वोक्त समस्त इन्द्रियवर्गों का प्राण में लय हो

जाता है, अतः वह निधन है। यह गायत्र नामक साम प्राणों में अनुगत है अर्थात् रहता है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का अभिप्राय यह है—उपासक मन में हिंकार की उपासना करे, वाणी में प्रस्ताव की, नेत्र में उद्गीथ की, कर्ण में प्रतिहार की और प्राण में निधन की उपासना करे। इस प्रकार इन्द्रियविशिष्ट प्राण में गायत्रसंज्ञक साम की उपासना अनुगत है, क्योंकि गायत्री की स्तुति प्राणरूप से की गई है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो इस रीति से गायत्र नाम के साम को प्राणों में प्रविष्ट हुआ जानता है, प्राणवान् होता है, सब आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवनवाला होता है, प्रजा तथा पशुओं से महान् होता है और कीर्ति से भी महान् होता है। वह महामना होवे यही उसका व्रत है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वह जो कहे हुए प्रकार से इन्द्रियविशिष्ट प्राणों में गायत्र संज्ञक साम की उपासना करता है वह उपासक इन्द्रियों की शक्ति से संपन्न होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वह सन्तान करके और पशुओं करके श्रेष्ठ होता है और यश करके भी महान् होता है। उदार चित्तवाला होना ही गायत्र साम के उपासक का व्रत है ॥ २ ॥

विशेष—पुरुष अक्षुद्र चित्त से यदि गायत्रसंज्ञक साम की उपासना करे तो अखिल संपत्ति से युक्त होकर सौ वर्ष तक अवश्य जीवित रहे ॥ २ ॥

द्वादश खण्ड

इस खण्ड में रथन्तर साम की उपासना और उसका फल कहते हैं, यथा—

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो

ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अग्निमन्थन करना है वह हिंकार है, जो धूम पैदा होता है वह प्रस्ताव है, जो लौ निकलती है वह उद्गीथ है, जो अङ्गार होते हैं वह प्रतिहार है, जो शान्त होता है वह निधन है और जो सर्वथा बुझ जाता है वह भी निधन है। यह रथन्तरसंज्ञक साम अग्नि में अनुगत है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यज्ञ में दो लकड़ियों अर्थात् अरणियों के रगड़ने से जो प्रथम अग्नि पैदा होती है, वह सर्वप्रथम होने के कारण हिंकार है, उस से जो धूम पैदा होता है पह पश्चात् होने से प्रस्ताव है। अग्नि में जो लौ याने ज्वाला निकलती है वह उद्गीथ है, क्योंकि ज्वाला अग्नि की श्रेष्ठता बतलाती है। अङ्गारों को जहाँ तहाँ ले जाने से अङ्गार प्रतिहार हैं। जो अग्नि कुछ कुछ बुझने लगती है वह निधन है और जो अच्छी तरह बुझ जाती है वह भी निधन है, क्योंकि अन्त होने से इनका सादृश्य है। यह रथन्तर नामक साम अग्नि में अनुस्यूत याने अनुगत है ॥ १ ॥

विशेष—उपासना करनेवाला यज्ञ में जिस समय अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अरणियों को रगड़ने लगे उस समय उसे उचित है कि इस मन्त्र को पढ़ते हुए इस में जैसा लिखा है वैसा ही ध्यान अवश्य करे ॥ १ ॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस तरह इस रथन्तर साम को अग्नि में अनुगत जानता है वह ब्रह्मतेज से युक्त और अन्न का भोक्ता होता है। पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, सन्तान तथा पशुओं द्वारा महान् होता है और यश में महान् होता है। अग्नि के सामने भोजन न करे और न थूके, रथन्तरसामोपासक का यही व्रत है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो उपासना करनेवाला पुरुष अग्नि में अनुगत रथन्तर-संज्ञक साम की उपासना करता है वह विद्वान् तथा ब्रह्मप्रकाशवाला होता है। उसकी

जठराग्नि दीप्त होती है याने वह भोजन शक्तिवाला होता है, पूर्ण जीवन का उपयोग करता है, अपनी तथा दूसरों की भलाई करनेवाला होता है, प्रजा तथा पशुओं से और कीर्ति से श्रेष्ठ होता है। अग्नि की ओर मुख करके आचमन अर्थात् कुछ भी भोजन न करे और न कफ का ही त्याग करे। रथन्तरसामोपासक पुरुष का यही नियम है याने उक्त उपासक को पूर्वोक्त नियम का पालन अवश्य करना चाहिए ॥ २ ॥

विशेष—पवित्र आचरण और स्वाध्याय के निमित्त से उपलब्ध हुए तेज को ब्रह्मवर्चस कहते हैं, केवल तेज तो त्विड्भाव अर्थात् कान्ति की संज्ञा है ॥ २ ॥

त्रयोदश खण्ड

इस खण्ड में वामदेव्य साम की उपासना और उसका फल कहते हैं, यथा—

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्त्री का ध्यान किया जाता है वह हिंकार है, जो स्त्री से बात चीत की जाती है वह प्रस्ताव है, जो स्त्रीके साथ सोया जाता है वह उद्गीथ है, जो स्त्री के साथ एक शय्या पर अभिमुख सोया जाता है वह प्रतिहार है, जो स्त्री के साथ विषयसुख में समय व्यतीत किया जाता है वह निधन है और जो उस सुख की समाप्ति को प्राप्त होना है वह भी निधन है। यह वामदेव्यसंज्ञक साम मिथुन में प्रविष्ट है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—स्त्री का ध्यान करना सर्वप्रथम होने से हिंकार है। ध्यान के अनन्तर उसके साथ वार्तालाप करना प्रस्ताव है। स्त्री के साथ सोना श्रेष्ठ होने के कारण उद्गीथ है। स्त्री के साथ एक आसन पर उसके मुख की तरफ अपना मुख करके सोना प्रतिहरण होने से प्रतिहार है। समाप्तिरूप साम्य से उससे भोग करना निधन है, इसी साम्य से उस को समाप्त करना भी निधन है। यह

वामदेव्य नामक साम पूर्वोक्त पवनरूपी पुरुष और जलरूपी स्त्री के मिथुन से संबन्ध रखनेवाला है ॥ १ ॥

विशेष—ऊपर और नीचे के अरणिस्थानीय जलरूपी स्त्री तथा पवनरूप पुरुष इन दोनों में मन्थन सामान्य होने से मन्थनादि दृष्टि के बाद वामदेव्यसंज्ञक साम में मैथुन्य दृष्टि का विधान प्रकृत मन्त्र से बतलाया गया है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार इस वामदेव्य साम को मिथुन में अनुगत जानता है वह सदा स्त्रीयुक्त होता है, एवं इस मिथुनोपासना से अमोघवीर्यवाला होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, सन्तान तथा पशुओं करके महान् होता है और यश से भी महान् होता है। किसी स्त्री का त्याग न करे, यह वामदेव्य सामोपासक का नियम है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासक पवनरूपी पुरुष और जलरूपी स्त्री के मिथुन में अनुगत इस वामदेव्यसंज्ञक साम को उपरोक्त रीति से उपासना करता है वह स्त्रीवियोगजन्य दुःख से कभी दुःखी नहीं होता है अर्थात् हमेशा स्त्रीयुक्त होता है। इस मिथुन की उपासना करने से वह उपासक अमोघ वीर्यवाला होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, अपनी तथा दूसरों की भलाई करनेवाला होता है, प्रजा तथा पशुओं से और कीर्ति से श्रेष्ठ होता है। धर्मप्राप्त समागमप्रार्थिनी स्त्री का त्याग न करे। वामदेव्य मिथुनसाम के उपासक का यही नियम है ॥ २ ॥

विशेष—स्मृतियों में किसी परस्त्री के साथ संगम का निषेध पाया जाता है। इस लिए शास्त्रावगत होने पर भी अवाच्य कर्म धर्म नहीं होना चाहिये। समागमप्रार्थिनी अपनी विवाहिता स्त्री का त्याग न करे, इसी में श्रुति का तात्पर्य है और ऐसा अर्थ मानने पर स्मृत्यादि से विरोध नहीं होता है। किसी ने इस मन्त्र का यह भी अर्थ किया है कि जो पुरुष उक्त वामदेव्य साम को भले प्रकार जानता है, अर्थात् विवाह में की हुई प्रतिज्ञाओं का पूर्ण प्रकार से पालन करता है, वह दृढप्रतिज्ञ तथा बड़ा बलवान् होता है। मिथुन—मिथुन से सन्ततिवाला होता है।

या यों कहो कि उसका वीर्य व्यर्थ नहीं जाता है। वह सम्पूर्ण आयु को भोगता है, पवित्र जीवनवाला तथा प्रजा और पशुओं से महान् होता है। ऐसे पुरुष का यह व्रत है कि वह यावदायुष अपनी स्त्री का परित्याग न करे। यहाँ स्त्री का न छोड़ना उपलक्षण मात्र है, जिसका आशय यह है कि पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का त्याग न करते हुए दोनों परस्पर मिलकर रहें ॥ २ ॥

चतुर्दश खण्ड

इस खण्ड में बृहत् साम की उपासना और उसका फल कहते हैं, यथा—

उद्यन् हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽप-राह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—उदय को प्राप्त होता हुआ आदित्य हिंकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, दोपहर का आदित्य उद्गीथ है, अपराह्ण काल का आदित्य प्रतिहार है और जो अस्त को प्राप्त हुआ आदित्य है वह निधन है। यह बृहत्साम आदित्य में अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—उदित होते हुए आदित्य का सर्वप्रथम दर्शन होने के कारण वह हिंकार है, उदय को पूर्ण रीति से प्राप्त हुआ आदित्य कर्मों के प्रस्तवन का कारण होने से प्रस्ताव है, दोपहर का आदित्य उत्कृष्ट होने से उद्गीथ है, दोपहर के बाद का आदित्य पशु आदिकों को घरों की ओर प्रतिहरण करने से प्रतिहार है और अस्त को प्राप्त हुआ सूर्य निधन है, क्योंकि उस समय का सूर्य सब प्राणियों को अपने अपने घरों में निहित करनेवाला है। इस बृहत्संज्ञक साम का अधिपति सूर्य है ॥ १ ॥

विशेष—आदित्य प्रजाओं की उत्पत्ति का कारण है, इस लिए पहले प्रजोत्पत्तिहेतुक मैथुन्य दृष्टि का विधान किया गया है, उसके बाद प्रकृत मन्त्र में बृहत्-संज्ञक साम में आदित्य दृष्टि का विधान बतलाया गया है। तात्पर्य यह है कि उपासक आदित्यदृष्टि से बृहत् साम की उपासना करे ॥ १ ॥

स य एवमेतद् बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो

भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस तरह इस बृहत्साम को आदित्य में अनुगत जानता है वह तेजयुक्त तथा अन्न का भोक्ता होता है, सब आयु को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, सन्तान तथा पशुओं करके महान् होता है और यश से भी महान् होता है। तपते हुए की निन्दा न करे। यह बृहत्सामोपासक का व्रत है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपरोक्त प्रकार से बृहत्संज्ञक साम की उपासना आदित्यदृष्टि से करता है वह तेजस्वी, भोजन शक्तिवाला होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, अपनी तथा दूसरों की भलाई करनेवाला होता है, प्रजा तथा पशुओं से और कीर्ति से श्रेष्ठ होता है। तपते हुए आदित्य की निन्दा न करे। बृहत् नामक साम की उपासना करनेवाले का यही नियम है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "तपन्तं न निन्देत् तद् व्रतम्" यह वाक्य आया है, एक अर्थ तो इसका वही है जो भावार्थ तथा भाष्य में स्पष्ट किया गया है, कोई उसका दूसरा अर्थ भी करते हैं, यथा—बृहत्संज्ञक सामोपासक का नियम यह होता है कि कोई किसी तपस्वी की निन्दा न करे, किन्तु प्रकरण के बल से भाष्योक्त अर्थ ही समुचित प्रतीत होता है ॥ २ ॥

पञ्चदश खण्ड
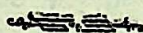
इस खण्ड में वैरूप साम की उपासना तथा उसका फल वर्णन किया जाता है, यथा—

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—जो बादल इकट्ठे होते हैं वह हिंकार है, मेघ पैदा होता है वह प्रस्ताव है, बरसता है वह उद्गीथ है, चमकता है तथा कड़कता है वह प्रतिहार है और जो जल ग्रहण करता है वह निधन है। यह वैरूप साम मेघ में अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो हलके वादल एकत्रित होते हैं वह सर्वप्रथम होने से हिंकार है। वर्षाऋतु में जिस समय घने बादल उत्पन्न होते हैं उसी सयम वृष्टि प्रस्तुत होती है अतः जो मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है। बरसता हुआ मेघ उत्कृष्ट होने के कारण उद्गीथ है तथा जो प्रकाश के साथ चमकती है और गर्जन करती है वह बिजली प्रतिहार है और जो जल को ग्रहण कर अपने में उस जल को जमा रखता है वही निधन है। क्योंकि समाप्ति में इन दोनों की समानता है अर्थात् जलग्रहण और निधन दोनों अन्तिम कार्य हैं। यह वैरूपसंज्ञक साम मेघ में स्थित है याने मेघ अधिष्ठातृदेव है, अतः उपासक मेघदृष्टि से वैरूप साम की उपासना करे ॥१॥

विशेष—बादल जल को धारण करता है, अतः उसका नाम अभ्र है और जल से सेचन करनेवाला है, इस लिए उसको मेघ कहते हैं। अभ्रादि रूप से विविध रूप होने के कारण मेघ की अनेकरूपता है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं नो निन्देत्तद् व्रतम् ॥२॥

भावार्थ—जो इस तरह इस वैरूप साम को पर्जन्य में अनुगत जानता है वह विरूप तथा सुरूप पशुओं को प्राप्त करता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, उपकारी होकर जीता है, सन्तति तथा पशुओं करके महान् होता है और यश से भी महान् होता है। बरसते हुए मेघ की निन्दा न करे, यही उस का व्रत है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपरोक्त रीति से वैरूप संज्ञक साम की उपासना पर्जन्यदृष्टि से करता है वह कुरूप और सुरूप पशुओं करके युक्त होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, अपनी तथा दूसरों की भलाई करने योग्य होकर जीता है, संतानों से, पशुओं से और कीर्ति से इस लोक में विशिष्ट पुरुष होता है। जो वैरूप संज्ञक साम की उपासना करनेवाले हैं उन का यह नियम होना चाहिए कि बरसते हुए मेघ की निन्दा न करें ॥ २ ॥

विशेष—जो उपासना करनेवाला पर्जन्य में अनुस्यूत वैरूप संज्ञक साम की उपासना करता है उस के लिए पूर्वोक्त सब चीजें अनायास उपलब्ध हो जाती हैं और इन सम्पूर्ण वस्तुओं से युक्त होने पर अपनी भलाई करना तो उस के लिए कोई बड़प्पन की बात नहीं, बल्कि वह सारे संसार की भलाई करने में समर्थ

हो जाता है। ऐसा होकर वह सब का उपकार भी करने लगता है। इस तरह पूर्ण आयु के मुताबिक जीता हुआ वह अपना जीवन सुखमय व्यतीत करता है। जो मनुष्य वैरूप्य संज्ञक साम की उपासना पर्जन्य दृष्टि से करता है वह विरूप तथा सुरूप पशुओंवाला होता है; "विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे" इस वाक्य का सब ने उपर्युक्त ही अर्थ किया है, किन्तु यह नहीं बताया कि विरूप तथा सुरूप शब्दों का सही अर्थ क्या है ? भला सुरूप याने देखने में सुन्दर वस्तु तो सब चाहते हैं, किन्तु विरूप अर्थात् कुरूप बदसूरत, जो वृद्धावस्था रोग तथा श्रमाधिक्यादि कारणों से या स्वरूपतः ही देखने में बुरे लगते हों उनका चाहना तो कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि ऐसे पदार्थ की प्राप्ति तो सभी को अस्वीकृत है। अतः हमारी समझ से 'विरूप' शब्द का अर्थ विभिन्न रूपवाले से है, जैसे कि किसी के पास अजा, अवी, हाथी, घोड़े, बैल, गाय, भैंस आदि सभी प्रकार के पशु होते हैं। 'सुरूप' शब्द का अभिप्राय समान रूपवाले पशुओं से है, जैसे किसी के पास गायें हों तो एक से एक बढकर अनेक आकार प्रकार की तथा अनेक देशों की हों, जिस प्रकार ऋषियों के पास गायें रहती थीं। घोड़े हों तो अच्छे अच्छे हों, हाथी हों तो हाथी ही हाथी। अर्थात् इस उपासना करनेवाले के पास सब तरह के पशुओं की तथा एक ही तरह के अनेक पशुओं की कमी नहीं रहने पाती ॥ २ ॥

षोडश खण्ड

इस खण्ड में वैराज नामक साम की उपासना तथा उस का फल वर्णन करते हैं, यथा—

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में अनुगत है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पाँच ऋतुओं में वसन्त ऋतु सब से पहला होने के कारण हिंकार है। ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, क्योंकि इसी ऋतु में वर्षा के लिए अन्नों के संग्रह का प्रस्ताव किया जाता है। मुख्य होने के कारण वर्षा ऋतु

उद्गीथ है। रोगी तथा मृत प्राणियों के प्रतिहरण करने से शरद् ऋतु प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है, क्योंकि इस ऋतु में बहुत से जीवों की मृत्यु होती है। यह वैराजसंज्ञक साम ऋतुओं में स्थित है, अतः उपासक को ऋतुदृष्टि से वैराज साम की उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

विशेष—पूर्वोक्त पर्जन्यरूप निमित्त से ही ऋतुओं की व्यवस्था कायम होती है, इस लिए पहले पर्जन्य दृष्टि से वैरूप साम की उपासना के वर्णन के अनन्तर ऋतुदृष्टि से वैराज साम की उपासना का वर्णन प्रकृत में किया गया है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तूंन्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस वैराज साम को इस प्रकार ऋतुओं में अनुगत जानता है वह प्रजा, पशु तथा ब्रह्मतेज करके शोभित होता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्वल जीवनवाला होता है, प्रजा तथा पशुओं करके महान् होता है और यश करके भी महान् होता है। ऋतुओं की निन्दा न करे, यही उस उपासक का व्रत है ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो पुरुष पूर्वोक्त रीति से ऋतुदृष्टि से वैराज साम की उपासना करता है वह सन्तानों करके, पशुओं करके तथा ब्रह्मतेज करके सुशोभित होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, अपने तथा दूसरों के उपकार करने में समर्थ होकर जीता है, प्रजाओं से, पशुओं से और कीर्ति से इस संसार में एक महान् पुरुष होता है। उक्त उपासक का यह विशेष नियम है कि ऋतुओं की निन्दा न करे ॥ २ ॥

विशेष—जिस तरह ऋतुओं में ऋतुसंबन्धी अखिल धर्मों के होने से ऋतु सुशोभित होती हैं, उसी तरह उपासक ऋतु दृष्टि से वैराजसंज्ञक सामोपासना के द्वारा उपलब्ध जो प्रजा आदि हैं, उन सब वस्तुओं से युक्त होने के कारण इस संसार में विशिष्ट शोभा को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

सप्तदश खण्ड
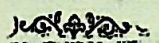
इस खण्ड में शक्करी साम की उपासना तथा उसके फल का वर्णन किया जाता है, यथा—

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोताः ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है। यह शक्करी साम लोकों में अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथमत्वरूप साहश्य से पृथिवी हिंकार है, अन्तरिक्ष याने आकाश प्रस्ताव है, क्योंकि उसी में सब का प्रस्तवन होता है। द्युलोक (स्वर्ग) तथा उद्गीथ दोनों में गकार है, अतः गकाररूप समानता से स्वर्ग उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं, क्योंकि उन में सब का प्रतिहरण होता है। और समुद्र में ही सब का अन्त होता है, अतः समाप्तिरूप साम्य से समुद्र निधन है। शक्करी संज्ञक साम लोकों में प्रोत याने स्थित है अर्थात् लोकदृष्टि से शक्करी साम की उपासना करनी चाहिए ॥ १ ॥

विशेष—जैसे 'रेवत्यः' यह शब्द सदा बहुवचनान्त रहता है, वैसे ही 'शक्कर्यः' यह भी सर्वदा बहुवचनान्त ही रहता है। शक्करी साम महानाम्नी ऋचाओं में गाये जाते हैं। उन ऋचाओं का सम्बन्ध 'जल महानाम्नी है' एतदर्थक वचन से जलों के साथ बतलाया जाता है। और 'लोक जलों के सहारे हैं' एतदर्थवाली श्रुति भी है। इस सम्बन्ध से शक्करी साम लोकों में प्रतिष्ठित है ॥ १ ॥

स य एवमेताः शक्कर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद् व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार इस शक्करी साम को लोक में अनुगत जानता है वह लोकी होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उपकारी होकर जीता है, सन्तति तथा पशुओं करके महान् होता है और कीर्ति से भी महान् होता है। लोकों की निन्दा न करे, यही उसका नियम है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो ऊपर कहे हुए प्रकार से शकरी साम की उपासना लोकदृष्टि से करता है वह लोकी याने लोकों का स्वामी होता है, पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, लोगों के उपकार करने में समर्थ होता है, सन्तति तथा पशुओं करके और कीर्ति ऐश्वर्य करके युक्त होता है। शकरी साम की उपासना करनेवालों के लिए यह खास नियम है कि वे लोकों की निन्दा न करें ॥ २ ॥

विशेष—अखिल सम्पत्ति के साथ पूरी आयु के मुताविक जीते हुए लोकों का स्वामी होने की जिनकी इच्छा हो वे इस प्रकृत उपासना को करें। अवश्य उनकी अभिलाषा पूर्ण होगी, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ २ ॥

अष्टादश खण्ड

इस खण्ड में रेवती सामोपासना तथा उसके फल का वर्णन किया जाता है—

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥ १ ॥

भावार्थ—बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है। यह रेवती साम पशुओं में प्रोत याने अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस मन्त्र का भाष्य तथा विशेष द्वितीयाध्याय के षष्ठ खण्ड में वर्णित है ॥ १ ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार इस रेवती साम को पशुओं में अनुगत जानता है याने उपासना करता है, वह प्रजा आदि सब वस्तुओं से युक्त होकर संसार में एक महान् पुरुष होता है। रेवती सामोपासक के लिए यह नियम है कि वह पशुओं की निन्दा न करे ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—शेष भावार्थ, भाष्य और विशेष प्रकृत खण्ड से पूर्व के खंडों में वर्णित है ॥ २ ॥

उन्नीसवाँ खण्ड

इस खण्ड में यज्ञायज्ञीय सामोपासना तथा उस का फल बतलाया जाता है, यथा—

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—रोम हिंकार है, त्वक् प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, हड्डी प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय नाम का साम अङ्गों में अनुगत है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—शरीरावयवों में पहला होने से रोम हिंकार है, रोमों के बाद होने के कारण त्वक् प्रस्ताव है, उत्कृष्ट होने से मांस उद्गीथ है, प्रतिहृत होने से हाड़ प्रतिहार है और सब के अन्त में सत्ता होने से मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीयसंज्ञक साम शरीरावयवों में स्थित है ॥ १ ॥

विशेष—इस खण्ड के पूर्व अष्टादश खण्ड में अजा इत्यादि शरीरियों में अनुगत रेवती साम का वर्णन किया गया है। इस के बाद क्रमप्राप्त शरीरावयवों में ही अनुगत साम की उपासना का कथन समुचित है, अतः उसी को बतलाया गया है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाऽङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस यज्ञायज्ञीय संज्ञक साम को अङ्गों में उक्त रीति से अनुगत जानता है वह अङ्गवाला होता है और अङ्ग से हीन नहीं होता है। उक्तोपासक का निश्चय करके यह नियम है कि मांस भक्षण न करे। (शेष अर्थ पूर्ववत् है) ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वह उपासक, अङ्गी अर्थात् पूर्णाङ्ग होता है और अङ्ग से लँगड़ा लूला तथा श्मश्रुरहित नहीं होता है। उपासक एक साल तक मांस भक्षण न करे, उस का यह खास नियम है ॥ २ ॥

विशेष—'मज्ज्ञः' इस पद में बहुवचन का प्रयोग इसलिए दिया गया है कि उपलक्षण से मछलियों का भी ग्रहण हो, याने मांस एवं मत्स्यादि को न खाय या हमेशा ही मांस भक्षण न करे ॥ २ ॥

बीसवाँ खण्ड

अग्निर्हिङ्कारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥१॥

भावार्थ—अग्नि हिंकार है, पवन प्रस्ताव है, सूर्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवताओं में अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सर्वप्रथम होने से अग्नि हिंकार है, आनन्तर्यरूप साम्य होने से पवन प्रस्ताव है, उत्कृष्ट होने से सूर्य उद्गीथ है, प्रतिहृत होने से नक्षत्र प्रतिहार है, और चन्द्रमा निधन है, कारण यह है कि कर्मकाण्डियों का उसी में निधन होता है। यह राजनसंज्ञक साम देवताओं में स्थित है ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत साम का नाम राजन है क्योंकि यह दीप्तिमान् है और देवगण भी दीप्तिमान् हैं। अत एव यह राजन संज्ञक साम स्वसदृश दीप्तिमान् देवताओं में अनुगत याने स्थित है। तात्पर्य यह है कि उपासक को चाहिए कि देवदृष्टि से राजन साम की उपासना करे ॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार इस राजन नामक साम को देवताओं में अनुगत जानता है वह इन देवताओं के सालोक्य, तुल्य ऐश्वर्य और सायुज्य को प्राप्त होता है। उपासक का यह नियम है कि वह ब्राह्मणों की निन्दा न करे ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्त उपासक पूर्व मन्त्रोक्त अग्नि आदि देवताओं के लोक

को, ऐश्वर्य को तथा सायुज्य=परस्पर मिल जाने के भाव याने एक रूप को प्राप्त होता है। उपासक ब्राह्मणों की निन्दा न करे, उसका यह खास नियम है। भगवती श्रुति कहती है कि "एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः" ये जो ब्राह्मण हैं प्रत्यक्ष देवता ही हैं, इस कथन से तात्पर्य यह निकला कि ब्राह्मणनिन्दा देवनिन्दा ही है, अतः उपासक ब्राह्मणनिन्दा न करे ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'अथवा' के वाचक 'वा' शब्द को लुप्त समझना चाहिए, क्योंकि भावनाविशेष से फलविशेष की उत्पत्ति होती है और एक ही उपासक को इन सब फलों का प्राप्त होना असम्भव है ॥ २ ॥

इक्कीसवाँ खण्ड

अब सर्वविषयक सामोपासना और उसका फल कहते हैं, यथा—

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्नि-र्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्व-स्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

भावार्थ—त्रयी विद्या हिंकार है। ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, पवन और सूर्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरण ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण ये निधन हैं। यह सामोपासना सब में अनुगत है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सब कर्तव्यों में प्रथम होने से तीनों वेद हिंकार हैं। ये जो तीनों लोक हैं वे आनन्तर्यरूप साम्य होने से प्रस्ताव हैं। जो ये अग्नि, पवन और सूर्य हैं वे उत्कृष्ट होने के कारण उद्गीथ हैं। प्रतिहृत होने से नक्षत्रादि प्रति-हार हैं। 'धकार' इस व्यञ्जनरूप सादृश्य के होने से विषधरादि निधन हैं। यह साम सब में अनुगत है इस प्रकार अनुभव करके उपासक ऊपर कही हुई रीति से उपासना करे ॥ १ ॥

विशेष—'पल्याववेष्टितमाज्यं भवति' अर्थात् जिस तरह पत्नी से अवेक्षित आज्य संस्कृत हो जाता है, उसी तरह सम्पूर्ण कर्माङ्ग दृष्टिविशेष से संस्कृत हो

जाते हैं। अतएव प्रकृत में त्रयीविद्यादि दृष्टि से संस्कृत हिंकारादि सामभक्तियों की उपासना कही गई है ॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार इस साम को सब में अनुगत जानता है वह अवश्य ही सर्वेश्वर होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासना करनेवाला ऊपर कही हुई रीति से साम को सब जगह अनुस्यूत याने स्थित जानता है वह निश्चय करके सब का प्रभु हो जाता है। अर्थात् प्रकृति और प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य उस उपासक के वश में हो जाते हैं ॥ २ ॥

विशेष—साम का उपासक सर्व हो जाता है याने सर्वेश्वर हो जाता है। कारण यह है कि जब तक सर्वभाव का उपचार नहीं होगा तब तक सम्पूर्ण दिशाओं में स्थित पुरुषों से बलि प्राप्त होना असम्भव है ॥ २ ॥

अब सर्वविषयक सामोपासना का उत्कर्ष बतलाते हैं, यथा—

तदेषः श्लोकः। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पाँच प्रकार के तीन तीन त्रिक कहे गये हैं उन से श्रेष्ठतर और कोई पदार्थ नहीं है। इस विषय में यह मन्त्र प्रमाण है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो इस खण्ड में पाँच पाँच हिंकार आदि अङ्गों सहित तीन तीन रूपवाले साम बतलाये गये हैं, उन की अपेक्षा महत्तर और उन से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। याने उन्हीं में सब पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ३ ॥

विशेष—जो पाँच अङ्ग कहे गये हैं उन अङ्गों के नाम ये हैं—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन। इन में से प्रत्येक तीन तीन रूपवाले हैं, यथा—हिंकार वेदत्रयीरूप है, प्रस्ताव तीनो लोकरूप है, उद्गीथ तीन देवतारूप है, प्रतिहार नक्षत्र, पक्षी और किरणरूप तीन प्रकार का है तथा निधन भी सर्प, गन्धर्व और पितररूप से तीन भेदवाला है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो उसे जानता है वह सब जानता है। उसे सम्पूर्ण दिशायें बलि देती हैं। 'मैं ही सब हूँ' ऐसी उपासना करे; यह नियम है, यह नियम है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो पुरुष उस सर्वात्मक साम को जानता है वह सब को याने प्रत्येक पदार्थ को जानता है। सम्पूर्ण दिशाएँ उस उपासक के लिए भोग्य वस्तु को अर्पण करती हैं। मैं सब कुछ हूँ, मुझ से दूसरा और कोई पदार्थ नहीं है; इस प्रकार इस साम की उपासना करे। उपासक को उचित है कि हमेशा ही इस नियम का पालन करे। 'यह नियम है' इस वाक्य की द्विरुक्ति सामोपासना की समाप्ति के लिए है ॥ ४ ॥

विशेष—'उस उपासक के लिए दिशायें बलि समर्पित करती हैं' इस कथन में सन्देह होता है कि बलि का समर्पण करना तो चेतन का कार्य है, दिशाएँ बलि समर्पण कैसे कर सकती हैं? अतः इस सन्देह के निरास के लिए प्रकृत वाक्य का तात्पर्य यह है कि दिशाओं में स्थित पुरुष उस उपासक के लिए बलि अर्पण करते हैं ॥ ४ ॥

बाईसवाँ खण्ड

अब विनर्दिगुण से युक्त साम की उपासना का कथन करते हैं, यथा—

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥ १ ॥

भावार्थ—साम के उस विनर्दि संज्ञक गान का वरण करता हूँ, जो पशुओं के लिए हितकारी तथा उद्गीथरूप है और जिस का अधिष्ठातृदेव अग्नि है। प्रजापति का वह उद्गीथ अनिरुक्त है, चन्द्रमा का निरुक्त है, पवन का मृदु और श्लक्ष्ण=

कर्णमनोहर है, इन्द्र का प्रिय तथा उच्चस्वरवाला है, बृहस्पति का क्रौञ्च पक्षी के शब्द के तुल्य है और वरुणदेव का अपध्वान्त=भ्रष्ट है। इन सभी गानों की उपासना करे किन्तु वरुण के गान को त्याग दे॥ १॥

वि० वि० भाष्य—अगर किसी उद्गाता को पशु बढ़ाने की कामना हो तो वह बैल के शब्द के समान स्वर से अग्निदेवता सम्बन्धी साम के उद्गीथरूप गान को करे। जिस साम का अधिष्ठातृदेव ब्रह्मा है उस का गान अनिरुक्त (अमुक के तुल्य है, इस तरह विशेष रूप से जिस का निरूपण न हो ऐसे) स्वर से करे। चन्द्रदेवता सम्बन्धी उद्गीथ का गान निरुक्त (स्पष्ट) स्वर से करे। पवनदेव सम्बन्धी साम का गान कोमल तथा कर्णमनोहर स्वरों से करे। इन्द्रदेव सम्बन्धी साम का गान प्रिय और उच्च स्वर से करे, बृहस्पतिदेव सम्बन्धी साम का गान सारस पक्षी के शब्द के स्वरतुल्य करे और वरुणदेव संबन्धी साम का गान न करे, क्योंकि उन का गान फूटे काँसे के घंटे के शब्द के समान है, अतः वह अप्रिय है॥ १॥

विशेष—प्रकृत प्रकरण में सामोपासना का प्रसङ्ग है, अतः उद्गाता को इस मन्त्र से गानविशेषादि सम्पत्ति का उपदेश किया गया है। कारण यह है कि इस से फलविशेष का संबन्ध है।

जिस सामगान में पशुओं के नाद जैसे स्वर हों उस का नाम विनर्दि है, अथवा जिस गान में विशेष नाद हो वह विनर्दि है। यह पशव्य=पशुओं के लिए सामगान अग्निदेवता का है। अनिरुक्त=अनुपम, जो अकथनीय हो या जिस का वर्णन करना अति कठिन हो वह साम प्रजापतिदेवतावाला है। जिस को सुनकर मनुष्य गद्गद हो जायँ उस निरुक्त सामगायन का देवता सोम है। मनोहर और रसीला या जिस का सुगमता से उच्चारण हो सके ऐसे मृदु श्लक्ष्ण साम का देवता वायु है। श्लक्ष्ण=बलवान् याने जो रसयुक्त हो तथा जिस के गायन से आत्मिक बल प्राप्त हो उस का देवता इन्द्र है। जिस का क्रौंच पक्षी के नाद के सदृश गायन हो उस क्रौंच सामगान का देवता बृहस्पति है। जैसे फूटे काँसे का पात्र या घंटा आवाज करता है, अथवा फटा हुआ बाँस भूमि पर लगकर जैसा शब्द करता है, ऐसे अपध्वान्त नामक सामगान का देवता वरुण है। इस वारुण सामगान को छोड़कर शेष सब सामगान अर्थात् विनर्दि, अनिरुक्त, निरुक्त, मृदु श्लक्ष्ण, श्लक्ष्ण बलवान् और क्रौंच; इन सब सामगानों को यज्ञ में गावे॥ १॥

स्तुतिकाल में ध्यान की रीति का वर्णन करते हैं, यथा—

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमाना-यान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

भावार्थ—मैं देवगणों के लिए अमृतत्व का आगान करूँ, इस तरह ध्यान करते हुए आगान करे। पितरों के लिए स्वधा को, मनुष्यों के लिए आशा को, पशुओं के लिए तृण और जल को, यजमान के लिए स्वर्गलोक को और अपने लिए अन्न को लक्ष्य कर आगान करूँ। इस प्रकार इन बातों को मन से ध्यान करता हुआ सावधानता से स्तुति करे॥ २॥

वि० वि० भाष्य—आगान करूँ, इस का अर्थ यह है कि साधन करूँ, मनुष्यों के लिए आशा याने उन की इष्ट वस्तुओं का साधन करूँ। शेष अर्थ भावार्थ में ही स्पष्ट है।

इस मन्त्र में सामगान का उद्देश्य कथन किया गया है कि उद्‌गाता अमुक अमुक उद्देश्य से सामगान करे। अर्थात् देवगण दीर्घकाल पर्यन्त अमृत रसास्वादन करते हुए तृप्त रहें; देवताओं के लिए परमात्मा से ऐसा गावे याने प्रार्थना करे। अग्निष्वात्तादि पितृगण सदा तृप्ति को प्राप्त हों, यजमान सदा परम सुखदायक प्रतिष्ठित पद को लाभ करे; इस कामना के लिए और अपने को सदा अन्न वस्त्र के लिए एवं परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए सामगायन करे। पर इस प्रकार की प्रार्थना उसे प्रसन्नतापूर्वक सावधान चित्त से करनी चाहिए॥ २॥

विशेष—'अप्रमत्तः स्तुवीत' इस का तात्पर्य यह है कि स्वर, ऊष्म और व्यञ्जनादि के उच्चारण में प्रमादरहित होकर स्तुति करे॥ २॥

सम्पूर्ण अक्षर देवताओं से संबन्ध रखनेवाले हैं; अब इसका वर्णन करते हैं, यथा—

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्र ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ३ ॥

भावार्थ—समस्त स्वर इन्द्र के आत्मा हैं, सम्पूर्ण ऊष्म वर्ण प्रजापति के

आत्मा हैं, सब स्पर्श वर्ण मृत्यु के आत्मा हैं। इनके ज्ञाता उद्गाता को यदि कोई पुरुष स्वरों के उच्चारण में अशुद्धि दिखलावे तो वह उद्गाता उस पुरुष से कहे कि मैं इन्द्र की शरण को प्राप्त हूँ; वह इन्द्र ही तुझे इसका उत्तर देगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—सम्पूर्ण अकारादि स्वर इन्द्रदेव से, ऊष्म वर्ण याने श, ष, स, ह विराट् या कश्यप ऋषि से और ककारादि व्यञ्जन मृत्यु से संबन्ध रखनेवाले हैं। शेष अर्थ भावार्थवत् समझना चाहिए ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में इन्द्र शब्द प्राण का वाचक है, अतः अकारादि स्वर इन्द्र के आत्मा हैं इस का तात्पर्य यह हुआ कि वे स्वर प्राण के आत्मा अर्थात् देहावयवस्थानीय हैं ॥ ३ ॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳ स्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर अगर कोई उस उद्गाता को ऊष्म वर्णों में अशुद्ध उच्चारण का दोष लगावे तो वह उससे यह कहे कि मैं प्रजापति की शरण को प्राप्त था, वही तुझे चूर्ण करेगा। फिर अगर उसको कोई व्यञ्जन अक्षरों के उच्चारण में दोष लगावे तो वह उससे ऐसा कहे कि मैं मृत्यु के शरणागत था, वही तुझे भस्म करेगा ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यदि कोई पुरुष उस उद्गाता को श, ष, स, ह वर्णों में अशुद्ध उच्चारण करता हुआ पावे और दोष लगावे तो वह उद्गाता उस पुरुष को इस प्रकार उत्तर देवे कि मैं प्रजापति के शरणागत था, वही तेरा मान मर्दन करेगा। पुनः यदि उद्गाता को व्यञ्जनोच्चारण करने में दोष लगावे तो उद्गाता उस दोष लगानेवाले पुरुष से इस प्रकार कहे कि मैं मृत्यु के शरणागत था, वह तुझ को भस्मीभूत करेगा ॥ ४ ॥

विशेष—वस्तुतः वर्णों के उच्चारण में उद्गाता की यदि गलती होती तो दोष लगानेवाला प्रजापति आदि देवताओं से दण्डित नहीं हो सकता था। परन्तु वह व्यर्थ ही में उद्गाता के ऊपर दोषारोपण करता है, अतएव उद्गाता उससे कहता है कि तुम मेरे ऊपर झूठ मूठ दोषारोपण करते हो। इसलिए मैं जिसके शरण में था उस मेरे स्वामी के द्वारा दण्डित अवश्य होओगे।

अभिप्राय यह है कि जो अपने इष्ट देव की भक्ति में उसके साथ एकरस हो रहा हो, ईर्षा के वश होकर उसका अनिष्ट चाहना उलटा अपने ऊपर पड़ता है। इसलिए यहाँ तीनों जगह 'प्रति' शब्द का प्रयोग है, जैसे 'प्रतिवक्ष्यति' (उलटा कहेगा याने प्रत्युत्तर देगा), 'प्रतिपेक्ष्यति' (उलटा पीसेगा), 'प्रतिधक्ष्यति' (उलटा जलायेगा) । यह उनको ताड़ना दी गई है जिनका सारा घमण्ड उच्चारण पर है, और परमात्मा में कोई भक्ति नहीं है।

प्रतीत होता है, पढे लिखों में दूसरों को टोक देने या उनके अनुष्ठान में अनुचित आक्षेप या हस्तक्षेप की चाल बहुत पुरानी है। क्योंकि उपनिषद्काल में भी इसका वर्णन मिलता है, जैसे यहाँ कहा है। कोई भक्ति से विभोर होकर परमात्मा की स्तुति में मस्त हो रहा है, वहाँ आकर जिसका तपोमय जीवन नहीं है, अथच जिसने वेदमन्त्रों को कण्ठस्थमात्र कर लिया है, ऐसा वह व्यक्ति भक्त उद्गाता को उच्चारणकाल में टोककर यह कहता है कि अरे ! तुम स्वरों का उच्चारण यथायोग्य नहीं करते, अशुद्ध करते हो, ऐसा करने से तो तुम उलटे दोष के भागी बनोगे, साथ ही यजमान का भी अनिष्ट होगा। उसे वह आराध्य देवता ही ऐसा दण्ड देता है जैसा किसी पण्डित को देवी ने दिया था। यथा—

कोई साधारण पढा लिखा मनुष्य भगवती की अत्यन्त प्रेम, श्रद्धा से उपासना करता था, पाठ भी करता था। व्याकरणाज्ञान के कारण वह "या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता। नमस्तस्य नमस्तस्य नमतस्य नमोनमः" ऐसा उच्चारण करता था। एक पण्डित ने उसे बहुत धमकाया, अतः बिचारे ने डरते हुए पाठ करना छोड़ दिया। इस पर देवी ने मना करनेवाले पण्डित की छाती पर रात में चढकर कहा कि तूने उस भक्त को मूर्ख कहकर पाठ करने से रोक दिया ! तुझे उसका पाठ शुद्ध करा देना था, जानता नहीं ! मैं सर्वरूपा हूँ, सर्वलिङ्गा हूँ ? ॥ ४ ॥

वर्णोच्चारण काल में ध्येय विषय को बतलाते हैं, यथा—

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥ ५ ॥

भावार्थ—समस्त स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चरित होने चाहिएँ, इस लिए स्वरोच्चारण करते समय 'मैं इन्द्र में बल को देता हूँ' ऐसा ध्यान करे।

सब ऊष्म वर्ण अग्रस्त, अनिरस्त तथा विवृत रूप से उच्चरित होने चाहिएँ, इस लिए उनका उच्चारण करते समय 'मैं प्रजापति के लिए अपने को अर्पण करता हूँ' ऐसा चिन्तन करे। सब स्पर्श वर्ण लेशमात्र भी परस्पर विना मिले हुए बोलने चाहिएँ, अतः उस समय 'मृत्यु से अपने को बचाता हूँ' ऐसा ध्यान करे ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—'मैं इन्द्र को बल देता हूँ' इस प्रकार सोचकर अकारादि स्वर अक्षरों को बल से और उच्च स्वर से उच्चारण करना चाहिए। 'मैं प्रजापति के निमित्त अपने को अर्पण करता हूँ' ऐसा चिन्तन कर अग्रस्त=भीतर बिना प्रवेश कराये हुए, अनिरस्त=बाहर बिना निकाले हुए और विवृत प्रयत्न से युक्त समस्त ऊष्म वर्णों का उच्चारण करना योग्य है। 'जैसे लोग बच्चों को धीरे धीरे उठाते हैं वैसे ही मैं अपने को धीरे धीरे मृत्यु से बचाता हूँ' ऐसा सोचकर धीरे धीरे और स्पष्ट उच्चारण करते हुए ककारादि अक्षरों को कहना समुचित है ॥ ५ ॥

विशेष—'मैं इन्द्र को बल देता हूँ, प्रजापति के निमित्त अपने को अर्पण करता हूँ और मृत्यु से अपने को बचाता हूँ' ऐसा सोचकर उन उन वर्णों का उच्चारण क्यों करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अकारादि समस्त स्वर इन्द्रस्वरूप हैं। सब ऊष्मवर्ण प्रजापतिस्वरूप हैं और सम्पूर्ण स्पर्शसंज्ञक वर्ण मृत्युस्वरूप हैं। अतः उक्त रीति से ध्यान करके ही उन वर्णों का उच्चारण करना श्रेयस्कर है ॥ ५ ॥

तेईसवाँ खण्ड

अब तीन धर्मस्कन्धों को बतलाते हैं, यथा—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति ॥ १ ॥

भावार्थ—धर्म के तीन भाग हैं। यज्ञ, अध्ययन तथा दान यह पहला भाग है। तप ही दूसरा भाग है। जो आचार्यकुल में रहनेवाला ब्रह्मचारी अपने देह को

बिलकुल क्षीण कर देता है, वह तीसरा भाग है। ये सब पुण्य लोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—धर्म के तीन स्कन्ध (आधारस्तम्भ) याने तीन भाग हैं। यज्ञ = अग्निहोत्रादि, अध्ययन = नियमपूर्वक ऋग्वेदादि का अभ्यास और दान = वेदी के बाहर भिक्षा माँगनेवालों को शक्ति के अनुसार धन देना; यह पहला स्कन्ध है। कृच्छ्र चान्द्रायणादि तप दूसरा स्कन्ध है। जिस की प्रकृति आचार्यकुल में निवास करने की है वह ब्रह्मचारी, जो यावज्जीवन नियमों द्वारा आचार्यकुल में ही अपने शरीर को क्षीण करता है, तीसरा धर्मस्कन्ध है। 'अत्यन्त' इत्यादि विशेषणों से प्रकृत में नैष्ठिक ब्रह्मचारी अभिप्रेत है। ये सभी याने तीनों आश्रमोंवाले पुण्यलोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मसंस्थ = ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित चतुर्थाश्रमी संन्यासी अमृतत्व को = पुण्यलोकों से भिन्न आत्यन्तिक अमरण-भाव को याने मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विशेष—ओंकारोपासना का विधान करने के लिए 'त्रयो धर्मस्कन्धा' इत्यादि प्रकरण आरम्भ किया गया है, क्योंकि जो मोक्षरूप फल सभी सामोपासनाओं और कर्मों से दुष्प्राप्य है वह अमृतत्वरूप फल केवल ओंकारोपासना से ही प्राप्त होता है। इसलिए यह मन्त्र स्मृतिप्रतिपादित आश्रमफल के अनुवाद द्वारा 'प्रणव सेवा का फल अमृतत्व है' यह बतलाता हुआ प्रणवोपासना की ही स्तुति करता है। प्रणव ही वह सत्य परब्रह्म है, क्योंकि वह उस ब्रह्म का प्रतीक है। कठोपनिषद् में "यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही पर है" इत्यादि श्रुति होने से उस की सेवा द्वारा अमृतत्व प्राप्ति का कथन ठीक ही है।

यज्ञ, दान, तप ये तीन गृहस्थ के धर्म हैं, तप वानप्रस्थ का धर्म है और सदा गुरु के घर में रहते हुए तप से अपने आप को क्षीण कर देना यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी का धर्म है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं, एक उपकुर्वाण दूसरा नैष्ठिक। उप-कुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहाता है जो समय पर ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। और जो सारी आयु व्रत पालन में बिता दे वह नैष्ठिक है। इस मन्त्र में जो ब्रह्मसंस्थपद आया है, उस से यहाँ चतुर्थाश्रमी संन्यासी अभिप्रेत है। ब्रह्मसंस्थ याने ब्रह्म में दृढ़ निष्ठावाला। ब्रह्म से यहाँ ओंकार अभिप्रेत है। जैसा कि उस को अगले प्रकरण में सब का निचोड़ बताया गया है। पहले तीनों आश्रमी जिन वैदिक कर्मों में रत हैं, जिन का फल पुण्यलोक
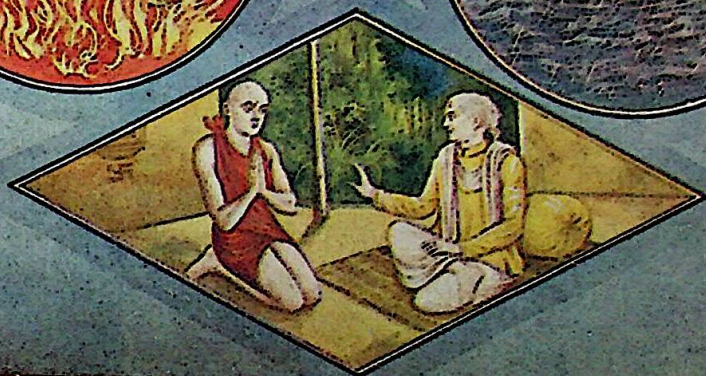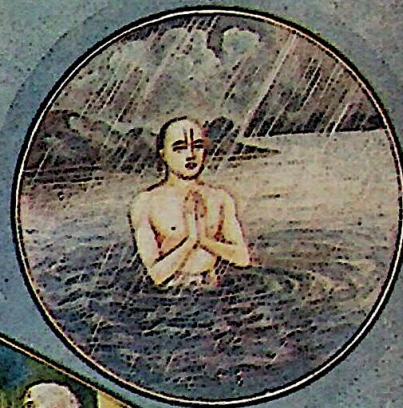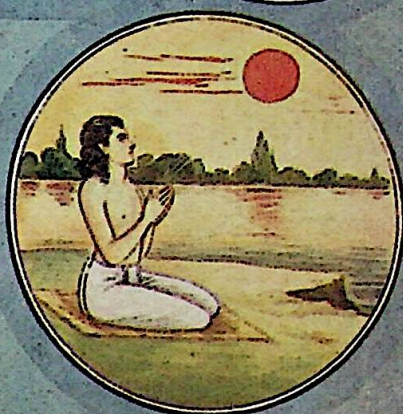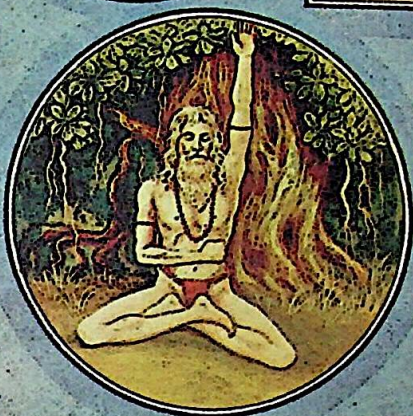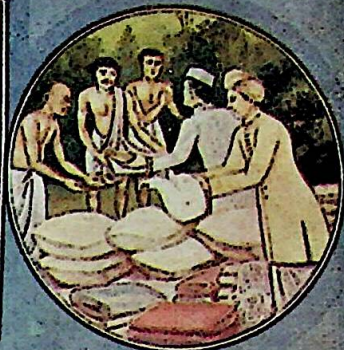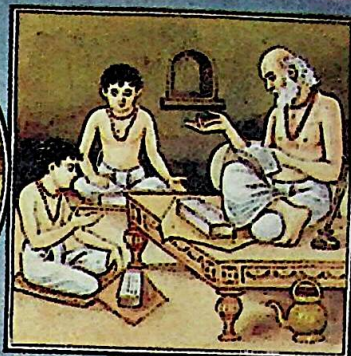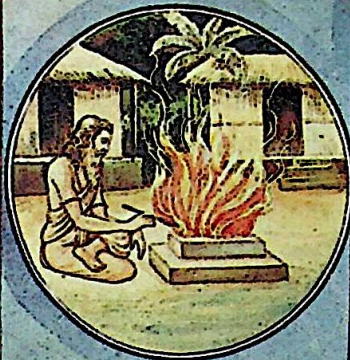
ार्म के तीन स्कन्ध—१—यज्ञ, अध्ययन, दान। २—तपस्या। ३—ब्रह्मचारी की गुरुसेवा।
[अ. २ ख. २३]

ॱ. र्मना तीन स्कंध—१—यज्ञ, अध्ययन, दान. २—तपस्या. ३—બ્રહ્મચારીની ગુરૂસેવા.
[અ. ૨ ખ. ૨૩]

है, संन्यासी उन कर्मों से ऊपर होकर सारे वेदों के सार ओंकार में निष्ठावाला होकर अमृतत्व को पा लेता है ॥१॥

त्रयी विद्या और व्याहृतियों की उत्पत्ति कहते हैं, यथा—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजापति ने लोकों के निमित्त अभिताप किया। उन अभितप्त लोकों से तीनों वेद प्रकट हुए, तब उस त्रयी विद्या के निमित्त पुनः अभिताप किया। उस अभितप्त त्रयी विद्या से 'भूः, भुवः, स्वः' ये तीन अक्षर उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रजापति अर्थात् विराट् या कश्यपजी ने लोकों के उद्देश्य से याने उनमें से सार ग्रहण करने की इच्छा से अभिताप=ध्यानरूप तप किया। इस तरह अभितप्त हुए उन लोकों से सारभूत तीनों वेदों (ऋक, साम, यजु) की उत्पत्ति हुई अर्थात् कश्यप के मन में त्रयी विद्या प्रतिभासित हुई। पुनः प्रजापति ने त्रयी विद्या के सार ग्रहण करने की इच्छा से ध्यानरूप तप किया, तब उस अभितप्त त्रयीविद्या से भूः, भुवः और स्वः ये तीन व्याहृति उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में अभिताप का अर्थ है विचार, अतः विचार से प्रजापति के मन में लोकों के सारभूत तीनों वेदों का भान हुआ और तीनों वेदों के सारभूत उक्त व्याहृतियों का भान हुआ ॥ २ ॥

अब ओंकार की उत्पत्ति कहते हैं, यथा—

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम् ॥३॥

भावार्थ—फिर प्रजापति ने उन व्याहृतियों के उद्देश्य से ध्यानरूप तप किया। तब अभितप्त व्याहृतियों से ओंकार उत्पन्न हुआ। जैसे शङ्कुओं से सब पत्ते व्याप्त रहते हैं वैसे ही ओंकार से समस्त वाणी व्याप्त है। ओंकार ही यह सब कुछ है, ओंकार ही यह सब कुछ है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पुनः उस प्रजापति ने सार ग्रहण करने की इच्छा से उन

अक्षरों का अनुभव किया। अनुभव किये हुए अक्षरों से ओंकार की उत्पत्ति हुई। जिस तरह पत्ते की नसों से समस्त पत्ते के अवयवसमूह अनुविद्ध याने व्याप्त रहते हैं उसी तरह परमात्मा के प्रतीकभूत ओंकाररूप ब्रह्म द्वारा सम्पूर्ण वाणी यानी शब्द-समूह व्याप्त है, जैसा कि "अकार ही सम्पूर्ण वाणी है" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

विशेष—जितना नाम मात्र है सब परमात्मा का ही विकार है, इस लिए यह सब ओंकार ही है। प्रकृत मन्त्र में "इदं सर्वम्, इदं सर्वम्" यह द्विरुक्ति प्रकरण समाप्त्यर्थ और आदरार्थ है।

यहाँ 'अभ्यतपत्' याने तपने के दो अभिप्राय हैं। उन में एक यह है कि जैसे किसी द्रव्य को तपाने से उसमें का सार भाग चू पड़ता है, इसी तरह इन लोकों में से निकली हुई त्रयी विद्या सार है, उसका सारभूत भूः भुवः स्वर् हैं और इनका सार ओम् है। दूसरा आशय यह है कि जब कोई वस्तु तपती है तो वह चमक उठती है, प्रदीप्त हो जाती है। इसी प्रकार प्रजापति के लिए तीनों लोक प्रदीप्त हुए, याने इन लोकों में कोई बात उसके लिए छिपी न रही, उसने इनको सर्वांश में देखा, और इनमें से त्रयी विद्या को सार के तौर पर निकाला ॥ ३ ॥

चौबीसवाँ खण्ड

पहले साम के संबन्ध में कर्म की प्रतिष्ठा की गई, फिर ओंकार की प्रतिष्ठा की गई, अब हवन और मन्त्र की प्रतिष्ठा की जाती है, यथा—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी कहते हैं कि जो सुबह का सवन (हव्य) है वह वसुओं का है। दोपहर का सवनरूप हव्य रुद्रों का है और तृतीय सवन सूर्य और विश्वेदेवों का है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि प्रातःकाल का हव्य वसुओं

के निमित्त है, दोपहर का हव्य रुद्रों के निमित्त है और तीसरा सायंकाल का हव्य आदित्य और विश्वेदेवों के निमित्त है।

तीन वार सोमरस निचोड़ा जाता है, और उसकी आहुति दी जाती है प्रातः, मध्यन्दिन (दोपहर) और सायंकाल में। इन तीनों को क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन कहते हैं। तीनों सवनों के देवता वसु, रुद्र और आदित्य हैं तथा गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये छन्द हैं ॥ १ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि उन सवनों के अधीश्वरों द्वारा तत्तत्कालीन सवन संवन्धी लोक अपने अधीन किये गये हैं अर्थात् भूःलोक वसुओं के वशीभूत है, और वे वसु प्रतःकाल के हव्य भाग के अधिकारी हैं । भुवः लोक रुद्रों के वशीभूत है और वे मध्याह्न के हव्य भाग के अधिकारी हैं। स्वः लोक आदित्य और विश्वेदेवों के वशीभूत है और वे सायंकाल के हव्य भाग के अधिकारी हैं ॥ १ ॥

सामादिज्ञाता ही यज्ञानुष्ठान का अधिकारी हो सकता है, इसी बात को मन्त्र द्वारा कहते हैं, यथा—

क तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात् कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥ २ ॥

भावार्थ—उक्त देवताओं के अधिकार से अवशिष्ट जव दूसरा कोई लोक ही नहीं है तो फिर यजमान का लोक कहाँ है ? जो यजमान उसको ऐसा न जाने तो वह यज्ञ किस प्रकार करे ? इस लिए उसे जाननेवाला ही पुरुष यज्ञ करने का अधिकारी हो सकता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब तीनों लोक उक्त रीति से वसु आदि देवताओं के ही हो चुके, तब यज्ञकर्ता शरीरत्याग के बाद जिस लोक की प्राप्ति के लिए यज्ञानुष्ठान करता है उसका लक्ष्यभूत वह लोक कहाँ है ? यदि यज्ञकर्ता अपने यज्ञ से उत्पन्न लोक को न जाने तब वह यज्ञ को क्यों करे ? अभिप्राय यह है कि वह लोक कहीं नहीं है। परन्तु "लोकाय वै यजते यो यजते" जो भी यज्ञ करता है वह पुण्य लोक के लिए ही करता है, इस श्रुति से लोक का अभाव होने पर जो यज्ञकर्ता साम, होम, मन्त्र और उत्थानरूप लोक स्वीकार के यत्न को नहीं जानता, वह अज्ञानी किस तरह यज्ञानुष्ठान कर सकता है ? अर्थात्, उसका कर्तृत्व किसी तरह सम्भव नहीं है, अतः आगे कहे गये उपाय को जानकर ही यज्ञानुष्ठान का अधिकारी हो सकता है ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत वाक्य सामादि विज्ञान का स्तुतिपरक है, इस लिए इस मन्त्र से केवल कर्ममात्र के ज्ञाता अज्ञानी के कर्तृत्व का प्रतिषेध नहीं किया जाता। अन्यथा यदि स्तुतिपरक तथा कर्तृत्वप्रतिषेधपरक भी मान लें तो वाक्यभेद की प्रसक्ति हो जायगी। कारण यह है कि प्रथम अध्याय के औषस्त्य काण्ड में (दशम खंड में) कर्म अविद्वान् के लिए भी कहा गया है। इस लिए आगे कहे गये सामादि उपायों का ज्ञाता होकर ही यजमान यज्ञ को करे ॥ २ ॥

प्रातःकालीन हव्य में वसुदेवतासंबन्धी सामगान करना चाहिए, यह कहते हैं—

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रातः काल अनुवाक के आरम्भ से पहले और गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तरमुख होकर वसुदेवतासंबन्धी साम का गान करे ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रातःअनुवाक से पूर्व याने सबेरे पढ़े जाने योग्य शस्त्रनामक स्तोत्रपाठ से पहले गार्हपत्याग्नि के पीछे की ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवता सम्बन्धी साम का गान करे ॥ ३ ॥

विशेष—जिन ऋग्मन्त्रों का गान नहीं किया जाता है उन्हें शस्त्र कहते हैं, और जिन शस्त्रों का प्रातःकाल पाठ किया जाता है उन का नाम प्रातरनुवाक है ॥ ३ ॥

लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳ रा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २ १ १ १ इति ॥४॥

भावार्थ—हे अग्ने ! तुम इस लोक का द्वार खोल दो ताकि हम राज्यप्राप्ति के लिए तुम को देखें ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे अग्निदेव ! तुम पृथिवीलोक के द्वार को खोल दो जिस से कि हम राज्यप्राप्ति के लिए तुम्हारा दर्शन कर लें ॥ ४ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि बिना अग्निदर्शन के राज्यप्राप्ति नहीं हो सकती, और जब तक पृथिवीलोक का द्वार खुलेगा नहीं तब तक पृथिवीलोक में रहनेवाले अग्नि का दर्शन हो नहीं सकता। यज्ञकर्ता राज्यप्राप्ति का इच्छुक है, अतः वह अग्निदेव से प्रार्थना करता है कि हे अग्निदेव ! लोकद्वार को खोलकर अपना दर्शन अवश्य दो, जिस से कि हम राज्यप्राप्ति कर सकें ॥ ४ ॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके बाद इस मन्त्र से यजमान ऐसा कहता हुआ हवन करता है कि पृथिवी में रहनेवाले इहलोकवासी अग्नि को मेरा नमस्कार है। तुम मुझ यज्ञकर्ता के लिए लोक को दो। यह अवश्य ही यजमान का लोक है, मैं इसको प्राप्त होनेवाला होऊँ ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—इसके अनन्तर यजमान प्रकृत मन्त्र द्वारा हवन करता है और कहता है कि हे अग्निदेव ! आपके लिए नमस्कार है। हम पृथिवीलोक-निवासी तुम्हारे प्रति विनम्र होते हैं, मुझ यज्ञकर्ता के लिए आप पुण्यलोक की प्राप्ति कराइये। अवश्य ही यह यजमान का लोक है, इस लिए हे देव ! आप दया कीजिये, ताकि आप के दिये हुए उस लोक को मैं प्राप्त होऊँ ॥ ५ ॥

विशेष—यह नियम स्वभावसिद्ध है कि जो चीज जिसके अधिकार में रहती है उस चीज की प्राप्ति उस अधिकारी के प्रसन्न हुए बिना नहीं होती। पुण्य लोक अग्निदेव के अधिकार में है, अतः यजमान उस लोकप्राप्ति की इच्छा से अग्निदेव को प्रसन्न करने के लिए बारंबार प्रार्थना करता है ॥ ५ ॥

अथ यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ—मैं यजमान मरने पर इस लोक में जाऊँगा, अतः हे अग्निदेव ! लोकद्वार के अड़ंगे को नष्ट करो और इस हव्य को लो। इस प्रकार कहकर वह यजमान खड़ा हो जाता है, तब उसके बाद वसुदेवता लोग उस यजमान के लिए प्रातःकालीन यज्ञसंबन्धी फल को देते हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—यजमान को इस बात का निश्चय है कि शरीर त्यागने के बाद मुझे इस भूलोक की प्राप्ति होगी। अतः वह अग्निदेव से निवेदन करता है कि हे अग्निदेव ! मेरे लिए इस लोकद्वार की अर्गला (अड़ंगा) को दूर करो और मुझ से दिये हुए इस हव्य को लो। ऐसा कहकर वह हव्य को देता है और फिर खड़ा हो जाता है। जब वह मर जाता है तब वसुदेवता लोग उसको उसके प्रातः-कालीन यज्ञ के फल को देते हैं, अर्थात् उसके लिए भूलोक की प्राप्ति कराते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—यज्ञकर्ता इस तरह इन साम, मन्त्र, होम और उत्थान के द्वारा वसुओं से प्रातः सवन से सम्बद्ध लोक खरीद लेता है। तब वे वसुगण यजमान को प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ६ ॥

इसके बाद अन्तरिक्ष लोक के जय के उपाय को दिखलाते हैं—

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥ ७ ॥

भावार्थ—मध्याह्न काल के सवन के आरम्भ से पहले और दक्षिणाग्नि के पीछे बैठकर उत्तर मुख होता हुआ यजमान रुद्र देवता संबन्धी साम का गान करता है ॥ ७ ॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३ ३-३३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २१११ इति ॥८॥

भावार्थ—हे वायुदेव ! तुम अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोल दो, ताकि हम वैराज्यपद की प्राप्ति के साथ तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ ८ ॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर इस मन्त्र से यजमान ऐसा कहता हुआ हवन करता है कि अन्तरिक्ष में रहनेवाले अन्तरिक्षलोकनिवासी वायु देव को मेरा नमस्कार है। तुम मुझ यजमान के लिए अन्तरिक्ष लोक को दो। यह अवश्य ही यजमान का लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ ॥ ९ ॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ १० ॥

भावार्थ—मैं यजमान मरने पर अन्तरिक्ष लोक में जाऊँगा, अतः हे वायु देव ! इस लोकद्वार के अड़ंगे को नष्ट करो और इस हव्य को लो। इस प्रकार

कहकर वह यजमान खड़ा हो जाता है। तब उसके बाद रुद्रगण उस यजमान के लिए मध्याह्नकालीन यज्ञसंबन्धी फल को देते हैं ॥ १० ॥

(सात से दस तक मन्त्रों का भाष्य तथा विशेष क्रमशः तीसरे से छठे मन्त्रों के भाष्य विशेष के समान समझना चाहिए।)

अब द्युलोक के जय के उपाय को दिखलाते हैं—

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥ ११ ॥

भावार्थ—तृतीय सवन के अर्थात् सायंकालीन यज्ञ के आरंभ के पहले और आहवनीयाग्नि के पीछे वह यजमान उत्तराभिमुख बैठकर सूर्य और विश्वेदेवसंबन्धी साम का गान करता है ॥ ११ ॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३ ३ पश्येम त्वा वयꣳ स्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥१२॥

भावार्थ—हे देव! तुम स्वर्गलोक का द्वार खोल दो, ताकि हम स्वाराज्य प्राप्ति के लिए तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ १२ ॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्ना ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ १३ ॥

भावार्थ—द्वादश मन्त्रोक्त जो है वह आदित्यसंबन्धी साम है, अब विश्वेदेवसंबन्धी साम को कहते हैं—हे देव! स्वर्गलोक के द्वार को खोल दो जिससे हम साम्राज्यप्राप्ति के लिए तुम्हारा दर्शन कर सकें ॥ १३ ॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ।१४।

भावार्थ—इसके बाद इस मन्त्र से यजमान ऐसा कहता हुआ हवन

करता है कि स्वर्ग में रहनेवाले द्युलोकनिवासी आदित्यों को और विश्वेदेवों को नमस्कार है। तुम मुझ यजमान के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति कराओ ॥ १४ ॥

एष वै यजमानस्य लोक एताऽस्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥ १५ ॥

भावार्थ—यह अवश्य ही यजमान का लोक है। मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। मैं यजमान मरने पर स्वर्गलोक में जाऊँगा, इस लिए हे देव ! इस स्वर्ग-लोकद्वार के अडंगे को नष्ट करो और इस हव्य को लो। ऐसा कहकर यजमान खड़ा हो जाता है ॥ १५ ॥

(ग्यारहवें से पन्द्रहवें तक मन्त्रों का भाष्य विशेष पूर्ववत् समझना चाहिए।)

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयꣳ सवनꣳ संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥ १६ ॥

भावार्थ—तब उसके बाद आदित्य और विश्वेदेव उस यजमान के लिए तृतीय सवन अर्थात् सायंकालीन यज्ञसंबन्धी फल को देते हैं। जो इस तरह जानता है, जो इस तरह जानता है वह अवश्य ही यज्ञ की मात्रा याने यज्ञ के यथार्थ स्वरूप को भली प्रकार जानता है ॥ १६ ॥

वि० वि० भाष्य—जो यजमान इस यज्ञ के यथार्थ स्वरूप को अच्छी तरह जानता है उसके लिए सूर्य देवता और विश्वेदेव सायंकालीन यज्ञ के फल को देते हैं ॥ १६ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जो लोक सायंकालीन यज्ञ के करने से प्राप्त होता है उस लोक को सूर्य देवता और विश्वेदेव देवता इस यज्ञ के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाले यजमान के लिए देते हैं। 'य एवं वेद य एवं वेद' यह द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की सूचक है ॥ १६ ॥

चौबीसवाँ खण्ड और द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीय अध्याय प्रारम्भ

प्रथम खण्ड

इस प्रकार कर्मों की आश्रित उपासनाओं को समाप्त करके उनके फलभूत आदित्यादि विषयक स्वतन्त्र उपासना को कहते हैं, यथा—

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

भावार्थ—ओं यह सूर्य अवश्य ही देवगणों का मधु है। स्वर्गलोक ही उसका तिरछा बाँस है, आकाश छत्ता है तथा किरणें पुत्र हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सूर्य देवगणों को आनन्दित करनेवाला है, अतः वह मधु के समान मधुर है। स्वर्गलोक ही उस देवमधु सूर्य का तिरश्चीन वंश=तिरछा बाँस है, क्योंकि स्वर्गलोक तिरछा ही देख पड़ता है। तथा आकाश पूर्वोक्त मधु का अपूप=छत्ता है और छत्ते के छोटे छोटे छिद्र पुत्र के समान आदित्य की किरणें हैं। अर्थात् जिस तरह छोटे छोटे छिद्रों में मधु रहता है उसी तरह आदित्य की किरणों में सुख को देनेवाले यश, तेज आदि रस भरे रहते हैं ॥ १ ॥

विशेष—जिस तरह मधु से आनन्द की प्राप्ति होती है उसी तरह आदित्य के ध्यान से सब तरह के सुख की उपलब्धि होती है। क्योंकि यज्ञ में कर्म करने से जो फल उत्पन्न होता है वह सम्पूर्ण आदित्य में स्थित रहता है अतएव वह सूर्य बड़े प्रकाश से चमकता है और सब को प्रकाश देता है। इसलिए मधु-दृष्टि से आदित्य की उपासना करनेवाले पुरुष को सब प्रकार के फल की प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

अब सूर्य की पूर्व दिशा से संबन्ध रखनेवाली किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि को बतलाते हैं—

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥ २ ॥ एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस सूर्य की जो पूर्व दिशा की किरणें हैं वे ही इसकी पूर्वदिग्वर्ती मधुनाडियाँ=छिद्र हैं। ऋचाएँ ही मधुकर हैं, ऋग्वेद ही पुष्प है, वे सोम आदि अमृत ही आप हैं। उन इन ऋचारूप मधुकरों ने ही इस ऋग्वेद को तपाया। उस अभितप्त ऋग्वेद से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नादिरूप रस पैदा हुए ॥ २-३ ॥

वि० वि० भाष्य—मधु के आधारभूत उस आदित्यरूप मधु की जो पूर्वदिग्वर्ती किरणें हैं वे ही पूर्व दिशा की तरफ जाने से इसकी पूर्व मधुनाडियाँ हैं। ये ही मधुछत्ते के छिद्र के समान छिद्र हैं अर्थात् मधु के उत्पत्तिस्थान हैं और ऋग्वेद के मन्त्र ही मधुमक्खी हैं, क्योंकि वे आदित्य में लोहितरूप मधु पैदा करते हैं। ऋग्वेद ही पुष्प के समान पुष्प है, ऋग्वेद के कर्मों के द्वारा अग्नि में सोम, घृत एवं दुग्धरूप रस इत्यादि हव्य डालने से जो रस की उत्पत्ति होती है वह अमृतत्व (मोक्ष) का हेतु होने के कारण अमृतरूप जल है। जिस तरह मधुमक्खियाँ फूलों से रस लाकर मधु बनाती हैं उसी तरह ऋग्वेद के मन्त्र कर्म करके अग्नि में सोम घृतादि हव्य डालकर मधु बनाते हैं। पुष्पों से रस ग्रहण करनेवाली मधुमक्खियों के समान इन ऋचाओं ने पुष्पस्थानीय ऋग्वेदविहित कर्मों को अभितप्त किया याने उन कर्मरूपी पुष्पों का ध्यान किया। उन ध्यान किये हुए यज्ञकर्मरूपी पुष्पों से यश=विख्याति, तेज=शरीरदीप्ति, इन्द्रियशक्ति याने सामर्थ्ययुक्त इन्द्रियों के कारण अविकलता, वीर्य=बल अन्नादिक और शरीर के पुष्ट करनेवाले पदार्थरूप रस पैदा हुए ॥ २-३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में "ऋग्वेद ही पुष्प है" ऐसा कहा गया है, यहाँ यह शंका होती है कि ऋग्वेद तो ऋग्ब्राह्मणसमुदाय का ही नाम है और वह शब्दरूप है, केवल शब्द से ही भोग्यरूप रस की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि ऋग्वेद से यहाँ ऋग्वेदविहित कर्म समझना चाहिए, कारण यह है कि कर्म से ही कर्मफलभूत मधुरूप रस की उत्पत्ति होती है ॥ २-३ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ रूपम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह (यश आदि) रस निकला, उसने सूर्य के पूर्व भाग को आश्रित किया। जो यह सूर्य का लाल रूप है वही यह रस है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यज्ञ में कर्म करने से जो यश से लेकर अन्नादिपर्यन्त रस पैदा हुआ उसने जाकर सूर्य के पूर्वभाग में आश्रय लिया अर्थात् वह सूर्य में प्रवेश करके स्थित हो गया। यही कारण है कि आदित्य का जो रोहित (लाल) रूप दिखलाई देता है वह यज्ञ में कर्मों का फलरूप यश आदि रस ही है ॥ ४ ॥

विशेष—जैसे गृहस्थ लोग अन्नादि की प्राप्ति के लिए क्षेत्रों में क्यारियाँ बनाते हैं वैसे ही मनुष्य अपने मन में यह सोचकर कि कर्मों के फल यश आदि की प्राप्ति होगी, कर्म को करता है। कर्मकर्ता के हृदय में श्रद्धा की उत्पत्ति के लिए श्रुति भगवती ने इस बात को स्पष्ट बतलाया है कि वह कर्म का फल यश आदि रस ही आदित्य में लाल रूप से देख पड़ता है। भाव यह है कि केवल कर्मी अपने फलभोग के लिए चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, और जो साथ ही उपासक भी हैं, वे सूर्यलोक को जाते हैं। यही देवयान है, जो इस गति को प्राप्त हुए हैं, वे सब देवता हैं। सूर्य उन सब के लिए मधु है, आनन्द का हेतु है, क्योंकि वह सारे यज्ञों का परम फल है। द्यौ वह बाँस है, जिसके साथ यह शहद का छत्ता लटक रहा है, अन्तरिक्ष छत्ता है, और जो उसमें सूक्ष्म पानी भरा हुआ है, वह मक्खियों के अण्डे हैं। सूर्य की किरणें उन अण्डों के लिए घर हैं, ऋचाएँ यज्ञ के पूरा करने में जो एक अङ्ग हैं वे ही यहाँ मधुमक्खियाँ हैं। वह फूल जिस में से ये मक्खियाँ अमृत चूसती हैं, वह यज्ञ (ऋग्वेदविहित होता का कर्म) है, और उस यज्ञ में जो कुछ होमा जाता है, वह इस फूल का अमृत है जिसको वे चूसती हैं। फूल जब मक्खियों से चूसा गया, तो उसमें से रस झरा। वह रस जो सारे यज्ञों से सम्बन्ध रखता है, वह उस लोक वा सूर्यलोक में भोगा जाता है। इसलिए कहा गया है कि उस रस ने सूर्य का आश्रय लिया। यह अभिप्राय है इस खण्ड के मन्त्रों का ॥ ४ ॥

द्वितीय खण्ड

अब सूर्य की दक्षिणदिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादिदृष्टि को बतलाते हैं, यथा—

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद इस आदित्य की जो दक्षिण दिशा की किरणें हैं वे ही आदित्य की दक्षिणदिग्वर्ती मधुनाडियाँ=छिद्र हैं, यजुर्वेद के मन्त्र ही मधु-मक्षिका हैं, समस्त यजुर्वेद रस को देनेवाला पुष्प है और यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा यज्ञ कर्म में जो हव्य दिये जाते हैं वे अमृतरूपी जल हैं। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि यज्ञ कर्म में यजुर्वेदीय मन्त्रों से जो घृतादि हव्य दिया जाता है उसका रस धूम हो आदित्य के पास पहुँचकर मधुरूप से इकट्ठा होता है। जो पुरुष आदित्य की उपासना करता है, आदित्य उस उपासक को वह मधु देता है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतꣳ यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

भावार्थ—उन ही इन यजुर्वेद के मन्त्रोंने रस देनेवाले इस पुष्परूपी यजुर्वेद को तपाया, उस अभितप्त पुष्प से उज्ज्वल कीर्ति, प्रताप, बल, तेज और अन्नादि—महत्वरूप रस पैदा हुआ ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं शुक्लꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस यश आदि रस ने, जो आदित्य में एकत्रित था, आदित्य से निकलकर आदित्य की चारों तरफ आश्रय लिया। जो यह आदित्य की श्वेत प्रभा है वही यह यश आदिक रस हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रथम खण्ड में रूपकालङ्कार से प्राचीदिशस्थ मधुनालियों द्वारा ऋग्वेदरूप पुष्पों के मधुरूप अमृत तथा उसके पान का फल वर्णन करके इस द्वितीय खण्ड में यह कथन किया गया है कि आदित्यरूप ब्रह्म की जो दक्षिण दिशावाली मधुरूप नालियाँ हैं, उनमें रस प्रवाह करनेवाले यजुर्वेद के मन्त्र हैं, यजुर्वेद पुष्परूप है, और वह पुष्प जलरूप अमृत है। यजुर्वेद के ज्ञाता ही मक्षिकारूप भ्रमर हैं, जो कि उक्त मन्त्रों से ज्ञानरूप रस पान करते हैं। इस प्रकार यजुः मथन करके जो ज्ञानरूप रस का पान करते हैं वे यशस्वी, तेजस्वी, प्राणोंवाले, पराक्रमी, अन्नवान् तथा अन्न के भोक्ता और रसरूप अमृत के पान करनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—उस मधुपान करनेवाले जिज्ञासु को जो यश, तेज तथा पराक्रमादि मिलते हैं वे सर्वत्र फैल जाते हैं, अर्थात् वे उसकी चारों ओर से रक्षा करते हैं। जो पुरुष परमात्मा की आज्ञा पालन करते हैं, अर्थात् वेद में कहे हुए नियम के अनुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हीं को यश आदि की प्राप्ति होती है। ऐसे पुरुष ही संसार में अमर रहते और सूर्य के समान चमकते हैं। यही परमात्मा का महत्त्व है जो चहुंदिक् भासमान हो रहा है ॥ ३ ॥

तृतीय खण्ड
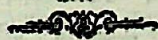
अब सूर्य की पश्चिमदिक्संबन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि को बतलाते हैं, यथा—

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद इस आदित्य की जो पश्चिम दिशा की किरणें हैं वे ही आदित्य की पश्चिम दिग्वर्ती मधुनाडियाँ=छिद्र हैं। सामवेद के मन्त्र ही मधुमक्षिका हैं, समस्त सामवेद रस को देनेवाला पुष्प है और सामवेदीय मन्त्रों

से अग्नि में जो घृतादि द्रव्य दिये जाते हैं वे अति उत्तम स्वादिष्ट अमृतरूपी जल हैं ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्त-स्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसो-ऽजायत ॥ २ ॥

भावार्थ—उन्हीं इन सामवेद के मन्त्रों ने रस देनेवाले इस पुष्परूपी सामवेद को तपाया, उस अभितप्त पुष्प से ही शुभ कीर्त्ति, प्रताप, बल, तेज और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुए ॥ २ ॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदा-दित्यस्य परं कृष्णꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस यश आदि रस ने, जो आदित्य में जमा था, आदित्य से निकलकर आदित्य के चारों तरफ आश्रय लिया। जो यह सूर्य का कृष्ण तेज है यह वह यश आदिक रस ही है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उस ब्रह्मरूप मधु की जो साममन्त्ररूप पश्चिम दिशास्थ नालियाँ हैं, अर्थात् पश्चिम दिशा में जो उन का ज्ञान विस्तृत हो रहा है, वही मधुमक्खिका हैं, सामवेद पुष्प है और वही पुष्प अमृतरूप जल है, जिस को जिज्ञासु पान करते ही अमृत हो जाता है। अर्थात् जब मन्त्ररूप मक्खियाँ सामवेद-रूप पुष्प का मथन करती हैं तब उन के मथन करने से उक्त अमृतरूप जल निक-लता है, जिस को मन्त्र ग्रहण करते हैं, और उन से जिज्ञासु ज्ञानरूप रस पान करके यशस्वी तेजस्वी आदि गुणों से सम्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—इस विषय को यों समझना चाहिये कि सामवेद के मननशील पुरुष को उक्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं। अतएव सब का कर्तव्य है कि वेदरूप ज्ञान की बड़े प्रयत्न से प्राप्ति करें, जिससे परमात्मा की प्रसन्नता से उत्तमोत्तम पदार्थ प्राप्त हो सकें। यह स्मरण रखना चाहिये कि उपर्युक्त यश आदि ब्रह्म के ही आश्रित हैं, उस प्रभु की जिस पर कृपा होगी उसी को ये प्राप्त होंगे ॥ ३ ॥

———

चतुर्थ खण्ड

अब सूर्य की उत्तरदिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाड्यादि दृष्टि को बतलाते हैं—

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के बाद इस आदित्य की जो उत्तर दिशा की किरणें हैं वे ही आदित्य की उत्तरदिग्वर्ती मधुनाडियाँ हैं, अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियों के प्रत्यक्ष किये हुए मन्त्र ही मधुमक्षिका हैं, इतिहास पुराण ही पुष्प हैं और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रों से यज्ञ कर्म में जो हव्य दिया जाजा है वही अमृतरूपी जल है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

भावार्थ—उन्हीं इन अथर्ववेद की ऋचाओं ने रस देनेवाले इस पुष्परूपी इतिहास और पुराण को तपाया, उस अभितप्त पुष्प से ही शुभ कीर्ति, प्रताप, बल, तेज और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णं रूपम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस यश आदि रस ने जो आदित्य में जमा था, आदित्य से निकलकर आदित्य की चारों तरफ आश्रय लिया। जो यह सूर्य का कृष्ण रूप है यह यश आदिक रस ही है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस खण्ड के मन्त्रों का अभिप्राय भी पूर्व खण्डों में वर्णित मन्त्रों के समान ही है। अर्थात् अथर्ववेद के मन्थन करनेवाले जिज्ञासु को यश, तेज, प्राणादि प्राप्त होते हैं और ऐसा ही मनुष्य मधुरूप अमृत का अधिकारी है। भाव यह है कि जो पुरुष अङ्ग और उपाङ्गों सहित एक एक वेद का भी श्रवण,

मनन तथा निदिध्यासन करता है, उस का जीवन पवित्र हो जाता है और उसी को अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। अत एव जिज्ञासु को उचित है कि वह ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करे।

प्रकृत मन्त्र में कहा गया है कि इतिहास पुराण ही पुष्प हैं। उन इतिहास और पुराणों का अश्वमेधयज्ञ में पारिप्लवा रात्रियों में कर्माङ्गरूप से विनियोग प्रसिद्ध है॥ ३॥

विशेष—अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति बहुत दिनों में होती है, उस के अनुष्ठान में शान्तिपूर्वक स्थित रहने से यज्ञ करनेवालों को आलस्य आने लगता है। उस आलस्य को दूर करने के लिए वेद ने रात्रि के समय इतिहास पुराणादि के श्रवण का विधान किया है। अनेकविध उपाख्यानादि के समूह का नाम 'पारिप्लव' है, जिन रात्रियों में उस के श्रवण का विधान है उन रात्रियों को पारिप्लवा रात्रि कहते हैं॥ ३॥

पञ्चम खण्ड

अब सूर्य की ऊर्ध्वदिक्सम्बन्धिनी किरणों में मधुनाडी आदि दृष्टि को बतलाते हैं—

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥१॥

भावार्थ—इस के बाद इस आदित्य के ऊपर की जो किरणें हैं वे ही इस सूर्य के ऊपर की ओर मधु निकलने के स्थान हैं, गोप्य उपदेश ही मधुमक्षिका हैं, इस को देनेवाला प्रणवरूप ब्रह्म ही पुष्प है और जो घृतादिरूप हव्य यज्ञ की अग्नि में दिये जाते हैं वे ही अमृतरूपी जल हैं॥ १॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यँ रसोऽजायत ॥२॥

भावार्थ—उन इन गोप्य आदेशों ने ही रस देनेवाले इस पुष्परूपी प्रणवसंज्ञक ब्रह्म को तपाया। उस अभितप्त पुष्प से ही शुभ कीर्ति, प्रताप, बल, तेज और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद् व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस यश आदि रस ने जो सूर्य में जमा था आदित्य के किरणरूपी छिद्रों से निकलकर आदित्य की चारों तरफ आश्रय लिया। यह जो सूर्य के बीच में क्षुब्ध सा, झलमल सा उपासकों को दिखाई देता है वही निश्चय करके ऊपर कहा हुआ यश आदिक रस है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इन मन्त्रों का भाष्य पूर्ववत् समझना चाहिए।

विशेष—पहले मन्त्र में "गुह्य आदेश ही मधुमक्षिका हैं" यह कहा गया है, उस का तात्पर्य यह है कि गुह्य=गोपनीय अर्थात् रहस्यभूत जो आदेश याने "लोकद्वारमपावृणु पश्येम त्वा वयम्" इत्यादि लोकद्वारीयादि विधियाँ और कर्माङ्गसंबन्धिनी उपासनायें हैं वे ही मधुमक्षिका हैं ॥ ३ ॥

ते वा एते रसाना ँ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

भावार्थ—वे ये लाल श्वेतादिक आदित्य की प्रभाएँ निश्चय करके रसों की रस हैं, क्योंकि वेद ही रस हैं और ये लाल श्वेतादिक प्रभाएँ उन की भी रस हैं। वे ही ये अमृतों की अमृत हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं और ये उन की भी अमृत हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वह यह पूर्वोक्त लोहितादिरूप रसों का विशेष रस अर्थात् अत्यन्त सारभूत है। क्योंकि समस्त लोकों के सारभूत होने से वेद ही सार याने रस हैं और ये लोहितादिरूप उन रसों के भी रस हैं तथा ये ही अमृतों के अमृत हैं। क्योंकि नित्य होने के कारण वेद ही अमृत हैं और लाल श्वेतादिक सूर्य की प्रभा उन की भी अमृत हैं ॥ ४ ॥

विशेष—उपर्युक्त पाँच खण्डों में रूपक अलङ्कार से मधुविद्या का वर्णन किया गया है। याने ब्रह्म ही मधु है और उस के पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण एवं नीचे ऊपर सब ओर मधु की नालियाँ वह रही हैं। चारों वेदों की ऋचायें मधुमक्षिकारूप हैं, जिन से जिज्ञासु मधुपान कर अमृत होते हैं, क्योंकि यह मधु अमृतरूप

है और अमृत नाम मोक्ष का है। अतः यह मोक्षस्वरूप परमानन्द स्वरूप धाम निखिल दुःख से रहित है। इसी कारण इस अन्तिम मन्त्र में कहा गया है कि यश आदिक अमृतों के अमृत हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं और ये वेदों के रस होने के कारण अमृतों के अमृत हैं और 'अमृतादप्यधिकम् अमृतम्' उसी को प्राप्त होता है, जो ब्रह्मचिन्तनपरायण होता है ॥ ४ ॥

षष्ठ खण्ड

वसुगण, रुद्रगण, आदित्य, मरुद्गण और साध्यगणों के उपजीवी पाँच अमृतों की उपासना का वर्णन अब क्रमशः पाँच खण्डों में करते हैं। प्रत्येक खण्ड में चार चार मन्त्र हैं। षष्ठ खण्ड के चार मन्त्रों का जैसा भाष्य तथा विशेष होगा वैसा ही भाष्य विशेष शेष चारखण्डों के मन्त्रों का भी होगा। अतः उन का केवल भावार्थ मात्र ही लिखा जायगा। वसुगणों के जीवनाधारभूत प्रथम अमृत की उपासना को बतलाते हैं, यथा—

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—पाँचों अमृतों में प्रथम अमृत जो आदित्य की लाल प्रभा है, उस से वसु देवगण अग्निमुख्य होकर जीवन धारण करते हैं। वास्तव में देवता न खाते हैं न पीते हैं, किन्तु वे इस अमृतरूपी रस को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रातःकालिक हव्य के अधिकारी जो वसु देवगण हैं वे अग्निप्रधान होते हुए रोहित रूपवाले प्रथम अमृत के उपजीवी होते हैं। जैसे मनुष्य एक एक ग्रास लेकर खाते हैं वैसे ही देवताओं के विषय में जो प्राप्त भक्षण है उस का श्रुति निषेध करती है कि देवगण न तो खाते हैं न पीते ही है। तो फिर वे अमृत के उपजीवी किस प्रकार होते हैं ? ऐसी शंका होने पर श्रुति स्वयं समाधान करती है कि वे देवगण आदित्य के रोहितरूप इस अमृत को उपलब्ध कर याने सम्पूर्ण इन्द्रियों से इस का अनुभव कर संतुष्ट हो जाते हैं (भाष्य में 'दृश' धातु का ऐसा ही अर्थ किया गया है), तथा सूर्य के आश्रित होने से वे दुर्गन्ध आदि देह और इन्द्रियों के दोषों से रहित भी रहते हैं ॥ १ ॥

विशेष—"देवगण सम्पूर्ण इन्द्रियों से रोहित रूप का अनुभव कर तृप्त हो जाते हैं" इस कथन को सुनकर शंका होती है कि केवल चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य रूप श्रोत्रेन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि तत्तत् इन्द्रियों का जो जो विषय है, जैसे—चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य का रूप और श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य यश इत्यादि है, वह सब ही रस है। अतः देवगण उन उन विषयों को उन उन इन्द्रियों से अनुभव कर तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

तो क्या वे देवगण बिना कुछ किये ही इस अमृत के उपजीवी होते हैं ? नहीं तो फिर किस तरह होते हैं ? इस विषय पर कहते हैं—

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—वे वसु देवगण इसी सूर्य की लाल प्रभा को लक्षित कर उदासीन हो जाते हैं और फिर इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वे देवगण आदित्य के रोहित रूप को देखकर जब संतुष्ट हो जाते हैं तब उदासीनतापूर्वक उसी में पड़े रहते हैं और फिर जब उस अमृत के भोग का समय उपस्थित होता है तब उसमें से निकल आते हैं। अर्थात् देवगण जब भोग कर चुकते हैं तब सुख से उसी रस में लीन हो पड़े रहते हैं और जब फिर भोग का समय आता है तब उद्योग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। क्योंकि जो निरुद्योगी, अनुष्ठानहीन और आलसी हैं, उन्हें संसार में भोगों की प्राप्ति होनी असंभव है ॥ २ ॥

विशेष—जिस तरह संसार में जब मनुष्य भोग कर चुकता है तब सुख से उद्योगशून्य हो पड़ा रहता है और जब भोग का समय उपस्थित होता है तब उद्योग करने लगता है। उसी तरह देवगण "अभी हमारे भोग का समय नहीं है" ऐसा जानकर उदासीन हो जाते हैं और जब उस अमृत के भोग का समय आता है तब उत्साहयुक्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो उक्त प्रकार से इस अमृत की उपासना करता है वह वसुओं

में से ही एक वसु होकर अग्नि की प्रधानता से इसे देखकर तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप में प्रवेश कर जाता है और फिर इसीसे बाहर निकल आता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो पुरुष ऊपर कही हुई रीति से आदित्य के रोहित-रूप इस अमृत की उपासना करता है वह वसुओं में से एक वसु होकर अग्निदेवता को अग्रेसर करके इस ही अमृत को अनुभव कर संतुष्ट हो जाता है और वही इस आदित्य के लालरूप रस को भोग करके उसी में लीन हो पड़ा रहता है। जब फिर भोगने का समय उपस्थित होता है तब फिर वह उस अमृत के भोगने की इच्छा से ही उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

विशेष—जो पुरुष इस यथोक्त अमृत को इस तरह जानता है, याने "ऋग्वेद-विहित कर्मरूप ऋक्-श्रुतिरूप मधुमक्षिकाओं के अभिताप द्वारा इसका संरक्षण होना, लालरूप होना, अमृत का पूर्वदिग्वर्तिनी रश्मिनाडियों में स्थित होना, वसु संज्ञक देवगणों का भोग्य होना, उसे जाननेवालों का वसुगण के साथ एकता को प्राप्त होकर अग्नि प्रधानता से उसके आश्रित जीवन धारण करना, उसके दर्शन मात्र से उसे जाननेवालों का तृप्त होना, अपने भोग के समय उनका उससे उत्साहित होना और भोग कर चुकने पर उदासीन हो जाना" इत्यादि जानता है वह वसुओं के समान इन सब बातों का उसी तरह अनुभव करता है ॥ ३ ॥

उपासक कितने समत तक उस अमृत के आश्रित होकर जीवन धारण करता है ? इस बात को अब श्रुति स्पष्ट प्रतिपादन करती है, यथा—

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब तक सूर्य पूर्वदिशा में उदय हुआ करेगा और जब तक पश्चिमदिशा में अस्त हुआ करेगा तब तक निश्चय करके वसुओं के स्वामित्व को और स्वर्ग के राज्य को वह उपासक प्राप्त होता रहेगा ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त अमृत की उपासना करनेवाला पुरुष तब तक वसुओं के आधिपत्य को और स्वाराज्य को प्राप्त होता रहेगा जब तक सूर्य का पूर्व दिशा में उदय होना और पश्चिमदिशा में अस्त होना जारी रहेगा ॥ ४ ॥

विशेष—जिस तरह चन्द्रमंडल में स्थित केवल कर्मों में रत पुरुष देवगणों का भोग्य होकर पराधीन रहता है, उस तरह यह अमृतोपासक पुरुष पराधीन नहीं रहता है। यह तो आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होकर स्वतन्त्र रहता है ॥ ४ ॥

सप्तम खण्ड

रुद्रगणों के जीवनाधारभूत द्वितीय अमृत की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

भावार्थ—इस के बाद जो दूसरा अमृत सूर्य का शुक्ल रूप है उस से रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। वास्तव में देवता न खाते हैं न पीते हैं, किन्तु वे इस अमृतरूपी रस को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

भावार्थ—वे रुद्रगण इस सूर्य के शुक्ल रूप को देखकर ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो उक्त रीति से इस श्वेतरूप अमृत को जानता है वह अवश्य रुद्रों में से एक रुद्र होकर इस इन्द्र देवता को अग्रेसर करके श्वेत प्रभारूप अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप में प्रवेश कर जाता है और फिर इसी से बाहर निकल जाता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जितने समय तक वह सूर्य पूर्व दिशा में उदय को और पश्चिम दिशा में अस्त को प्राप्त होता रहेगा, उसके दुगने समय तक दक्षिण दिशा में उदय को

और तभी तक उत्तर दिशा में अस्त को प्राप्त होता रहेगा। एवं उतने ही समय तक रुद्रों के आधिपत्य को और स्वाराज्य को वह उपासक प्राप्त होता रहेगा। अर्थात् वसुओं की अपेक्षा रुद्रों का भोगकाल दूना है ॥ ४ ॥

(प्रकृत चारों मन्त्रों का भाष्य तथा विशेष पूर्ववत् है।)

अष्टम खण्ड

अब आदित्यों के जीवनाधारभूत तृतीय अमृत की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके अनन्तर जो तीसरा अमृत सूर्य का कृष्ण रूप है उससे आदित्यगण वरुणप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। वास्तव में देवगण न खाते हैं न पीते हैं किन्तु वे इस अमृतरूपी रस को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—वे आदित्यगण इस आदित्य के कृष्ण रूप को देखकर ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो उक्त रीति से इस कृष्णरूप अमृत को जानता है वह अवश्य आदित्यों में से एक आदित्य होकर वरुणदेवता को अग्रेसर करके कृष्णप्रभारूप अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप में प्रवेश कर जाता है और फिर इसी से बाहर निकल आता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब तक आदित्य दक्षिण में उदय होकर उत्तर दिशा में अस्त होता रहेगा और उसके दुगने समय तक पश्चिम की ओर से उदय होकर पूर्व की तरफ अस्त होता रहेगा, तब तक वह उपासक आदित्यों के आधिपत्य को और स्वाराज्य को प्राप्त होता रहेगा ॥ ४ ॥

(प्रकृत चारों मंत्रों के भी भाष्य आदि पूर्ववत् हैं।)

विशेष—इसी रीति से पश्चिम, उत्तर और ऊपर की ओर सूर्य उदय को प्राप्त होता है और इन से विपरीत दिशाओं में अस्त हो जाता है। परन्तु पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर उदय तथा अस्तमय काल दूने हैं। यह पुराणदृष्टि के विरुद्ध है, क्योंकि पौराणिकों ने चारों दिशाओं में इन्द्र, यम, वरुण और सोम की पुरियों में आदित्य के उदय और अस्त के काल समान ही बतलाये हैं, क्योंकि मानसोत्तर पर्वत के शिखर पर जो सूर्य का सुमेरु के चारों तरफ घूमने का मार्ग है वह सर्वत्र समान है। यहाँ श्री द्रविडाचार्य ने इस आक्षेप का इस तरह समाधान किया है—

अमरावती आदि पुरियों का उत्तरोत्तर दूने समय में नाश होता है। उन पुरियों के निवासियों की दृष्टि में आना ही सूर्य का उदय है और उनकी दृष्टि से छिप जाना ही सूर्य का अस्त है। वस्तुतः सूर्य के उदय और अस्त हैं ही नहीं। उन पुरियों में निवास करनेवाले प्राणियों का अभाव हो जाने पर उनके लिए सूर्यदेव उसी मार्ग से जाते हुए भी न तो उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं। क्योंकि उस समय सूर्य का किसी की दृष्टि का विषय होना अथवा न होना समाप्त हो जाता है। तथा अमरावती पुरी की अपेक्षा दूने समय संयमनी पुरी रहती है। इसलिए उसमें रहनेवाले प्राणियों के लिए सूर्य मानो दक्षिण की ओर से उदित होता है और उत्तर में अस्त हो जाता है। यह बात हम लोगों की दृष्टि को लेकर कही गयी है, इसी तरह आगे की अन्य पुरियों में भी योजना कर लेनी चाहिए। तथा मेरु इन सभी के उत्तर की तरफ है। जिस समय अमरावती पुरी में सूर्य मध्याह्न में स्थित होता है उस समय संयमनी पुरी में वह उदित होता देखा जाता है। और वहाँ पर मध्याह्न में स्थित होने पर वरुण की पुरी में उदित होता दिखायी देता है। इसी

तरह उत्तरदिग्वर्तिनी पुरी के विषय में समझना चाहिए, क्योंकि उसकी प्रदक्षिणा का चक्र सर्वत्र समान है। आदित्य की किरणों के चारों तरफ पर्वतरूप प्राकार के द्वारा रोक लिये जाने के कारण इलावृत खण्ड में रहनेवालों को वह मानो ऊपर की ओर उदित होता और नीचे की ओर अस्त होता दिखायी देता है। क्योंकि वहाँ सूर्य का प्रकाश पर्वतों के ऊपरी छिद्र द्वारा ही प्रवेश करता है।

इस तरह ऋगादि अमृत के आश्रित जीवन व्यतीत करनेवाले देवताओं के पराक्रम की उत्तरोत्तर द्विगुणता का उनके भोगकाल के द्विगुणत्वरूप लिङ्ग से अनुमान किया जाता है। रुद्रादि देवताओं और विद्वानों के उद्यमन और संवेशन समान ही हैं ॥ १-४ ॥

नवम खण्ड

अब मरुद्गण के जीवनाधारभूत चतुर्थ अमृत की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—इसके बाद जो चतुर्थ अमृत सूर्य का अतिकृष्ण रूप है उससे मरुद्गण चन्द्रमा को अग्रेसर करके जीवन धारण करते हैं। वास्तव में देवगण न खाते हैं न पीते हैं किन्तु वे इस अमृतरूपी रस को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

भावार्थ—वे मरुद्गण इस सूर्य के अतिकृष्ण रूप को देखकर ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवामृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो इस तरह सूर्य के अति कृष्ण रूप इस चतुर्थ अमृत को जानता है, वह अवश्य मरुद्गणों में से कोई एक होकर चन्द्रमा को अग्रेसर करके सूर्य की अतिकृष्ण प्रभारूप अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप में प्रवेश कर जाता है और फिर इसी से बाहर निकल आता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब तक आदित्य पश्चिम में उदय होकर पूर्व में अस्त होता रहेगा और उसके दुगने समय तक उत्तर की ओर से उदय होकर दक्षिण दिशा की तरफ अस्त होता रहेगा, तब तक वह उपासक मरुद्गणों के आधिपत्य को और स्वाराज्य को प्राप्त होता रहेगा ॥ ४ ॥

(इस खण्ड के चारों मन्त्रों का भाष्य विशेष पूर्ववत् है।)

दशम खण्ड

साध्यों के जीवनाधारभूत पञ्चम अमृत की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के अनन्तर जो पाँचवाँ अमृत आदित्यमंडल का मध्यवर्ती है, उस से साध्यजाति के देवता ब्रह्मा को अग्रेसर करके जीवन धारण करते हैं। वास्तव में देवगण न खाते हैं न पीते हैं किन्तु वे इस अमृतरूपी रस को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—वे साध्यजाति के देवगण आदित्यमंडलमध्यवर्ती रूप को देखकर ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो इस तरह आदित्यमंडलमध्यवर्ती पाचवें अमृत को जानता है वह अवश्य साध्यजाति के देवताओं में से कोई एक होकर ब्रह्मा को अग्रेसर करके आदित्यमंडलमध्यवर्ती पाँचवें अमृत को देख तृप्त हो जाता है। वह इसी रूप में प्रवेश कर जाता है और फिर इसी से बाहर निकल आता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्व उदेताऽर्वाङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब तक आदित्य उत्तर दिशा में उदय होकर दक्षिण दिशा में अस्त होता रहेगा और उस के दुगने समय तक ऊपर की ओर होकर नीचे की तरफ अस्त होता रहेगा, तब तक वह उपासक साध्यजाति के देवताओं के आधिपत्य और स्वाराज्य को प्राप्त होता रहेगा ॥ ४ ॥

(इस खण्ड के भी चारों मन्त्रों का भाष्य, विशेष पूर्ववत् है। क्योंकि संज्ञा के सिवा पूर्व मन्त्रों से प्रकृत मन्त्रों में कोई विशेषता नहीं है।)

एकादश खण्ड

पूर्वोक्त मधुविद्या क्रम से मुक्तिपर्यवसायिनी है, इसी बात को दिखलाने के लिए कहते हैं, यथा—

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः इस के बाद सूर्य ऊपर को प्रकाश करके फिर न उदय को प्राप्त होता है और न अस्त को। केवल अपने में ही स्थित रहता है। इस विषय में यह अगला मन्त्र प्रमाण है ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—सम्पूर्ण दिशाओं में आदित्य के उदय और अस्त के बाद पुनः सूर्य का उदय तथा अस्त नहीं होता, वह केवल निरवयव स्वयंप्रकाश में स्थित रहता है और अपने में सब जीवों को लीन कर लेता है। क्योंकि सूर्य का उदय और अस्त प्राणियों के कर्मफलभोगार्थ होता है, और जब जीवों के कर्मफल की समाप्ति हो जाती है तब आदित्य के उदय और अस्त की आवश्यकता नहीं रहती है। इस विषय में आगेवाला मन्त्र प्रमाण है ॥ १ ॥

विशेष—एक आदित्योपासक, जो वसु पदवी को प्राप्त कर चुका था और रोहितादिक प्रभारूपी अमृत को पी चुका था, उस ने एक ज्ञानी के पूछने पर कहा कि ब्रह्मलोक में जहाँ से मैं आया हूँ, वहाँ आदित्य का उदय और अस्त नहीं होता है। वहाँ दिन रात नहीं है, केवल प्रकाश ही प्रकाश है, इसलिए जो जीव वहाँ निवास करते हैं वे अमर रहते हैं। इस विषय में निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है ॥ १ ॥

ब्रह्मलोक के विषय में विद्वान् के अनुभव का श्रुति वर्णन करती है, यथा—

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ॥
देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥ २ ॥

भावार्थ—वहाँ अवश्य ही ऐसा नहीं होता। वहाँ न कभी सूर्य अस्त को प्राप्त होता है और न कभी उदय को प्राप्त होता है। हे देवताओं! इस सत्य के द्वारा मैं ब्रह्म से विरुद्ध न होऊँ ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो पुरुष ब्रह्मलोक से आया था उस से किसी दूसरे ने पूछा—क्या ब्रह्मलोक में भी सूर्य दिन रात विचरता हुआ प्राणियों की आयु को क्षीण करता है? जैसे कि यहाँ हमारी आयु का नाश करता है। इस बात को बतलाने की कृपा कीजिए, क्योंकि आप ब्रह्मलोक से आये हैं, वहाँ की सब बातों को अच्छी तरह जानते हैं। ऐसा कहने पर उस ने उत्तर दिया कि जिस ब्रह्मलोक से मैं आया हूँ वहाँ अवश्य ही तुम जो पूछते हो, वह नहीं है। वहाँ न तो सूर्यास्त होता है और न किसी भी समय सूर्य कहीं से उदित होता है। ब्रह्मलोक आदित्य के उदय और अस्त से शून्य है। हे देवगण! मेरे इस सत्य वचन के ऊपर विश्वास करो, उस सत्य के द्वारा मैं ब्रह्म के स्वरूप से विरुद्ध न होऊँ, अर्थात् मुझे ब्रह्म की अप्राप्ति न हो ॥ २ ॥

विशेष—वसु पदवी को प्राप्त हुआ पुरुष देवता को संमुख करके शपथपूर्वक कहता है कि ब्रह्मलोक में सूर्य का उदयास्त नहीं होता है। यदि मेरा यह वचन सत्य न हो तो मैं मोक्षधर्म से पतित हो जाऊँ ॥ २ ॥

अब मधुविद्या के फल को श्रुति स्वयं बतलाती है, यथा—

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो इस तरह इस ब्रह्मविद्या को जानता है उस के लिए निश्चय ही न तो सूर्य का उदय होता है और न अस्त होता है। उस के लिए सदा दिन ही रहता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो उपासक इस प्रकार इस वेदरहस्य को जानता है, उस ब्रह्मवेत्ता के लिए न तो सूर्य उदित होता है और न अस्त ही होता है। बल्कि उस ब्रह्मवेत्ता के लिए हमेशा दिन ही बना रहता है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाशरूप होता है ॥ ३ ॥

विशेष—जो उपासक वेदरहस्य को अर्थात् तिरश्चीन वंश, मध्वपूप और मधुनाडी; इन तीनों को अच्छी तरह जानता है, उस के लिए सूर्य का उदयास्त नहीं होता है। किन्तु उस ब्रह्मज्ञानी के लिए वह सूर्य सदा एकरस प्रकाशमान रहता है। यहाँ तक कि वह स्वयं प्रकाशमान् हो जाता है अर्थात् उपास्य उपासक एक हो जाते हैं ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त मधुविद्या की गुरुशिष्यादि कथन से स्तुति करते हैं, यथा—

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त इस मधुविद्या को ब्रह्मा ने प्रजापति से कहा था, प्रजापति ने मनु को श्रवण कराया और मनु ने प्रजावर्ग से कथन किया। तथा इस ब्रह्मविज्ञान को अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुणकुमार उद्दालक के प्रति उस के पिता ने सुनाया था ॥ ४ ॥ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त इस मधुज्ञान को ब्रह्मा = हिरण्यगर्भ ने विराट्

प्रजापति को सुनाया था। उस ने भी इसे मनु से कहा और मनु ने इक्ष्वाकु आदि अपने सन्तानों को सुनाया। तथा उसी ब्रह्मविद्या को अरुण ऋषि ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उद्दालक से कहा ॥ ४ ॥

विशेष—'यह विद्या ब्रह्मादि से प्राप्त परम्परा से आयी है' इस प्रकार उक्त रीति से कहकर श्रुति इस विद्या की स्तुति करती है कि इतना ही नहीं, किन्तु यह मधुज्ञान अरुण पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र उद्दालक के प्रति सुनाया था ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसलिए इस ब्रह्मविद्या को पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र से कहे या अपने प्रिय शिष्य से कहे ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—अतः कोई दूसरा विद्वान् भी पूर्वोक्त इस ब्रह्मविद्या को सब से प्रिय अपने ज्येष्ठ पुत्र को ही बतावे अथवा जो शिष्य सुयोग्य हो उस से कहे ॥ ५ ॥

विशेष—'अपने प्रिय पुत्र या योग्य शिष्य को ही इस विद्या का उपदेश करे' इस कथन का तात्पर्य यह है कि योग्य पात्र में ही दान देना ठीक है। अतः इस प्रकृत विद्या के ग्रहण करने के लिए जो योग्य पात्र हो उसी को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मै चन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह ब्रह्मविद्या और किसी के लिए न कहे, चाहे अनधिकारी धन से परिपूर्ण और समुद्र से घिरी हुई इस पृथिवी को ही आचार्य के लिए दे। क्योंकि अवश्य ही यह ब्रह्मविद्या इस पृथिवी से बहुत श्रेष्ठ है, अवश्य श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—चाहे कोई पुरुष आचार्य को समुद्र से घिरी हुई और भोग की सामग्रियों से सम्पन्न यह सारी पृथिवी भी दे दे, तो भी उस अपात्र को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश न करे। कारण यह है कि यही उससे अधिक फल देनेवाली

है, यही उससे अधिक फल देनेवाली है। यह द्विरुक्ति विद्या के आदर के लिए है॥ ६॥

विशेष—अनेक विद्यादान के पात्रों में से केवल दो तीर्थ (ज्येष्ठ पुत्र और योग्य शिष्य) के लिए ही ब्रह्मविद्योपदेश की आज्ञा क्यों दी गई है ? श्रुति इसका स्वयं समाधान करती है—यदि इस विद्या का बदला चुकाने के लिए कोई पुरुष धन से पूर्ण समुद्र तक फैले हुए राज्य को आचार्य के लिए दे, तो भी वह इसके बदले में पर्याप्त नहीं हो सकता। क्योंकि उस दान से यह मधुविद्या का दान ही अधिक फलवाला है।

इस खण्ड में यह कथन किया गया है कि ब्रह्मज्ञानोपदेष्टा आचार्य अधिकारी के प्रति ब्रह्म का उपदेश करे, अनधिकारी को कदापि नहीं। अर्थात् साधनसम्पन्न पुरुष, जिसने यम नियम आदिकों के द्वारा तपश्चरण करके अपने अन्तःकरण को निर्मल बना लिया है वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। इस लिए सब पिताओं तथा आचार्यों को उचित है कि वे अपने ज्येष्ठ पुत्र तथा परम प्रिय शिष्य के प्रति इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश करते रहें, जिससे गुरुशिष्यपरंपरा द्वारा इस विज्ञान का प्रचार हो। ब्रह्मविद्या अमूल्य वस्तु है, सर्वोत्तम वस्तु उच्च अधिकारी को ही देनी उचित है, क्योंकि वही उसका सदुपयोग कर सकता है। अनधिकारी किसी भी शक्ति का दुरुपयोग करता हुआ उसकी लपेट में आकर स्वयं नष्ट हो जाता है। आचार्य को चाहे धन धान्यादि भोगपूर्ण समुद्र पर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी भी प्राप्त होती हो, तो भी अनधिकारी को ब्रह्मोपदेश न करे, क्योंकि उस पृथ्वी के दान से ब्रह्मविद्या का दान अधिकतर है।

जो पुरुष इस ब्रह्मज्ञानप्रद उपनिषद् को उक्त प्रकार से जानता है, उसके लिए न तो सूर्य उदय होता है और न कभी अस्त होता है। अर्थात् उसके हृदय में ज्ञानरूप प्रकाश होने से सदा दिन ही रहता है, अज्ञान=अन्धकार का लेशमात्र भी नहीं रहता। ब्रह्मा, मनु, उद्दालक की परंपरा से प्रकृत में यह दिखाया गया है कि सब अङ्गोपाङ्गों सहित वेदों का अध्ययन करके उनके आदेशानुसार जिसने परब्रह्म रूप तत्त्व का साक्षात्कार किया है वह कृतकृत्य होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है। 'न स पुनरावर्तते' वह आनन्दरूप हो जाने से फिर मर्त्यलोक में नहीं आता है।

इन ग्यारह खण्डों का रहस्य सर्वसाधारण की पहुँच से परे है, यहाँ स्पष्ट बतला दिया है कि इसके पात्र वे ही हैं जो सार्वभौम राज्य को इसके सामने तुच्छ

समझते हैं। इसलिए कुछ शक नहीं, यदि कोई इसके पूरे रहस्य पर नहीं पहुँच सके। हम मनुष्य हैं, हमारे लिए यह लोक है, इस लोक में जो हमारे पास सार वस्तु है, वह वेद है। वैदिक जीवन द्वारा हम इस लोक में यश, तेज, इन्द्रिय-निग्रह, वीर्य और स्वास्थ्य को भोगते हैं। फिर इस जीवन का सार एक और जीवन है, जिसे हम सूर्यलोक में भोगते हैं।

वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये देवतागण हैं, वैदिक कर्मों का करनेवाला और इन रहस्यों का (जो यहाँ पूर्व में कहे गये हैं) जाननेवाला देवता बनकर इन्हीं में जा सम्मिलित होता है और वह इनके साथ उसी अमृत को भोगता है, जिसको ये देवता भोग रहे हैं। इन में से प्रत्येक उपासना का फल एक दूसरी से बढ़कर है। पहली का जो भोग काल है, दूसरी का उससे दुगुना और तीसरी का दूसरी से दुगुना है, इत्यादि। सूर्य के अन्दर जो जो परिवर्तन होता है, उसका वे देवता उपभोग करते हैं, वे पाँचों शबल ब्रह्म के उपासक शबल ब्रह्म का उपभोग करते हैं। इसके ऊपर (उससे परे) एक और सूर्य है, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' जिससे यह सूर्य तप रहा है, वह पर ब्रह्म शुद्ध ब्रह्म है। इस शबल के ऊपर चढ़ने पर जब उस शुद्ध के दर्शन होते हैं तब उदय अस्त होना एक दम मिट जाता है, और एक बार ही सदा के लिए दिन चढ़ जाता है, जो चढ़ा ही रहता है; कभी ढलता नहीं।

इस विषय में विद्वानों का यह कथन है कि यहाँ वेदों का, दिशाओं का, सूर्य के रंगों का, देवताओं का और उन में एक प्रधान देवता का; इन सब का कोई नियत सम्बन्ध है। जैसे—(क)—ऋचा, ऋग्वेद, पूर्व, लाल रूप, वसु, अग्नि। (ख)—यजुः, यजुर्वेद, शुक्ल रूप, दक्षिण, रुद्र, इन्द्र। (ग)—साम, सामवेद, पश्चिम, काला, आदित्य, वरुण। (घ)—अथर्वाङ्गिरस, इतिहास पुराण, उत्तर, बड़ा काला, मरुत्, सोम। (ङ)—गुह्य आदेश, ओम्, ऊपर, मध्य (केन्द्र), साध्य, ब्रह्मा ॥६॥

——❀❀❀——
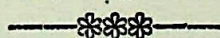
द्वादश खण्ड

अब गायत्री द्वारा ब्रह्मकी उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

गायत्री वा इदꣳ सर्वंभूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ १ ॥

विशेष—यह सब जो कुछ प्राणिसमूह है, वह सब गायत्रीरूप ही है। शब्द-मात्र निश्चय करके गायत्री है और यह सब भूत शब्द ही है। शब्द ही सब जीवों को बनाता है और रक्षा करता है॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह सम्पूर्ण जो कुछ स्थावर जंगमात्मक चराचर जगत् है वह समस्त गायत्रीरूप ही है, शब्दमात्र गायत्री है, सम्पूर्ण जगत् शब्द ही है। गायत्री शब्द की रचना दो पदों से हुई है; गान और त्राण। गान का अर्थ गाना है और त्राण का अर्थ रक्षा है (गायन्तं त्रायते इति गायत्री)। जो पुरुष गायत्री का जप करता है उस की रक्षा गायत्री करती है, तथा जिस तरह पृथिवी प्राणी-मात्र की रक्षा करती है और पालन पोषण कती है, उसी तरह गायत्री भी समस्त प्राणियों की रक्षा और पालन पोषण करती है। कारण यह है कि गायत्री शब्द है, शब्द के बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती और न किसी प्राणी की रक्षा ही हो सकती है। यह अमुक जीव है, इस को अन्न पान दिया जाय, ऐसा शब्द सुनकर ही किसी को अन्न दिया जाता है, उस अन्न पान से उस प्राणी की रक्षा होती है। अगर शब्द न होता तो अन्न पान किस तरह दिया जाता और किस तरह उस प्राणी की रक्षा हो सकती थी? ऐसे ही यदि शब्द न होता तो ऐसा निषेध का आदेश कि किसी जीव का हनन न किया जाय, किस तरह किया जाता?॥ १॥

विशेष—गत खण्डों में ब्रह्मविद्या अतिशय फलवाली है, यह कहा गया है, अतः उस का दूसरी रीति से भी वर्णन करना चाहिए। अत एव 'गायत्री वा' इत्यादि मन्त्र का आरम्भ किया गया है। गायत्री द्वारा भी ब्रह्म का ही निरूपण किया जाता है, क्योंकि 'नेति नेति' इत्यादि प्रकार से विशेषों के प्रतिषेध द्वारा अनुभूत होनेवाला अखिल विशेषरहित ब्रह्म कठिनता से समझ में आनेवाला है। अनेकों छन्दों के रहते हुए भी प्रधानता के कारण गायत्री का ही ब्रह्मज्ञान के द्वार-रूप से ग्रहण किया जाता है।

(क) एक बार सोमाभिलाषी देवताओं ने सोम लाने के लिए गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन छन्दों को नियुक्त किया। परन्तु असमर्थ होने के कारण जगती और त्रिष्टुप् ये दो छन्द तो मार्ग में से ही लौट आये, केवल एक गायत्री छन्द ही सोम के पास जा सका और सोम के रक्षकों को परास्त कर उसे देवताओं के पास लाया। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण में "सोमो वै राजामुष्मिंल्लोक आसीत्" इस प्रसङ्ग में आयी है।

(ख) गायत्री के सिवा जो और छन्द सोम लाने के लिए गये थे वे मार्ग में ही थक जाने के कारण अपने कुछ अक्षर छोड़ आये थे। जगती के तीन अक्षर और त्रिष्टुप् का एक अक्षर ये मार्ग में रह गये थे। इन्हें लाकर गायत्री ने उन की पूर्ति की।

(ग) उष्णिक् और अनुष्टुप् आदि अन्य छन्दों के प्रत्येक पाद में सात या आठ अक्षर होते हैं और गायत्री के एक पाद में छै अक्षर होते हैं। अतः यह छन्दों में भी व्याप्त है, क्योंकि अधिक संख्या की सत्ता न्यून संख्या के बिना नहीं हो सकती।

(घ) प्रातःसवन गायत्र है, मध्याह्नसवन त्रैष्टुभ है और तृतीय सवन जागत है। अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये क्रमशः उन के छन्द हैं। त्रिष्टुप् और जगती में गायत्री व्याप्त है, अतः वह उन सवनों में भी व्यापक है। ऊपर 'क ख ग और घ' वर्ग में उक्त इन चारों बातों से यज्ञ में गायत्री की प्रधानता दिखाई गई है। क्योंकि ब्राह्मण का सार गायत्री ही है, अतः उपरोक्त ब्रह्म भी माता के समान गुरुतरा गायत्री को छोड़कर उस से उत्कृष्ट किसी अन्य आलम्बन से प्राप्त नहीं होता। क्योंकि उस में लोक का अत्यन्त गौरव प्रसिद्ध है, इसलिए गायत्री के द्वारा ही ब्रह्म का निरूपण किया गया है।

इस मन्त्र में गायत्री छन्द का माहात्म्य वर्णन किया गया है, चारों वेदों में जितने छन्द हैं उन में गायत्री को प्रधानता दी गई है। क्योंकि इस में बड़े ही सार-गर्भित शब्दों में ब्रह्म की स्तुति की गई है, और साथ ही संसार के उस सर्वोत्तम पदार्थ की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है, जिस के प्राप्त होने से याने जिस साधन से कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता। इस मन्त्र में कहा गया है कि गायत्री ही सब भूत हैं, यह जो सब कुछ स्थावर जंगम जगत् है सब गायत्री है, क्योंकि इसी के ज्ञान से बुद्धि की वृद्धि होकर सब पदार्थों का बोध होता है। पदार्थों के बोध से प्रकृति का बोध और उस से ब्रह्म का बोध होता है। गायत्री छन्द में 'हमारी बुद्धि अच्छे कामों में लगे' यह प्रार्थना की गई है। जिसे बुद्धि प्राप्त हो जायगी उस के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जायगा। गायत्री ही वाणी है, क्योंकि वाणी ही इन सब भूतों को गाती और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा रक्षा करती है।

गायत्री मन्त्र सर्वोपरि बुद्धिविषयक प्रार्थना का अभिधायक होने से सब पदार्थों का आरम्भभूत है, और वाणी को गायत्री इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि जिस प्रकार सुप्रयुक्त वाक् वक्ता की रक्षा करती है, इसी प्रकार गायत्री छन्द वक्ता का रक्षक होता है। अभिप्राय यह है कि गायत्री मन्त्र में परमात्मा से एकमात्र बुद्धि के लिए ऐसी प्रार्थना की गई है कि हे परमपिता परमात्मन्! आप हमारी बुद्धि को

पवित्र करें और उत्तम कामों में प्रेरें। बुद्धि ही मनुष्य का सर्वोपरि धन और सर्वोत्तम रक्षक है, इसी की पवित्रता से पुरुष अमृत पद को प्राप्त होता है, जो उच्च से उच्च पद है। इसी अभिप्राय का बोधक यह "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्" नीतिवचन है, जो सर्वजन विदित है ॥ १ ॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याᳪ हीदᳪ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो निश्चय करके यह पृथिवी है वही गायत्री है। जो यह गायत्री है, वही निश्चय करके पृथिवी है। क्योंकि इस पृथिवी में यह सम्पूर्ण भूत स्थित हैं और यह जगत् इस को कभी नहीं अतिक्रमण करता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—गायत्री पृथिवीरूप है और पृथिवी गायत्रीरूप है, जिस तरह पृथिवी में सम्पूर्ण स्थावर जंगम भूत रहते हैं उसी तरह गायत्री में भी सम्पूर्ण जगत् स्थित है। यह पृथिवी गायत्री से पृथक् सत्ता नहीं रखती ॥ २ ॥

विशेष—जैसे गान और त्राण की कारणभूता गायत्री का समस्त प्राणियों से संबन्ध है वैसे ही संपूर्ण भूतों की प्रतिष्ठा होने के कारण पृथिवी भूतों से संबद्ध है। इसलिए पृथिवी गायत्रीरूप है यह कहना ठीक ही है ॥ २ ॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो भी यह पृथिवी है वह यही है जो कि इस पुरुष में शरीर है, क्योंकि इसी में ये प्राण स्थित हैं और इसको निश्चय करके कभी नहीं उल्लंघन करते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पुरुष का यह शरीर गायत्रीरूप है और जो उस के भीतर हृदयकमल है वह भी गायत्रीरूप है। क्योंकि हृदयकमल में सम्पूर्ण प्राण स्थित हैं, और वे प्राण इस हृदयकमल को अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पृथिवी में पञ्च तत्त्व स्थित हैं उसी प्रकार पुरुष के शरीर में भी पञ्च तत्त्व स्थित हैं और जैसे पृथिवी गायत्रीरूप है वैसे ही यह शरीर भी गायत्रीरूप है। और जिस तरह गायत्री में सम्पूर्ण जीव रहते हैं उसी तरह इस शरीर के हृदयकमल में पाँचों प्राणों से विशिष्ट जीव स्थित रहता है ॥ ३ ॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः-पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नाति-शीयन्ते ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुष में जो यह शरीर है वही निश्चय करके यह गायत्री है और इस पुरुष में जो भीतर हृदयकमल है वह भी गायत्री है। क्योंकि इसी हृदयकमल में ये प्राण स्थित हैं, ये प्राण इस हृदयकमल को उल्लंघन नहीं कर सकते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो भी इस पुरुष में शरीररूप गायत्री है वह यही है जो कि इस मध्यवर्ती पुरुष में पुण्डरीकसंज्ञक हृदय है। यह गायत्री है क्योंकि इसी में प्राण प्रतिष्ठित हैं। इसलिए शरीर के समान हृदय ही गायत्री है, क्योंकि प्राण इस का भी उल्लंघन नहीं करते ॥ ४ ॥

विशेष—प्राण ही माता है, प्राण ही पिता है, प्राण ही की दया से सम्पूण इन्द्रियाँ जीती हैं, शरीर में प्राण ही मुख्य देवता है। "सम्पूर्ण प्राणियों की हिंसा न करते हुए" इत्यादि श्रुतियाँ होने के कारण प्राण भूत शब्द से वाच्य है और प्राण ही गायत्रीरूप है ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्य-नूक्तम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह यह गायत्री चार चरणोंवाली और छः प्रकार की है। वह यह गायत्री नामक ब्रह्म मन्त्रों द्वारा प्रकाशित किया गया है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो गायत्री कही गई है वह चार पादवाली है और छः प्रकार की है। अर्थात् वह एक मन्त्र है जिसमें छः प्रकार हैं, चार पाद हैं। वे छः प्रकार ये हैं—वाणी, प्राणी, पृथिवी, शरीर, हृदय और प्राण। यह गायत्री ब्रह्मरूप है, इसको ऐसा मन्त्र कहता है ॥ ५ ॥

विशेष—वाक् और प्राण का यद्यपि अन्य अर्थ में निर्देश किया गया है, तो भी वे गायत्री के प्रकार रूप से स्वीकृत किये जाते हैं। अन्यथा गायत्री के छः प्रकारों की संख्या पूर्ण नहीं हो सकती। इसी अर्थ में यह गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म है, जो गायत्री का अनुगत और गायत्री द्वारा ही प्रतिपादित है। मन्त्र से भी यही बात प्रकाशित की गई है ॥ ५ ॥

अब कार्य ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म का भेद वर्णन करते हैं, यथा—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥६॥

भावार्थ—जितना इस ब्रह्म का एक चरणरूप संपूर्ण भूत=स्थावर जंगमात्मक जगत् है उतना इस गायत्री का विस्तार है। और इस ब्रह्म का तीन चरणवाला अमृत=अविनाशी ब्रह्मरूप पुरुष दिवि=प्रकाशित बुद्धि में स्थित है, अतः उस गायत्री से पुरुष श्रेष्ठतर है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—जितनी कि चार पादवाली और ब्रह्म की षड्विध विकारभूत एक पाद गायत्री है, उतना ही विस्तार इस गायत्रीसंज्ञक सम्पूर्ण पाद विभागविशिष्ट ब्रह्म का है। सम्पूर्ण स्थावर जंगम भूत उस पुरुष का एक पाद है तथा समस्त गायत्रीरूप पुरुष का पुरुषसंज्ञक त्रिपाद अमृत प्रकाशस्वरूप स्वात्मा में स्थित है। इसलिए उस विकारभूत वाचारम्भण मात्र गायत्रीसंज्ञक ब्रह्म से परमार्थ सत्यस्वरूप निर्विकार पुरुष उत्कृष्टतर है ॥ ६ ॥

विशेष—जो संपूर्ण जगत् को पूरित करनेवाला है तथा शरीररूप पुर में शयन करनेवाला है उसको पुरुष कहते हैं ॥ ६ ॥

अब तीन मन्त्रों से भूताकाश, देहाकाश और हृदयाकाश का अभेद दिखलाते हैं और इन तीनों का व्याख्यान भी एक साथ ही करते हैं, यथा—

यद्वै तद् ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥ अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो यह तीन पादवाला ब्रह्मरूप पुरुष है वह यही है जो कि यह पुरुष से बाहर आकाश है। और जो भी यह पुरुष से बाहर आकाश है वह यही है जो कि यह पुरुष के अन्दर आकाश है। तथा जो भी यह पुरुष के अन्दर आकाश है वह यही है जो कि हृदय के भीतर आकाश है। वह यह हृदयाकाश

पूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला है। जो पुरुष ऐसा जानता है वह पूर्ण और कहीं प्रवृत्त न होनेवाली सम्पत्ति को प्राप्त करता है ॥ ७-८-९ ॥

वि० वि० भाष्य—जो आकाश पुरुष के भीतर है वही पुरुष के हृदय में है, अतः आकाश व्यापक है। संपूर्ण छोटी तथा बड़ी वस्तुओं में आकाश एकरस स्थित है, कोई स्थान या वस्तु या प्राणी नहीं है जिसमें आकाश व्यापक न हो। आकाश तीन प्रकार का है, पहला बाह्याकाश, दूसरा शरीराकाश, तीसरा हृदयाकाश है। जाग्रत् अवस्था में बाहर का आकाश जीव को सहायता देता है, बिना इस आकाश के इन्द्रियाँ काम नहीं देती हैं अर्थात् पदार्थ के ज्ञान में समर्थ नहीं होती हैं। यह अवस्था दुःखरूप है। स्वप्नावस्था में शरीराकाश जीव को सहायता देता है अर्थात् इसी आकाश के द्वारा पुरुष अनेक सृष्टि की रचना करके विलास करता है। यह अवस्था भी दुःखद है। सुषुप्ति अवस्था में हृदयाकाश के द्वारा पुरुष आनन्द को प्राप्त होता है। यह अवस्था आनन्द को देनेवाली है, क्योंकि इस में अन्तःकरण, मन, बुद्धि और अहंकार का लय रहता है। जैसे अन्य परिच्छिन्न भूत विनाश धर्मवाले हैं वैसे यह हृदयाकाश विनाशी नहीं है। जो पुरुष इस प्रकार उपरोक्त पूर्ण और अविनाशी ब्रह्म को जानता है, वह पूर्ण और कभी नष्ट न होनेवाली श्री को प्राप्त करता है। यानी इसी लोक में जीवित रहते हुए ही तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है ॥ ७-८-९ ॥

विशेष—जैसे स्थान की स्तुति के लिए ऐसा कहा जाता है कि तीनों लोकों में कुरुक्षेत्र उत्कृष्ट है, वैसे ही पुरुष के बहिःस्थित आकाश से लेकर जो हृदयदेश में आकाश का संकोच किया गया है वह चित्त की एकाग्रता के स्थान की स्तुति के लिए ही कहा गया है ॥ ७-८-९ ॥

त्रयोदश खण्ड

हृदयान्तर्गत पूर्व सुषिभूत प्राण की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

भावार्थ—इस प्रसिद्ध हृदयकमल के पाँच देवसुषि=देवद्वार हैं। इस हृदयकमल का जो वह पूर्व तरफ का द्वाराधिष्ठातृ देव है वह प्राणदेव है। वही चक्षु है और वही आदित्य है, वही यह तेज और अन्नाद्य बल को देनेवाला है। इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार उपासना करता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस प्रकृत हृदय के, जिस का अव्यवहित पूर्व में ही वर्णन किया गया है, पाँच पाँच संख्यावाले देवताओं के सुषि अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वारभूत पाँच छिद्र हैं। वे प्राण और सूर्य आदि देवगणों से सुरक्षित हैं, अतः देवसुषि कहलाते हैं। उस इस पूर्वाभिमुख हृदय का जो पूर्वदिशावर्ती छिद्र है वह प्राण है जो उस हृदय में ही स्थित है। उस प्राण ही से सम्बद्ध और अभिन्न चक्षु और सूर्य है। वह यह प्राणाख्य ब्रह्म स्वर्गलोक का द्वारपाल है, इसलिए स्वर्गप्राप्ति का इच्छुक पुरुष 'यह चक्षु और सूर्यरूप से तथा अन्नाद्यरूप से आदित्य का तेज और अन्नाद्य है' इस प्रकार इन दोनों गुणों से इस की उपासना करे। इस से वह तेजस्वी और रोगादि रहित होता है। उपासक के लिए यह गौण फल कहा गया है, प्रधान फल तो यह है कि उपासना द्वारा अपने वश में किया हुआ वह द्वारपाल स्वर्गलोक प्राप्ति का हेतु होता है॥ १॥

विशेष—प्राण वायुरूप एक ही देवता एक ही आश्रय में स्थित होने के कारण चक्षु और सूर्य नाम से कहे जाते हैं। 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दिया हुआ हवि नेत्रादि समस्त इन्द्रियों की तृप्ति करता है॥ १॥

अब हृदयान्तर्गत दक्षिण सुषिभूत व्यान की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद॥ २॥

भावार्थ—इस हृदयकमल के दक्षिण तरफ का द्वाराधिष्ठातृदेव वह व्यान वायु है, वही कर्ण है, वही चन्द्रमा है, वही यह श्री और कीर्ति है। इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार उपासना करता है वह श्रीमान् तथा कीर्तिमान् होता है॥ २॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस हृदयकमल का जो दक्षिण छिद्र है उस का अधिष्ठातृदेव व्यान वायु है। उस से सम्बद्ध जो कर्ण है वह इन्द्रिय है तथा उसी से

सम्बद्ध वह चन्द्रमा है। जैसा कि "विराट् के श्रोत्र द्वारा दिशा और चन्द्रमा रचे गये हैं" इस श्रुति से सिद्ध होता है। पूर्ववत् (नेत्र और सूर्य के समान) ये भी एक ही आश्रयवाले हैं। वह यह (व्यानसंज्ञक ब्रह्म) श्री अर्थात् विभूति है। कर्ण तथा चन्द्रमा क्रमशः ज्ञान और अन्न के कारण हैं, अतः उन के द्वारा व्यान वायु का श्रीत्व है। ज्ञानवान् और अन्नवान् की कीर्ति यानी प्रसिद्धि होती है। इसलिए कीर्ति का कारण होने से उस की कीर्तिरूपता है। इसलिए श्रीत्व और कीर्तिरूपत्व इन दो गुणों से युक्त व्यानवायु की उपासना करे। जो इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है वह श्रीमान् तथा यशस्वी होता है॥ २॥

विशेष—इस हृदयकमल के दक्षिण छिद्र में स्थित जो वायुविशेष है वह वीर्यवान् कर्म करता हुआ गमन करता है। अथवा वह प्राण और अपान से विरोध करके या नाना प्रकार से गमन करता है, अत एव उस को व्यान कहते हैं॥ २॥

अब हृदयान्तर्गत पश्चिम सुषिभूत अपान की उपासना का वर्णन करते हैं, जैसे—

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ ३॥

भावार्थ—इस हृदयकमल के पश्चिम तरफ का जो द्वार है उस का अधिष्ठातृदेव अपान वायु है। वही वाणी है, वही अग्नि है, वही ब्रह्मतेज और बल है; इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार उपासना करता है वह ब्रह्मतेजस्वी और भोजन शक्तिवाला होता है॥ ३॥

(इस मन्त्र का भाष्य पूर्व मन्त्र के भाष्य के समान है।)

विशेष—इस हृदयकमल के पश्चिम छिद्र में स्थित जो वायुविशेष है वह मल मूत्रादि को दूर करता हुआ नीचे की तरफ ले जाता है, अतः उस को अपान कहते हैं। और वही वाणी और अग्नि है, कारण यह है कि इन का उस (समष्टि अपान) से सम्बन्ध है। वह यह ब्रह्मतेज है, सदाचार और स्वाध्याय से होनेवाले तेज का नाम ब्रह्मवर्चस है, क्योंकि सदाचार और स्वाध्याय अग्नि से सम्बद्ध हैं। अन्न निगलने में कारण होने से अपान में अन्नभोक्तृत्व माना गया है॥ ३॥

हृदयान्तर्गत उत्तर सुषिभूत समान की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स

पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस हृदयकमल के उत्तर तरफ का जो द्वार है उस का अधिष्ठातृदेव समान वायु है, वही मन है, वही मेघ है, वही यश और व्युष्टि=शरीर की सुन्दरता है; इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार उपासना करता है वह कीर्तिमान् और कान्तिवाला होता है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—समान वायु से सम्बन्ध रखनेवाला अन्तःकरण और वृष्टिदेव है, क्योंकि "विराट् पुरुष के मन से जल और वरुण रचे गये हैं" इस श्रुति के अनुसार जल मेघ ही से होनेवाले हैं। और यह समानसंज्ञक ब्रह्म ही यश है, क्योंकि मन अर्थात् ज्ञान ही यश का कारण है। अपने पीछे जो प्रसिद्धि होती है उसे यश कहते हैं। जो प्रसिद्धि अपनी इन्द्रियों से गृहीत की जा सकती है उसे कीर्ति कहते हैं। व्युष्टि शरीरगत लावण्य को कहते हैं। उस से भी यश उत्पन्न होता है, इसलिए यह भी यश ही है। शेष अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए ॥४॥

विशेष—इस हृदयकमल के उत्तर छिद्र में स्थित जो वायुविशेष है वह खाये पीये अन्न जल को समान रूप से सम्पूर्ण देह में ले जाता है, अतः इसे समान कहते हैं ॥ ४ ॥

अब हृदयान्तर्गत ऊर्ध्व सुषिभूत उदान की उपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस हृदयकमल के ऊपर का जो द्वार है, उस का अधिष्ठातृदेव उदान वायु है, वही मुख्य प्राण है, वही आकाश है, वही यह ओज है और तेज है; इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार उपासना करता है वह बलवान् और तेजस्वी होता है ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उदान वायु और उस का आधारभूत आकाश ये दोनों ओज के कारण हैं, इसलिए यह उदानसंज्ञक ब्रह्म ही बल है और महत्ता का हेतु होने से महः भी है। शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ ५ ॥

विशेष—इस हृदयकमल के ऊर्ध्व छिद्र में स्थित जो वायुविशेष है वह पैर के तलुए से लेकर ऊपर की ओर उत्क्रमण करने के कारण उत्कर्ष के लिए कर्म करता हुआ चेष्टा करता है। अतः उस को उदान कहते हैं॥ ५॥

अब उपरोक्त प्राणादि द्वारपालों की उपासना का फल कहते हैं, यथा—

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद॥ ६॥

भावार्थ— ये पाँचों ब्रह्मपुरुष निश्चय करके स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल इन पाँच ब्रह्मपुरुषों को ऊपर कही हुई रीति से जानता है उस के कुल में वीर पुरुष पैदा होता है। तथा जो इस प्रकार स्वर्गलोक के द्वारपाल इन पाँच पुरुषों को जानता है वह स्वयं स्वर्गलोक को प्राप्त होता है॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—द्वारस्थ राजपुरुषों के समान ये पाचों ब्रह्मरूपी प्राणादि पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जैसे मनुष्य सेवादिकों से राजपुरुषों को प्रसन्न करके उन से अनिवारित होता हुआ राजा को प्राप्त होता है, वैसे ही जो कोई पुरुष उपरोक्त द्वारपालों की उपासना करता है अर्थात् उपासना द्वारा अपने वश में कर लेता है वह इन से निवारित न होता हुआ स्वर्गलोक अर्थात् हृदयस्थित ब्रह्म को प्राप्त होता है। तथा वीर पुरुष की उपासना करने से इस उपासक के कुल में वीर पुत्र पैदा होता है। वह पुत्र पितृऋण की निवृत्ति करके उसे ब्रह्म की उपासना में प्रवृत्त करने का कारण होता है, इसलिए वह परंपरया उस की स्वर्गलोकोपलब्धि का भी हेतु होता है, अतः स्वर्गलोकोपलब्धि ही इस का एकमात्र फल है॥ ६॥

विशेष—पाँच छिद्रों के संबन्ध के कारण हृदयस्थ ब्रह्म के पाँच पुरुष हैं, यानी द्वारस्थ राजपुरुषों के समान हृदयस्थ स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन और प्राणों के द्वारा बाहर की ओर प्रवृत्त हुए इन्हीं के कारण हृदयस्थित ब्रह्म की प्राप्ति के द्वार रुके हुए हैं। यह बात प्रत्यक्ष ही है कि अजितेन्द्रियता के होने से बाह्य विषयों की आसक्तिरूप अनृत से व्याप्त रहने के कारण मन हृदयस्थित ब्रह्म में स्थित नहीं होता। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं॥ ६॥

यह उपासक वीर पुरुष की उपासना करने से जिस स्वर्गलोक को प्राप्त होता है तथा जिस स्वर्गलोक का 'इस के तीन पाद अमृत द्युलोक में हैं' इस प्रकार वर्णन किया गया है, उसी को अब अनुमापक लिङ्ग से नेत्र तथा कर्णेन्द्रिय का विषय बनाना है। जैसे कि धूमादि लिङ्ग से वह्नि आदि का अनुमान किया जाता है। ऐसा होने पर ही उपरोक्त वस्तु के विषय में 'यह ऐसा ही है' ऐसी दृढ़ प्रतीति हो सकती है और इसी प्रकार उस का अभेदरूप से निश्चय भी हो सकता है। अतः अब भगवती श्रुति हृदयस्थित मुख्यब्रह्म की उपासना का वर्णन करती है, यथा—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्य ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस के बाद जो यह अन्तर् ज्योति है वह संसार से ऊपर स्वर्ग से आगे अर्थात् सब के ऊपर अतिउत्तम श्रेष्ठ से श्रेष्ठ लोक सत्य लोक आदिकों में है, वही यह निश्चय करके पुरुष के हृदयकमल में स्थित है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—मन्त्रोक्त 'विश्वतः पृष्ठेषु' इस पद की व्याख्या 'सर्वतः पृष्ठेषु' ये पद हैं, याने संसार से ऊपर, क्योंकि संसार ही सब है, असंसारी ब्रह्म तो एक और भेदरहित है। अतः अन्तिम तात्पर्य यह हुआ कि नित्य प्रकाशमान होने से स्वयंप्रकाश जो ज्योति स्वर्ग से ऊपर चमकती है तथा जो सब से ऊपर है और अति उत्तम श्रेष्ठातिश्रेष्ठ लोकों में स्थित है, जो क्रमशः चक्षु और श्रोत्र से ग्रहण किए जाने योग्य उष्णता और शब्दरूप लिङ्ग से जानी जाती है, त्वचा द्वारा स्पर्शरूप से जिस का ग्रहण किया जाता है, उस वस्तु का मानो नेत्र से ही ग्रहण होता है, क्योंकि त्वचा तो केवल उस की दृढ़ प्रतीति करानेवाली है, तथा रूप और स्पर्श ये एक दूसरे के बिना रह भी नहीं सकते। यही ऊपर वर्णित ज्योति इस पुरुष के हृदयकमल में विराजमान है ॥ ७ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्रोक्त 'अनुत्तमेषु' इस पद में जो उत्तम न हो, ऐसा अर्थ करके होनेवाली तत्पुरुष समास की शंका को निवृत्त करने के लिए 'उत्तमेषु लोकेषु' ऐसा कहा है। सत्यलोकादि में हिरण्यगर्भादि कार्यरूप ब्रह्म समीप रहता है, अतः उसके विषय में 'उत्तमेषु लोकेषु' ऐसा कहा गया है ॥ ७ ॥

उस ज्योति का अनुमापक लिङ्ग त्वगिन्द्रिय की विषयता को किस तरह प्राप्त होता है? इस विषय में श्रुति भगवती कहती है, यथा—

एषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥८॥

भावार्थ—उस (हृदयस्थित पुरुष) का यही दर्शनोपाय है जब कि मनुष्य इस शरीर में स्पर्श करके उष्णता को जानता है। तथा यही उस का श्रवणोपाय है जब कि मनुष्य दोनों कानों को हाथ से दबाकर रथ के शब्द के समान, बैल के शब्द के समान और जलती हुई अग्नि के समान शब्द को सुनता है। उसी इस दृष्ट तथा श्रुत पुरुष की इस प्रकार उपासना करे। जो उपासक उस की इस प्रकार उपासना करता है वह दर्शनीय और विख्यात होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—जो चैतन्यात्मज्योति इस पुरुष के हृदयकमल में स्थित है वही नेत्र में भी स्थित है। मनुष्य शरीर के उष्णस्पर्श के द्वारा उस को जानता है। उसी से शरीर की उष्णता का ज्ञान होता है। इसी लिए जब तक मनुष्य के शरीर में उष्णता रहती है तभी तक मनुष्य जीवित रहता है। जब इस शरीर में स्थित पुरुष सुनने की इच्छा करता है तब दोनों कानों को हाथ से दबाकर रथशब्द, बैलशब्द और अग्निशब्द की तरह सुनता है। इस प्रकार सुननेवाले व देखनेवाले पुरुष की उपासना करे। जो पुरुष इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है वह दर्शनीय तथा प्रसिद्ध होता है ॥ ८ ॥

विशेष—इस शरीर में हाथ से स्पर्श करके उस स्पर्श द्वारा रूप के साथ रहनेवाली उष्णता को जाना जाता है, वह उष्णिमा ही नाम रूप का विभाग करने के लिए शरीर में अनुप्रविष्ट हुए चैतन्यात्मज्योति का अनुमान करानेवाला लिङ्ग है, क्योंकि उस का व्यभिचार कभी नहीं होता। जीवित शरीर को उष्णता कभी नहीं छोड़ती। जीवित रहनेवाला उष्ण ही होता है और मरनेवाला शीत होता है। मरण काल में तेज परदेवता में लीन हो जाता है, इसलिए धूम जैसे अग्नि का अनुमापक है वैसे ही उष्णता जीवन का असाधारण हेतु है। अतः उस परदेवता की यह दृष्टि साक्षात् दर्शन के समान उस के दर्शन का साधन है।

विद्वज्जनों ने इस प्रकरण का भाव इस प्रकार वर्णन किया है कि जगत् में सूर्य इस समग्र जंगम और स्थावर का जीवन है। पर वास्तव में सूर्य भी अपने भीतर

एक ओर सूर्य रखता है, जिस से उस का जीवन है और जिस की ज्योति से वह चमक रहा है। वही ज्योति सारे विश्व से ऊँची है और अखिल विश्व को घेरे हुए है, वह सारे विश्व का असली जीवन है। जीवनरूप में वह सर्वत्र प्रतीत होता है, 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति' जिस की महिमा इस सारे विश्व पर चमक रही है, हमारा जीवन भी उस की महिमा से भरा हुआ है। हम बाहर ही क्यों देखें, हमारे जीवन में क्या उस की कुछ कम महिमा है ? यदि सूर्य में उस महती सत्ता के चिह्न विद्यमान हैं तो हमारे अन्दर भी, हमारी बनावट में भी, हमारे जीवन में भी उस के चिन्ह स्पष्ट प्रकट हैं। क्योंकि वह जीवन का जीवन है, हमारे शरीर में जीवन का चिह्न जो गरमी है वह तथा कान बन्द करने से जो अन्दर ध्वनि सुनाई देती है और जो मृत्यु के निकट होने पर सुनाई नहीं देती वह उसी ज्योति के चिह्न हैं जो इस यन्त्रालय को चला रही है।

हमारे अन्दर के कारखाने में हमारा जीवन बनता रहता है, पर उस के विषय में हम कोरे अनभिज्ञ हैं, बनानेवाला कोई और ही है। यह उसी के सुप्रबन्ध का फल है कि कारखाने को इन्धन की आवश्यकता होती है तो हमें भूख लग जाती है। यह सुप्रबन्ध कहाँ से हो रहा है ? इस कारखाने को कौन चला रहा है ? यह वही ज्योति का ज्योति है जो सब के ऊपर विराजता है और यहाँ हमारे हृदय में विराजमान है। अत एव चलते हुए कारखाने की आवाज, जो इस में अनाहत शब्द हो रहा है और अनवरत जारी है यह उसी का शब्द है। और यह गर्मी जो जीवित रहने का चिह्न है. उसी का चिह्न है। ये कितने अकाट्य प्रमाण हैं, जो हमारे अस्तित्व के भीतर उस की सत्ता को सिद्ध कर रहे हैं॥ ८॥

चतुर्दश खण्ड

प्रतीक द्वारा ब्रह्म की उपासना को कहकर अब प्रतीक को छोड़कर सगुण ब्रह्म की उपासना को कहते हैं, यथा—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ १ ॥

भावार्थ—यह सम्पूर्ण जगत् अवश्य ब्रह्म ही है, यह उसी से पैदा होनेवाला, उसी में लीन होनेवाला और उसी में चेष्टा करनेवाला है; इस प्रकार शान्त होकर उपासना करे। क्योंकि पुरुष अवश्य ही क्रतुमय है, इस संसार में मनुष्य जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँ से मरकर जाने पर होता है। इसलिए उसे निश्चय करना चाहिए ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस से जगत् की उत्पत्ति होती है, जिस में जगत् का लय होता है, तथा जिस के द्वारा जगत् का पालन पोषण होता है, ऐसा यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषयभूत जगत् ब्रह्म है। वृद्धतम [सब से बड़ा] होने के कारण वह [जगत् का कारण] ब्रह्म कहलाता है। ऐसा जानकर शान्त रागद्वेषरहित होता हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे। अथ खलु= क्योंकि बुद्धिविशिष्ट पुरुष यथाक्रतु=जिस प्रकार के अध्यवसाय अर्थात् निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँ से, इस देह से प्रेत्य=मरकर फिर इस लोक में पैदा होता है। ऐसा विश्वास (निश्चय) उपासक करे ॥ १ ॥

विशेष—मनुष्य अपनी वासना के अनुसार इस लोक में जीता है और वैसे ही अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष इस में मरकर भी इस लोक में उत्पन्न होता है। इसी बात को श्री कृष्णचन्द्र ने गीता में अर्जुन के प्रति उपदेश रूप से कहा है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

मनुष्य जिस जिस भाव को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर त्यागता है, हे अर्जुन! उस भाव से भावित मनुष्य उसी उसी भाव को प्राप्त होता है।

मनुष्य को उचित है कि जब ब्रह्म की उपासना करे तब इस भाव को दृष्टि में रखे कि उसी ब्रह्म से ये सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी में चेष्टा करते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण ब्रह्म को समझकर उपासना करे। यह अभेदोपासना का प्रकार है। भाव यह है कि उपासना-काल में जिज्ञासु को उचित है कि वह ब्रह्म से भिन्न कोई दृष्टि न करे। क्योंकि एकमात्र ब्रह्माकारवृत्ति से जब जीव उपासना करता है तो उस का चित्त इतस्ततः न जाकर एकमात्र ब्रह्म में ही स्थित रहता है। इस अभिप्राय से यहाँ शमविधिरूप से उपासना कथन की गई है। मन को एकमात्र परमात्मपरायण करना शमविधि है। यह सम्पूर्ण जगत् तीनों कालों में ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अतः मुख्य समानाधिकरण

से यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है। उत्पत्ति, स्थिति तथा नाशवाला होने से ब्रह्म विकारी हो जायगा ? ऐसी शंका नहीं बनती। क्योंकि यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है। रज्जू में सर्प की तरह ब्रह्म ही जगत्‌रूप से प्रतीत हो रहा है। सर्प की प्रातिभासिक सत्ता होती है, वास्तविक तो रस्सी है। इसी प्रकार वस्तुतः सब कुछ ब्रह्म ही है, यह प्रपञ्च तो प्रतिभासमान हो रहा है॥ १॥

किस प्रकार ब्रह्म का निश्चय करना चाहिए ? सो कहते हैं, यथा—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः॥ २॥

भावार्थ—वह ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाशशरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस अखिल संसार को सब तरफ व्याप्त करनेवाला, वाग्रहित और संभ्रमशून्य है॥ २॥

वि॰ वि॰ भाष्य—मनोमय = जो बुद्धि से भरा है अर्थात् सर्वज्ञ है, प्राणशरीर = सर्वशक्तिमान् है, भारूप = चैतन्य ही जिस का रूप है, जिस का संकल्प कभी झूठा नहीं होता; ऐसा वह ब्रह्म है। अभिप्राय यह है कि संसारी पुरुष के समान ईश्वर का संकल्प व्यभिचारी फलवाला नहीं है। संसारी जीव का संकल्प मिथ्याफलरूप हेतु से वृद्धि को प्राप्त होने के कारण मिथ्याफलवाला होता है। वह आकाश के समान व्यापक है। सर्वगतत्व, सूक्ष्मत्व और रूपादिहीनत्व; यह ईश्वर की आकाशतुल्यता है। जो कर्मरूप संपूर्ण जगत् का निर्माणकर्ता है सम्पूर्ण दोषरहित जिस की इच्छा है, जिस में समस्त सुखकर गन्ध भरे हैं, जिस में सम्पूर्ण रस भरे हैं, ऐसा वह ब्रह्म पुण्य गन्ध तथा पुण्य रस से परिपूर्ण है। अपुण्य गन्ध रसादि का उस में लेश भी नहीं है, क्योंकि अपुण्य गन्ध और रस का ग्रहण तो पापसम्बन्ध के निमित्त से होता है और ईश्वर का पाप से सम्बन्ध ही नहीं है। क्योंकि पाप अविद्यादि दोष से होता है और ईश्वर में उस अविद्यादि दोष का होना बिल्कुल असंभव है। वह इस समस्त जगत् को चारों तरफ से व्याप्त किये हुए है। श्रुति में गन्ध और रसादि का प्रसंग होने से उन गन्धादि का ग्रहण करने के लिए ईश्वर में घ्राणादि इन्द्रियों का होना जरूरी है, इसलिए वाणी के प्रतिषेध द्वारा उन समस्त इन्द्रियों का प्रतिषेध किया गया है। जैसा कि "बिना हाथ पाँव का ही वह वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है तथा बिना चक्षु का होकर भी देखता है और बिना श्रोत्र

का होकर भी सुनता है” इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। उस को नित्यतृप्त होने के कारण किसी विषय की इच्छा नहीं है ॥ २ ॥

विशेष—मनोमय का अर्थ है मनःप्राय, जिस के द्वारा जीव मनन करते हैं उसे मन कहते हैं, वह अपनी वृत्ति द्वारा विषयों में प्रवृत्त हुआ करता है। उस मन के कारण वह मनोमय है, इसलिए पुरुष मनःप्राय होकर मन के प्रवृत्त होने पर प्रवृत्त सा होता है और निवृत्त होने पर निवृत्त सा हो जाता है। अतः वह प्राणशरीर है, “जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है” इस श्रुति के अनुसार विज्ञान और क्रिया इन दो शक्तियों से मिलकर बना हुआ लिङ्गशरीर ही प्राण है। वह प्राण जिस का शरीर है उसे प्राणशरीर कहते हैं ॥ २ ॥

अब ‘ब्रह्म छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है’ इस बात को भगवती श्रुति कहती है, यथा—

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

भावार्थ—हृदयकमल के अन्दर यह मेरा आत्मा धान, जौ, सरसों, साँवा अथवा साँवा के चावल से भी छोटा है, तथा हृदयकमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, आकाश, स्वर्गलोक या सम्पूर्ण लोकों से बड़ा है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त गुणविशिष्ट, हृदयकमल के भीतर रहनेवाला मेरा आत्मा यवादि से भी सूक्ष्मतर है; यह कथन आत्मा की अत्यन्त सूक्ष्मता प्रदर्शित करने के लिए है। वह आत्मा साँवा के चावल से भी सूक्ष्म है, इस तरह परिच्छिन्न परिमाण से सूक्ष्म बतलाने पर उस का अणुपरिमाणत्व प्राप्त हो जाता है। उस का प्रतिषेध करने के लिए “यह मेरा आत्मा पृथिव्यादिक से भी बड़ा है” यह कहा गया है ॥ ३ ॥

विशेष—इस प्रकार स्थूलतर पदार्थों की अपेक्षा भी उस आत्मा की महत्ता दिखलाकर भगवती श्रुति ‘मनोमयः’ यहाँ से लेकर ‘ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः’ यहाँ तक के ग्रन्थ द्वारा उस का अनन्त परिणामत्व दिखलाती है ॥ ३ ॥

अब हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्म की एकता का वर्णन करते हैं, यथा—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो सब कर्मों के करनेवाला है, सब कामनाओं से पूर्ण है, सब रसों से भरा हुआ है, जिस से सारा जगत् व्याप्त हो रहा है तथा जो इन्द्रियादिकों से रहित है, ऐसा ब्रह्म मेरे हृदयकमल में स्थित है। उसी ब्रह्म को मैं शरीर त्यागने के बाद प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिस उपासक का निश्चय है, और जिसे इस विषय में कोई सन्देह भी नहीं है, उसे ईश्वरभाव की प्राप्ति होती है, ऐसा शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है, शाण्डिल्य ऋषि ने कहा है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—'सर्वकर्मा' यहाँ से लेकर 'एष म आत्मान्तर्हृदये' यहाँ तक के मन्त्र का व्याख्यान पूर्ववत् है। शेष वाक्य का व्याख्यान इस तरह है—मैं मरकर अन्तर्हृदयस्थ सर्वकर्मादि गुणविशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त होऊँगा, इन शब्दों द्वारा ब्रह्म और आत्मा के कर्मत्व और कर्तृत्व का निर्देश किया गया है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि जैसे छठे तथा सातवें अध्यायों में श्रुति ने "तत्त्वमसि" "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा साधक को स्वाराज्य पर अभिषिक्त किया है वैसे वह श्रुति यहाँ नहीं करती, षष्ठाध्यायोक्त "अथ संपत्स्ये" [देह त्याग के बाद मैं सत्स्वरूप हो जाऊँगा] यह श्रुति प्रारब्धकर्मजनित संस्कारों की समाप्ति पर्यन्त जीव की स्थिति बतलाने के लिए है, इस का तात्पर्य सत्स्वरूप होने पर काल का व्यवधान प्रदर्शित करने में नहीं है ॥ ४ ॥

विशेष—यहाँ उपास्यरूप से सगुण ब्रह्म ही अभिप्रेत है निर्गुण ब्रह्म नहीं। क्योंकि पूर्वोक्त गुणविशिष्ट ईश्वर का ही ध्यान करना चाहिए। जैसे 'राजपुरुष को लाओ' इस प्रकार कहे जाने पर उस के विशेषण राजा को लाने की चेष्टा नहीं की जाती, वैसे ही यहाँ भी निर्गुण ब्रह्म ही उपास्यरूप से प्राप्त होता था, अतः उस की निवृत्ति के लिए 'सर्वकर्मा' इत्यादि विशेषणों को पुनः कहा गया है। इसलिए मनोमयत्वादि गुणों से युक्त ईश्वर का ही ध्यान करना चाहिए।

भाव यह है कि समस्त कर्म, कामनाएँ, सुगन्ध और रस उस के हैं, वह सब

को घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं, वह बेपरवाह है। वह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर है। यह ब्रह्म है, इस को मैं यहाँ से मरकर प्राप्त होऊँगा। ऐसा जिस का पूरा विश्वास है, और कोई सन्देह नहीं है वह उसे पा लेता है। यह कथन शाण्डिल्य ऋषि का है। इस खण्ड के विज्ञान को शाण्डिल्यविद्या कहते हैं। इसी से मन्त्र में शाण्डिल्य शब्द आदर के लिए दो बार कहा गया है ॥ ४ ॥

पञ्चदश खण्ड
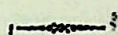
'इसके कुल में वीर पुत्र पैदा होता है' ऐसा पहले कहा गया है। परन्तु वीर पुत्र की उत्पत्ति मात्र ही पिता की रक्षा का हेतु नहीं हो सकती, इसलिए पुत्र की दीर्घायुष्य की सिद्धि के लिए कोशविज्ञान का वर्णन करते हैं यथा—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥ १ ॥

भावार्थ—आकाश जिसका उदर है, पृथिवी जिसका पेंदा है वह कोश जीर्ण या नष्ट नहीं होता। दिशायें इसके कोण हैं, आकाश ऊपर का छिद्र है, वही यह कोशरूपी वसुधान भंडार है, उसी कोश में यह सम्पूर्ण विश्व स्थित है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस विराट् पुरुष का उदर=अन्तःछिद्र आकाश है। यह भूमिबुध्न=पृथिवीरूप मूलवाला है अर्थात् पृथिवी इसका पाद है। इसके चारों कोने दिशायें हैं अर्थात् हाथ हैं, इसके ऊपर का छिद्र यानी ब्रह्मरंध्र स्वर्ग है, इस प्रकार का यह भंडार है जिसमें समस्त जगत् स्थित है। जो अनेक धर्मों में सादृश्य रखने के कारण कोश के समान कोश है, वह त्रैलोक्यरूप होने से नाश को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह तो सहस्र युगकाल पर्यन्त रहनेवाला है ॥ १ ॥

विशेष—वह कोश वसुधान है याने उसमें प्राणियों के कर्मफलसंज्ञक वसु का आधान किया जाता है। अभिप्राय यह है कि उस कोश के भीतर ही प्राणियों का समस्त कर्मफल, जिसका कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण किया जाता है, अपने साधनों के सहित स्थित है। यों समझना चाहिये कि यह त्रिलोकी एक

सन्दूक है, जिसका निचला तल पृथिवी है, ऊपर का ढकना द्यौ है, और पेट अन्तरिक्ष है तथा मनुष्यों के कर्म, साधन और फलों का खजाना इसमें भरा हुआ है ॥ १ ॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम् ॥ २ ॥

भावार्थ—उसकी पूर्व दिशा 'जुहू' नाम की है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नाम की है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है और उत्तर दिशा 'सुभूता' नामवाली है। उन दिशाओं का पवन लड़का है। जो इस पवन को उपरोक्त रीति से दिशाओं का लड़का जानता है, वह सुतमरणनिमित्तक रोदन नहीं करता है। वह पुत्रजीवितार्थी समझता है कि मैं इस ऊपर कहे हुए प्रकार से पवन को दिशाओं का लड़का जानता हूँ, अतः मैं पुत्रमरणनिमित्तक रोदन न करूँ ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—इस विराट् पुरुष की पूर्व दिशा जुहू है, उस दिशा की ओर मुख करके यजमान यज्ञ करता है, अतः वह जुहू नामवाली है। दक्षिण दिशा सहमाना नाम यमपुरी है, जिसमें जीव अपने पापकर्मों के फल भोगते हैं। पश्चिम दिशा राज्ञी है क्योंकि इसमें वरुण देव वास करता है या सायंकालीन लालिमा से योग भी इसी दिशा के साथ होता है। उत्तर दिशा सुभूता है जिसमें धनेश कुबेर रहता है। इन चारों दिशाओं का पुत्र वायु है, क्योंकि इन चारों दिशाओं से वायु उत्पन्न होता है। अतः जो उपासक इस वायु को दिशाओं का पुत्र जानता है वह पुत्रमरणनिमित्तक रोदन नहीं करता है, अर्थात् उसका पुत्र दीर्घायु होता है और उसको पुत्रशोक नहीं होता। उपासक की कामना है कि मैं इस रीति से वायु को दिशाओं का पुत्र जानता हूँ अतः मुझे पुत्र के लिए रोने का प्रसङ्ग प्राप्त न हो ॥ २ ॥

विशेष—जो मनुष्य दिशाओं के ज्ञानपूर्वक वायु के गुणों को जानता है, अर्थात् जो प्राण, अपान, समानादि वायुओं के निरोधपूर्वक प्राणायाम की विधि का पूर्ण प्रकार से ज्ञाता है, वह बड़ा बलवान्, तेजस्वी और पूर्ण आयु का भोगनेवाला होता है। तथा ऐसे पुरुष की सन्तान चिर काल तक जीवित रहती है, याने

पूर्ण आयु को प्राप्त होती है, उसके सन्मुख मृत्यु को प्राप्त होकर रुलानेवाली नहीं होती। इस विषय में महात्माओं का कथन है कि हमें वायुसम्बन्धी गुणों को भले प्रकार जानकर अनुष्ठान करने से ऐसा ही लाभ हुआ है। अन्य भी जो वायु के गुणों को जानेंगे, उनको भी ऐसा ही लाभ होगा। अर्थात् वे और उनकी सन्तति पूर्ण आयु को प्राप्त होंगे। प्रकृत में वायु को दिशाओं का वत्स इसलिए कहा गया है कि जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता की गोद में आश्रय लेता है, उसी तरह वायु भी दिशाओं का आश्रय लेकर स्वच्छन्द होकर विचरता है ॥ २ ॥

अब उपासक के उच्चारण करने योग्य मन्त्र को कहते हैं, यथा—

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥ ३ ॥

भावार्थ—मैं अमुक अमुक अमुक के सहित अविनाशी कोश की शरण हूँ, अमुक अमुक अमुक के सहित प्राण की शरण हूँ, अमुक अमुक अमुक के सहित भूः की शरण हूँ, अमुक अमुक अमुक के सहित भुवः की शरण हूँ और अमुक अमुक अमुक के सहित स्वः की शरण हूँ ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पुत्र की दीर्घायु के लिए मैं पूर्वोक्त अरिष्ट=अविनाशी त्रैलोक्यात्मक कोश की शरण हूँ, इसी लिए मुख्य प्राण की शरण हूँ, इसी निमित्त मैं भूर्लोक अधिष्ठात्री देवता की शरण हूँ, इसी निमित्त भुवर्लोक अधिष्ठात्री देवता की शरण हूँ, और इसी लिए स्वर्लोक की अधिष्ठात्री देवता की शरण हूँ ॥ ३ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में जहाँ जहाँ 'अमुक' शब्द आया है वहाँ वहाँ अपने पुत्र के नाम का उच्चारण करना चाहिए। 'अमुना अमुना अमुना' इसका यह तात्पर्य है कि तीन तीन वार पुत्र का नाम लेना चाहिये ॥ ३ ॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इद ꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि ॥ ४ ॥

भावार्थ—'मुख्य प्राण की मैं शरण हूँ' इस प्रकार जो मैंने कहा उस का तात्पर्य यह है कि जो कुछ स्थावर जंगम जगत् है वही प्राण है, उसी सर्वात्मक प्राण की मैं शरण हूँ ॥ ४ ॥

(यहाँ से लेकर सातवें मन्त्र तक का भाष्य विशेष एक साथ ही लिखा जायगा।)

अथ यद्वोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तद्वोचम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—'अब मैं भूर्लोक की शरण हूँ' जो इस प्रकार मैंने कहा है, उस का अभिप्राय यह है कि मैं पृथिवी की शरण हूँ, आकाश की शरण हूँ और द्युलोक की शरण हूँ ॥ ५ ॥

अथ यद्वोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तद्वोचम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—अब जो मैंने कहा कि मैं भुवः की शरण हूँ, उस से मेरा तात्पर्य यह है कि मैं अग्नि की शरण हूँ, पवनदेव की शरण हूँ और सूर्यदेव की शरण हूँ ॥ ६ ॥

अथ यद्वोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तद्वोचं तद्वोचम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—अब जो मैंने कहा कि मैं स्वर्गलोक की शरण हूँ, उस से मेरा तात्पर्य यह है कि मैं ऋग्वेद की शरण हूँ, यजुर्वेद की शरण हूँ, सामवेद की शरण हूँ। यही मैंने कहा है, यही मैंने कहा है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—जो मैंने कहा है कि मैं प्राण की शरण में हूँ. इस वाक्य का व्याख्यान करने के लिए विस्तार किया जाता है—यह जितना भी विश्व है सब प्राण ही है, जैसे कि नाभि में अरे लगे रहते हैं उसी प्रकार प्राण में सम्पूर्ण भूत समर्पित हैं। इसलिए उस प्राण की प्रतिपत्ति के द्वारा मैं उस सर्वभूत विराट् की ही शरण हूँ। मैंने जो यह कहा कि मैं भूः की शरण हूँ, उस से यही कहा गया कि पृथिवी आदि तीन लोकों की शरण हूँ। तथा मैंने जो कहा कि मैं भुवः की शरण हूँ, उस से यही कहा गया है कि मैं वह्नि आदि की शरण हूँ। इसी प्रकार जो कहा है कि मैं स्वः की शरण हूँ, इस से यही कहा गया कि मैं ऋग्वेदादि की शरण हूँ ॥ ४–७ ॥

विशेष—उपासक को चाहिये कि उपरोक्त अजरकोश का दिशाओं के वत्स के सहित विधिपूर्वक ध्यान कर ऊपर के मन्त्रों को जपे। 'तद्वोचं तद्वोचम्'

यह द्विरुक्ति खण्ड समाप्ति और आदर सूचन के लिए है। यहाँ परमात्मा को कोश इस अभिप्राय से कहा है कि वही इस चराचर ब्रह्माण्ड के पदार्थों का कोशवत् आच्छादक है, उसी के आश्रित यह सम्पूर्ण विश्व है। परमेश्वर को प्राणरूप से वर्णन करने का यह भाव है कि वह सब को प्राणन=जीवनशक्ति देनेवाला है, उस की कृपा से पृथिवी एवं अन्तरिक्ष में विचरता हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है और ऋक्, साम, यजुरूप कर्म, उपासना, ज्ञान इस काण्डत्रयात्मक वेद का ज्ञाता होता है। यहाँ पर तीन वेदों का नाम तीन प्रकार की विद्या के अभिप्राय से आया है। इसलिए यह सन्देह न कर बैठना कि वेद तीन ही हैं, क्योंकि इसी अध्याय के प्रथम खण्ड में चारों वेदों का नाम स्पष्ट रीति से आया है ॥ ४–७ ॥

षोडश खण्ड

पुत्र की आयु के निमित्त उपासना और जप बतलाये गये। सम्प्रति उपासक की आयु के निमित्त जप तथा उपासना का विधान करती हुई भगवती श्रुति कहती है कि पुरुष स्वयं जीवित रहने ही पर पुत्रादि फल से युक्त हो सकता है, और किसी दूसरी रीति से नहीं। इस लिए वह पुरुष अपने आप को यज्ञरूप संपादित करता है—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंꣳशति वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳसर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुष अवश्य ही यज्ञरूप है। उस यज्ञ पुरुष के जो चौबीस वर्ष हैं, वह प्रातःसवन है। चौबीस अक्षरवाला गायत्री छन्द प्रातःसवन है, कारण यह है कि प्रातःसवन के मन्त्र गायत्री छन्दवाले होते हैं। इसी यज्ञ पुरुष के उस प्रातःसवन में वसु देवगण स्थित हैं, वे वसु गण निश्चय करके प्राण हैं, क्योंकि वे ही इस सम्पूर्ण विश्व को अपने में स्थित रखते हैं ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अब मन्त्रोपासक की आयु वृद्धि के लिए उपाय बतलाया जाता है, क्योंकि यदि पुरुष ही जीवित न रहा तो पुत्र से कुछ लाभ नहीं

है। अतः जीवन से युक्त शरीर और इन्द्रियों का समूह, जैसा कि विख्यात है, वही 'पुरुष' है, अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है। और उसकी चौबीस वर्ष तक की आयु यज्ञ पुरुष का प्रातःसवन है, जिसका सम्बन्ध चौबीस अक्षरवाले गायत्री छन्द से है। क्योंकि प्रातःसवन कर्म में गायत्री छन्दवाले मन्त्र पढ़े जाते हैं। गायत्री छन्दवाले मन्त्र ब्रह्मगायत्री मन्त्र से भिन्न हैं। प्रातःसवन कर्म में वसु देवगण रहते हैं, और वे वसु प्राणरूप हैं, उस प्राण में अखिल विश्व स्थित है। चौबीस अक्षरवाले गायत्री छन्द और पुरुष की चौबीस वर्ष की आयु में एकता है, और यही कारण है कि पुरुष चौबीस वर्ष की आयु तक प्रातःसवन कर्म करता है, और यज्ञरूप हो जाता है। प्रातःसवन के अधिष्ठातृ देव वसु हैं और वे ही प्राण हैं जिनके आश्रय से सम्पूर्ण जीव जीते हैं॥ १॥

विशेष—प्राणों को वसु इस अभिप्राय से कहा गया है कि जब तक प्राण शरीर में रहते हैं तभी तक इन्द्रिय आदि सभी कुछ स्थित रहता है। अन्यथा इन्द्रियों के गोलक आदि ही रह जाते हैं, जो निर्जीव होने के कारण किसी काम के नहीं होते। शरीर में इन सब को वसाने के कारण ही प्राणों को वसु कहा गया है॥ १॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ २॥

भावार्थ—इस चौबीस वर्ष की अवस्था में यदि उस यज्ञकर्ता को कोई कष्ट पहुँचावे तो वह कहे कि 'हे प्राणरूप वसु गण! मेरे इस प्रातःसवन को माध्यंदिन सवन के साथ एक रूप कर दो, ताकि प्राणरूपी वसु देवताओं के सामने मैं यज्ञरूप नष्ट न होऊँ।' तब उस कष्ट से मुक्त होकर वह नीरोग हो जाता है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—उस यज्ञसंपादक को यदि प्रातःसवनरूप से निष्पन्न हुई इस चौबीस वर्ष की अवस्था में मृत्यु की शंका का हेतुभूत कोई रोगादिक उत्पन्न हो तो उस यज्ञसंपादक को कहना चाहिये कि हे प्राण! हे वसु! मेरी इस प्रातःकालसंबन्धी आयु को मध्याह्न काल के यज्ञ की आयु तक जो चालीस वर्ष तक रहती है, बढ़ा दो, ताकि यज्ञरूप में प्राणरूपी वसु देवताओं के सम्मुख नष्ट न

होऊँ। इस प्रकार प्रार्थना करने से वह यज्ञकर्ता रोगरहित हो जाता है, अर्थात् उसका स्वास्थ्य ठीक रहता है ॥ २ ॥

विशेष—जब कि मनुष्य को रोग शोक कष्ट पहुँचा रहे हों, या उसके बन्धु बान्धव उसे मना कर रहे हों, तथा शत्रुओं के कारण उसे बाधा दी जा रही हो तो कोई भी कार्यरत मनुष्य सरलता से इष्टसिद्धि तक नहीं पहुँच सकता। ऐसी स्थिति में इस मन्त्र के वर्णनानुसार उसे यह कहना चाहिये कि हे मित्रो! या हे रोग! यह मेरा प्रातःसवन काल है, मैं इस समय इसका अनुष्ठान कर रहा हूँ, कृपा करके आप मेरे तप में विघ्न न करें, प्रत्युत मेरी सफलता में यत्नवान् हों। यह मेरी प्रार्थना है, मैं सत्करणीय यज्ञ हूँ, आप ऐसी चेष्टा करें जिससे मैं विलुप्त न हो जाऊँ, बल्कि ऐसा यत्न करें जिससे मैं सूर्य की तरह चमकूँ। मैं इस प्रातःसवन का कदापि त्याग न करूँगा। आप लोग मुझे सन्तप्त न करें, मुझे आदित्य की तरह प्रकाशमान होने का अवसर प्रदान करें ॥ २ ॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब उस पुरुष की आयु के चवालीस वर्ष हैं, वह मध्याह्नकाल का सवन है, इस आयु की एकता चवालीस अक्षरवाले त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों से है जिससे मध्याह्न काल का यज्ञ किया जाता है। इस माध्याह्निक यज्ञ में रुद्रगण रहते हैं, और वे प्राणरूप हैं क्योंकि वे रुद्रगण इस संपूर्ण आधेयरूप जगत् के आधार हैं और वही समस्त प्राणियों के दुःख के कारण हैं ॥ ३ ॥

विशेष—जो इन्द्रिय के उत्क्रमण काल में सब प्राणियों को रुलावे उसे 'रुद्र' कहते हैं। और यह भी बात है कि मध्य की आयु में प्राण क्रूर होते हैं, इसलिए भी रुद्र हैं ॥ ३ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति

माऽहं प्राणाना ँ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि यज्ञकर्ता इस चवालीस वर्ष की आयु में रोगग्रस्त हो जाय तो उसे इस प्रकार कहना चाहिए कि हे प्राणरूपरुद्र गण ! मेरे इस मध्याह्न काल के यज्ञ को सायंकाल के यज्ञ तक बढ़ाओ, अर्थात् सायंकाल के यज्ञ की आयु तक, जो ११६ वर्ष तक की है, विस्तृत करो। ताकि यज्ञरूप मैं प्राणरूप रुद्रगणों के समक्ष नष्ट न होऊँ। जब यज्ञकर्ता इस तरह प्रार्थना करता है तब वह रोगादिकों से निवृत्त हो जाता है ॥ ४ ॥

(इन तीसरे और चौथे मन्त्रों का व्याख्यान पूर्ववत् है।)

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तत्तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावाऽऽदित्या एते हीदꣳसर्वमाददते ॥ ५ ॥

भावार्थ—अब जो यज्ञपुरुष के अड़तालीस वर्ष हैं वह सायंकालिक यज्ञ हैं। अड़तालीस हैं अक्षर जिस में ऐसा जगती छन्द अर्थात् जिस में जगती छन्द-वाले मन्त्र हैं वह तृतीय सवन है। इस यज्ञपुरुष के उस तृतीय सवन में आदित्य गण वास करते हैं, और वे प्राण अवश्य आदित्य हैं। क्योंकि वे प्राणरूपी आदित्य सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करते हैं ॥ ५ ॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसंतनुतेति माऽहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—अड़तालीस वर्षों में यदि उस यज्ञकर्ता को कुछ रोगादिक कष्ट देवें तो वह यज्ञकर्ता इस प्रकार कहे कि हे प्राणरूप आदित्यगण ! मेरे इस तृतीय सवन को आयु के साथ एकीभूत कर दो, ताकि मैं यज्ञकर्ता प्राणरूप आदित्यों के समक्ष नष्ट न होऊँ। इस प्रकार कहने से वह उस कष्ट से मुक्त होकर नीरोग हो जाता है ॥ ६ ॥

(पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों का भाष्य भी पूर्ववत् है।)

विशेष—इसी तरह प्राण ही आदित्य हैं। वे इस शब्दादि विषयसमूह का आदान=ग्रहण करते हैं अतः अदित्य हैं। इन से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्राणरूप आदित्यगण ! तृतीय सवन को आयुरूप से ११६ वर्ष तक पूर्ण करो, अर्थात् यज्ञ को समाप्त करो ॥ ६ ॥

निश्चित विद्या अवश्य फलवती होती है, इस बात को उदाहरण देती हुई भगवती श्रुति समझा देती है, यथा—

एतद्ध स्म वैतद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत् प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस विख्यात विद्या को जाननेवाले ऐतरेय महिदास ने कहा था कि हे रोग ! तू मेरे इस शरीर को क्यों दुःख देता है, मैं तुझ से मर नहीं सकता. ११६ वर्ष तक जीता रहा। और अन्य उपासक जो इस प्रकार जानता है वह भी ११६ वर्ष तक जीता है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रसिद्ध यज्ञशास्त्र को जाननेवाले महिदास नामक इतरा ऋषिपत्नी के लड़के ऐतरेय ने कहा कि हे रोग ! तू मुझे यह सन्ताप क्यों देता है ? यज्ञस्वरूप मैं तेरे इस संताप से मृत्यु को प्राप्त नहीं हो सकता, मैं ११६ वर्ष तक जीवित अवश्य रहूँगा, अतः मुझे मारने के लिए तेरा श्रम व्यर्थ ही है। इस प्रकार का निश्चयवाला होकर वह ११६ वर्ष तक जीवित रहा। ऐसे ही निश्चय-वाला दूसरा पुरुष भी, जो इस प्रकार पूर्वोक्त यज्ञदर्शन को जानता है वह ११६ वर्ष तक अवश्य जीवित रहता है ॥ ७ ॥

विशेष—इस खण्ड का अभिप्राय यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए मनुष्य को दृढ निश्चय होना चाहिए, और साथ ही उसे अपने जीवन को एक परोपकारी लड़ी में पिरो देना चाहिए। यही अपने आप को यज्ञरूप बनाना है। यही इस के आरम्भ में कहा है—'पुरुषो वाव यज्ञः'। सोम यज्ञ के तीन सवन होते हैं, प्रातः-सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन। इसी प्रकार पुरुष को भी अपने जीवन-काल के तीन सवन मानने चाहियें। विधियज्ञ में पहला प्रातःसवन है, उस में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है, गायत्री छन्द चौबीस अक्षरों का है। सो पुरुष

को अपनी आयु के पहले चौबीस वर्ष प्रातःसवन मानना चाहिये। विधियज्ञ में प्रातःसवन के अधिपति वसु हैं, सो पुरुषयज्ञ में प्राण (इन्द्रिय) वसु कहलाते हैं। उपासक को यदि इस प्रातःसवन में (२४ वर्षों में) कोई रोग आदि उसे तपाव, अथात् यज्ञ में विघ्न होता दीखे तो वह दृढ़ निश्चय से प्राणों को कहे—हे प्राणों! तुम इस यज्ञ में वसु हो, प्रातःसवन के मालिक हो, इस की रक्षा करना तुम्हारा काम है। तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न को दूर हटाओ और इस सवन को दूसरे सवन के साथ मिला दो। ऐसा दृढ विश्वास उस के लिए अवश्य कल्याणकारी होता है, क्योंकि 'क्रतुमयः पुरुषः' पुरुष क्रतुरूप है।

अब विधियज्ञ में प्रातःसवन के पीछे दूसरा माध्यन्दिन सवन प्रारम्भ होता है। इस में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग होता है, त्रिष्टुप् छन्द चवालीस अक्षर का है। सो पुरुष को भी अपने पहले चौबीस वर्ष प्रातःसवन में भोग करके उस के आगे चवालीस वर्ष अर्थात् अड़सठ वर्ष की आयु तक अपना माध्यन्दिन सवन करना चाहिये। इसी प्रकार अड़सठ के आगे और अड़तालीस वर्ष अर्थात् एकसौ सोलह वर्ष तक अपना तृतीय सवन मानना चाहिये। इस तीसरे सवन को पूर्ण करने से यज्ञ परिपूर्ण होता है। जो अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर दृढ विश्वास रखता है कि अब उस के लिए कोई अपमृत्यु नहीं है, वह मृत्यु को दबाकर इस यज्ञ को अवश्य पूर्ण करेगा। सो यह विश्वास महिदास ऐतरेय ने अपने जीवन में सत्य कर दिखलाया है। यह मार्ग अब भी सब के लिए खुला है, जो चाहता है वह चले और उस का अमृत लाभ करे। अर्थात् ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रसिद्ध आख्यायिकानुसार महिदास नामक ऋषि इस विज्ञान को जानते हुए अपने को तपानेवाले शत्रु या अन्य विघ्नकारी मनुष्यों से कहा करते थे कि तुम लोग मुझे क्यों दुःख दे रहे हो, यह दुःखप्रद यत्न मेरे लिए विघ्नकारी न होगा। इस प्रकार दृढव्रती महिदास ११६ वर्ष तक जीवित रहे। जो ऐसा करेगा वह भी नीरोग रहकर उतने दिन तक जीवित रह सकता है ॥ ७ ॥

सप्तदश खण्ड

अब अक्षयादि फल देनेवाली आत्मयज्ञोपासना का वर्णन करते हैं, यथा—

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥ १ ॥

भावार्थ—वह जो भोजन करने की इच्छा करता है, जो पीने की इच्छा करता है और जो रमण नहीं करता है, वही उसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—यज्ञ के आरम्भ में यज्ञकर्ता या उपासक न इच्छानुसार भोजन करता है न पानी पीता है तथा इष्ट पदार्थों की अप्राप्ति के कारण रममाण (प्रसन्न) भी नहीं होता है। याने जो इस प्रकार के दुःख का अनुभव करता है, उसके दुःख में सादृश्य होने के कारण विधियज्ञ की दीक्षा के समान, इसकी दीक्षा है ॥ १ ॥

विशेष—यज्ञकर्ता यज्ञारम्भ में न इच्छानुकूल भोजन करता है न पानी पीता है, इसी कारण ये उसकी दीक्षायें हैं। वह अवस्था यज्ञकर्ता का प्रथम यज्ञ-व्रत है, अर्थात् वह इस व्रत को करता है, पीछे यज्ञ का अनुष्ठान करता है। अर्थात् जीवनयात्रा के निर्वाहार्थ जो कुछ मिल जाय उसी को खा पीकर सन्तुष्ट रहना दीक्षा है। भाव यह निकला कि भूख प्यास सहना, किसी अभीष्ट प्राप्ति के लिए प्रसन्नता का होना, इत्यादि प्रकार के जो क्लेश उठाने होते हैं वह उसके लिए यज्ञ की दीक्षा के सदृश हैं ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैवेति ॥ २ ॥

भावार्थ—और जो वह खाता है, जो पीता है तथा रमण करता है, वह उपसदों की समानता को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर जब यज्ञकर्ता या उपासक थोड़ा खाता है, थोड़ा पीता है तथा अल्प भोग करता है याने इष्ट पदार्थों के संयोग से रति का अनुभव करता है, तब वह मानो उपसद व्रत को करता है। अर्थात् वह सम्पूर्ण उपसद व्रतों की समानता को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

विशेष—उपसद व्रत वह है जिसमें ऋत्विक् आदिक केवल दुग्ध पान करके आनन्द से रहते हैं। इसलिए यज्ञकर्ता में और उपसद व्रत करनेवालों में समानता है। अर्थात् जिस तरह उपसद व्रत करनेवाले अल्पाहार के द्वारा ही संतोष तथा आनन्द से रहते हैं उसी तरह यज्ञकर्ता या उपासक भी अल्पाहार के द्वारा संतोष तथा आनन्द से रहता है। यह उपासक का द्वितीय स्वात्मसंवन्धी व्रत है ॥ २ ॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रै-रेव तदेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो वह हँसता है, जो भोजन करता है तथा जो मैथुन करता है, वह सम्पूर्ण स्तुत शस्त्र के सादृश्य को प्राप्त हो जाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जो हास्य करता है, जो भक्षण करता है और जो स्त्री के साथ रति करता है वह स्तुत शस्त्र की समानता को प्राप्त होता है, क्योंकि शब्द-युक्त होने से उनमें समानता है ॥ ३ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जिस समय उपासना करनेवाला पुरुष हास्य करता है, दूसरे के साथ या दूसरे को खिलाता है और उसके संग में आनन्द का अनुभव करता है, उस समय वह मानो स्तुत शस्त्रों के तुल्य हो जाता है, क्योंकि इन दोनों में शब्द की समानता है। अर्थात् जैसे खाने, पीने, हास्य करने आदि के समय शब्द होता है, वैसे ही शस्त्र ग्रन्थ के पाठ के समय में शब्द होता है। यह तीसरा व्रत दूसरे के आत्मा के सुख देने के लिए है। सामवेद के गायन करनेवाले जिन ऋचाओं को गाते हैं, उनका नाम स्तुत तथा उसी को स्तोत्र कहते हैं। और जो ऋचायें यज्ञ में पढ़ी जाती हैं उनका नाम शस्त्र है ॥ ३ ॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—और जो तप, दान, आर्जव, अहिंसा तथा सत्यवचन हैं, वे ही इस यज्ञकर्ता पुरुष की दक्षिणा हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—पुरुष के जो तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य बोलना आदि गुण हैं, वे ही इस यज्ञकर्ता पुरुष की दक्षिणा हैं। क्योंकि धर्म की पुष्टि करने में दक्षिणा के साथ उस की तुल्यता है ॥ ४ ॥

विशेष—यज्ञकर्ता का चौथा व्रत तप करना, कोमल होना, दान देना, सत्य बोलना और हिंसा न करना है, जो ऊपर के तीनों व्रतों से श्रेष्ठ है। यहाँ तक दीक्षा, उपसद, स्तुत शस्त्र और दक्षिणा ये यज्ञ के अङ्ग पुरुष में दिखलाये हैं ॥ ४ ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसी से कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' या 'प्रसूता हुई' वह इस का पुनर्जन्म ही है, तथा मृत्यु ही अवभृथ स्नान है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जब माता गर्भवती होती है तब लोग कहते हैं कि यह 'सोष्यति'=पुत्र उत्पन्न करेगी। इस प्रकार देखकर पुत्र की उत्पत्ति के अनन्तर लोग कहते हैं कि 'असोष्ट'=पुत्र उत्पन्न कर चुकी है। इसलिए इस यज्ञकर्ता पुरुष का उत्पन्न करना और फिर उस पुत्र का मरना अवश्य ही अवभृथ कर्म के समान है ॥ ५ ॥

विशेष—'सोष्यति' और 'असोष्ट' इन दोनों शब्दों की रचना 'षूङ्' धातु से है इस कारण यज्ञ और यज्ञकर्ता में एकता है। क्योंकि जैसे यज्ञ में सोमलता के रस की आहुति दी जाती है, वैसे ही पति स्वभार्या में सोमरसरूपी वीर्य की आहुति देता है। यज्ञ समाप्त होने पर अवभृथ स्नान किया जाता है, उसी तरह यज्ञकर्ता के मरने पर उस के मृतक शरीर का स्नान कराया जाता है, इस कारण दोनों में समानता है।

विद्वानों ने इसे यों स्पष्ट किया है कि यहाँ शब्द में तुल्यता दिखलाई गई है। 'सोष्यति' अर्थात् सोम को निचोड़ेगा, और जब निचोड चुकता है तो कहा जाता है 'असोष्ट' अर्थात् रस निचोड़ लिया है। सोमयज्ञ में इन दोनों के ये वास्तव अर्थ हैं। पर 'सू' धातु का निचोड़ना भी अर्थ है, और जन्म देना अर्थ भी है। इसलिए जब पुरुष का जन्म होता है तब भी कहते हैं 'सोष्यति'=यह माता पुत्र को जनेगी, और जन्म होने के पीछे कहते हैं 'असोष्ट'=माता ने पुत्र उत्पन्न किया। ये दोनों शब्द जो यज्ञ में सोम की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, वे ही पुरुष की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, इसलिए पुरुष का जन्म सोमरस के बहने के सदृश है। इस मन्त्र की व्याख्या में भाष्यकार ने जो 'अवभृथ' शब्द का प्रयोग किया है उस का अर्थ है 'यज्ञ की समाप्ति का स्नान'। यहाँ प्रकृत में ११६ वर्ष की आयु से यज्ञ को समाप्त करके जो पुरुष का मरना है वही 'अवभृथ' है ॥ १ ॥

तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण के प्रति यज्ञ दर्शन सुनाकर, जिस से कि वह अन्य विद्याओं के विषय में तृष्णारहित हो गया था, कहा—

यज्ञकर्ता को मृत्यु के समय इन तीन मन्त्रों का जप करना चाहिए (१) तू अक्षित है, (२) अच्युत है, (३) प्राणसंशित=मुख्य प्राण है। इस के विषय में ये दो ऋचाएँ हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—देवकीपुत्र कृष्ण से अङ्गिरा के पुत्र घोर ऋषि ने यज्ञशास्त्र के विधान को पूर्वोक्त रीति से वर्णन किया, और यह भी कहा कि यज्ञकर्ता मरते समय इन तीन मन्त्रों को अर्थात् 'अक्षितमसि' 'अच्युतमसि' 'प्राणसंशितमसि' को स्मरण करे, यह विचारता हुआ कि हे जीवात्मन् ! तू नाशरहित है, एकरस है और अति-सूक्ष्म प्राण यानी ब्रह्मरूप है। इस विषय में आगेवाले दो मन्त्र प्रमाण हैं। तब कृष्ण ऐसा सुनकर अन्य विद्याओं से तृष्णारहित हो गया ॥ ६ ॥

विशेष—पूर्वोक्त अर्थ में इस विद्या की स्तुति करनेवाली दो ऋचायें हैं, किन्तु वे जप के लिए नहीं हैं। क्योंकि पहले जो 'तीन का जप करे' ऐसी विधि की गई है उस की तीन संख्या का बाध हो जायगा और तब 'पाँच' संख्या हो जायगी।

प्रकृत में देवकी के पुत्र कृष्ण के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। यहाँ 'देवकी का पुत्र कृष्ण' इतना मात्र देखकर यह नहीं कह सकते कि ये वही वसुदेव के पुत्र अर्जुन के सखा कृष्ण हैं। पिता पुत्र या माता पुत्र अथवा दोनों भाइयों के एक से नामों का मेल कई जगह पाया जाता है। किसी भी टीकाकार ने यहाँ 'घोर अङ्गिरस का शिष्य' लिखने के सिवा और इस के विषय में कुछ नहीं लिखा। किसी का कथन है कि प्राचीन उपनिषदों में वासुदेव कृष्ण का कहीं नाम भी नहीं है। सूत्रकार शाण्डिल्य जो कृष्ण के विषय में श्रुति प्रमाण देने की बड़ी रुचि रखता है, उसने भी यहाँ कुछ प्रकाश नहीं डाला। वह नारायण तथा अथर्वशिरस् इन उपनिषदों के प्रमाण तक ही रह जाता है। कोई कहते हैं—'देवकीपुत्र' ऐसा विशेष निर्देश वासुदेव कृष्ण के ही लिए किया गया है, वही घोर आङ्गिरस का शिष्य था। आरण्यक भागों में जनक आदिकों की आख्यायिकायें आती हैं। अर्जुन के सखा वेदान्ताचार्य थे, उन्होंने गीता द्वारा अर्जुन को सारा वेदान्तविज्ञान समझा दिया। किसी का यह भी कहना है कि यह घोर आङ्गिरस का शिष्य कृष्ण वासुदेव कृष्ण से प्राचीन है, यद्यपि इस की माता का नाम देवकी ही है। क्योंकि कृष्णचरित से सम्बन्ध रखनेवाले पौराणिक आख्यानों में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अर्जुन के सखा कृष्ण का गुरु कोई घोर आङ्गिरस नामक पुरुष था। यहाँ किस कृष्ण के ग्रहण में अभिप्राय है, इसे तो विद्वान् लोग जानें पर हमारा यह कथन है कि चाहे कोई

प्राचीन कृष्ण हो और चाहे अर्वाचीन हो, किन्तु प्रकृत मन्त्र के तत्त्वबोध में कुछ अन्तर नहीं पड़ता ॥ ६ ॥

आदित्प्रत्नस्य रेतस उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳ स्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥ ७ ॥

विशेष—ब्रह्मवेत्ता जगत् के आदि कारण को चारों तरफ देखते हैं और अज्ञानरूप अन्धकार से पृथक् सूर्यमंडलस्थ ज्योति को देखनेवाले हम ब्रह्मवेत्ता लोग ऊर्ध्वगति को प्राप्त हुए हैं। वही ज्योति अपने हृदय में है अर्थात् ये दोनों ज्योति एक ही हैं। उसी प्रकाशमान, उत्कृष्ट तथा संपूर्ण देवों से श्रेष्ठतर ज्योतिरूप सूर्य को देखनेवाले हम ब्रह्मवेत्ता लोग ऊर्ध्वगति को प्राप्त हुए हैं ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—'आदित्प्रत्नस्य रेतसः' यह एक मन्त्र है और 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरा मन्त्र है। इन में पहला मन्त्र इस प्रकार है—'आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि।' इसका अर्थ यह है कि पुरातन कारण का प्रकाश देखते हैं, यह दिन के समान सर्वत्र व्याप्त प्रकाश, जो परब्रह्म में स्थित परम तेज देदीप्यमान है, सब उसीका है। अभिप्राय यह है कि जिनकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो गयी हैं वे ब्रह्मचर्य आदि निवृत्ति के साधनों द्वारा शुद्धचित्त हुए ब्रह्मवेत्ता उस ज्योति को सब ओर देखते हैं। जो ज्योति प्रकाशमान परब्रह्म में देदीप्यमान है तथा जिस ज्योति से दीप्त होकर सूर्य तपता है, चन्द्रमा प्रकाशित होता है, विजली चमकती है तथा ग्रह और तारागण विशेष रूप से भासते हैं तथा (उपरोक्त ज्योति को देखनेवाला एक दूसरा मंत्रद्रष्टा कहता है कि) अज्ञानरूप अन्धकार से अतीत जो परम तेज है अथवा अन्धकार की निवृत्ति करनेवाला जो सूर्यमंडलस्थ उत्कृष्ट तेज है उसे देखते हुए हम प्राप्त हुए। वह ज्योति और स्वः= आत्मीय याने हमारे अन्तःकरण में स्थित तेज और आदित्य में स्थित तेज एक ही है। जिन अन्य तेजों की अपेक्षा उत्तर=उत्कृष्टतर याने ऊर्ध्वतर तेज को देखते हुए समस्त देवताओं में देव अर्थात् द्योतनवान् सूर्य को प्राप्त हुए, जो रस, किरण और संसार के प्राणों को प्रेरित करने के कारण सूर्य कहलाता है उस उत्तम ज्योति को= सम्पूर्ण ज्योतियों में उत्कृष्टतम ज्योति को हम प्राप्त हुए। यही वह ज्योति है जिसकी ऋचाओं ने स्तुति की है तथा जो उपर्युक्त तीन 'यजुःश्रुतियों द्वारा प्रकाशित है।

'ज्योतिरुत्तमं ज्योतिरुत्तमम्' यह द्विरुक्ति यज्ञकल्पना की समाप्ति सूचित करने के लिए है ॥ ७ ॥

विशेष—ज्योति तीन प्रकार की है और उसके रहने के स्थान भी तीन हैं, एक ज्योति यज्ञकर्ता के हृदय में है, दूसरी ज्योति सूर्य में है और तीसरी ज्योति ब्रह्मरूप है। जो ज्योति हृदय में है वही सूर्य में है और जो सूर्य में है वही ब्रह्म में है, इस लिए तीनों ज्योतियों में समानता है और यज्ञकर्ता को ऐसा ही ध्यान करना चाहिए। यहाँ यह सातवाँ मन्त्र एक ही नहीं है। इसमें दो मन्त्र हैं, 'आदित् प्रत्नस्य रेतसः' यह पूरा मन्त्र नहीं है। यह 'आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि' इस मन्त्र का प्रतीक है। इसका अर्थ पूरा ऊपर दे दिया है।

दूसरी ऋचा का पाठ ऋग्वेद (१-५०-१०) के 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' की जगह यजुर्वेद (२०-२१) में 'स्वतः पश्यन्त उत्तरम्' यह है। और अथर्ववेद (७-५३-७) में इसकी जगह 'रोहन्ता नाकमुत्तमम्' यह पाठ है। तात्पर्य तीनों में एक ही है। इसलिए यहाँ 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' के आगे 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' इसका अर्थ दिखलाया प्रतीत होता है। यहाँ आदित्यस्थ शबल ब्रह्म (सत्य) का वर्णन है। आचार्य शङ्कर की व्याख्या 'स्वः' के स्थान में 'स्मः' पाठ को लेकर है कि वही ज्योति हमारे हृदय में विद्यमान है ॥ ७ ॥

अष्टादश खण्ड

मन आदि दृष्टि से आध्यात्मिक और आधिदैविक ब्रह्मोपासना का वर्णन करते हैं, याने ब्रह्म के गुणों के एकदेशरूप से ब्रह्म को मनोमय और आकाशात्मा [चतुर्दश खंड के द्वितीय मंत्र में] कहा गया है। अब इससे आगे मन और आकाश में सम्पूर्ण ब्रह्मदृष्टि का विधान करने के लिए 'मनो ब्रह्म' इत्यादि अष्टादश खंड का आरम्भ किया जाता है,—

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

भावार्थ—'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करे। यह आध्यात्मिक उपा-

सना है। तथा 'आकाश ब्रह्म है' ऐसी उपासना करे। यह देवताविषयक उपासना है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों का उपदेश किया गया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जिससे मनुष्य मनन करता है उस अन्तःकरण को मन कहते हैं। वह परब्रह्म है ऐसी उपासना करे। यह उपासना आत्मविषयक उपासना है जो शरीर से संबंध रखती है। तथा आकाश ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे। यह उपासना देवताविषयक उपासना है अर्थात् इसका देवता से सम्बन्ध है। इस तरह 'अध्यात्म और अधिदैवत' इन दोनों उपासनाओं का वर्णन किया गया ॥ १ ॥

विशेष—मन सूक्ष्म है, इसके अतिरिक्त ब्रह्म मन से उपलब्ध किया जा सकता है और आकाश भी सर्वगत, सूक्ष्म तथा उपाधिहीन है। अतः 'मन और आकाश' ये दोनों ब्रह्मदृष्टि के योग्य हैं। इसलिए उनमें ब्रह्मदृष्टि करना ठीक ही है ॥१॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म वाक्पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्ममथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

भावार्थ—वह यह ब्रह्म चतुष्पाद है। वाणी पाद है, प्राण पाद है, नेत्र पाद है तथा कर्ण पाद है, यह आत्मविषयक उपासना है। अब देवताविषयक उपासना का प्रतिपादन करते हैं—अग्नि पाद है, पवन पाद है, सूर्य पाद है और दिशाएँ पाद है। इस तरह 'अध्यात्म और अधिदैवत' इन दोनों का उपदेश किया जाता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—मनरूपी ब्रह्म चतुष्पाद—चार चरणवाला है। जिसके चार पाद हों उसे चतुष्पाद कहते हैं। इस मनःसंज्ञक ब्रह्म का एक चरण वाणी है, दूसरा चरण प्राण है, तीसरा चरण नेत्र है, चौथा चरण श्रोत्र है। इस प्रकार यह आत्मविषयक उपासना है, दूसरी देवताविषयक जो उपासना है वह इस प्रकार है, आकाशरूपी ब्रह्म के, अग्नि एक चरण है, वायु दूसरा चरण है, आदित्य तीसरा चरण है, दिशा चौथा चरण है। इस प्रकार ये दोनों आत्मविषयक और देवताविषयक उपासना कही गई हैं ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र का तात्पर्य यह है कि मनसंज्ञक ब्रह्म के वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र ये चार चरण हैं। तथा आकाशसंज्ञक ब्रह्म के अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये चार चरण हैं। इस प्रकार जानता हुआ उपासक उपासना करे ॥ २ ॥

(नीचे लिखित चार मन्त्रों के समान होने से भावार्थ अलग अलग लिखकर भाष्य तथा विशेष साथ ही दिया जायेगा।)

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—वाणी ही मनरूपी ब्रह्म का चौथा चरण है, यह वाणी अग्नि को प्रकाश करके प्रकाशमान होती है और घृतादिक के खाने से इसमें तेजी आती है। जो उपासक उक्त रीति से उपासना करता है वह परोक्ष तथा प्रत्यक्ष कीर्ति को प्राप्त होता है, और ब्रह्मतेज से युक्त होता है ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्राण ही मनोमय ब्रह्म का चौथा चरण है, वह प्राण बाह्य वायु के तेज से प्रकाशित है और गर्म रहता है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह परोक्ष तथा अपरोक्ष कीर्ति को प्राप्त होता है और ब्रह्मतेज से युक्त होता है ॥ ४ ॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ५ ॥

भावार्थ—नेत्र ही मनोमय ब्रह्म का चौथा चरण है, वह नेत्र आदित्य से उत्पन्न हुए तेज से प्रकाशित होता है और गर्म रहता है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह परोक्ष तथा अपरोक्ष कीर्ति को प्राप्त होता है और ब्रह्मतेज करके युक्त होता है ॥ ५ ॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रोत्र ही मनरूपी ब्रह्म का चौथा चरण है, यह श्रोत्र दिशा के प्रकाश से प्रकाशित होता है, गर्म रहता है। जो उपासक इस प्रकार जानता है वह परोक्ष तथा अपरोक्ष कीर्ति को प्राप्त होता है॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—वाणी ही मनोमय ब्रह्म का अन्य तीन चरणों की अपेक्षा चौथा चरण है। जैसे गौ आदि जीव चरण द्वारा अपने इष्ट स्थान पर जाकर उपस्थित होते हैं वैसे वाक् से ही मन वक्तव्य विषय पर ठहरता है। इसलिए वाणी मन के चरण के समान है। इसी तरह प्राण याने घ्राण भी उसका चरण है। उसके द्वारा भी वह गन्धरूप विषय के प्रति जाता है, इसी प्रकार नेत्र और श्रोत्र भी पाद हैं। इस तरह यह मनोमय ब्रह्म का अध्यात्म चतुष्पादत्व है। तथा आधिदैवत दृष्टि इस प्रकार है—जैसे गौ के उदर से पाद जुड़े रहते हैं वैसे ही आकाशरूपी ब्रह्म के उदर में वह्नि, पवन, सूर्य और दिशायें—ये दिखायी देते हैं, अतः ये अग्नि आदि उस आकाशरूप ब्रह्म के पाद कहे जा सकते हैं। इस तरह अध्यात्म और अधिदैवत दोनों प्रकार के चतुष्पाद ब्रह्म का उपदेश किया जाता है। उनमें वाणी ही उस मनोमय ब्रह्म का चौथा पाद है। वह वह्निरूप अधिदैवत ज्योति से भासित याने दीप्त होता है और तपता—सन्ताप अर्थात् उष्णता करता है। अथवा तैल और घृत आदि तेजोमय पदार्थों के भक्षण करने से दीप्त हुई वाणी प्रकाशित होती और तपती है, अर्थात् बोलने के लिए उत्साहयुक्त होती है। इसी तरह प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह वायु द्वारा गन्ध ग्रहण के लिए प्रकाशित होता है और तपता है याने उत्साहित होता है। इसी प्रकार नेत्र रूप ग्रहण के लिए सूर्य द्वारा और श्रोत्र शब्द ग्रहण के लिए दिशाओं द्वारा उत्साहित होता है। इस प्रकार जो उपासना करता है वह कीर्ति—प्रत्यक्ष प्रशंसा, यश—परोक्ष प्रशंसा और ब्रह्मतेज से प्रकाशित होता और तपता है। 'य एवं वेद' इस वाक्य की द्विरुक्ति विद्या की समाप्ति के लिए है ॥३—६॥

विशेष—पूर्वोक्त चारों मन्त्रों का संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि मनोमय ब्रह्म के वाणी, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र ये चार पाद हैं। आकाशसंज्ञक ब्रह्म के वह्नि, पवन,

सूर्य और दिशायें ये चार पाद हैं। इस प्रकार जो पुरुष इस आत्मविषयक तथा देवताविषयक उपासना को करता है वह परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रशंसा और ब्रह्मतेज से युक्त होता है।

इस खण्ड में यह कहा गया है कि पहले आत्मा के विषय में जो मनोमय और आकाशात्मा कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि मन उसकी महिमा को प्रकाशित करता है, और आकाश उसकी महिमा दिखलाता है। यहाँ शरीर के अन्दर उसके महत्व को प्रकाशित करनेवालों में से मन को लिया है, क्योंकि मन देह में एक बड़ी दिव्य शक्ति है और बाह्य जगत् में आकाश ही सबसे बड़ा है। यहाँ आत्मा के महत्व में मनोमय और आकाशात्मा ये दो विशेषण हैं। यहाँ शबल रूप में इनकी स्वतन्त्र उपासना बतलाई है, एक तो शरीर के अन्दर और दूसरी बाहर। मन घ्राण, नेत्र और श्रोत्र द्वारा बाह्य विषयों में पहुँचता है और वाणी द्वारा अपने अन्दर के भावों को दूर तक पहुँचाता है इसलिए ये चार उसके पाद हैं। और अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें ये चारों आकाश के उदर में पाद की तरह लगे हुए हैं।

समष्टि में जो अग्नि, वायु, आदित्य और दिशायें हैं, वे ही व्यष्टि में वाणी, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र हैं। उन्हीं दिव्य शक्तियों से यह व्यष्टि शक्तियाँ चमकती हैं और उन्हींसे गर्म रहती हैं, याने अपने काम में उत्साहवती रहती हैं।॥ ३–६॥

उन्नीसवाँ खण्ड
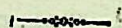
आदित्य और अण्ड दृष्टि से अध्यात्म एवं आधिदैविक उपासना का वर्णन किया जाता है। सूर्य को ब्रह्म का चरण बतलाया गया है, इसलिए उसमें समस्त ब्रह्मदृष्टि विधान के लिए इस खण्ड का आरम्भ किया जाता है—

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्॥ १॥

भावार्थ—सूर्य ब्रह्म है— ऐसा उपदेश है, उस आदित्य ब्रह्म का व्याख्यान किया जाता है। पहले यह असत् ही था। वह सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह अङ्कुरित हुआ। वह एक अण्डे में परिणत हो गया। वह एक वर्ष पर्यंत उसी तरह स्थित रहा। पुनः व फूटा, वे दोनों अण्ड के खण्ड चाँदी तथा सुवर्णरूप हो गये ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—आदित्य ब्रह्म है, उस आदित्य की स्तुति के लिए इस उपदेश का व्याख्यान करते हैं। यह नामरूपवाला जगत् अपनी उत्पत्ति से पहिले इस प्रकार के आकारवाला नहीं था, यह पहिले निराकार था, फिर परिमाणवाला हुआ, फिर स्थूल हुआ, फिर अण्डाकार हुआ, फिर वह अण्डा एक वर्ष तक जैसा का तैसा पड़ा रहा। बाद एक वर्ष के फूट गया, उसके दो भाग हो गये, एक चाँदी-रूप दूसरा सोनारूप ॥ १ ॥

विशेष—'असदेवासीत्' इसका 'वन्ध्यापुत्र के समान असत् था' यह तात्पर्य नहीं है, किन्तु नाम रूप की अभिव्यक्ति रहित होने के कारण मानो असत् की तरह 'असत्' था। यह सत्ता के अभाव का निश्चय नहीं करता, अर्थात् प्रकृत मन्त्र में असत् शब्द व्यक्त नाम रूप के अभाव का निश्चय करता है। और सत् शब्द का प्रयोग, जिनके नाम रूप व्यक्त हो गये हैं उन पदार्थों के विषय में देखा गया है, तथा जगत् के नाम रूप की अभिव्यक्ति प्रायः सूर्य के अधीन है, क्योंकि सूर्य के अभाव में घोर अन्धकार रूप हुआ यह जगत कुछ भी नहीं जाना जाता। इसलिए सूर्य के स्तवनपरक वाक्य में सत् होने पर भी 'उत्पत्ति से पहिले यह जगत् असत् ही था' इस प्रकार कहकर भगवती श्रुति यह सूचित करने के लिए कि आदित्य ब्रह्मदृष्टि के योग्य है, उसकी स्तुति करती है ॥ १ ॥

तद्यद्रजत ँ सेयं पृथिवी यत्सुवर्ण ँ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳ स मेघो नीहारो या धनमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ॥ २॥

भावार्थ—उनमें जो खण्ड रजत था वह यह पृथ्वी है और जो खण्ड सुवर्ण था वह स्वर्ग लोक है। उस अंडे का जो जरायु था, वही वे पर्वत हैं। जो उल्व था वह मेघों के साथ कुहरा है, जो धमनियाँ—नाडियाँ थीं वे नदियाँ हैं तथा जो वस्तिगत—नाभि के नीचे जल था वह समुद्र है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—इन दोनों भागों में से जो चाँदी का भाग है वह यह

पृथिवी है और जो सोने का भाग है वह यह आकाश है। जो अण्डे का स्थूल गर्भ-वेष्टन है वे पर्वत हैं। जो उल्ब—सूक्ष्म गर्भवेष्टन है वह मेघों के सहित नीहार-कुहरा हैं। जो उत्पन्न हुए उस गर्भ के शरीर में धमनियाँ—रक्तवाहिनी नाडियाँ हैं वे नदियाँ हैं और जो उसके वस्तिस्थान—मूत्राशय में जल है वह समुद्र है ॥ २ ॥

विशेष—जगदुत्पत्ति प्रसङ्ग में [अण्डकटाह का वर्णन पुराण ग्रन्थों में कई जगह मिलता हैं। अण्डे के दो समान भाग सीधे धरने से कढाई के आकारवाले हो जाते हैं। प्रकृत मन्त्र में भी प्रकृति को अण्डे के रूपक में वर्णन किया गया है। अण्डे में जो जो पदार्थ होते हैं उन सबकी यहाँ चर्चा की गई है। जैसे रूपहरा भाग पृथ्वी, सुनहरा हिस्सा द्यौ, जेर (मोटी झिल्ली) पर्वत, पतली झिल्ली मेघ-तथा कुहरा, छोटी नाड़ियाँ नदियाँ और वस्ति (मूत्राशय) का पानी समुद्र हो गया।

जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसका सही सही ज्ञान किसी को है या नहीं इस विषय में हम नहीं कह सकते। संसार की रचना जिसकी समझ में जैसी आई उसने वैसी ही समझ ली। जो कुछ भी हो, इससे यह तो सिद्ध ही है क जगत् अनित्य है, जो पैदा होता है वह नष्ट भी अवश्य ही होता है। दूसरी बात यह कि सभी के मत से जगत् कार्य है, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि इसका कारण कर्ता भी कोई अवश्य है। कारण कार्यप्राग्वर्ती होता है। अतः जगत् से पहले कुछ था। फिर यह भी है कि जड़ जगत् की संचालक कोई चेतन सत्ता अवश्य है ॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामा-स्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्ति-ष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः उससे जो पैदा हुआ वह यह सूर्य है। उस सूर्य के पैदा होते ही बड़े जोरों का शब्द हुआ तथा उसी से समस्त भूत पैदा हुए और फिर सब भोग्य पदार्थ पैदा हुए। इसलिए उस सूर्य के उदय और अस्त होने पर 'उलूलवः घोषाः'—उत्सव के शब्द उत्पन्न होने लगते हैं। और सब भूत तथा समस्त भोग्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर उस अण्डे से सूर्य उत्पन्न हुआ, जब वह उत्पन्न हुआ तब उत्साह और आह्लाद के शब्द होने लगे और उसके बाद संपूर्ण स्थावर जंगम जीव उत्पन्न हुए। यही कारण है कि जब सूर्योदय होता है और सूर्यास्त होता है तो उत्साह और हर्ष की ध्वनि होने लगती है और सम्पूर्ण स्थावर जंगम भूत तथा समस्त भोग्य पदार्थ उसके बाद उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—जैसे कि लोक में राजा महाराजा के यहाँ जब पहिले पहिल पुत्र पैदा होता है तब उत्सवपूर्ण कोलाहल हुआ करता है, उसी तरह प्रकृत में भी जब आदित्य उदय तथा अस्त होता है तब उत्साह तथा हर्ष के शब्द होने लगते हैं। उलूरव—उरुरव ठीक वही शब्द है, जिसका अपभ्रंश अंग्रेजी में हुर्रे है। आनन्दगिरि लिखते हैं कि—"उलूरव इत्युत्सवकालीनशब्दविशेषे प्रसिद्धः" उलूरव यह उत्सवकाल के शब्दविशेष में प्रसिद्ध है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार जानता हुआ इस आदित्य की ब्रह्मबुद्धि करके उपासना करता है तो वह शीघ्र ही सूर्यस्वरूप हो जाता है। तथा उस उपासक के पास आनंद देनेवाले शब्द आते हैं और उसे सुख देते हैं, सुख देते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वह जो कोई इस सूर्य को ऐसी महिमावाला जानकर इसकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, वह तद्रूप ही हो जाता है और उस उपासक के निकट जल्दी ही आनन्द देनेवाले शब्द आते हैं और उसे आनन्द देते हैं। "आनन्द देते हैं, आनन्द देते हैं" यह द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति तथा आदर प्रदर्शन के लिए है ॥ ४ ॥

विशेष—उस उपासक के समीप सुन्दर शब्द आते हैं और सुख देते हैं, याने यही घोषादि की साधुता है कि उनका उपभोग करने पर पापानुबन्ध नहीं होता, वे घोष आते हैं और उसे सुख देते हैं। अभिप्राय यह है कि घोषों का केवल आगमन ही नहीं होता, बल्कि वे उसे सुख भी देते हैं ॥ ४ ॥

उन्नीसवाँ खण्ड और अध्याय समाप्त।

———❀❀❀———
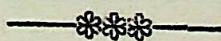
चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

वायु और प्राण में ब्रह्म की पाददृष्टि के अध्यास का निरूपण पहले तृतीय अध्याय में कर दिया गया। अब इस समय उनका साक्षात[illegible] स्वरूप से उपास्यत्व बतलाने के लिए आगे का प्रकरण आरम्भ किया जाता है [illegible] हाँ जो आख्यायिका है वह सरलता से समझने के लिए तथा विद्या के दान और ज्ञान [illegible] की विधि प्रदर्शित करने के लिए है। साथ ही इस आख्यायिका द्वारा श्रद्[illegible] ज्ञान और विनय आदि का विद्याप्राप्ति में साधनत्व भी प्रदर्शित किया जाता है [illegible]

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ॥ १ ॥

भावार्थ—पूर्व काल में जनश्रुत के पुत्र का एक पौत्र था, वह श्रद्धापूर्वक द्रव्य का देनेवाला और दान में बड़ा शूरवीर था, उस के घर में भोजनार्थियों के निमित्त बहुत सा अन्न पकाया जाता था। उस जानश्रुति ने सम्पूर्ण दिशाओं में धर्मशालाओं को बनवा दिया था, यह सोचकर कि मेरे अन्न को चारों ओर के रहनेवाले लोग खाँयें ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पूर्व समय में एक जनश्रुत राजा था, उस का एक प्रपौत्र था, वह बड़ा दानी था, बहुत ही उदार था, वह ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक दान देता था। उस के घर में बहुत सा भोजन बनता था और दीन दुःखियों को नित्य प्रति दिया जाता था। उसने हर एक जगह गाँवों और कसवों में बहुत सी धर्मशालायें (टिकने के ठिकाने) बनवा दीं ताकि यात्री लोग उनमें रहकर उसका दिया हुआ भोजन करें ॥ १ ॥

विशेष—उपनिषदों में जानश्रुति पौत्रायण का या तत्सदृश और महात्माओं का वर्णन हम पामरों को शिक्षा देने के लिए दिया गया है। प्रकृत जानश्रुति के उपाख्यान से यह शिक्षा मिलती है कि हम लोग भी उन्हीं की तरह उनके परम पवित्र दानादि आचरणों से परम पद की प्राप्ति कर सकते हैं। जानश्रुति नाम=जनश्रुत की सन्तान। पौत्रायण नाम=पौत्र का पुत्र, अर्थात् जनश्रुत का प्रपौत्र॥ १॥

इस प्रकार रहता हुआ वह राजा जब एक बार ग्रीष्म काल में अपने महल की अट्टालिका पर बैठा था, उस समय यह घटना हुई—

अथ ह ह ꣳ सा निशायामतिपेतुस्तद्धैष ह ꣳ सो ꣳ समभ्युवाद हो होहि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति॥ २॥

भावार्थ—उस समय रात्रि में उधर से हंस उड़कर जा रहे थे। उनमें से एक हंस ने दूसरे हंस से कहा—हे भल्लाक्ष,हे भल्लाक्ष ! देख जानश्रुति पौत्रायण की ज्योति द्युलोक के समान फैली हुई है। उस तेज को तू स्पर्श मत कर, अन्यथा वह तेज तुझको जला देगा॥ २॥

वि० वि० भाष्य—उसी समय रात्रि में उधर से हंस उड़ते हुए आये। भाव यह है कि राजा के अन्नदानसम्बन्धी गुणों से संतुष्ट कई ऋषि या देवता हंसरूप होकर राजा की दृष्टि के सामने होकर उड़े। उस समय उन हंसों में से पीछे उड़ते हुए एक हंस ने आगे उड़कर जाते हुए दूसरे हंस से कहा कि हे भल्लाक्ष ! हे अज्ञानी मित्र ! देखो देखो, उस जानश्रुति पौत्रायण की ज्योति याने अन्नदानादिजनित प्रभाव से प्राप्त हुई कान्ति द्युलोक के समान फैली हुई है। अर्थात् द्युलोक का स्पर्श करनेवाली है, या इसका यह भी अभिप्राय हो सकता है कि दिवा याने दिन के समान व्याप्त है, अतः उस तेज से सम्बन्ध न कर। नहीं तो उस ज्योति से सम्बन्ध करने पर वह ज्योति तुझे भस्म कर देगी॥ २॥

विशेष—'भल्लाक्ष=अज्ञानी ऐसा सम्बोधन देकर कहने का तात्पर्य यह है कि वह अपने कथन के प्रति आदर प्रदर्शित करता है तथा अन्य की मन्ददृष्टि को सूचित करता है। या सम्यक् ब्रह्मज्ञान के अभिमान से युक्त होने के कारण उस
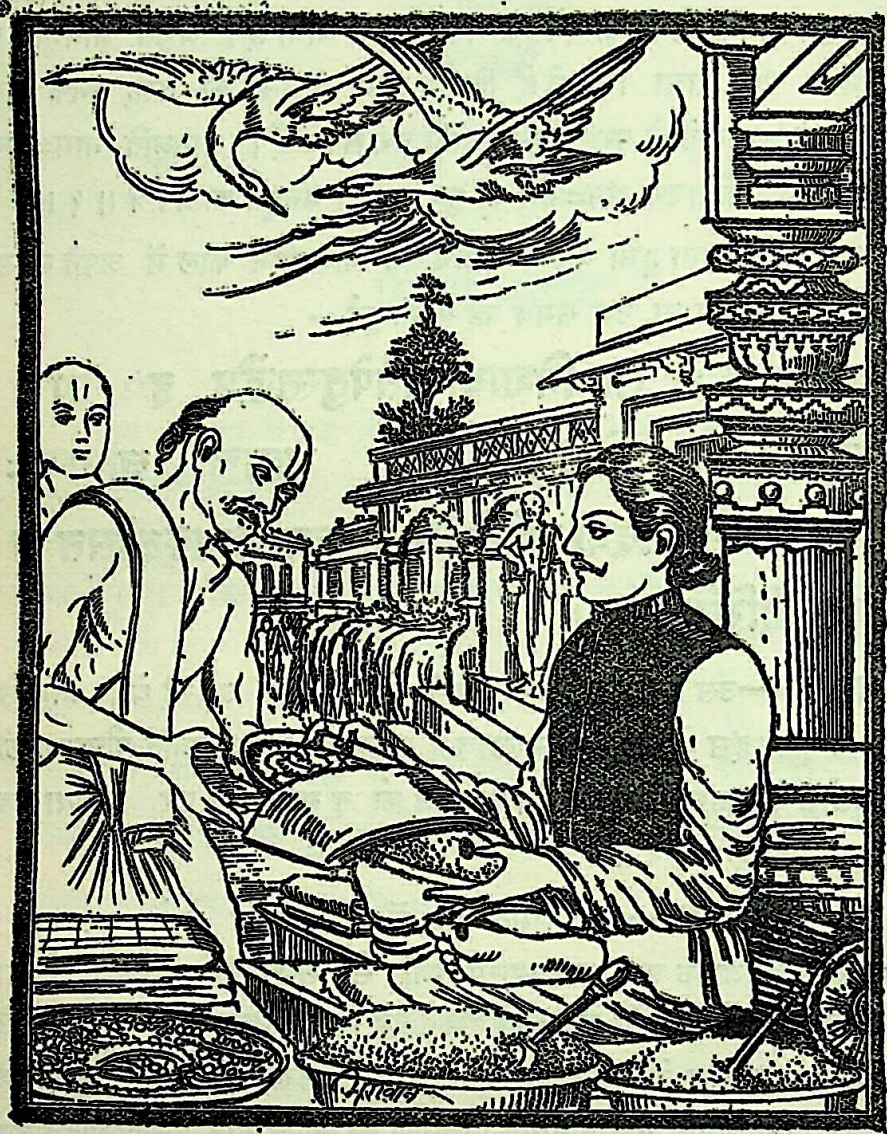
आगे उड़नेवाले हंस से निरन्तर छेड़े जाने से पीड़ित होकर क्रोधवश उसे 'भल्लाक्ष' कहकर सम्बोधन किया है। यहाँ आख्यायिका को अद्भुत बनाने लिए हंसों द्वारा उपन्यास कराया गया है। भाव यह है कि जानश्रुति पौत्रायण राजा का अभिमान तोड़कर उसको ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु बनाने के लिए यह आख्यायिका रची गयी है। अन्य किसी असम्भव कथन में तात्पर्य नहीं है। जो यह शंका करते थे कि हंस पक्षी किसी की गुणदोषविषयक चर्चा करने में असमर्थ हैं, उनका यहाँ उपनिषद् जैसे यथार्थ वचनों में पुराणों की तरह उपाख्यान क्यों किया गया? इस शंका का निराकरण हो जाता है ॥२॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तँ सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथं सयुग्वा रैक इति ॥३॥

भावार्थ—इस प्रकार कहते हुए उस पिछले हंस से आगे चलनेवाले हंस ने कहा कि क्या तू इसकी उपमा प्रसिद्ध सज्जन गाड़ीवाले रैक से देता है ? इस बात को सुनकर पश्चाद्गामी हंस ने कहा कि जो तुमने 'गाड़ीवाला रैक' ऐसा कहा है, वह कैसा है ? ॥ ३ ॥

भाष्य—आगेवाले हंस ने पीछे चलनेवाले हंस से कहा कि क्या तू राजा की उपमा गाड़ीवाले रैक से देता है ? इस बात को सुनकर पिछले हंस ने कहा कि रैक, जिसके घर में रथादिक बहुत हैं, वह कैसा है ? ॥ ३ ॥

विशेष—अग्रगामी हंस ने पिछले हंस से कहा कि अरे ! यह बेचारा राजा तो बहुत निम्न कोटि का है। भला किस रूप में वर्तमान कैसे महत्त्व से युक्त रहनेवाले इस राजा के प्रति तू इस प्रकार यह अत्यन्त सम्मानपूर्ण शब्द कह रहा है। ऐसा कहकर वह उसकी अवज्ञा करता है—क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक के समान बतलाता है ? यह कथन इस के अनुरूप नहीं है। अर्थात् यह रैक के समान है ऐसा कहना उचित नहीं ॥ ३ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनँ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस तरह जूआ खेलने में कृत नामक पासे के द्वारा जीतनेवाले पुरुष के अधीन उससे नीची श्रेणी के सम्पूर्ण पासे हो जाते हैं, उसी तरह प्रजा जो कुछ सुकार्य करती है, वह सम्पूर्ण उस रैक को प्राप्त हो जाता है। जो कोई उस विधान या कर्म को जानता है जिस को वह रैक जानता है तो वह भी उसी रैकवाले फल को प्राप्त होता है। यह बात इस प्रकार मुझ से कही गई है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इस पर राजा ने उस बात का वर्णन किया जो एक हंस ने दूसरे हंस से कही थी। राजा ने कहा कि हे मित्र ! सुनो, जैसे संसार में द्यूतक्रीडा के समय कृत नामक चार अंकवाले पासे के जीतने से एक, दो, तीन अंकवाले पासे, जो कलियुग, द्वापर, त्रेता को बताते हैं, जीत लिये जाते हैं,

वैसे ही सम्पूर्ण धर्म रैक्व के धर्म में अन्तर्भूत हो जाते हैं तथा प्रजा जो कुछ धर्म करती है वह सब रैक्व के धर्म में चला जाता है। और जो कोई उस कर्म को करता है, जिसको रैक्व करता है, वह भी उसी फल को प्राप्त हो जाता है, जिसको रैक्व प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

विशेष—पासे, जिन पर फूल बने रहते हैं, उन्हें अङ्क कहते हैं। ये फूल अलग अलग एक, दो, तीन और चार होते हैं। इनको क्रम से कलि, त्रेता, द्वापर और कृत कहते हैं। कृत से सबको जीत लिया जाता है, क्योंकि दूसरे सब उसके नीचे हैं, उसके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार रैक्व में जो योग्यता है उससे सारी योग्यतायें जीती जाती हैं। भाव यह है कि जैसे चार अङ्कों से युक्त कृत नामक पासे में एक, दो तथा तीन चिन्होंवाले पासे भी समा जाते हैं, वैसे ही कृतसदृश इस रैक्व के धर्मफल के अन्तर्गत सम्पूर्ण प्राणियों के धर्मफल सन्निविष्ट हो जाते हैं ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस बात को जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल संजिहान एव=उठते ही उसने सेवक से कहा कि अरे! क्या तू गाड़ीवाले रैक्व के समान मेरी स्तुति करता है? इस पर सेवक ने पूछा कि यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है? ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—अट्टालिका के ऊपरी भाग में स्थित राजा जानश्रुति पौत्रायण ने अपनी निन्दारूप और रैक्व आदि किसी दूसरे विद्वान् की प्रशंसारूप यह इस प्रकार का हंस का वचन सुन लिया। तथा उस हंस के वचन को बारंबार स्मरण करते हुए ही उसने शेष रात्रि को विताया। तब प्रातःकाल उठते ही प्रातःकाल की स्तुति करनेवाले बंदीजन से राजा ने कहा कि अरे वत्स! क्या तू मुझे गाड़ीवाले रैक्व के समान बतला रहा है? इस पर सेवक ने पूछा कि गाड़ीवाला रैक्व कैसा है ॥ ५ ॥

विशेष—राजा के तात्पर्य को जाननेवाले उस सेवक ने रैक्व को लाने की इच्छा से पूछा कि यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है? याने राजा के ऐसा कहने पर उसे लाने के लिए उसके चिह्न जानने की इच्छा से उसने 'यह जो गाड़ीवाला

रैक्व है, कैसा है ?' इस प्रकार कहा। तब राजा ने भल्लाक्ष का चतुर्थ मन्त्रोक्त वचन ही दुहरा दिया, यथा—॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥ ६ ॥

(इस मन्त्र और चौथे मन्त्र में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः चौथे मन्त्र का जो भावार्थ, भाष्य और विशेष पीछे लिखा गया है वही इसका भी समझना चाहिये।)

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥ ७ ॥

भावार्थ—जब वह वंदीजन उसका अन्वेषण करने के बाद मैं उसे नहीं पा सका, इस प्रकार कहता हुआ लौट आया, तब उससे राजा ने कहा कि हे मित्र ! जहाँ ब्राह्मण की खोज की जाती है वहाँ पर जाकर रैक्व का पता लगाओ ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—जब उस वंदीजन ने रैक्व को कई नगरों में खोजा पर उसका पता न लग सका, तब राजा के पास आकर कहा कि मैंने चारों ओर पता लगाया, किन्तु रैक्व का पता न लग सका। यह सुन जानश्रुति पौत्रायण ने कहा कि हे मित्र ! ब्रह्मवेत्ता की खोज एकान्त स्थल में, नदी के किनारे पर अथवा जंगल में की जाती है, इसलिए तुम जाकर रैक्व का उक्त स्थानों में पता लगाओ ॥ ७ ॥

विशेष—तपस्वी लोग तपश्चर्या के लिए एकान्त स्थान में, नदी के तट पर या वन में रहा करते हैं, क्योंकि तप के लिए ये ही स्थान समुचित हैं। इसलिए राजा ने रैक्व जैसे महातपस्वी का पता लगाने के लिए सेवक को उक्त स्थानों में भेजा ॥ ७ ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तꣳ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह वंदीजन एक गाड़ी के नीचे खुजली को खुजलाते हुए एक

मनुष्य को देखकर उसके समीप बैठ गया और बोला कि हे भगवन्! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक हैं? तब उसने उत्तर दिया कि हाँ हाँ हाँ, मैं ही रैक हूँ। इस प्रकार कहने पर वह वंदीजन यह जानकर कि मैंने रैक को पहिचान लिया है लौट आया ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—वह वंदीजन राजा जानश्रुति पौत्रायण की आज्ञा पाकर रैक ऋषि की खोज में फिर चला और निर्जन स्थान में एक पुरुष को एक गाड़ी के नीचे अपने शरीर को खुजलाते हुए बैठे देखा। वह उसके समीप बैठ गया तथा उससे कहा कि हे भगवन्! क्या गाड़ीवाले रैक आप ही हैं? इस तरह पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया कि हाँ मैं ही रैक हूँ। वंदीजन ऐसा जानकर राजा के पास लौट आया ॥ ८ ॥

विशेष—जब रैक ने उस वंदीजन से कहा कि अरे! हाँ मैं ही रैक हूँ, तब इस प्रकार 'अरे' कहकर उसने अनादर ही प्रकट किया ॥ ८ ॥

——:❀❀❀:——

द्वितीय खण्ड

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्क-मश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳ हाभ्युवाद ॥ १ ॥

भावार्थ—तब वह जानश्रुति पौत्रायण छै सौ गौएँ, एक हार और दो खचर-वाले रथ को लेकर रैक के पास गया और बोला ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—तब वंदीजन की बात को सुनकर राजा जानश्रुति पौत्रायण रैक ऋषि के धन की इच्छा को और गृहस्थाश्रमसम्बन्धी अभिप्राय को जानकर छै सौ गौओं को, एक निष्क कंठहार को और दो खच्चरोंवाली एक गाड़ी को साथ में लेकर रैक ऋषि के पास गया और कहा ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि सेवक के वाक्य को सुनकर, विशेषतः ऋषि को जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उससे अधिक सामान लेकर राजा ऋषि की सेवा में उपस्थित हुआ और नम्रतापूर्वक बोला। भाव यह है कि वह राजा था, उसके समीप राजकीय वैभवों का प्राचुर्य था। उसने राजसी सामग्री को विद्या प्राप्ति का साधन समझकर उसे ऋषि के लिए प्रस्तुत किया ॥ १ ॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताᳪ शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥ २ ॥

भावार्थ—हे रैक्व! ये छै सौ गौएँ, यह कंठहार और दो खच्चरवाले रथ को लाया हूँ। इनको आप लीजिये, और हे भगवन्! आप मुझे उस देवता का उपदेश दीजिये, जिसकी आप उपासना करते हैं ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे रैक्व ऋषि! आपको गाड़ी रखने का अनुराग है, मुझे आपका स्वास्थ्य भी जैसा होना चाहिये वैसा नहीं प्रतीत होता। आप शरीर को खुजाते हुए यह बोधन कर रहे हैं कि प्रारब्ध कर्मफल का भोग से ही क्षय कर लेना सर्वोत्तम है। यों तो आप योगबलाग्नि से कर्मों को भस्म करने की सामर्थ्य रखते हैं। जो भी हो, मैं आपके लिए एक ऐसा सुन्दर अथच परिपुष्ट रथ लाया हूँ, जिसमें महाप्राण जन्तु जुड़े हैं जिन्हें खच्चर कहा जाता है। में समझता हूँ आप इसे अधिक पसन्द करेंगे। साथ ही गायें भी लाया हूँ। इनका अमृत पान करके आपका शरीर परिपुष्ट हो शिष्यों का अधिक उपकार साधन करने में समर्थ हो सकेगा। इन गायों का भृत्य आदिकों द्वारा आप संरक्षण कर सकेंगे, क्योंकि मैं धन भी लाया हूँ। और कुछ आभूषण भी साथ में हैं जो शौक की चीजें हैं। जो आप निवृत्तिमार्ग में हैं तो उपर्युक्त साधन आपको इस प्रकार कोई बाधा नहीं पहुँचा सकेंगे जैसे फूँस की अग्नि समुद्र के जल को नहीं तपा सकती। और यदि श्रीमान् प्रवृत्तिमार्ग का अनुसरण करना चाहेंगे तो यह सामग्री आपकी सहायिका होगी। कृपा करके आप इसको स्वीकार कीजिये और मुझे उस देवता की उपासना का उपदेश दीजिये, जिसका आप अनुष्ठान किया करते हैं ॥ २ ॥

विशेष—राजा ने रात्रि में अट्टालिका के ऊपर सोते हुए हंसों के वचन को सुनकर अपने मन में निश्चय कर लिया था कि रैक्व अवश्य ही किसी ऐसे देव की उपासना करता है, जिस से कि उसकी कीर्ति दिगन्तों तक फैली हुई है। अतएव पूर्वोक्त वस्तुओं के साथ ऋषि के प्रति उस देवोपासना को जानने की इच्छा प्रकट की ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदु ह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रैक्व ऋषि ने उस राजा को उत्तर दिया कि हे शूद्र ! गायों के सहित गाड़ी तुम्हारी ही हो। उसके बाद ऋषि के इस तात्पर्य को जानकर जानश्रुति पौत्रायण निश्चय करके एक हजार गौओं को, एक कण्ठहार को, दो खच्चरवाली गाड़ी को और अपनी कन्या को साथ लेकर ऋषि के पास गया ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस पर रैक्व ऋषि ने जानश्रुति पौत्रायण से कहा कि हे शूद्र ! ये गौएँ, कण्ठहार और दो खच्चरवाली गाड़ी तेरे ही पास रहे, क्योंकि कर्म के लिए ये अपर्याप्त हैं, इसलिए ऐसे इस धन से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। इसके बाद राजा रैक्व ऋषि के अभिप्राय को जानकर एक हजार गौओं को, एक कण्ठहार को तथा दो खच्चरवाली गाड़ी को और अपनी कन्या को साथ लेकर दूसरी बार ऋषि के पास गया ॥ ३ ॥

विशेष—शंका—क्षत्ता (सेवक) से संबन्ध होने के कारण यह जानश्रुति तो राजा है, क्योंकि 'स ह क्षत्तारमुवाच' (उसने सेवक से कहा) ऐसा पहले कहा जा चुका है। तथा विद्या में शूद्र का अधिकार न होने से ब्राह्मण के समीप विद्या ग्रहण के निमित्त जाने के कारण भी यह राजा क्षत्रिय ही जान पड़ता है। फिर रैक्व ने 'हे शूद्र' ऐसा अनुचित शब्द क्यों कहा ?

इस विषय में आचार्यों का कहना है कि हंस का वचन सुनने पर इस जानश्रुति में शोक का आवेश हो गया था। उस शोक से अथवा रैक्व की महिमा सुनकर वह द्रवीभूत हो रहा था, अतः ऋषि ने अपनी परोक्षज्ञता दिखलाने के लिए उसे 'शूद्र' कहकर संबोधित किया। अथवा वह शूद्र के समान केवल धन के द्वारा ही विद्या ग्रहण करने के लिए उसके समीप गया था, शुश्रूषा द्वारा विद्या ग्रहण के लिए नहीं गया, इसलिए उसे 'शूद्र' कहा हो। वह जाति से ही शूद्र हो ऐसी बात नहीं है। परन्तु दूसरे लोग इस प्रकार कहते हैं कि वह थोड़ा धन लाया था, इसलिए क्रोधवश उसे 'शूद्र' कहा है। बहुत सा धन तथा अभीष्ट पत्नी के लाने पर उसे ग्रहण कर लेना इस बात को सूचित करता है ॥ ३ ॥

(अब दो मन्त्रों का भावार्थ अलग अलग लिखकर भाष्य तथा विशेष साथ ही लिखा जाता है—)

तँ६ हाभ्युवाद रैक्वेदँ६ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—तब राजा ने ऋषि से कहा—ये एक हजार गौएँ, यह हार, यह दो खच्चरवाली गाड़ी, यह कन्या तथा यह ग्राम, जिसमें कि आप हैं लीजिए और हे भगवन् ! मुझे अब उपदेश कीजिये ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥ ५ ॥

भावार्थ—तब उस राजकन्या के मुख की तरफ देखते हुए रैक ने कहा कि हे शूद्र ! तू ये गौएँ आदि लाया है इन्हें ले जा। ठीक है, तू इस कन्यामुख से ही मुझ से भाषण करना चाहता है। यह सुनकर उस राजा ने अति पवित्र देशों को जिन में रैक ऋषि निवास करता था, ऋषि के लिए दे दिया। तब रैक ऋषि ने अच्छी तरह राजा को विद्या का उपदेश किया। वे गाँव रैकपर्णा नाम याने रैक ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा ने कहा कि हे रैक ! ये एक सहस्र गौएँ, यह हार, यह खच्चरियों से युक्त रथ और यह पत्नी अर्थात् आप की भार्या होने के लिए अपनी कन्या लाया हूँ। तथा जिसमें आप रहते हैं वह गाँव भी मैंने आप ही के लिए निश्चित कर दिया है। हे भगवन् ! इन सब को स्वीकार कर आप मुझे अवश्य उपदेश दीजिए।

इस बात को सुनकर उस ऋषि ने राजा की लड़की के मुख को विद्यादान में तीर्थ जानते हुए उस को तथा गवादिकों को भी स्वीकार किया और कहा कि रे शूद्र ! विद्याग्रहण में तीर्थरूप इस मुख से ही मैं तुझको विद्या का उपदेश करूँगा। जिन ग्रामों में वह रैक रहता था वे ग्राम महावृष देश में रैक्वपर्णा नाम से विख्यात हैं। वे ही ग्राम राजा ने उस रैक्वपर्ण को दिये और धन दिया। तब फिर रैक ने उस जानश्रुति राजा को विद्या दान दिया ॥ ४ ॥

विशेष—'रैक ऋषि ने उस राजकन्या के मुख को ही विद्यादान का द्वार अर्थात् तीर्थ जानते हुए कहा' इस विषय में विद्या का यह वचन प्रसिद्ध है—"ब्रह्मचारी, धन देनेवाला, बुद्धिमान्, श्रोत्रिय, प्रिय और जो विद्या के बदले में विद्या का उपदेश करता है; ये छै मेरे तीर्थ हैं।"

इस आख्यायिका का यह प्रसङ्ग बड़ा ही विलक्षण है कि राजा ने विद्या प्राप्ति के लिए अपनी कन्या तक को दे देना उचित समझा। और धन धान्य आदि में

अनास्था प्रकट करनेवाले परमत्यागी ऋषि ने राजा की कन्या को सहर्ष स्वीकार कर लिया। पहले ऋषि ने राजा को शूद्र कहकर उसका तिरस्कार किया और उससे धन ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। किन्तु इतने पर भी राजा हतोत्साह नहीं हुआ। यद्यपि रैक्क ऋषि ने राजा जानश्रुति को यह कह दिया था कि हे शूद्र! इस धन के लालच से मैं तुझ अनधिकारी को ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं करूँगा। तथापि राजा उसी समय हजार गायें, एक मणिमय हार, एक अश्वतरीरथ और अपनी युवा कन्या को लेकर पुनः ऋषि की सेवा में उपस्थित हुआ और बोला कि महाराज, कृपा करके इस सब धन को आप ग्रहण करें तथा अपनी कन्या का मुख ऊपर को उठाकर कहा कि इसको आप अपनी धर्मपत्नी बनावें और यह ग्राम जहाँ आप निवास करते हैं यह भी आप ही के अर्पण करता हूँ। परन्तु आप कृपया मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। यह सुन ऋषि प्यार से उस कन्या के मुख का अवलोकन करते हुए बोले कि हे शूद्र! तुम यह जितना धन लाये हो वह मेरे लिए कोई राग नहीं पैदा कर सकता। हाँ इस कन्या के मुख से तुम मुझको बुलाते हो, याने बोलने के लिए बाध्य करते हो। अर्थात् इन में से कोई पदार्थ मुझको उपदेश देने के लिए बाधित नहीं कर सकता। परन्तु केवल यह एक स्त्रीरत्न ही ऐसा है जिसका निरादर नहीं हो सकता इससे विदित होता है कि पहले के लोग विद्या प्राप्ति के लिए जो त्याग सम्भव था उस के करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे ॥ ४–५ ॥

तृतीय खण्ड
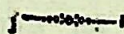
अब रैक्क द्वारा संवर्गविद्या का उपदेश किया जाता है, यथा—

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥ १ ॥

भावार्थ—पवन ही संवर्ग है। जब अग्नि शान्त होता है तो पवन में ही मिलता है और जब आदित्य अस्त को प्राप्त होता है तब पवन में ही मिलता है। जब चन्द्रमा अस्त होता है तब वह भी पवन में ही मिलता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—अब अधिदेवतारूप से विद्यादान प्रकार को कहते हैं। बाह्य वायु ही संवर्ग है। क्योंकि अग्नि आदि तैजस पदार्थ इस प्रत्यक्ष दृश्य वायु में मिलकर वायुरूप हो जाते हैं। इसलिए वायु ही संवर्गरूप है याने संवर्जन=संग्रहण अथवा संग्रसन करने के कारण वह संवर्ग है। अर्थात् आगे कहे जानेवाले अग्नि आदि देवताओं को वायु अपने स्वरूप में मिला लेता है, अतः वह संवर्ग है। जैसे कृत नामक पासे में अन्य पासों का अन्तर्भाव हो जाता है, उसी दृष्टान्त के अनुसार वायु के समान संवर्जनसंज्ञक गुण का ध्यान करना चाहिए। अब आगे श्रुति भगवती वायु की संवर्गता को बतलाती है कि वायु ही सबका संग्रहण करनेवाला है, जब अग्नि शान्त हो जाता है तब वह वायु में ही लीन हो जाता है याने वायु के स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। तथा जिस समय सूर्य अस्त को प्राप्त हो जाता है उस समय वह वायु में ही लीन हो जाता है और जब चन्द्रमा अस्त को प्राप्त हो जाता है तब वायु में ही लीन हो जाता है॥ १॥

विशेष—शङ्का—जब सूर्य चन्द्र के प्रत्यक्ष विभिन्न स्वरूप दिखाई दे रहे हैं तो फिर वे वायुरूप किस तरह हो जाते हैं? समाधान—सूर्य चन्द्रमा के अस्त में वायु ही कारण है, क्योंकि चलन वायु का कार्य है, इसलिए वायु से सूर्य अस्त होता है। या प्रलय काल में जब सूर्य और चन्द्रमा के स्वरूप का नाश होता है तब तेजोरूप सूर्य चन्द्रमा की वायु में ही लीनता होती है॥ १॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम्॥ २॥

भावार्थ—जब जल सूख जाता है तब वह वायु में ही मिल जाता है, क्योंकि वायु ही इन सम्पूर्ण अग्न्यादिकों को अपने में रखता है। यह अधिदैवत दृष्टि है॥२॥

वि० वि० भाष्य—जब जल प्रलय काल में सूख जाता है तब वायु में ही लीन होता है, क्योंकि वायु ही इन अग्नि आदि महाबलवान् तत्त्वों का आधार है। इस तरह यह देवतासम्बन्धी संवर्ग कहा गया है॥ २॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि उक्त कारण से वायु ही सब अग्नि आदिकों का आधार है, अतएव उपासक को उचित है कि वह वायु की संवर्ग गुणरूप से उपासना करे॥ २॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति

प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳ श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब अध्यात्म दर्शन कहा जाता है—प्राण ही संवर्ग है। जब यह पुरुष सोता है तब वाणी प्राण में ही लीन होती है, प्राण में ही चक्षु, प्राण में ही श्रोत्र तथा प्राण में ही मन लीन होता है। क्योंकि प्राण ही इन सबको अपने में लीन कर लेता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—अब शरीरसम्बन्धी संवर्ग विद्या कही जाती है। मुख्य प्राण ही निश्चय करके संवर्ग है अर्थात् लय करनेवाला है, क्योंकि जिस समय में कोई पुरुष शयन करता है उस समय में वागिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और मन मुख्य प्राण में ही लय भाव को प्राप्त होते हैं। अतएव मुख्य प्राण ही समस्त इन्द्रियों का लय करनेवाला है। ये ही अध्यात्म उपदेश हैं ॥ ३ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जैसे अग्नि वायु में लीन होता है वैसे ही वागादि समस्त इन्द्रियाँ तथा मन मुख्य प्राण में ही लीन होते हैं। क्योंकि वागादि सर्व पदार्थ प्राण में ही जाकर मिल जाते हैं, इसलिए संवर्ग गुणवाले वायु की उपासना करनी चाहिए ॥ ३ ॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४ ॥

भावार्थ—जे ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओं में वायु और इन्द्रियों में प्राण ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—देवताओं में वायु संवर्ग गुणवाला है, और इन्द्रियों में प्राण संवर्ग गुणवाला है। अतः अधिदैव और अध्यात्म भेद करके दो संवर्ग कहे गये हैं, अर्थात् देवताओं में वायु और इन्द्रियों में प्राण ॥ ४ ॥

विशेष—देवताओं में वायु और वागादिकों में प्राण ये दोनों अधिदेवता, अध्यात्म रूपवाले तथा संवर्जन गुणवाले हैं। अर्थात् खा लेनेवाला, अपने अन्दर मिला लेनेवाला, तल्लीन कर लेनेवाला जो हो वह संवर्ग कहाता है।

इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सयुग्वा रैक्व ऋषि ने जानश्रुति राजा को संवर्ग विद्या का इस प्रकार उपदेश दिया—हे राजन्! इस विद्या के दो भेद हैं। एक

अधिदैवत संवर्गोपासना और दूसरी अध्यात्म संवर्गोपासना है। अधिदैवत संवर्गोपासना को इस प्रकार समझो कि वायु नामक गतिप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, और अग्नि सूर्य चन्द्रमा तथा जल आदि देवताओं की पराकाष्ठा एकमात्र वही ब्रह्म है। अर्थात् सब देवता उपशान्त काल में उसी गतिशील परमात्मा में लय हो जाते हैं। इस भाव को पूर्ण प्रकार से समझने का नाम अधिदैवत संवर्गोपासना है। दूसरा प्राण नामक प्राणप्रद परमात्मा ही संवर्ग है, वाक्, चक्षुः, श्रोत्र और मन आदि इन्द्रियों की पराकाष्ठा एकमात्र ब्रह्म ही है। अर्थात् जब मनुष्य इस संसार से प्रयाण करता है तब उसकी सब इन्द्रियाँ उसी प्राणरूप परमात्मा में लय हो जाती हैं। इस भाव को अच्छी तरह से समझने का नाम अध्यात्म संवर्गोपासना है, और यह उक्त दो देवों में वायु और प्राण नाम से प्रसिद्ध हैं। जो इस भाव को जानता है वह जानने योग्य सब जान जाता है ॥ ४ ॥

अब संवर्ग याने वायु और प्राण की स्तुति के लिए आख्यायिका आरम्भ करते हैं; यथा—

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

भावार्थ—एक समय कपि गोत्र में पैदा हुए शौनक और कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारी से, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था, एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी। परन्तु उन्होंने उसे भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अब अधिदेवता रूप वायु और अध्यात्म रूप प्राण की स्तुति इतिहास द्वारा करते हैं। कपि गोत्रवाला शुनककुमार और कक्षसेन का पुत्र अभिप्रतारी, जो भोजन करने के लिए बैठे थे और जिन के सामने भोजन परोसा जा रहा था, उन के समीप आकर एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी। उस ब्रह्मचारी को उन्होंने भिक्षा नहीं दी ॥ ५ ॥

विशेष—उनका ब्रह्मचारी के प्रति भिक्षा न देने का तात्पर्य यह था कि जब यह भिक्षा नहीं पायेगा तब हम को अपने आत्मज्ञान की कथा सुनायेगा। अथवा ब्रह्मचारी के 'मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ' ऐसे अभिमान को जानकर, यह जानने की इच्छा से कि देखें यह क्या कहता है, उन्हों ने भिक्षा न दी ॥ ५ ॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रता-रिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥ ६ ॥

भावार्थ—तब उस ब्रह्मचारी ने कहा कि भुवनों की रक्षा करनेवाले उस एक देव प्रजापति ने चार महात्माओं को ग्रस लिया है। हे कापेय गोत्रवाले ऋषि! हे अभिप्रतारिन्! मनुष्य कई प्रकार से निवास करते हुए उस एक देव को नहीं देखते, तथा जिसके लिए यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—उस ब्रह्मचारी ने कहा कि अग्न्यादिकों के प्रति एक देव क=प्रजापति याने वायु है और वागादिकों के प्रति प्राण है, वह सब को ग्रसन करनेवाला है। भू आदि सब लोकों की रक्षा करनेवाला वह प्रजापति है। हे कापेय! उस प्रजापति को मरण धर्मवाले अज्ञानी नहीं जानते हैं। हे अभिप्रतारिन्! अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप से रहनेवाले जिस प्रजापति के लिए प्रतिदिन भोजन संस्कार किये जाते हैं उस प्रजापति को यह अन्न तुमने नहीं दिया। याने मुझे अन्न देने से जो तुमने निषेध कियां है, वह वस्तुतः प्राण ब्रह्म को अन्न प्रदान करने से निषेध किया है ॥ ६ ॥

विशेष—किसी किसी का मत है कि 'कः' यह प्रश्नवाचक है अर्थात् उस ब्रह्मचारी ने उन से प्रश्न किया कि वह कौन एक देवता है जो अग्नि आदिकों का और वागादिकों का भक्षण करनेवाला है, जिस को हे कापेय! मरण धर्मवाले अज्ञानी जीव अनेक प्रकार से उसी में रहते हुए भी नहीं जानते हैं। जिस प्रजापति के निमित्त यह भोजन संस्कार किया जाता है उसी प्रजापति के प्रति तुमने अन्न को नहीं दिया है, इसमें क्या कारण है? क्या तुम उस प्रजापति की उपासना को नहीं करते हो?

भाव यह है कि हे राजन्! जिस के लिए यह अन्न है उसके लिए आप लोगों ने अन्न नहीं दिया, अर्थात् मैं ब्रह्मचारी जो परमात्मा की वेदरूप वाणी को सर्वत्र फैलाने के लिए अध्ययन कर रहा हूँ, उसका आपने निरादर किया। जो ईश्वरीय वाणी वेद है, उसका रक्षक ब्रह्मचारी ही है, सो आप दोनों का मुझको भिक्षा न देना परमपिता परमात्मा का हनन करना है। और ये संपूर्ण अन्न

उस की कृपा से उपलब्ध होते हैं, अतएव मुझ को अन्न न देना आप के लिए पाप है ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाऽऽत्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳ हिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥ ७ ॥

भावार्थ—कापेय शौनक ने उस ब्रह्मचारी के वचन का मनन करते हुए उसके पास आकर कहा कि उस प्रजापति को हम जानते हैं, वह देवों का आत्मा, प्रजाओं का जनिता, सुवर्णदंष्ट्र, भक्षक तथा विद्वान् है। ब्रह्मवित् इस प्रजापति की महिमा को अतिमहान् कहते हैं, क्योंकि वह औरों से खाया नहीं जाता है किन्तु अग्नि आदि जो अन्न नहीं हैं, उनको भी खा जाता है। इसलिए हे ब्रह्मचारिन्! हम इस व्यापक ब्रह्म की उपासना करते हैं। 'इस ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा दो' इस प्रकार शौनक ऋषि ने नौकरों से कहा ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—ऐसे उस ब्रह्मचारी के वचनों का एकाग्र मन से विचार करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न शौनक ऋषि उस ब्रह्मचारी के समीप आये और कहा कि हे ब्रह्मचारिन्! तुमने जो कहा कि उस प्रजापति को अज्ञानी मनुष्य नहीं जानते हैं, उसको हम जानते हैं। वही संपूर्ण स्थावर जंगमरूप प्रजाओं का आत्मा है, वही समस्त अग्नि आदि देवताओं को उत्पन्न करनेवाला है, वही फिर अपने में ही लय करनेवाला भी है। वही वायुरूप करके अग्नि आदिकों का अधिदैवत है और प्राणरूप करके वागादिकों का अध्यात्मरूप भी है, और समस्त प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाला है। सुवर्ण के समान उसके दाँत हैं अर्थात् अनादि काल का भक्षण करने वाला है, तथा सब से बुद्धिमान् भी है, जो किसी करके खाया नहीं जाता है उसका भी वह खानेवाला है। हे ब्रह्मचारिन्! हम लोग उसी की उपासना को करते हैं। ऐसा कहकर शौनक ने उस ब्रह्मचारी के प्रति नौकरों से अन्न देने की आज्ञा दी ॥ ७ ॥

विशेष—कापेय शौनक ब्रह्मचारी के उस वचन की मन से आलोचना कर ब्रह्मचारी के समीप जाकर बोला कि जिसके विषय में आपने कहा कि अज्ञानी मर्त्यगण उसे नहीं देखते सो उसे हम देखते हैं। वह अग्नि तथा वागादि देवों का आत्मा और स्थावर जङ्गम प्रजाओं का उत्पत्तिकर्ता है। हिरण्यदंष्ट्र = अमृतदंष्ट्र, याने जिसके

दाँत कभी नहीं टूटते, वह 'बभसः'=भक्षणशील तथा 'अनसूरि'=मेधावी है। ब्रह्मवेत्ता लोग इस प्रजापति की अप्रमेय विभूति बतलाते हैं, क्योंकि यह स्वयं दूसरों से अभक्ष्यमाण तथा अग्नि आदि देवतारूप जो अनन्न (जो दूसरों का अन्न नहीं) है उसका भक्षण करता है। हे ब्रह्मचारिन्! हम ऐसे लक्षणोंवाले ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। कोई कोई "ब्रह्मचारिन् न इदमुपास्महे" ऐसा पदच्छेद कर 'हम इस ब्रह्म की उपासना नहीं करते किन्तु परब्रह्म की उपासना करते हैं'—ऐसी व्याख्या करते हैं। फिर शौनक ने सेवकों से कहा कि इसे भिक्षा दो ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दश कृतꣳ सैषा विराडन्नादी तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ ८ ॥

भावार्थ—तब उन नौकरों ने निश्चय करके उस ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा दी। निश्चय करके ये पाँच प्राण, वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र देवता पृथक् हैं और ये पाँच वायु, अग्नि, आदित्य, चन्द्र और जल देवता पृथक् हैं, इस तरह दस देवता मिलकर वह कृत युग होता है। इस लिए सब दिशाओं में अन्न याने भोग्य वस्तु ही दस देवता कृत अर्थात् सत्ययुग नाम से प्रसिद्ध हैं। वही ये दस देवता अन्नादिक हैं, उन दस देवताओं करके यह संपूर्ण जगत् दृष्ट:=रचा गया है। जो इस प्रकार जानता है उस जाननेवाले पुरुष को यह सम्पूर्ण जगत् दृष्ट हो जाता है। 'य एवं वेद' 'य एवं वेद' यह द्विरुक्ति उपासना की समाप्ति के लिए है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—उन शौनकादिक ऋषियों ने उस ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा दी। अधिदैवरूप वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल ये पाँच आधिदैविक संवर्ग, और प्राण, श्रोत्र, चक्षु, वाणी और मन ये पाँच अध्यात्म संवर्ग; ये दोनों मिलकर दस होते हैं। ये दस ही द्यूत में कृत शब्द से विख्यात हैं और युगों से मिले हुए ये दस कृतयुग कहे जाते हैं। जैसे प्राणादि और वागादि दसों द्यूत में कृत कहे जाते हैं वैसे ही श्रोत्रादिकों में से एक को जब प्राण में मिलाते हैं तब शेष चार चौक कहलाते हैं। युगों में यही कृतयुग है। और जब श्रोत्रादि दो प्राण में मिलते हैं तो अवशिष्ट तीन तीया द्यूत में और युगों में त्रेता कहाते हैं। जब श्रोत्रादि तीन प्राण में मिलते हैं तब शेष दो दुआ और द्वापर कहाते हैं। और

जब श्रोत्रादिकों के प्राण में मिलने से एक अवशिष्ट रहता है उसे नकी और कलि कहते हैं। ये दस मिले हुए कृत शब्द से कहे जाते हैं। अग्न्यादि वागादि मिले हुए दस और दसों दिशा होने से दस सामान्य धर्म से दस अक्षरोंवाला विराट् ही अन्न है। यह विराट् दस संख्यावाला होने से और कृतवाला होने से अन्न और अन्नादी दोनों हैं। इसी प्रकार विद्वान् देवतारूप होकर विराट्रूप दस संख्या से अन्न और कृत संख्या से अन्नादी होता है और उसी अन्न या अन्नादी से इस संसार को दसों दिशा में स्थित कृत संख्या से जाना जाता है। जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से इस संसार को जानता है उसका दसों दिशाओं में संबन्ध होता है और वह पुरुष अन्नादी होता है ॥ ८ ॥

विशेष—शौनक ऋषि कहते हैं कि हे ब्रह्मचारिन्! इस शरीर के बाहर जो वायु है वह भोक्ता है, और अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल उस के भोग्य हैं। क्योंकि अग्नि वायु में लय होता है, विना वायु के अग्नि की स्थिति नहीं रहती। वायु आधार है और अग्नि आधेय है। आधार आधेय को लिये हुए ऐसा दिखाई पड़ता है कि मानो वह उसको अपने में पकड़े है। यदि घट में अग्नि या दीपक रख दिया जाय और उसका मुँह ऐसा बन्द कर दिया जाय कि उस में वायु न जा सके तो अग्नि या दीपक बुझ जायेगा अर्थात् उस को वह वायु भक्षण कर जायेगा। सूर्य चन्द्र की गति भी वायु के द्वारा ही होती है अर्थात् वे वायु करके चारों ओर ग्रसित हैं। महाप्रलय में जब वायु प्रचण्ड होता है तब अग्नि, सूर्य, चन्द्र, और जल का कहीं पता नहीं लगता है, वायु उन सबों को भक्षण कर जाता है, और सृष्टि की उत्पत्ति के समय इन सबों को वह अपने में से बाहर निकाल देता है। इसी कारण यह वायु आधिदैविक संवर्ग कहा जाता है, अर्थात् अपने में सबको खींचकर रखता है। इसी तरह इस शरीर के भीतर प्राण भी भोक्ता है, और वाणी, चक्षु, मन और श्रोत्र इसके भोग्य हैं। क्योंकि ये प्राण के ही वश रहते हैं, यह प्राण इस कारण आध्यात्मिक संवर्ग कहा जाता है। अर्थात् अपने में इन चारों को खींचकर रखता है, प्राण के निकलने पर ये चारों अपने अपने स्थान में नहीं रह सकते हैं, उस के साथ खिंचे चले जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में अथवा मरण काल में यह चारों प्राण में ही लय हो जाते हैं, और फिर जाग्रत् अवस्था अथवा उत्पत्ति समय में उसी प्राण से निकल आते हैं और अपने अपने स्थान में स्थित हो जाते हैं। ऊपर कहे हुए जो दो भोक्ता याने वायु और प्राण और आठ भोग्य अर्थात् अग्नि,

सूर्य, चन्द्र, जल, वाणी, नेत्र, मन और श्रोत्र हैं, इन सबका भोक्ता आत्मा है। वही अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत रूप से दसों दिशाओं में व्याप्त है। जो यावत् दसों दिशाओं में व्याप्त है वही अन्न है, वही भोग्य है, वही विराट् है। इस विराट् की उपमा उस विराट् छन्द से है जो वेदों में दस अक्षरों से संयुक्त है। इसी की उपमा द्यूत में कृत नामवाले पासे से भी देते हैं, जो अपने चार अंकों से युक्त है और जिसमें तीन (त्रेता), दो (द्वापर) और एक (कलि) अंकवाले पासे अंतर्भूत हैं। जैसे कृत नामक पासे को जीत लेने से शेष तीनों पासे जीते हुए समझे जाते हैं वैसे ही कृतयुग के जीत लेने से शेष तीनों युग भी याने त्रेता, द्वापर और कलि जीते हुए समझे जाते हैं। इसी प्रकार अन्न के दान से सम्पूर्ण वस्तुओं का दान दिया हुआ जाना जाता है, और आत्मा के भोग लेने से सबका भोग किया हुआ हो जाता है। विराट् का अर्थ भोग्य और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए जो भोग्य रूप से स्थित है वह और जो भोक्ता रूप से स्थित है वह भी, ये दोनों आत्मा ही है। याने वही भोग्य है और वही भोक्ता है, ऐसा जो देखनेवाला है वही तत्त्वदर्शी और अन्न का भोक्ता समझा जाता है।

इस खण्ड के तात्पर्यांश में बड़ी उलझन सी है, हमारे उत्तम संस्कार शिथिल हो गये हैं, यही कारण है कि हम वैदिक उपासनाओं के प्रकार से अनभिज्ञ हो रहे हैं। यहाँ उस उपमा को ठीक किया गया है जो पूर्व में रैक के लिए दी गई है, जैसे कृत अय में निचले अय अन्तर्गत होते हैं, सो यहाँ संवर्ग विद्या की दस संख्या और जुए के अयों की दस संख्या द्वारा समता दिखलाई है। और कृत पासा दूसरों को अन्तर्गत कर लेता है, जैसे कि संवर्ग विद्या के जाननेवाले में दूसरे सारे पुण्य अन्तर्गत हो जाते हैं। पर इसकी उलझन बराबर बनी है। इस विषय को आचार्य शंकर ही सुस्पष्ट करने में समर्थ थे। इस विषय में यह धारणा स्थिर करके संतोष कर सकते हैं कि वैदिक काल में यह विद्या अत्यधिक सुप्रसिद्ध रही होगी। इसी कारण इस विषय पर आचार्यों ने अधिक स्पष्टतया लिखना उचित न समझा हो। साथ ही यह भी हो सकता है कि इस विद्या का साहित्य जो उस समय रहा हो वह काल पाकर नष्ट होने से आज हमें उपलब्ध नहीं हो रहा है ॥ ८ ॥

चतुर्थ खण्ड

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रो न्वहमस्मीति ॥ १ ॥

भावार्थ—सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता जबाला से श्रद्धापूर्वक कहा कि हे पूज्य माता ! मैं ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल में निवास करूँगा, मेरा गोत्र क्या है ? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—सत्यकाम नामक पुत्र ने जबाला नामक अपनी माता से कहा कि हे माताजी ! वेदाध्ययन के लिए मैं आचार्यकुल में निवास करना चाहता हूँ, इस लिए तुम मुझको कहो कि मैं किस गोत्रवाला हूँ ? ॥ १ ॥

विशेष—पूर्व खण्ड में यह बात कही है कि प्राणादि और वागादि इन दसों देवताओं से व्यतिरिक्त जगत् नहीं है, जिसने इन दसों देवताओं को देखा है उसने सम्पूर्ण जगत् को देखा है। अब यह कहते हैं कि वागादि तथा अग्न्यादि अन्न और अन्नादी रूप से स्तुति किये गये जगत् को एक करके फिर उसके सोलह विभाग करके उसमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए। श्रद्धा और तप ये ब्रह्मोपासना के अङ्ग हैं, इसी बात को कहने के लिए प्रकृत इतिहास का आरम्भ किया गया है ॥ १ ॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥ २ ॥

भावार्थ—उसने उससे कहा कि हे तात ! तू जिस गोत्रवाला है उसे मैं नहीं जानती। युवावस्था में जब कि मैं बहुत अतिथिसत्कारादि कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तेरा कौन गोत्र है। मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। इस लिए तू अपने को आचार्य से 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्वोक्त प्रकार से पुत्र के वाक्य को सुनकर जवाला ने कहा कि हे पुत्र ! मैं नहीं जानती हूँ कि तू किस गोत्र का है ? क्योंकि पति के गृह में आये हुए अतिथि अभ्यागतादिकों की सेवा में मेरा चित्त रहता था, इस लिए गोत्रादिकों का स्मरण मेरे मन में नहीं रहा। उसी समय यौवन में मैंने तुझको प्राप्त किया और उसी काल में तेरे पिता की मृत्यु हो गई। फिर मैं अनाथ हो गई। अतः इस बात को नहीं जानती हूँ कि तू किस गोत्र का है। तेरा नाम सत्यकाम है और मेरा नाम जबाला है, अतः यदि आचार्य तुझसे गोत्रादि पूछें तो तू यह कह देना कि मैं जवाला का पुत्र सत्यकाम हूँ ॥ २ ॥

विशेष—पुत्र की बात को सुनकर माता ने कहा कि हे तात ! किस गोत्र का तू है इस बात को मैं भी नहीं जानती हूँ। गोत्र के जानने में कारण यह है कि जब से मैं अपने पति के घर आई तब से पति की सेवा में रही और आये गये अतिथियों की सेवा सत्कार करती रही। कभी मैंने अपने पति से नहीं पूछा कि आप का कौन गोत्र है ? क्योंकि पतिव्रता स्त्री का धर्म केवल पति की सेवा और पति की आज्ञा का पालन करना है। युवावस्था में तू मुझको प्राप्त हुआ, उसके थोड़े दिन के बाद तेरे पिता का देहान्त हो गया, इस लिए मैं सिर्फ इतना ही जानती हूँ कि जवाला मेरा नाम है और सत्यकाम तेरा नाम है। जब आचार्य तुझसे गोत्र पूछें तब उनसे कह देना कि सत्यकाम मेरा नाम है और जबाला मेरी माता का नाम है, केवल इतना ही मेरी माता जानती है ॥ २ ॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उसने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा—मैं पूज्य आप के पास ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करूँगा, इसी से आप की सन्निधि में आया हूँ ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—माता के वचन को सुनकर सत्यकाम ने हारिद्रुमत ऋषि के समीप जाकर कहा कि मैं आपके पास शिष्य बनकर ब्रह्मचर्य धारणपूर्वक रहने के लिए आया हूँ, आप मेरे पूज्य हैं ॥ ३ ॥

विशेष—गुरु से अध्ययन की हुई विद्या सफल होती है, शास्त्रों में ऐसा कहा गया है। इस का अभिप्राय यह है कि जिस ने परंपरा से विद्या प्राप्त की है, वह

उसके तत्त्वों को अच्छी तरह जानता है, ऐसे जानकार से जो ज्ञान प्राप्त होगा, वह व्यावहारिक होगा, उसी से अन्त में परमार्थ सिद्ध हो सकेगा। इसी से 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' कहा गया है। सत्यकाम का गुरुकुल में वास करने का यही अभिप्राय है। गुरु के पास रहने में नियम से निवास करना पड़ेगा, हर समय उनकी शिक्षा, उपदेश प्राप्त होता रहेगा, सेवा की भावना परिपुष्ट होगी, अन्य छात्रों के साथ रहने से निरन्तर विद्याभ्यास होता रहेगा, और सब से बड़ी बात जो होगी वह यह कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह रूप पंच नियमों के पालन करने में असावधानी नहीं होने पायेगी। इसी से सत्यकाम ने आचार्योपसत्ति स्वीकार की॥३॥

तꣳ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳ सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—हारिद्रुमत ने सत्यकाम से पूछा कि तुम्हारा कौन गोत्र है? तब सत्यकाम ने कहा कि मैं यह नहीं जानता कि मेरा कौन गोत्र है, किन्तु आप के पूछने के पहले मैंने अपनी माता से पूछा था कि मैं ब्रह्मचारी होने के लिए जाता हूँ, इसलिए तू गोत्र को कह। तब उस ने कहा कि मेरे पति के घर बहुत से अतिथि आते थे, मैं उनकी सेवा में रहा करती थी इसलिए मुझे तेरे गोत्र का स्मरण नहीं। तू युवावस्था में मुझे प्राप्त हुआ था, उसी समय मेरे पति का देहान्त हो गया। उसने मुझ से यह कहा कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हारिद्रुमत ने सत्यकाम से पूछा कि तुम्हारा कौन गोत्र है? सत्यकाम ने कहा—जब आपके पास आकर ब्रह्मचर्य धारण करके निवास करने की इच्छा मेरे मन में उत्पन्न हुई तब मैंने अपनी माता से पूछा कि मेरा कौन गोत्र है, क्योंकि गुरु के प्रति गोत्र बताना होगा। मेरी माता ने कहा—मैं नहीं जानती हूँ कि तेरा कौन गोत्र है, क्योंकि मैं तो पातिव्रत धर्म को धारण करके पति की सेवा में तथा आगत अतिथियों के सत्कार में ही रही। लज्जावश कभी भी

मैंने तेरे पिता से नहीं पूछा था कि आपका कौन गोत्र है ? युवावस्था में तू मुझको प्राप्त हुआ, उसके बाद तेरे पिता का देहान्त हो गया। इसलिए तू अपने गुरु से कहना कि जबाला मेरी माता का नाम है और सत्यकाम जाबाल मेरा नाम है। केवल इतना ही मैं जानता हूँ ॥ ४ ॥

विशेष—संसार में दो ही तो प्रधान सम्बन्ध हैं, एक यौनसंबन्ध, दूसरा विद्यासम्बन्ध। विद्यासम्बन्ध स्थापित करने के लिए सभी बातों की पूरी जाँच कर लेनी चाहिये। नीति का भी यह वचन है कि 'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्य चित्' । इसी से आचार्य ने सत्यकाम से उसका गोत्र पूछा। आचार्य को पूछ ताछ करने के अनन्तर यह पता लग जाता था कि यह बालक किस कुल का है, उस कुल के लोगों की कैसी प्रकृति तथा प्रवृत्ति है, इस ब्रह्मचारी को ब्राह्मणधर्म की शिक्षा दी जाय या क्षात्र धर्म की, इस ब्रह्मचारी के कुल में किस शिक्षापद्धति का प्रचलन है, उसे वही शिक्षा देनी उपयुक्त होगी या और कोई नवीन; जो आज तक इसके गोत्रवालों को नहीं मिली है। इत्यादि बातों का सही सही पता लग जाने पर ही आचार्य उनकी शिक्षा दीक्षा का समुचित प्रबन्ध करते थे। और स्वभाव व्यवहार याने चाल चलन का पता गोत्रादिकों के परिचय से बहुत अंश में विदित हो जाता था। पहले यह भी चाल थी कि लोग अपना परिचय देते थे तो नाम के साथ गोत्र भी कह दिया करते थे। इसीसे यहाँ गोत्र-विषयक प्रश्न करना उचित ही है ॥ ४ ॥

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥ ५ ॥

भावार्थ—तब सत्यकाम से गौतम ने कहा—इस प्रकार का स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मण के अतिरिक्त दूसरा नहीं कर सकता। इसलिए हे सोम्य ! तू लकड़ी ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, कारण यह कि तूने सत्य का परित्याग नहीं किया। तब उसका जनेऊ कर चार सौ कृश तथा दुर्बल गायें अलग निकालकर उस से कहा कि हे सोम्य ! तू इन गायों के पीछे जा। उन्हें ले जाते समय

सत्यकाम से कहा कि इनकी एक हजार गायें हुए बिना तू नहीं लौटना। जब तक कि वे एक हजार हुईं वह बहुत वर्षों तक वन में ही रहा ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—इस सत्यकाम से गौतम ने कहा कि जो ब्राह्मण नहीं है वह कभी भी इस तरह सत्य भाषण नहीं कर सकता। जो ब्राह्मण होता है वही सत्य को कहता है, तुमने सत्य कहा है, इसलिए मुझ को विश्वास है कि तुम ब्राह्मण हो। हे सोम्य वन से लकड़ियों को बीनकर लाओ, होम करके मैं तुम्हारा यज्ञोपवीत करूँगा, क्योंकि तुम सत्य भाषण से चलित नहीं हुए हो। फिर सत्यकाम का उपनयन कराकर और ब्रह्मचर्य धारण कराकर गुरु ने गायों के यूथ में से दुर्बल चार सौ गायों को अलग करके सत्यकाम से कहा कि हे सोम्य ! इनको तुम वन में ले जाओ। जब उन गौओं को सत्यकाम वन को लेकर चला, तब सत्यकाम ने कहा कि जब तक यह गायें एक सहस्र पूरी न हो जायँगी तब तक वन से लौटकर मैं नहीं आऊँगा। इस प्रकार कहकर वह सुख दुःख को समान जानकर वर्षों तक वन में उन गायों की सेवा करता रहा और उस वन में गौओं को ले गया जिसमें सुन्दर घास और जल बहुत था। जब तक गायें एक हजार पूरी नहीं हुईं तब तक सत्यकाम उनकी सेवा करता रहा ॥ ५ ॥

विशेष—इस आख्यायिका से लोग कई प्रकार के भाव निकालते हैं। कोई कहता है कि "बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे" यहाँ परिचारिणी का अर्थ अनेक पतिवाली स्त्री है। कोई कहता है कि परिचारिणी का अर्थ सेविका अवश्य है, पर इस से यह आवश्यक नहीं कि उसका कोई एक पति न हो। जिन लोगों के विचार में परिचारिणी का अर्थ बहुत लोगों की सेवा से पुत्र लाभ करना है, उन के मत में गोत्र याद न रहने का कारण यही है कि उसका कोई नियत पति नहीं था, इसलिए वह गोत्र न बतला सकी। यहाँ यह स्मरण रहे कि गोत्र याद न रहने का कारण यही नहीं हो सकता, गोत्र याद न रहने का कारण यदि यही होता तो आज भी बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिनको अपना गोत्र याद नहीं। तो क्या उनका कोई एक नियत पति नहीं ? स्त्रियाँ ही क्या, बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जिन को अपना गोत्र याद नहीं, क्योंकि गोत्र का अर्थ उस कुल में जो कोई एक बड़ा पुरुष हुआ हो वह है, और यह बात एक इतिहास से सम्बन्ध रखती है, इसलिए सर्वसाधारण को याद रखना कठिन है। हमारे विचार में यही कारण गोत्र याद न रहने का यहाँ भी है।

इस विषय में भी विचार करना चाहिये कि सत्यकाम के गोत्र न बताने से ऋषि को आश्चर्य क्यों हुआ ? और उसने उसे गूढ़ सत्यवादी कैसे समझा ? इस ❧

उत्तर यह है कि सत्यकाम ने यह बात आकर सत्य बतलाई कि मेरी माता दासी का काम करती रही है। आचार्य ने इस सचाई के द्वारा उसको गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण ही समझा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अशिक्षिता तथा दासकर्मनियुक्ता स्त्रियाँ अपना गोत्र याद नहीं रख सकतीं। यदि कल्पना कर भी ली जाय कि वह ऐसी स्त्री थी जिसका कोई विवाहित पति न था, तो भी आचार्य ने गुणकर्मस्वभाव से सत्यकाम को ब्राह्मण निश्चय कर लिया, क्यों कि जन्म से ब्राह्मण होने का तो ऋषि को पता ही नहीं था। सत्यकाम की माता ने यह नहीं बतलाया कि मैं ब्राह्मणी होकर सेविका रही हूँ किन्तु यही बताया कि मैं दासकर्म में नियुक्त रही। इस कथा से यह स्पष्ट है कि आचार्य ने सत्यकाम की केवल गुण कर्म स्वभाव से परीक्षा की कि यह ब्राह्मण है। भाव यह निकला कि किसी भी वस्तु की योग्यता उसके गुण से होनी चाहिये ॥ ५ ॥

पञ्चम खण्ड

वृषभ द्वारा सत्यकाम को ब्रह्म के प्रथम पाद का उपदेश कहते हैं, यथा—

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के बाद बैल ने 'हे सत्यकाम !' ऐसा संबोधन कर बुलाया। उस ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! क्या आज्ञा है ? तब बैल ने कहा कि हे सोम्य ! हम एक हजार हो गये, अब हम को आचार्यकुल में पहुँचा दे ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—वायुदेवता ने प्रसन्न होकर बैल का स्वरूप धारण करके सत्यकाम से कहा कि 'हे सत्यकाम !' तब सत्यकाम ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! क्या आज्ञा है कहिये ? तब वृषभ ने कहा—हे सोम्य ! हम एक सहस्र पूर्ण हो गये हैं, इस से तेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो गई। इस के लिए हम को आचार्यकुल में ले चल ॥ १ ॥

विशेष—श्रद्धा और तप से युक्त इस सत्यकाम से दिक्सम्बन्धी वायुदेवता

प्रसन्न होकर बैल में अनुप्रविष्ट हुआ। याने उस पर कृपा करने के लिए वृषभभाव को प्राप्त हुआ ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २ ॥

भावार्थ—क्या मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊँ ? तब सत्यकाम ने कहा कि हे भगवन् ! आप मुझे अवश्य बतलावें। इस पर बैल ने उस से कहा कि हे सोम्य ! पूर्व दिक्कला, पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला; यह ब्रह्म का प्रकाशवान् नामक चार कलाओंवाला पाद है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—क्या मैं तुझे परब्रह्म का एक पाद बतलाऊँ ? इस प्रकार बैल के कहने पर सत्यकाम ने उत्तर दिया—हे भगवन् ! आप मुझे अवश्य बतलावें। तब बैल ने सत्यकाम से कहा कि पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन दिशाओं का चतुर्थांश चतुर्थांश मिलकर ब्रह्म का एक पाद है। इस पाद का नाम प्रकाशवान् है, इस के दिग्भागरूप चार अवयव हैं। इसी तरह बाकी तीन पाद भी चार अवयवोंवाले हैं ॥ २ ॥

विशेष—प्रकृत मन्त्र में कला शब्द का अर्थ अवयव है याने इन चारों अवयवोंवाला ब्रह्म का एक पाद है तथा प्रकाश गुणवाला भी है, और यही उस का नाम भी है। इसी तरह अवशिष्ट तीन पाद भी चार चार अवयवोंवाले हैं ॥ २ ॥

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् ब्रह्म के चार भागवाले इस पाद को प्रकाशवान् ऐसा जानकर उपासना करता है, वह इस लोक में विख्यात होता है। और जो विद्वान् ब्रह्म के चार अङ्गोंवाले इसी पाद को प्रकाशवान् ऐसा जानकर उपासना करता है वह अवश्य ही प्रकाशवान् देवादि लोकों को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो विद्वान् इस तरह चार अवयवोंवाले प्रकाशवान् ब्रह्म के पाद की उपासना करता है वह इस लोक में प्रकाशवाला होता है याने प्रसिद्ध होता है, यह दृष्ट फल है। और प्रकाशवान् देवादि लोकों को भी वह देहत्याग के अनन्तर प्राप्त होता है, यह अदृष्ट फल है ॥ ३ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जो प्रकाशवान् गुण से युक्त इस ब्रह्म के चार अवयवोंवाले पाद की उपासना करता है वह इस लोक में प्रसिद्ध होता है। और प्रकाशवाले अमृतभोजी लोक के देवादिकों का जय करता है।

इस खण्ड का भाव यह है कि ऋषभ नामक किसी दिव्य शक्तिवाले देव-विशेष ने सत्यकाम को गौएँ आचार्यकुल में पहुँचा देने के लिए कहते हुए उसे चतुष्कल ब्रह्म का उपदेश दिया। अनन्तर ऋषभ ने पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर इन चार कलाओं को ब्रह्म का एक पाद निरूपण किया, और इस पाद का नाम 'प्रकाश-वान्' रखा। जैसे कि चार चवन्नियों का एक सिक्का होता है, और उस का नाम रुपया रखा जाता है। इस का तात्पर्य यह है कि ऋषभ ने विराट्रूप से ब्रह्म का वर्णन सत्यकाम के प्रति किया, अर्थात् वह ब्रह्म है जो पूर्वोत्तरादि सब दिशाओं में व्यापक है, जो देश काल तथा वस्तुपरिच्छेद से रहित है। इसे यों समझो कि यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक दिशा में है और अमुक प्रदेश में नहीं। उस की व्याप-कता को कोई पदार्थ रोक नहीं सकता, इसलिए उस में वस्तुपरिच्छेद नहीं। और कालकृत परिच्छेद इसलिए नहीं कि वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान तीनों कालों में एकरस रहता है। उक्त विषय को बोधन करने के लिए पूर्व आदि सब दिशाओं को ब्रह्म का पादस्थानीय कथन किया गया है, और इससे ब्रह्म के ज्ञान का प्रकाश होता है, इसलिए इसको 'प्रकाशवान्' नाम से वर्णन किया गया है।

ऋषभ ने यह भी बता दिया कि आगे दूसरे पाद का उपदेश अग्नि करेंगे। इस कथन से गोभक्ति का महत्त्व और उससे होनेवाले लाभ का पता लगता है। गोसेवा या गोरक्षा भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का एक प्रधान अङ्ग रहा है। जो लोग यह कहते हैं कि सत्यकाम को ऋषभ अर्थात् बैल ने उपदेश दिया था, किंतु पशु पक्षी आदि उपदेश नहीं कर सकते, फिर उन का वह भ्रान्तिरहित उपदेश कैसे कहा जा सकता है, जिसे आगे आचार्य ने सही बताया है। इस का कोई यह उत्तर देते हैं कि ऋषभ, अग्नि, हंस आदि ऋषियों के नाम थे। किसी का कथन है कि इस विषय को रूपक से समझाया गया है। किसी की यह भी कल्पना है कि पहले के मनुष्य पशु पक्षियों की बोली भाषा समझते थे। और बहुत से यह भी

मानते हैं कि सृष्टि के आदि में पशु पक्षी भी मनुष्यभाषा बोलने की सामर्थ्य रखते थे। काल पाकर उन्होंने अपनी भाषा अलग कर ली, जैसे कि भूमि के अधिक विस्तार में फैलने से मदरासी, पंजाबी आदि मनुष्यों ने। जो हो पाठक विचार कर लें॥ ३॥
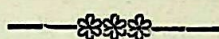
षष्ठ खण्ड
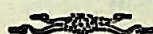
अग्नि द्वारा ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश किया जाता है—

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवु तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

भावार्थ— अग्नि तेरे लिए ब्रह्म के दूसरे पाद को कहेगा' इस तरह कहकर बैल शान्त हो गया। उस सत्यकाम ने दूसरे दिन नित्यकर्म करके गायों को आचार्य के घर की ओर हाँक दिया। वे गायें जिस स्थान में रात्रि के समय इकट्ठी हुईं, वहीं अग्नि को संस्कारपूर्वक स्थापन करके और गायों को रोककर होम के लिए लकड़ी रखकर सत्यकाम अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया॥ १॥

वि० वि० भाष्य—वह बैल 'अग्नि तुझे दूसरा पाद बतलावेगा' इस प्रकार कहकर मौन हो गया। दूसरे दिन सत्यकाम ने नित्यकर्म करने के बाद गायों को गुरुकुल की ओर चला दिया। वे गुरुकुल की ओर धीरे धीरे चलती हुईं जिस समय और जिस स्थान में रात के विश्रामार्थ इकट्ठी हुईं, वहीं पर अग्नि स्थापित कर सत्यकाम लकड़ी लाकर बैल के वाक्यों को याद करता हुआ अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया॥ १॥

विशेष—"अग्नये समिधमाहार्षम्" इस मन्त्र से समिधा डालना विद्यार्थी का नित्य का कर्तव्य है। कर्मलोप नहीं होना चाहिये। अध्ययनकाल में कर्म करने का अभ्यास रखना चाहिये। क्योंकि आगे चलकर इसी विद्यार्थी को सद्-गृहस्थ नागरिक बनना है, उस समय इसे कर्म करने होंगे, वे चाहे शास्त्रीय हों तथा व्यावहारिक हों। पढ़ना और काम करना दोनों साथ ही होते रहने उचित हैं। पढ़ने से ज्ञान बढ़ता है, और काम करने से बल। जो विद्यार्थी पढ़ते पढ़ते अपना

बल क्षीण कर लेते हैं उन से किसी को क्या आशा हो सकती है। ऐसे भारभूतों से देश को भगवान् बचावें ॥ १ ॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भावार्थ—उस सत्यकाम को अग्नि ने कहा कि 'हे सत्यकाम !' तब सत्यकाम ने 'हे भगवन्' यह उत्तर दिया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—अग्नि परम तेजस्वी तत्त्व है, इस की प्रसन्नता सामान्य सौभाग्य की बात नहीं है। सत्यकाम समिधादि द्वारा नित्य अग्नि को तृप्त करता था, आज अग्निदेव उसे उपदेश द्वारा कृतार्थ करना चाहते हैं। यद्यपि अग्नि जड़ है, पर सनातनधर्मानुसार प्रत्येक वस्तु का एक चेतन अधिष्ठातृदेवता माना गया है। आज कल अग्नि को जड़ माननेवाले उस की विद्युत आदि शक्तियों से कितना काम ले रहे हैं यह सभी पर प्रत्यक्ष है। जो सर्वत्र चेतन सत्ता के ज्ञाता हैं उन्हें अग्नि से उपदेश प्राप्त होना क्या कठिन है ? इसी से प्रकृत मन्त्र में सत्यकाम ने अग्नि को 'भगवन् !' कहा है। अर्थात् सत्यकाम ने अग्नि को अपूर्व ऐश्वर्यगुण-विशिष्ट माना है ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में अग्नि ने सत्यकाम को सम्बोधन करके अपनी ओर अभिमुख किया है। ऐसा करने से शिक्षार्थी सावधान हो जाता है। सभाओं में व्याख्यान देनेवाले श्रोताओं को सावधान करने के लिए पहले 'प्यारे मित्रों !' या 'उपस्थित सज्जनों !' या 'सभापति महोदय !' प्रभृति सम्बोधनों का प्रयोग किया करते हैं। यहाँ तो ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान जैसे कठिन विषय का प्रतिपादन करना है, अतः यह अत्यावश्यक हो जाता है कि श्रोता को सावधान किया जाय ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे सत्यकाम ! मैं तुझ से ब्रह्म का एक पाद कहता हूँ। उस ने कहा कि भगवन् ? मुझ से अवश्य कहिए। तब उस ने कहा—पृथिवी कला है,

अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है तथा समुद्र कला है। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है॥ ३॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अग्नि ने सत्यकाम को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समुद्र इन चार कलाओंवाला ब्रह्म का दूसरा पाद कहा। क्योंकि पृथिवी आदि पदार्थों को देखकर उस की विभूति के एक पाद याने अंश का पता लगता है। मनुष्य को आश्चर्य होता है कि पृथिवी में इतनी मिट्टी, पहाड़, वृक्ष आदि कहाँ से आ गये? यह आकाश का तम्बू किसने तान रखा है? द्युलोक क्या चीज है? और समुद्रों में अथाह पानी कहाँ से आ गया? इन आश्चर्यों का उस समय समाधान हो जाता है, जब यह प्रतीत हो जाता है कि जिस शक्तिशाली की महिमा को देखकर तुम आश्चर्यान्वित हो रहे हो उस का तो यह एक भाग मात्र है। वस्तुतः एक भाग भी नहीं है केवल समझाने के लिए भगवती श्रुति ने एक प्रक्रिया मात्र दिखाई है। यह चतुष्कल पाद तो उस की विभूति का इतना ही अंश है जितना समुद्र का एक बिन्दु होता है, इसलिए इस पाद को 'अनन्तवान्' कहा है॥ ३॥

विशेष—ब्रह्म की सभी विभूतियों के जानने का किसी देव में सामर्थ्य नहीं है, इसी से अग्नि ने अपने से सम्बद्ध दर्शन का निरूपण किया है। अर्थात् अग्नि ने इन्हीं चारों कलाओंवाले पाद का दर्शन किया है। अतः यह एतावन्मात्र ही बता सकता है। महापुरुष अनधिकार चेष्टा नहीं करते। है भी यह सही कि जिस की जहाँ तक पहुँच होगी वह उतनी ही उडान भरेगा। वेद में 'नेति नेति' कहकर उस की अवारपारीणभावविशिष्ट महिमा का बोधन किया गया है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते॥ ४॥

भावार्थ—वह जो विद्वान् इस अनन्त नामवाले चार पाद से ब्रह्म की उपासना करता है वह इस संसार में अनन्त नामवाला होता है और फिर मृत्यु के बाद अविनाशी लोकों को भी जीत लेता है॥ ४॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो विद्वान् इसी चार भागवाले ब्रह्म के पाद को अनन्तवान् अविनाशी जानकर उपर्युक्त प्रकार से उपासना करता है, वह इस लोक में

अनन्त गुणवाला होता है, यह दृष्ट फल है। और जो विद्वान् चार अंगवाले ब्रह्म के पाद को अविनाशी जानकर उपरोक्त रीति से उपासना करता है वह अविनाशी लोकों को प्राप्त होता है, यह अदृष्ट फल है ॥ ४ ॥

विशेष—जो लोग लोक लोकान्तरों के तत्त्व का विचार करते हैं वे परमात्मा की अनन्त महिमा का अनुभव करते हैं। किसी अच्छी या विलक्षण कृति को देख-कर उस के कर्ता की चातुरी की प्रशंसा की जाती है। जिस ने यह अद्भुत विश्व रचा, वह कैसा विलक्षण होगा इस में कहना ही क्या है। जब हम फूलों को देखते हैं तो पता लगता है कि इस एक के ही अनन्त भेद प्रभेद उपोपभेद हैं। यह जगत्‌रचना आप ही नहीं हो रही है, जब कि यह बनती बिगड़ती है. यह कार्य-रूपा हुई। कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, वह कारण जड़ हो नहीं सकता, वह चेतन के बिना सत्ता स्फूर्ति कहाँ से पावेगा ? ॥ ४ ॥

——:❀❀❀:——

सप्तम खण्ड

अब हंस द्वारा ब्रह्म के तृतीय पाद का उपदेश करते हैं—

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्था-पयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥ १ ॥ तꣳ हꣳस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भावार्थ—फिर अग्नि ने कहा कि हंस तेरे प्रति दूसरे पाद को कहेगा। इस प्रकार कहकर अग्नि चुप हो गया। उस सत्यकाम ने दूसरे दिन सम्पूर्ण गायें आचार्य के घर की तरफ हाँक दीं। चलते चलते जहाँ पर सायंकाल का समय हो गया, वहीं पर वे गायें एकत्रित हो गईं और वहीं उन गायों को रोक होम के लिए लकड़ी लाकर तथा अग्नि का संस्कारपूर्वक स्थापन करके अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख होकर सत्यकाम उस के समीप बैठ गया। तब हंस ने उस के समीप आकर कहा—'सत्यकाम !' उस ने उत्तर दिया—'भगवन् ! क्या आज्ञा है' ॥ १-२ ॥

वि० वि० भाष्य—"अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इस आज्ञा के अनुसार सायङ्कालीन सन्ध्या वन्दन आदि के निमित्त सत्यकाम ने अपना डेरा डाला। साथ ही चलते चलते गायें थक गईं थीं, इस से उन्हें भी विश्राम देना था। इसी समय हंस के कहने से 'हे भगवन्!' ऐसा कहकर हंस का उपदेश सुनने के लिए सत्यकाम सावधान हो गया ॥ १-२ ॥

विशेष—भाष्यकार शङ्कराचार्यजी ने "शुक्लता तथा उड़ने में समानता होने के कारण यहाँ आदित्य को हंस कहा गया है" ऐसा लिखा है। संस्कृत में वर्णव्यत्यय से 'हंस' का 'सोहम्' हो जाता है, जिसे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मात्मैक्य बोधन के लिए प्रयोग किया करते हैं। हंस का पक्षिविशेष यह यथाश्रुत अर्थ लिया जाय तो भी उसके नाम का कम महत्त्व नहीं है। ज्ञानी के सद्-असद् विवेचन परायण होने की तरह हंस भी सारासारविवेक में परम पटु होता है। जो स्वरूपतः भव्याकृति हो, सत्त्वासत्त्वविशेषज्ञ हो और खेचर हो, याने व्योमैकान्तविहारी आदि गुणविशिष्ट हो, ऐसे उपदेष्टा को पाकर सत्यकाम के भाग्य की क्या सराहना की जाय ? ॥ १-२ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥ ३ ॥

भावार्थ—हंस ने सत्यकाम से कहा कि हे सोम्य! मैं तुझे परब्रह्म के पाद को बतलाऊँ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि भगवन् आप मुझे अवश्य बतलावें। तब हंस=आदित्य ने सत्यकाम से कहा—अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत् कला है। हे सत्यकाम! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद ज्योतिष्मान् नामवाला है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो इस चार कलावाले ब्रह्म के ज्योतिष्मान् पाद की इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोक में निश्चय करके दीप्तिमान् होता है, यह दृष्ट फल है। और जो विद्वान् इस चार अंगवाले ब्रह्म के ज्योतिष्मान् पाद की इस प्रकार उपासना करता है वह पुरुष चन्द्रादिकों के दीप्तिमान् लोकों को प्राप्त होता है, यह अदृष्ट फल है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हंस ने सत्यकाम को अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् इन चार कलावाले ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश दिया। यह परमात्मा का दीप्ति-युक्त चरण भाग है। इस का ज्योतिष्मान्नाम है। अग्नि, सूर्य, चन्द्र और बिजली में जो चमक दमक है, उसी की दी हुई है। साधक इस से जान सकता है कि वह कितना तेजःपुंज है। इन के संचालन का भार भी उस ने अपने ही ऊपर ले रखा है। वही सूत्रधार है इन अग्नि सूर्यादि पात्रों का, जो आकाश के रंगमञ्च पर अपना नियमित अभिनय कर रहे हैं। उसी के भय से अग्नि तप रहा है, सूर्य ब्रह्माण्ड का चक्कर काट रहा है, चन्द्रमा ओषधियों को सरस बना रहा है, और विद्युत् मेघों के जल को विलोडन करके वृष्ट्युन्मुख कर रहा है ॥ ३–४ ॥

विशेष—हंस स्वच्छाच्छ स्वरूप प्राणी है। उस ने अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् को जो परमात्मा का तीसरा पाद बताया है, याने जो ज्योतिविषयक दर्शन का निरूपण किया है, इस से हंस का आदित्यत्व प्रतीत होता है। हंस को अपने स्वरूपानुरूप यही पाद मालूम था। लोग अग्नि, सूर्यादिकों को नित्य देखते हैं, और इन के महत्त्व को भी समझते हैं, तथा इन का उपयोग भी करते हैं, पर यह नहीं जानते कि ये भी बेचारे किसी की सम्पत्ति हैं, किसी के अधीन हैं, किसी के यहाँ से खर्चा पाते हैं और किसी की इङ्गितचेष्टा पर नाच रहे हैं। ये जिस की कठपुतली हैं, इन्हें जो नचा रहा है, हंस ने उसी का उपदेश, उसी के एक भाग का दिग्दर्शन सत्यकाम को कराया है ॥ ३–४ ॥

अष्टम खण्ड

अब जलचर पक्षी द्वारा ब्रह्म के चतुर्थ पाद का उपदेश करते हैं—

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थाः

पर्यांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

भावार्थ—जलचर पक्षी तेरे लिए दूसरे पाद को कहेगा, इस प्रकार वह हंस कहकर चुप हो गया। तब सत्यकाम ने दूसरे दिन नित्य कर्म समाप्त कर गायों को गुरु के घर की ओर हाँक दिया। जहाँ वे गायें रात्रि के समय इकट्ठी हुईं, वहीं उन्हें रोककर होम के लिए लकड़ी लाकर तथा अग्नि को संस्कारपूर्वक स्थापन कर उस के थोड़ी दूर पीछे पूर्वाभिमुख होकर वह बैठ गया ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्म के तीसरे पाद का उपदेश देकर जाता हुआ हंस सत्यकाम को यह कहता गया था कि जल में डुबकी लगानेवाला मद्गु नामक जलचर पक्षी आगे चलकर तुझे ब्रह्म के चतुर्थ भाग का उपदेश देगा। यह सुनकर सत्यकाम ने गुरुजी के पास पहुँचाने के लिए गायें हाँक दीं। रास्ते में जहाँ संध्या हुई, वहाँ अपना नित्य नियम करने के लिए तथा गायों को विश्राम देने की इच्छा से डेरा डाल दिया। वह प्रति दिन की तरह सायंसन्ध्या, होम, जप आदि में प्रवृत्त हो गया। जो लोग "स्वगृहे पूर्ण आचारः परगेहे तदर्धकः। तदर्धकः परग्रामे पथि शूद्रवदाचरेत्।" ऐसा मानते हैं, उन्हें इस प्रसङ्ग से शिक्षा लेनी चाहिये। गोभक्त सत्यकाम यात्रा में था, फिर भी उस का विधिलोप नहीं होने पाया ॥ १ ॥

विशेष—आज कल के लोगों में नियमाग्रह याने नियमतः कार्य करने की दृढता नहीं देखने में आती। यही कारण है कि हम समय पर काम समाप्त नहीं करने पाते। लोग इतने बेपरवाह हो गये हैं कि वे डाक में पत्र तब डालने जाते हैं जब डाक निकल चुकी होती है। भला यह तो हुआ, पर वे महाशय रेल पर भी तब पहुँचते हैं जब वह चल देती है। अनन्तर वे प्लेटफार्म पर मक्खी हाँकते हुए ऐसे शोभते हैं जैसे पक्षी के उड़ जाने से हाथ मसलनेवाला व्याध झींखा करता है। पर सत्यकाम बराबर अपना नित्यकृत्य यात्राप्रसङ्ग में भी उसी प्रकार करता रहा जैसे अपने आश्रम में करता रहता था। इस से शिक्षा लेनी चाहिये ॥ १ ॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २ ॥

भावार्थ—उस सत्यकाम से जलचर पक्षी ने आकर कहा—'हे सत्यकाम !' तब सत्यकाम ने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! क्या आज्ञा है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—मद्गु पक्षी ने सत्यकाम को सम्बोधन से अभिमुख करके यह जानना चाहा कि देखें, मेरे वचनों पर इस को कितनी आस्था है, यह मेरे उपदेश का ग्रहणेच्छुक है या नहीं ? इस को जानने की इच्छा से वह कहता है—'हे सत्यकाम ३ !' सत्यकाम उत्तर देता है कि 'भगवन् !' इस सम्बोधनवती अर्धोक्ति के श्रवण मात्र से स्थालीपुलाकन्याय से मद्गु को विश्वास हो गया कि यह मेरे उपदेश का असल पात्र है ॥ २ ॥

विशेष—आजकल के लोगों में प्रचार का एक रोग लग गया है, कोई सुने या न सुने अपनी हाँकते रहना, वे इसी को अच्छा समझते हैं। यह प्रकार ठीक नहीं है। उचित तो यह है कि पहले श्रोताओं को सुनने का अनुरागी बनाना चाहिये। वे सुनने के प्रेमी तभी बनेंगे, जब उन्हें यह प्रतीति हो जायगी कि अमुक की बात सुननी चाहिये क्योंकि यह हमारा हितैषी है, इस ने हमारा अमुक हितसाधन किया है। अन्यथा अपने विचार दूसरों पर लादना है। प्रकृत में हंस के कहने से सत्यकाम ने स्वहितोपदेशक समझकर मद्गु को 'भगवन्' याने 'महोदय' कहा ॥ २ ॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥ ३ ॥

भावार्थ—मद्गु ने सत्यकाम से कहा कि हे सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्म के पाद को बतलाऊँ ? सत्यकाम ने उत्तर दिया—आप मुझे अवश्य बतलावें। तब मद्गु पक्षी ने सत्यकाम से कहा—प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है। हे सत्यकाम ! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद 'आयतनवान्' नामवाला है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—मद्गु पक्षी ने प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन को ब्रह्म का चतुष्कल=चौथा पाद बताया। इस पाद के उपासक कभी भी किसी के प्राण से द्रोह नहीं करेंगे। वे 'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः' इन पाँच धर्माङ्गों में प्रधान अहिंसा व्रत का सदैव पालन करेंगे। न चक्षु श्रोत्र से किसी का बुरा देखेंगे, न सुनेंगे। और मन से भी किसी का अनिष्ट चिन्तन नहीं करेंगे। जब कि वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस भाव से भावित हैं और जब कि वे प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन को

परमात्मा का एक चरण—भाग समझते हैं, तब वे इन का दुरुपयोग कर कैसे सकते हैं ? वे जानते हैं कि इस चौथे पाद का नाम आयतनवान् है ॥ ३ ॥

विशेष—प्राण कला है चक्षुःकला है, इत्यादि कहकर और 'आयतनवान्' इस नामवाला पाद है, ऐसा बताकर उस मद्गु ने याने प्राण ने भी अपने से सम्बद्ध दर्शन का ही निरूपण किया है। समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये हुए भोगों का आयतन मन ही है, यह जिस पाद में विद्यमान है वह आयतनवान् नामवाला है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो इस चार कलावाले ब्रह्म के आयतनवान् संज्ञक पाद की इस प्रकार उपासना करता है वह इस लोक में निश्चय करके आयतनवान् यानी आश्रयवाला होता है, यह दृष्ट फल है। और जो विद्वान् इस चार अंगवाले ब्रह्म के आयतनवान् पाद की इस प्रकार उपासना करता है वह पुरुष आयतनवान् लोकों को जीत लेता है, यह अदृष्ट फल है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—मद्गु ने सत्यकाम को ब्रह्म का आयतनवान् नामक चतुर्थ पाद बतलाया, जिस की प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये चार कलायें हैं। जो पुरुष इस चतुष्कल पाद को जानता है, वह इस लोक में आयतनवाला हो जाता है। अर्थात् उसे रहने का घर ऐसी जगह मिलता है जहाँ से बिल्ली के बच्चों की तरह बार बार इधर से उधर मारा मारा नहीं फिरना पड़ता। जिन्हें बार बार घर बदलना पड़ता है, उस का कष्ट उन भुक्तभोगियों से पूछो जो आये दिन इस संकट के शिकार बनते हैं। जिन के रहने की स्थिति अनुकूल है, वे उसमें रहकर अच्छे अच्छे कर्म भजन दानादि कर सकते हैं, ऐसे लोग आयतनवान् लोकों को जीत लेते हैं, याने वहाँ जाकर सम्मान के साथ रह सकते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—गोसेवा और गुरुभक्ति के प्रभाव से प्रसन्न होकर सत्यकाम को मार्ग में चार महापुरुषों ने पादशः पूर्ण ब्रह्म का उपदेश दे दिया। रास्ता चलते

षोडशकल ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना परम सौभाग्य की बात है। साथ ही उन ज्ञानियों ने इस ज्ञान का यह फल भी बता दिया कि उपासक 'प्रकाशवान्' 'अनन्तवान्' 'ज्योतिष्मान्' और 'आयतनवान्' परमात्मा को जानकर ऐश्वर्य सम्पन्न हो सब का स्वामी हो जाता है, तथा अन्त में 'यद्गत्त्वा न निवर्तन्ते' याने कैवल्यधाम को प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

नवम खण्ड

सत्यकाम ने गुरु के घर पहुँचकर आचार्य द्वारा फिर इस प्रकार उपदेश ग्रहण किया—

प्राप हाऽऽचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥

भावार्थ—सत्यकाम गुरुकुल में पहुँचा। उस से गुरु ने कहा—'सत्यकाम!' तब उस ने उत्तर दिया—'भगवन्!' ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रकार वह सत्यकाम ब्रह्मवेत्ता होकर गुरु के घर एक हजार गायों को साथ लेकर पहुँचा। उस के मुख को देखकर गुरु ने संबोधन करके कहा—'हे सत्यकाम!' उस ने कहा—हे भगवन्! क्या आज्ञा है ॥ १ ॥

विशेष—सत्यकाम दृढप्रतिज्ञ था। उस ने गुरु से जैसा कहा था वैसा ही किया। सत्यकाम के समान दृढप्रतिज्ञ होना हम लोगों के लिए श्रेयस्कर है ॥ १ ॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामं ब्रूयात् ॥ २ ॥

भावार्थ—हे सोम्य! तू ब्रह्मवेत्ता की तरह निश्चय करके शोभित हो रहा है। तुझ को किसने उपदेश किया है? गुरु के इस प्रकार पूछने पर सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मनुष्यों से अन्य, याने देवताओं ने मुझ को उपदेश दिया है। अब मेरी इच्छा के अनुसार पूज्यपाद आप ही मुझे विद्या का उपदेश करें ॥ २ ॥

सत्यकाम जाबाल को वृष, अग्नि, हंस, पक्षी, आचार्य द्वारा ब्रह्म का अनुशासन।

સત્યકામ જાબાલને વૃષ, અગ્નિ, હંસ, પક્ષી, આચાર્ય દ્વારા બ્રહ્મનું અનુશાસન.

वि० वि० भाष्य—जब सत्यकाम गायों के साथ आचार्यकुल में पहुँचा, तब अचार्य ने उस से पूछा कि हे सत्यकाम ! तू ब्रह्मवेत्ता जैसा दिखाई दे रहा है, तुझ को किसने यह ब्रह्मज्ञान दिया ? तब सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मनुष्य से अतिरिक्त किसी देवता ने मुझ को ब्रह्मज्ञानोपदेश दिया है। देवता के विना आप के शिष्य मुझ को कौन मनुष्य शिक्षा दे सकता है ? इसलिए मुझे मनुष्यों से अन्य ने उपदेश किया है। अब मेरी इच्छा के अनुसार आप ही मुझे उपदेश करें, दूसरों के कहे हुए से मुझे कोई लाभ नहीं है॥ २॥

विशेष—कृतार्थ ब्रह्मवेत्ता ही प्रसन्नेन्द्रिय, हास्ययुक्त मुखवाला, चिन्तारहित हुआ करता है। इसीलिए आचार्य ने उस को हास्यादि युक्त देखकर उस से कहा कि तू ब्रह्मवेत्ता की तरह प्रकाशित हो रहा है, तूने किस से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति की है ?॥ २॥

श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धचेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति॥ ३॥

भावार्थ—मैंने आप जैसे महर्षियों से सुना है कि आचार्य से ही जानी हुई विद्या उत्तमता को पहुँचाती है, अतः आप ही मुझ को विद्या प्रदान करें। इस पर आचार्य ने उन देवताओं से कही हुई विद्या को कहा और ऐसा उपदेश किया कि किंचित् मात्र भी शेष न रहा॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—मैंने आप जैसे ऋषियों से सुना है कि आचार्य से ज्ञात हुई विद्या ही उत्तम होती है याने अतिशय साधुता को प्राप्त होती है, इसलिए श्रीमान् ही मुझे विद्या का उपदेश करें। ऐसा कहे जाने पर आचार्य ने उन देवताओं से कही हुई विद्या की ही शिक्षा करना आरम्भ किया और ऐसा उस विद्या का उपदेश आचार्य ने किया कि देवताओं के उपदेश से उस में कुछ भी भेद न रहा॥ ३॥

विशेष—कुछ भी भेद न रहा, याने उस षोडस कलाओंवाली विद्या में उस का एकदेश भी व्ययमुक्त अर्थात् विगत नहीं हुआ। तात्पर्य यह है कि उस की विद्या पूर्ण ही रही। 'वीयाय वीयाय' यह द्विरुक्ति विद्या की समाप्ति के लिए है॥ ३॥

—※※※—
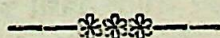
दशम खण्ड

अब उपकोसल के प्रति अग्नि द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश कहते हैं—

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्माऽन्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳ ह स्मैव न समावर्तयति ॥ १ ॥

भावार्थ—उपकोसल नामक प्रसिद्ध कमलकुमार सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मचर्य पूर्वक रहता था। उसने द्वादश वर्ष पर्यंत उस गुरु की अग्नियों की परिचर्या की। गुरु ने दूसरे ब्रह्मचारियों का तो समावर्तन संस्कार कर दिया, परन्तु केवल इसी का नहीं किया ॥ १ ॥

वि० बि० भाष्य—प्रसिद्ध कमल ऋषि के पुत्र उपकोसल ने सत्यकाम जाबाल के निकट ब्रह्मचर्य पूर्वक अध्ययन, सन्ध्योपासना, सत्य, गोसेवा, अग्निसेवा तथा गुरुपूजा आदि विधियज्ञों का अनुष्ठान करते हुए बारह वर्ष व्यतीत किये। इस के अनन्तर आचार्य ने इस के साथियों का याने सहपाठियों का तो समावर्तन संस्कार कराया, किन्तु योग्य होने पर भी इस का संस्कार नहीं कराया ॥ १ ॥

विशेष—इस खण्ड में दूसरी रीति से ब्रह्मविद्या का निरूपण करना है तथा ब्रह्मवेत्ता की गति और अग्निविद्या भी बतलानी है, इस लिए प्रकृत मन्त्र का आरंभ किया गया। यहाँ जो आख्यायिका है वह पूर्ववत् श्रद्धा और तप का ब्रह्मविद्या में साधनत्व प्रदर्शित करने के लिए है ॥ १ ॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २ ॥

भावार्थ—ऋषि की पत्नी ने ऋषि से कहा—यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह अग्नियों की परिचर्या की है। अग्नि आप को बुरा न समझें, अतः इस उपकोसल के लिए अभीष्ट विद्या का आप उपदेश करें। परन्तु आचार्य उसको बिना उपदेश किये ही बाहर चले गये ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—आचार्य की स्त्री ने अपने पति से कहा—हे भगवन् ! यह ब्रह्मचारी बड़ा तप्त हो रहा है याने बड़ी तपस्या कर रहा है, और बड़ी श्रद्धा से आप की अग्नि की सेवा भी कर रहा है। आप इस को अभीष्ट विद्या का उपदेश देकर घर वापिस जाने की आज्ञा दें, ताकि अग्नि आप की निन्दा न करें। स्त्री के कथन को सुनकर भी आचार्य विना कुछ कहे ही बाहर चले गये ॥ २ ॥

विशेष—पति के प्रति स्त्री के कथन का तात्पर्य यह है कि उपकोसल ने गुरु की अग्नियों की अच्छी तरह सेवा की है और गुरुजी भी अग्नियों में अनन्य श्रद्धा रखनेवाले हैं। ऐसे गुरु महाराज ने अग्नियों में परम श्रद्धालु शिष्य का समावर्तन नहीं किया, इस से अग्नि शायद अप्रसन्न हो जायँ। इसी लिए स्त्री ने कहा कि आप इस सेवक को अभीष्ट विद्या का उपदेश अवश्य कर दीजिये ॥ २ ॥

स ह व्याधिनाऽनशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किं नु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस उपकोसल ने व्याधि से अत्यन्त दुःखित होकर अनशन धारण किया। तब गुरुपत्नी ने उस से कहा कि हे ब्रह्मचारिन् ! तू खा, भोजन क्यों नहीं करता ? इस प्रकार कहने पर उपकोसल ने कहा कि हे मातः ! इस पुरुष में बहुत इच्छायें रहती हैं जो अनेक ओर जानेवाली हैं। मैं व्याधियों से परिपूर्ण हूँ, अतः भोजन नहीं करूँगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—वह उपकोसल नामवाला ब्रह्मचारी मानसिक दुःख से पीड़ित होकर अनशन व्रत को धारण करके अग्निशाला में चुपचाप बैठ गया। उस को दुःखी तथा विना भोजन के चुपचाप बैठा देखकर आचार्य की स्त्री ने उस से कहा कि हे ब्रह्मचारिन् ! तू भोजन क्यों नहीं करता है ? ब्रह्मचारी ने कहा कि मेरे मन में अनेक प्रकार की कामनायें भरी हैं, उन में से एक भी अभी तक पूरी नहीं हुई है। जो उनकी चिन्ता है वही एक व्याधि है, उसी करके मेरा चित्त बड़ा दुःखी हो रहा है, इस कारण मैं भोजन नहीं करूँगा। इस प्रकार कहकर ब्रह्मचारी चुप हो गया ॥ ३ ॥

विशेष—शिष्य के कथन का तात्पर्य यह है कि अकृतार्थ साधारण पुरुष में अपने कर्तव्य के प्रति बहुत सी इच्छायें रहती हैं। जिन कर्तव्यसंबन्धिनी चिन्ताओं के अत्यय=अतिगमन अनेक हैं ऐसी नानात्यय व्याधियों यानी कर्तव्यता की अप्राप्ति-निमित्तक मानसिक दुःखों से मैं परिपूर्ण हूँ, इस लिए भोजन नहीं करूँगा ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुनः अग्नियों ने इकट्ठे होकर कहा कि इस ब्रह्मचारी ने बहुत तप किया है तथा अच्छी तरह से हम लोगों की सेवा की है, अच्छा, हम इसे उपदेश करें। इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने उस से कहा—प्राण ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—तीनों अग्नि चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठे हुए उपकोसल नामक उस ब्रह्मचारी पर दया करके कहने लगे कि यह ब्रह्मचारी बड़ा तपस्वी है और श्रद्धालु है, तथा हम लोगों का भक्त भी है। आओ हम सब मिलकर इस को ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। ऐसा विचार करके इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया कि हे उपकोसल ! प्राण ही ब्रह्म है, क अर्थात् आनन्द ब्रह्म है और ख अर्थात् आकाश ब्रह्म है ॥ ४ ॥

विशेष—उपकोसल की असीम श्रद्धा से संतुष्ट अग्नियों ने करुणावश होकर निर्णय किया कि अब अपने भक्त इस दुःखित तपस्वी एवं श्रद्धालु ब्रह्मचारी को हम ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। ऐसा निश्चय कर वे उस से बोले कि प्राण ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है ॥ ४ ॥

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

भावार्थ—उपकोसल ने कहा कि यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, परन्तु क और ख को नहीं जानता। अग्नि बोले—निश्चय जो क है वही ख है और जो ख है वही क है। इस तरह उन अग्नियों ने उसे प्राण तथा उस के आश्रयभूत आकाश का उपदेश दिया ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—अग्नियों के उपदेश को सुनकर ब्रह्मचारी ने कहा कि जो आपने प्राण को ब्रह्म कहा है सो तो मैं जानता हूँ, क्योंकि प्राण प्रसिद्ध है और शरीर में उस के रहने से ही पुरुष का जीवन रहता है। शरीर से प्राण निकल जाने पर पुरुष का जीवन समाप्त हो जाता है, इसी से लोक में उस वायुविशेष में ही प्राण शब्द रूढ है। अतः उस का ब्रह्मरूप होना तो उचित ही है। इस लिए प्रसिद्ध पदार्थ युक्त होने के कारण यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, परन्तु क और ख को मैं नहीं जानता याने नहीं समझा। क्योंकि क सुख को कहते हैं, पर वह नाशवान् है, और ख आकाश का नाम है, वह चेतन नहीं, ये ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ?

तब उन तीनों अग्नियों ने कहा कि जो क=सुख है वही ख=आकाश है तथा जो ख=आकाश है वही क=सुख है। उन्होंने इस उपकोसल के लिए प्राण ही को आकाश कहा ॥ ५ ॥

विशेष—"जो क है वही ख है और जो ख है वही क है" इस प्रकार का जो अग्नि का कथन है उस का तात्पर्य यह है कि ख का अर्थ व्यापक है और क का अर्थ सुख याने आनन्द है। जो व्यापक हो तथा सुखरूप भी हो वही ब्रह्म है। यहाँ भूताकाश अचेतन का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह व्यापक तो है परन्तु सुखरूप नहीं है किन्तु जड़ है। और न विषयसुख का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि वह परिच्छिन्न है, इस लिए क से तात्पर्य हृदयानन्द से है, और ख से तात्पर्य व्यापक से है। अर्थात् हृदयाकाश ब्रह्मानन्दरूप है और तुम से भिन्न नहीं है, किन्तु तुम्हारा स्वरूप ही है। इस खण्ड के अन्तिम मन्त्र का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'क' का अर्थ सुख और 'ख' का अर्थ आकाश है। जब ये दोनों एक दूसरे के विशेषण कर दिये गये तो अब ये हृदयस्थ ब्रह्म को बोधन करते हैं। अब क विषय-सुख को नहीं कह सकता, किन्तु ऐसे सुख का नाम हो जाता है जो आकाश से सम्बन्ध रखता है, वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म है। और ख अब भौतिक आकाश का नाम नहीं रहा, किन्तु चेतन आकाश अर्थात् व्यापक चेतन इस का अभिप्राय हो गया है जो सुखरूप है। इस प्रकार क और ख दोनों मिलकर हृदयस्थ शुद्ध ब्रह्म को कहते हैं, और प्राण हृदय से सम्बन्ध रखने के कारण शबल ब्रह्म है।

कोई इस मन्त्र का सीधा सादा यह अर्थ करते हैं कि अग्नियों ने उस ब्रह्मचारी को यह उपदेश दिया कि प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है और खं ब्रह्म है। अर्थात् 'प्राणिति सर्वं जगदिति प्राणः' जो सब जगत् को चेष्टित करता है उस का नाम प्राण है, सुख रूप होने से उसी का नाम कं है, और सब का अधिकरण होने से ब्रह्म का नाम

खं है, इसी को आकाश कहते हैं। आज कल के तर्कपटु लोगों का तो यह कहना है कि ब्रह्मचारी उपकोसल को जो अग्नियों द्वारा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कथन की गई है वह उपचार से है; क्योंकि अग्नि का किसी से सम्भाषण सम्भव नहीं। वे कहते हैं कि यहाँ वास्तव में तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जब आचार्य उस का समावर्तन किये बिना ही बाहर चले गये, तो ब्रह्मचारी ने अपने अनुभव से ही अग्निशाला के पवित्र स्थान में बैठकर प्राण, कं और खं को ब्रह्म समझा ॥ ५ ॥

एकादश खण्ड

पहले सब अग्नियों ने मिलकर ब्रह्मचारी को प्राण, क, और ख की शिक्षा दी है, अब ये अलग अलग अपने विषय की विद्या उसे बतलाते हैं, यथा—

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

भावार्थ—फिर इस को गार्हपत्याग्नि ने शिक्षा दी कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य ये चार मेरे शरीर हैं। जो यह आदित्य में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—सबसे पहले गार्हपत्याग्नि ने पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य इन चारों को अपना शरीर बताया। जो सदा घर में स्थिर रहता है उस का नाम गार्हपत्याग्नि है, और इसी की अग्निकुण्ड में आकर आह्वनीय संज्ञा हो जाती है। इस अग्नि के सब से मुख्य होने के कारण ही यह कथन किया गया है कि जो आदित्य में ज्योति है, वह भी यही अग्नि है। इसी अर्थ की दृढता बोधन करने के लिए प्रकृत मन्त्र में 'स एवाहमस्मीति' पाठ दो बार प्रयुक्त हुआ है ॥ १ ॥

विशेष—इन चारों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसे भाष्यकार आचार्य शंकर ने इस प्रकार समझाया है कि अग्नि और सूर्य समान धर्मवाले हैं, अर्थात् खानेवाले, पकानेवाले और प्रकाश देनेवाले हैं। इसलिए ये एक ही तत्त्व हैं, और पृथिवी तथा अन्न इन का भोज्य है। विशेष बात तो यहाँ यह विचार करने की

है कि इन सब में एक ब्रह्म का प्रकाश है। भाव यह है कि जो सूर्य में चेतन है, वही गार्हपत्य में है, गार्हपत्य में उसी की उपासना है जिस के तेज से सूर्य प्रदीप्त हो रहा है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥

भावार्थ—जो गार्हपत्याग्नि की इस प्रकार उपासना करता है वह पापकर्म को नष्ट करता है, लोकों का स्वामी होता है, संपूर्ण आयु को प्राप्त होता है, सुयश के साथ जीता है तथा उस उपासक के वंश के लोग नष्ट नहीं होते हैं। हम तीनों अग्नि उस उपासक को इस लोक में और परलोक में भी पालन करते हैं। विद्वान् गार्हपत्याग्नि की उक्त रीति से उपासना करता है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जो कोई पुरुष पूर्वोक्त रीति से भोग्य और भोक्तारूप चार भागों में विभक्त हुए पूर्वोक्त गार्हपत्याग्नि की उपासना करता है, वह संपूर्ण पापकर्मों का नाश करता है। वह लौकिकाग्निवाला होता है, सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है तथा उज्वल जीवन व्यतीत करता है याने अप्रसिद्ध होकर नहीं जीता। उस के कुल में उत्तम पुरुष होते हैं, संतति का नाश नहीं होता है और अग्नि उस की इस लोक में तथा परलोक में रक्षा करते हैं॥ २॥

विशेष—जो उक्त अग्नि की उपासना करता है वह पापों का नाशक, सौ वर्ष तक जीनेवाला, उज्वल कीर्तिवाला होता है याने उस के जीवन में कोई कलंक नहीं लगता है। उस के कुल में कोई पुरुष कम आयुवाला नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् इस प्रकार उपासना करता है उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है॥२॥

——❀❀❀——

द्वादश खण्ड

अब उक्त ब्रह्मचारी को दक्षिणाग्नि का उपदेश कथन करते हैं, यथा—

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्ष-

त्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः उस ब्रह्मचारी से अन्वाहार्यपचन=दक्षिणाग्नि ने कहा कि जल, दिशा, नक्षत्र तथा चन्द्रमा ये चार मेरे शरीर हैं। चन्द्रमा में जो यह पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ ॥ १ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस के बाद इस उपकोसल को दक्षिणाग्नि ने उपदेश किया कि जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा ये चार मेरे शरीर हैं, और मैं अन्वाहार्य (दक्षिणाग्नि) नामवाला अग्नि अपने चार विभाग करके स्थित हूँ। जो यह चन्द्रमा में पुरुष दिखाई देता है वह पुरुष मैं ही हूँ ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जो दक्षिणाग्नि है वही चन्द्रस्थ पुरुष है तथा जो चन्द्रमा में पुरुष है वही दक्षिणाग्नि है। याने दोनों में कोई भेद नहीं है ॥१॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस तरह इस की उपासना करता है वह पापकर्म को नष्ट करता है, लोकों का स्वामी होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्वल कीर्ति को प्राप्त होता है। इस के कुल में किसी संतान का नाश नहीं होता है और न इस के वंश में कोई नीच पुरुष ही उत्पन्न होता है। हम उस की दोनों लोकों में रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से दक्षिणाग्नि की उपासना करता है वह पापकर्म का नाश करता है, लोकों का प्रभु होता है, सौ वर्ष तक जीता है, उज्वल जीवनवाला होता है। उस के कुल में अधम पुरुष नहीं उत्पन्न होते हैं तथा उस का वंश नष्ट नहीं होता है, और हम अग्नि उस की इस लोक में तथा परलोक में रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

विशेष—अन्न के सम्बन्ध से और ज्योतिरूप होने के कारण तथा दक्षिण दिशा के सम्बन्ध से दक्षिणाग्नि और चन्द्रमा एक हैं। जल तथा नक्षत्र अन्न और अन्नादरूप होने से भी एक हैं ॥ २ ॥

त्रयोदश खण्ड

अब आहवनीयाग्निविद्या का उपदेश कथन करते हैं—

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद आहवनीयाग्नि ने उपदेश दिया—प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत् ये चार मेरे शरीर हैं। यह जो विद्युत् में पुरुष दिखाई देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—दक्षिणाग्नि के उपदेश करने के बाद इस ब्रह्मचारी को आहवनीयाग्नि ने उपदेश करना आरम्भ किया। यथा—प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् ये चार आहवनीयाग्नि के शरीर हैं। जो यह विद्युत् में पुरुष दिखाई देता है वह मैं आहवनीयाग्नि हूँ, जो मैं आहवनीयाग्नि हूँ वही विद्युत् में पुरुष है ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि आहवनीयाग्नि तथा विद्युत् में स्थित पुरुष, ये दोनों एक हैं। इनमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि द्यौ और आकाश का आश्रयाश्रयी भाव से ऐक्य है और विद्युत् तथा आहवनीयाग्नि का भोग्यभोक्तृभाव संबन्ध से ऐक्य है ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—जो इस तरह इस की उपासना करता है वह पापकर्म को नष्ट करता है, लोकों का स्वामी होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल कीर्ति को प्राप्त करता है। उस के कुल में किसी संतान का नाश नहीं होता है और न उस की वंशपरंपरा में कोई नीच पुरुष ही पैदा होता है। हम उस की दोनों लोकों में रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—जो मनुष्य दक्षिणाग्नि का पूर्वोक्त प्रकार से ऐक्य जानकर उपासना करता है वह पापकर्म को नाश करता है और लोक में प्रसिद्ध, पूर्णायुवाला होता है। वह सौ वर्ष पर्यन्त जीवन को धारण करता है, उज्वल जीवनवाला होता है। उस के कुल में अधम पुरुष नहीं होता और न वंशोच्छेद होता है। उस की हम इस लोक में तथा परलोक में रक्षा करते हैं, जो कि इस प्रकार जानकर उपासना करता है॥ २॥

चतुर्दश खण्ड

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्माद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल३ इति॥ १॥

भावार्थ—अग्नियों ने कहा कि हे उपकोसल! हे सोम्य! हमने यह अपनी विद्या और आत्मविद्या तुझ से कही। आचार्य तुझे विद्याफल की प्राप्ति के लिए मार्ग बतलायेंगे। कुछ काल के बाद आचार्य ने आकर उस से कहा—'हे उपकोशल!'॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उपकोसल को गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन तीनों ने कहा कि हमने तुझको अग्निविद्या और ब्रह्मज्ञान का उपदेश तो दे दिया है, पर इस का असल तत्त्व याने फल तुझे आचार्य बतायेंगे। इन के यह कह चुकने पर ,बाहर गये आचार्य भी घर लौट आये। आते ही उन्होंने हर्षप्रफुल्लित उपकोसल की मुखाकृति देखकर कहा—अरे! यह क्या तुम्हारा इतना सुन्दर वदन, कमल की तरह प्रस्फुटित आनन? वाह वाह रे पुत्र! सौम्य उपकोसल!॥ १॥

विशेष—इस मन्त्र में अग्नियों के मुख से आचार्य का महत्त्व बोधन कराया गया है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस को लक्ष्य में रखकर अग्नियों ने कहा है कि कहने को तो हमने तुझे सब कुछ कह दिया है, पर यही बात तू आचार्य से दुहरा लेगा तो तुझे दृढ़ता हो जायगी। जैसे कोई राजकर्मचारी किसी नागरिक को राजा की आज्ञा सुनावे, और सुनाकर वह कहे कि सन्देह हो तो सरकार से पूछ

लो। अनन्तर पूछने पर नागरिक को आज्ञा की दृढता हो जाती है। 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' याने एक गाँठ पर दूसरी गाँठ लगाने से मजबूती आ जाती है। यही यहाँ भी जानना।

इस मन्त्र में एक बड़ी विलक्षण बात कही गई है जो मानवमनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है, जैसे कोई साधारण मनुष्य किसी ऐसे काम में सफलता प्राप्त कर लेता है जो उस के द्वारा होना असंभव प्रतीत हो। उसे देखकर एकाएक देखनेवाला कह बैठता है कि 'अरे देवदत्त यह क्या ? ओह ! वाह !' इसी मनोभाव का चित्रण यहाँ भी किया गया है। जिसे पाठक स्वानुभव से अधिक जान सकते हैं॥ १॥

अब आचार्य और उपकोसल का वार्तालाप कथन किया जाता है, यथा—

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वाऽनुशशासेति को नु माऽनुशिष्याद्भो इतोहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नी-नभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति॥ २॥

भावार्थ—वह ब्रह्मचारी बोला—भगवन् ! क्या आज्ञा है ? तब आचार्य ने कहा—हे सोम्य (ब्रह्मचारिन्) ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ता के मुख के समान सुशोभित हो रहा है, किसने तुझ को उपदेश दिया है ? 'कौन मेरा अनुशासन करेगा, याने मुझे कौन शिक्षा देगा' इस प्रकार उस उपदेश को छिपाता सा हुआ ब्रह्मचारी बोला। फिर अग्नियों की ओर संकेत करके कहा—मनुष्यों से भिन्न ऐसे जो ये अग्नि हैं इन अग्नियों ने ही उपदेश दिया है। ऐसा कहकर उस ने अग्नियों को बताया। यह सुनकर आचार्य बोले—हे सोम्य ! तेरे लिए इन्होंने कौन सी विद्या सिखलाई है ?॥ २॥

वि० वि० भाष्य—आचार्य ने शिष्य का मुखमण्डल देखकर उस की कृतार्थता का अनुमान करते हुए उस से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का कारण तथा उपदेष्टा के विषय में पूछा तो शिष्य असमंजस में पड़ गया। वह उपदेष्टा का परिचय नहीं देना चाहता था, पर गुरुदेव के प्रश्न का सदुत्तर न देना भी धृष्टता की बात होती। अतः ब्रह्मचारी बोला कि इन अग्नियों ने मुझे उपदेश दिया है, जो हमारे प्रश्नोत्तर-काल में कम्पायमान से प्रतीत हो रहे हैं, पहले ये ऐसे नहीं थे। उपदेश का पता पा जाने पर गुरु को अब स्वाभाविक यह जिज्ञासा हुई कि अच्छा तो फिर अग्नियों

ने कहा क्या ? कौन सी ऐसी बात थी जो इन से मालूम हुई ? यह सब जानने के लिए फिर गुरु पूछते हैं कि—हे सोम्य कहो तो, उन्हों ने क्या उपदेश दिया ॥ २॥

विशेष—इस मन्त्र में एक उलझन का दिग्दर्शन कराया गया है जो अकसर व्यवहार में आ पडती है। अग्नियों ने ब्रह्मचारी को उपदेश दे तो दिया और ब्रह्मचारी ने उसे ग्रहण भी कर लिया। किन्तु आचार्य के आने और पूछने पर उक्त श्रोता वक्ता दोनों चक्कर में पड़ गये। इधर ब्रह्मचारी बात छिपाना चाहता था, उधर अग्नियों का वह उत्साह नहीं रह गया था जो ब्रह्मचारी के उपदेशकाल में था। वे डर से कम्पायमान से हो रहे थे, उन्हें इस अनधिकारचेष्टा से संकोच हो रहा था कि हमने दूसरे के विद्यार्थी को पढ़ाने में व्यर्थ जल्दबाजी की। शिष्य आचार्य को ठीक जवाब न दे, यह सभ्यता के विरुद्ध व्यवहार था। अन्त में हृदय दृढ़ करके ब्रह्मचारी ने उपदेशकों का नाम इसलिए बता दिया कि मैंने तथा उपदेशकों ने कोई अनर्थ तो किया नहीं है जो गुरु बाबा अप्रसन्न हो जायँगे। वहाँ सब का व्यवहार परिशुद्ध था, अतः गोरखधन्धे की उलझन जो पहाड़ जैसी प्रतीत हो रही थी हस्तामलकवत् सुलझ गई ॥ २ ॥

अब उपकोसल का कथन कहते हैं, यथा—

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह प्रसिद्ध ब्रह्मचारी बोला कि मैंने यह विद्या सीखी है। यह सुन आचार्य ने कहा—हे सोम्य ! यह निश्चय समझ कि तुझ को लौकिक विद्याओं का ही उपदेश मिला है,। मैं तुझ को वह उपदेश दूँगा जिसे जाननेवाले को पापकर्म का सम्बन्ध उसी प्रकार नहीं होता जैसे कमल के पत्तों पर जल नहीं ठहरने पाता। यह सुनकर शिष्य बोला—हे भगवन् ! (हे ऐश्वर्यसम्पन्न !) वह ज्ञान मुझे बतलावें। यह सुन आचार्य उस से कहने लगे ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—आचार्य के पूछने पर ब्रह्मचारी ने जैसे तैसे अग्नियों द्वारा प्राप्त विद्या कह दी। दयालु आचार्य ने अग्नियों द्वारा प्रतिपादित विज्ञान के विषय में अपनी सम्मति दी कि जो तूने जाना है वह पूर्वार्धमात्र है, वह उतना

तो ठीक ही है, पर मैं आगे उस विद्या का उपदेश करूँगा जिस से परमानन्दधाम मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। लौकिक विद्याओं में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे नित्य-सुख की प्राप्ति करा सकें। तेरे लिए अभी और जानना बाकी है, जिस के जानने से सब कुछ जाना जाता है उसे मैं बताऊँगा। उस के बाद शिष्य ने प्रार्थना की कि भगवन्! मैं आप का उपदेश सुनने को उत्कंठित हूँ। तब आचार्य कहने लगे ॥ ३ ॥

विशेष—दत्तात्रेय ने २४ गुरु धारे थे, यह कहावत सर्वजनविदित है। ठीक ही है, जो माधुकरी वृत्ति को अपनावेगा वही यथार्थ विद्या का अर्थी होगा। यह भी कहावत है कि—'गुरु एक, शिक्षा अनेक' याने आचार्य तो एक ही होना चाहिये, पर सदुपदेश जहाँ से मिलें ले लेने उचित हैं। इस से विद्या अपूर्ण नहीं रहने पाती। इस मन्त्र में बुद्धिमान् ब्रह्मचारी ने यही किया है। उस ने अग्नियों की प्रसन्नता से लाभ उठाया, जो कोर कसर बाकी रह गई थी उसे कृपालु आचार्य ने पूर्ण करने का वचन दे दिया है।

अग्नियों में उपदेश देने की योग्यता है या नहीं ? इस विषय में अन्यान्य मन्त्रों की तरह यहाँ भी अनेक शङ्कायें हो सकती हैं, उन का समाधान भी उसी तरह कर लेना जैसा अन्य मन्त्रों की व्याख्या के अवसरों पर किया गया है। और यही परम्परा आगे भी समझनी होगी।

अभिप्राय यह है कि वक्ता चाहे अग्नि, हंस, अश्व, देव और यक्ष आदि कोई भी हो, और ऐसे ही श्रोता भी चाहे जो हो, इस से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। सही बात तो यह होती है कि बोध के अवसर में जो कुछ कहा गया है, वह हमारे उपयोगी है कि नहीं ? यदि हम इस से लाभ उठा सकते हैं तो हमारा आम खाने का काम हो गया, अब वृक्ष गिनने का विफल प्रयास करना बुद्धि को जलाञ्जलि देना है। गीता अर्जुन को कही गई, और कृष्ण ने कही, वह भी लड़ाई झगड़े के अवसर पर। अब हम उसे शान्त वातावरण में अपने जैसे किसी मनुष्य से सुनें तो उचित है या नहीं ? उस से लाभ होगा या नहीं ? वसै पाठक जानकर वक्ता-श्रोता के बखेड़े में बुद्धिशक्ति का व्यय न करके उस में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान के मथन में लगावें तो अधिक लाभमात्र ही नहीं हो, बल्कि जल विलोडन जैसे विफल प्रयास से भी बच जाँय।

जिन्हें इस से सन्तोष नहीं है, उन्हें महात्मा लोग समझाने में समर्थ हैं। उपनिषद्विज्ञान अभ्रान्त है शान्त है। इस सिद्धान्त को अक्षुण्ण रखने का सन्तों ने ठेका ले रखा है, वे वैदिक विज्ञान की रक्षा के इजारेदार है॥ ३ ॥

पञ्चदश खण्ड

अब आचार्य अमृतरूप ब्रह्म का उपदेश करते हैं, यथा—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचै-तदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

भावार्थ—ऋषि कहते हैं कि जो यह नेत्रों में पुरुष दिखाई देता है, यह आत्मा है, और यह ही अमृत, अभय और ब्रह्म है। नेत्रस्थ पुरुष में घृत या जल का सेक हो तो वह नेत्रों के बाहर किनारों पर ही चला जाता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो नेत्र के भीतर द्रष्टा पुरुष दिखाई देता है, वही सम्पूर्ण प्राणियों का आत्मा है, वही यह असरणधर्मा यानी अविनाशी है, इसी से अभय भी है। क्योंकि जिस को नाश की शंका होती है उसी को भय हो सकता है, इस लिए उस का अभाव होने के कारण यह अभय है। अतएव यह ब्रह्म=बृहत् यानी अनन्त है। यह ब्रह्मात्मा उसी पुरुष करके देखा जाता है, जिसने वाह्य विषयों की ओर से नेत्रों को हटा लिया है तथा ब्रह्मचर्यादि साधनों से संपन्न है, और शान्तचित्त एवं विवेकी है। जब कोई नेत्रों में घृत या जल डालता है तो वह पलकों द्वारा वाहर निकल जाता है और नेत्र निर्लेप रहता है, जिस प्रकार कि कमल का पत्ता जल में रहता है किन्तु जल का स्पर्श उस को हानि नहीं पहुँचाता है। हे सोम्य ! जिस के रहने के स्थान का ऐसा माहात्म्य है तो उस के भीतर रहनेवाले की असंगता का तो कहना ही क्या है ? ऐसा तुम स्वयं अनुभव कर सकते हो ॥ १ ॥

विशेष—यहाँ शंका होती है कि अग्नियों ने कहा था कि आचार्य तुम्हे गति मात्र को बतलायेंगे, और यहाँ आचार्य ब्रह्मज्ञान का कथन कर रहे हैं। अतः अग्नियों का कहना झूठा हुआ, तथा अग्नियों को भविष्यद् विषय का ज्ञान नहीं था। किन्तु यह दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि सुख गुणवाले आकाश की उपासना का ही अग्नियों ने उपदेश दिया था। यहाँ उसी द्रष्टारूप कारण ब्रह्म का नेत्रों में दर्शन का अनुवाद किया है। इस लिए 'आचार्य गति को कहेंगे' यह अग्नियों का भाषण यथार्थ ही है और अग्नियों का भविष्यद्विषयक परिज्ञान भी स्पष्ट ही है ॥ १ ॥

अब नेत्रस्थ द्रष्टा आत्मा के ध्यान के लिए उस के गुणों का कथन करते हैं, यथा—

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

भावार्थ—इस को 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि इस में ही सब 'वाम' याने सुन्दर पदार्थ आकर मिलते हैं। जो इसे इस प्रकार जानता है उस को सब उत्तम वस्तुयें प्राप्त होती हैं ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस पूर्वोक्त नेत्रस्थ पुरुष को 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि संपूर्ण वाम अर्थात् सुन्दर सुन्दर पदार्थ चारों तरफ से आकर इसे ही प्राप्त होते हैं। इस लिए यह संयद्वाम कहलाता है। इसी कारण जो पुरुष इसे 'संयद्वाम' ऐसा जानकर उपासना करता है, उस को भी संपूर्ण उत्तम तथा सुन्दर पदार्थ सब ओर से आकर प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

विशेष—संयद्वाम, (संयत् = उत्पन्न होते हैं, वाम = कर्मफल जिस के द्वारा) अर्थात् कर्मफलों के उदय का हेतु, ऐसा अर्थ हुआ। इसी में आकर सब कर्मों को फलोन्मुख होना पड़ता है, इसी के यहाँ पहुँचकर सब कर्मों में फलजनकता की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसी से कहा गया है कि इस नेत्रस्थ पुरुष में उत्तमोत्तम सभी पदार्थ सब ओर से आकर सम्मिलित होते हैं। इस का उपासक किसी भी उत्तम फल से वंचित नहीं रह सकता। इसी से कहा है कि सारे सौन्दर्य (वाम) इस को प्राप्त होते हैं, और सारे सौन्दर्य उस को प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार उपासना करता है। ईश्वर स्वयं सुन्दर है, अतः असौन्दर्य तो वहाँ जाकर भस्म हो जाता है, और सौन्दर्य चमकता है ॥ २ ॥

(आगे तीसरे तथा चौथे मंत्र का विशेष भी दूसरे मंत्र के विशेष के समान ही होगा, अतः उन दोनों मंत्रों के विशेष का उल्लेख नहीं किया जायगा—)

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

भावार्थ—यही वामनी है, क्योंकि यही समस्त वामों का वहन करता है। जो ऐसा जानता है, समस्त वामों को वहन करता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे उपकोसल ! यही आत्मा वामनी है, क्योंकि प्राणियों के लिए पुण्य कर्म के अनुरूप फल को देता है। इस लिए जो पुरुष इस प्रकार उस को वामनीरूप से जानता है उस को आत्मा का धर्म हो-जाने से संपूर्ण पुण्य कर्मों के फल प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

विशेष—वामनी, वाम नाम–कर्मफल, नी–प्राप्त करानेवाला, अर्थात्—कर्म-फलों का दाता भी वही है। कर्म तो जड़ हैं, उन में स्वयं फलोपधायकता नहीं है, किसी चेतन शक्ति की सहायता से ही वे प्रतिफलित हो सकते हैं। इसी से विचार-शील कहा करते हैं कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु फल भोगने में पर-तन्त्र है। जैसे किसी ने चौरकर्म किया तो उस का फल है जेल जाना, मार खाना या और किसी प्रकार अपमानित होना। पर कोई चोर अपने को स्वयं दण्ड देते नहीं देखा गया। उसे तो कोई दूसरा ही बलात् उस की इच्छा न रहते हुए फल प्रदान करता है। इसी प्रकार मनुष्य की रचना करके उसे बुद्धिबल देकर परमेश्वर ने कर्म करने में स्वतन्त्र–समर्थ बना दिया है, अब यह उस की इच्छा है कि कर्म बुरा करे या अच्छा। इस विषय में यहाँ बहुत कुछ कहा सुना जा सकता था। किन्तु स्थानाभाव से इस का दिग्दर्शन मात्र कराकर हम इस के विचार का भार समर्थ पाठकों के कन्धे पर धरकर उपराम होते हैं ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—यही भामनी है, क्योंकि यही समस्त लोकों में प्रकाशमान होता है। जो ऐसा जानता है वह सारे संसार में प्रतापी होता है ॥ ४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—और यही आत्मा भामनीरूप भी है, क्योंकि यही संपूर्ण लोकों में आदित्य, चन्द्र तथा अग्न्यादि के रूप में प्रकाशमान है। "उसी के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं" इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है, अतः वही भामों=प्रकाशों का वहन करता है। इस लिए जो पुरुष इस आत्मा को भामनी रूप से जानता है या उपासना करता है, वह भी संपूर्ण संसार में प्रकाशमान होता है ॥ ४ ॥

विशेष—भाम=प्रकाश, नी=देनेवाला करनेवाला। अर्थात् सब का प्रका-शक, सब को चमक दमक देनेवाला वही है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि तथा नक्षत्रादिकों में उसी का प्रकाश है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह सारे लोकों

में चमकता है। जिस की महिमा प्रकृत मन्त्रों में कही गई है, वह अचिपुरुष परब्रह्म है, इसी को पूर्व में 'क' 'ख' और यहाँ 'संयद्वाम' आदि नामों से कहा है ॥ ४ ॥

(इस अगले मन्त्र में किसी ने "अथ" यहाँ से "अमानवः" यहाँ तक एक मन्त्र और "नावर्तन्ते" यहाँ तक दूसरा मन्त्र, इस तरह दो मन्त्र माने हैं। किन्तु वस्तुतः यह सब एक ही मन्त्र है, इसी के अनुसार प्रकृत मन्त्र की व्याख्या भी की जाती है—)

अब ब्रह्मवेत्ता पुरुष की गति का कथन करते हैं, यथा—

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाᳪंस्तान्मासेभ्यः संवत्सरᳪं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ५ ॥

भावार्थ—अब इस ब्रह्मवेत्ता का शवकर्म करें या न करें, वह अर्चिअभिमानी देवता को ही प्राप्त होता है। फिर अर्चि अभिमानी देवता से दिवसाभिमानी देवता को, दिवसाभिमानी देवता से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को और शुक्लपक्षाभिमानी देवता से उत्तरायण के छः मासों को प्राप्त होता है। मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता है। वहाँ से अमानव पुरुष इसे ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवमार्ग ही ब्रह्ममार्ग है। इस से जानेवाले पुरुष इस मानवमंडल में नहीं लौटते, नहीं लौटते ॥ ५ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस खण्ड में जो अचिपुरुष का वर्णन किया गया है, वह कोई पुरुषविशेष नहीं, ब्रह्म का ही वह नाम कथन किया गया है। यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से उस की उपलब्धि सर्वत्र होती है, तथापि नेत्र आदि पदार्थों में उस का वर्णन विशेषतया इस कारण किया गया है कि उक्त स्थानों में ब्रह्म का निर्माणकौशल अधिकता से पाया जाता है। या यों समझो कि उस की सत्ता के द्योतक जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि आदि स्थान पाये जाते हैं, उस प्रकार अन्य नहीं। इसी भाव से यहाँ अचिपुरुष का वर्णन है। और उक्त पुरुष के ज्ञाता

का यह फल कथन किया गया है कि उस की लोक लोकान्तरों में ख्याति होती है, ऐसे पुरुष का दाहादि संस्कार उस के सगे सम्बन्धी या ऋत्विक् आदि द्वारा न भी किया जाय तो उस की सद्गति में कोई बाधा नहीं पड़ती।

उक्त ज्ञानी पुरुष की अवस्था यह होती है कि प्रथम वह एक साधारण प्रकार के प्रकाश को प्राप्त होता है। इस के अनन्तर अभ्यास करता हुआ दिन जैसे प्रकाश को प्राप्त करता है, फिर उस प्रकाश से पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे प्रकाश को प्राप्त होता है, फिर उस प्रकाश से उत्तरायण गति को प्राप्त होता है। इस का अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में वह आत्मज्ञान से देदीप्यमान हो जाता है। फिर वह संवत्सर याने एक वर्ष पर्यन्त अपनी चित्तवृत्ति का निरोध कर सकता है, फिर आदित्य की अवस्था को प्राप्त होता है, इस के अनन्तर चन्द्रमा, फिर विद्युत् के समान अद्भुत प्रकाशवाला होता है। उक्त मुक्त पुरुष अन्य लोगों के लिए ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होता है, स्वयं तो वह इस पुनर्जन्म के चक्र में आता ही नहीं ॥ ५ ॥

विशेष—गृहस्थ को अपने पारलौकिक कर्म करने के लिए अग्न्याधान कर उन अग्नियों में दर्श पौर्णमासादि इष्टियों और सोम आदि यज्ञों का करना आवश्यक है। जब वह मरता है तो उस के ऋत्विक् उन्हीं अग्नियों को ले जाकर यज्ञपात्रों समेत उस का विधिपूर्वक दाहसंस्कार करते हैं। किंतु उक्त संस्कार उस पुरुष का जो पूर्वोक्त अग्निविद्या और आत्मविद्या को जानता है, हो चाहे न हो, इस से उस का कुछ घटता बढता नहीं। वह सर्वथा शुक्ल गति को ही प्राप्त होता है। यहाँ उपासक के लिए दाहसंस्कार में अनादर दिखलाने से ब्रह्मविद्या की स्तुति की गई है। कोई यह अन्यथा अभिप्राय न निकाल ले कि दाहसंस्कार ऐच्छिक है। हाँ यह बात विशेष है कि ब्रह्मवेत्ता संन्यासियों का दाहसंस्कार करना आवश्यक नहीं है। इसी लिए इस के निषेधक वचन मिलते हैं।

यहाँ शङ्कराचार्य ने अर्चि, दिन आदि शब्द से जो उन के अभिमानी देवता लिये हैं, यही अर्थ समीचीन प्रतीत होता है। 'नावर्तन्ते, नावर्तन्ते' यह द्विरुक्ति फल के सहित विद्या की परिसमाप्ति प्रदर्शित करने के लिए है। इस मन्त्र में ब्रह्मवित् (उपासक) की गति बतलाई गई है ॥ ५ ॥

——❀❀❀——

सोलहवाँ खण्ड

अब यज्ञोपासना का वर्णन करते हैं—

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति यदेष यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥ १ ॥

भावार्थ—जो यह वायु चलता है वही यज्ञ है, यह जब चलता है तो सब को पवित्र करता है। यही यज्ञ है, इसके वाणी और मन दोनो वर्तनी = मार्ग हैं ॥१॥

वि० वि० भाष्य—जो यह गतिवाला वायु है वही यज्ञ है, क्योंकि वायु में ही यज्ञ स्थित है, ऐसा श्रुतियों में प्रसिद्ध है, वायु ही यज्ञ का आरम्भ करता है। यह वायु चलता हुआ सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है अर्थात् शोधन करता है। चलनक्रियावाला यह वायु है इसलिए दोषों को दूर कर सकता है, स्थिर नहीं कर सकता। यह वायु समस्त जगत् को पवित्र करता है, इसलिए यह यज्ञरूप है। इस यज्ञ में वाणी से मन्त्रोच्चारण होता है और मन से सत्य अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए वाणी और मन दोनों यज्ञ के मार्ग हैं, इन से ही यज्ञ का विस्तार होता है। क्योंकि वाणी के उच्छ्वास निःश्वास से और मन के पूर्वापर भाव से यज्ञ होता है ॥१॥

विशेष—ज्ञानयज्ञ के मन और वाणी ये दोनों प्रसिद्ध मार्ग हैं, अर्थात् संस्कृत वाणी और संस्कृत मनवाला पुरुष उक्त ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होता है, अन्य नहीं। एकमात्र यही यज्ञ मनुष्य को पवित्र करता है, इसी अभिप्राय से इस को यज्ञरूप से कथन किया गया है। भाव यह है कि वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है, पर ज्ञानमय यज्ञ सब से श्रेष्ठ होने के कारण सर्वोपरि है। इसीलिए गीता में भी—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

इसको श्रेष्ठ कहा गया है। यहाँ अग्निविद्या के प्रसंग से यज्ञ में त्रुटि होने पर उसके प्रायश्चित्त के लिए व्याहृतियों का विधान और ब्रह्मा के लिए मौन का विधान किया जाता है। यह विधि अरण्य(जंगल) में उपदेश की गई है, इस लिए इसे उपनिषद् में कहा गया है ॥ १ ॥

ब्रह्मा का मौन भङ्ग होने से यज्ञ की हानि बतलाते हुए मन वाणीरूप दोनों मार्गों का कथन करते हैं, यथा—

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतराꣳ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मा उन दोनों मार्गों में से एक मार्ग का मन के द्वारा संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये वाणी द्वारा दूसरे मार्ग का संस्कार करते हैं। ऐसी दशा में यदि वह ब्रह्मा प्रातरनुवाक नामक कर्म के आरम्भ होने पर और परिधानीय ऋचा के जप से पहले बोल उठता है (तो यह एक दोष है, क्योंकि—) ॥ २ ॥

(इस मंत्र का व्याख्यान अगले मंत्र के साथ इकट्ठा ही होगा।)

अब उक्त यज्ञ में उस दोष का कथन करते हैं, यथा—

अन्यतरामेव वर्तनीꣳ सꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस प्रकार वह ब्रह्मा केवल एक मार्ग का ही संस्कार करता है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जैसे एक पाद से चलता हुआ पुरुष व एक चक्र से चलता हुआ रथ नष्ट हो जाता है, वैसे ही इसका यज्ञ भी नाश को प्राप्त हो जाता है। यज्ञ के नष्ट होने के बाद यजमान का नाश होता है, इस तरह यज्ञ करने पर वह और भी अधिक पापी हो जाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—उन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग के लिए किये गये यज्ञ में ब्रह्मा जो प्रधान ऋत्विक् होता है वह विवेकयुक्त चित्त द्वारा वाणी का संस्कार करता है, याने चुपचाप ऋचा का ध्यान करता है। होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता ये तीनों ऋत्विक् वाणी से ही वाणी का संस्कार करके सजाते हैं, अर्थात् ऋचा पढ़ते हैं। फिर जिस समय ब्रह्मा परिधानीय ऋचा से पहले अनुवाक कर्म के आरंभ में मौन का त्याग कर देता है याने बोल उठता है, उस समय वाणीरूपी

मार्ग का संस्कार करता है, मन का नहीं। क्योंकि परिधानीय ऋचा के उच्चारण करने से मन एकाग्र नहीं रहता, इसी से यज्ञ का नाश हो जाता है। जिस प्रकार एक पाँव से चलता हुआ पुरुष या एक चक्र से चलता हुआ रथ नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मा से अविधिपूर्वक किया हुआ यजमान का यज्ञ भी नष्ट हो जाता है और यज्ञ के नाश हो जाने से यजमान भी विनष्ट हो जाता है। क्योंकि यज्ञ ही यजमान का प्राण होता है, इसीलिए यज्ञ के नाश से यजमान का नाश हो जाना ठीक ही है, और वह यजमान भी ऐसा यज्ञ करने से पापी हो जाता है ॥ २-३ ॥

विशेष—जिस यज्ञ में ब्रह्मा आदि ऋत्विक् यज्ञ के ज्ञान तथा कर्म इन दोनों मार्गों से काम नहीं लेते, वह यज्ञ फलहीन होने से उस का करनेवाला यजमान भी पापी हो जाता है। यज्ञ ही क्या कोई भी काम हो, साङ्गोपाङ्ग किये विना सार्थक नहीं, अवाञ्छित फल देनेवाला होता है। यज्ञ का तो अलौकिक विषय है, इस में जरा से वैगुण्य से अपूर्व का घात हो जाता है, या वह उत्पन्न ही नहीं होने पाता ॥ २-३ ॥

(आगे के दोनों मंत्रों का व्याख्यान साथ ही किया जाता है, क्योंकि एक का दूसरे से संबन्ध है—)

अब उक्त दोनों मार्गों के ठीक रखने का कथन करते हैं, यथा—

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाकेन पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥ ४ ॥

भावार्थ—और जिस यज्ञ में प्रातरनुवाक के प्रवृत्त होने पर परिधानीया ऋचा से पहले ब्रह्मा नहीं बोलता है तो ऋत्विक् दोनों मार्गों का संस्कार करते हैं, तब तो दोनों में कोई मार्ग हानि को प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

अब उस यज्ञ के समर्थन में दृष्टान्त कथन करते हैं, यथा—

स यथोभयपाद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे दो पाँववाला पुरुष मार्ग चलता हुआ नष्ट नहीं होता है तथा जैसे वह दोनों चक्रों से चलता हुआ रथ स्थिर रहता है, इसी तरह यजमान का यज्ञ भी स्थिर रहता है। और यज्ञ के स्थिर रहने से यजमान भी स्थिर रहता है। इस प्रकार मौन धारण किया हुआ ब्रह्मा ज्ञानपूर्वक ब्रह्मयुक्त यज्ञ का यजन करके श्रेष्ठ होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—परन्तु जहाँ विद्वान् ब्रह्मा मौन स्वीकार करने के बाद परिधानीया ऋचा तक वाणी का उच्चारण न करता हुआ स्थित रहता है, मौन का त्याग नहीं करता तथा उसी के समान दूसरे सब ऋत्विग् भी नियमपूर्वक रहते हैं, वहाँ वे सब दोनों मार्गों का संस्कार कर देते हैं। तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता। इस में श्रुति पहले की अपेक्षा विपरीत दृष्टान्त देती है। अभिप्राय यह है कि उसी तरह अपने दोनों मार्गों द्वारा स्थित हुआ इस यजमान का यज्ञ प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट न होता हुआ वर्तमान रहता है। यज्ञ के प्रतिष्ठित रहने पर यजमान भी उसी के समान प्रतिष्ठित रहता है। इस तरह के मौनविज्ञान युक्त ब्रह्मावाला वह यजमान यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥ ४-५ ॥

विशेष—जैसे दोनों पाँवों से चलनेवाला मनुष्य तथा दो पहियों से चलनेवाला रथ गिरने नहीं पाता, इसी प्रकार कर्मरूप वाणी और ज्ञानरूप मन से संयुक्त यज्ञ प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। अर्थात् ज्ञान तथा कर्म ये दोनों अङ्ग जिस यज्ञ में पूर्ण रहते हैं वही यज्ञ शुभ होता है, क्योंकि ज्ञान कर्म के समुच्चय से ही मनुष्य को स्वर्ग अपवर्ग का लाभ होता है। इसी अभिप्राय से 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इस मन्त्र में समुच्चय विधान किया गया है। यहाँ उपनिषद् में ब्रह्मा के कर्तव्य का इस लिए वर्णन किया है कि ब्रह्मा का काम यज्ञ में उपासना के सदृश है। जैसे जब दूसरे ऋत्विक् यज्ञ में अपने अपने मन्त्रों को पढते हैं, तब ब्रह्मा चुपचाप रहता है, यज्ञ के कर्म को मन से देखता रहता है, और यह ध्यान रखता है कि कोई त्रुटि न हो, यदि कोई त्रुटि हो जाय तो वह उस का प्रायश्चित्त करता है ॥ ४-५ ॥

सत्रहवाँ खण्ड

अब प्रजापति परमात्मा द्वारा पृथिव्यादि पदार्थों की उत्पत्ति तथा वेदों का आविर्भाव कथन करते हैं, यथा—

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजापति ने लोकों को लक्ष्य कर ध्यानरूप तप किया और तप्यमान उन लोकों के रसों को निकाला, यथा—पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को निकाला ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—प्रजापति याने विराट् आत्मा ने लोकों से सार वस्तु के ग्रहण करने की इच्छा से ध्यानरूप तप किया। इस प्रकार तप किये जाते समय उन लोकों के साररूप रसों को उसने ग्रहण किया, जैसे पृथिवी से अग्निरूपी रस को, अन्तरिक्ष से वायुरूपी रस को और स्वर्ग से आदित्यरूपी रस को निकाला ॥ १ ॥

विशेष—पूर्व खंड में ब्रह्मा के मौन का वर्णन किया गया, उस मौन का नाश होने पर ब्रह्मकर्म का विनाश होने या दूसरे किसी होत्रादि कर्म का विनाश होने पर 'व्याहृतिहोम' यह प्रायश्चित्त है। इस के लिए व्याहृतियों का विधान करना आवश्यक था, अतएव प्रकृत मंत्र का आरम्भ किया गया ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात् ॥२॥

भावार्थ—फिर उसने इन तीन देवताओं को लक्ष्य करके तप किया, तप्यमान उन देवताओं से उसने रस निकाला। अग्नि से ऋक्, वायु से यजुः तथा आदित्य से साम ग्रहण किया ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—फिर प्रजापति ने अग्नि, वायु और आदित्य इन तीनों देवताओं को ध्यानरूपी तप से तपाया। उन तपाये हुए देवताओं से याने अग्नि से ऋग्वेद रूपी रस को, पवन से यजुर्वेदरूपी रस को तथा आदित्य से सामवेदरूपी रस को निकाला ॥ २ ॥

विशेष—ब्रह्मा ने तप किया, याने विचार किया तो उसे प्रतीत हुआ कि ऋचाओं में याने ऋग्वेद के तत्त्वों में अग्नि जैसी सामर्थ्य है। उस के ज्ञाता के पाप ऐसे दग्ध हो जाते हैं, जैसे काष्ठभार अग्नि से। इसी प्रकार उसने यह भी विचार किया कि पवन सब का प्राण है, और यजुर्वेद भी प्राणियों का जीवन है। यजुर्वेद में मनुष्यजीवन को सफल बनाने की असीम सामर्थ्य है, अतः पवन से

यजुर्वेदरूप रस याने तत्त्व निचोड़ा अर्थात् ग्रहण किया। आदित्य से साम को निकाला। अखिल चराचर आदित्य (सूर्य) के गुण गा रहा है, उन गुणों में प्रधान सामवेद है। अत एव सामवेद आदित्य से आविर्भूत हुआ है ॥ २ ॥

अब ऋग्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित कथन किया जाता है, यथा—

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद् भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः तद्यदृक्तो रिष्येद् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचा-मेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति॥३-४॥

भावार्थ—फिर उसने इस वेदत्रयी को ध्यानरूपी तप से तपाया। उस तप्यमान विद्या से रसों को निकाला, याने ऋक् से भूः, यजु से भुवः तथा साम से स्वः को निकाला। यदि यज्ञ में ऋक् से कोई क्षति हुई हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्नि में हवन करे। क्योंकि ऋग्वेद से उत्पन्न हुई क्षति की पूर्ति ऋग्वेद के रस से या ऋग्वेद के पराक्रम से ही हो सकती है ॥ ३-४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—पुनः उस प्रजापति ने ऋक्, साम और यजुर्वेद–त्रयी को लक्ष्य करके तप किया, तथा उस तप के प्रभाव से ऋग्वेद से 'भूः' इस व्याहृति-रूप सार को, यजुर्वेद से 'भुवः' इस व्याहृतिरूप सार को और सामवेद से 'स्वः' इस व्याहृतिरूप सार को निकाला। यदि ऋग्वेद की ऋचाओं की ओर से यज्ञ में किसी तरह की हानि पहुँचे तब गार्हपत्याग्नि में 'भूः स्वाहा' इस मंत्र करके हवन करने से क्षति दूर हो जाती है। क्योंकि ऋग्वेद से उत्पन्न हुई हानि ऋग्वेद की रस-रूपी व्याहृति से ही दूर हो सकती है ॥ ३-४ ॥

विशेष—ऋचाओं के अथवा ऋचासम्बन्धी कर्म के न होने या अन्यथा होने से यज्ञ का जो भाग क्षत (घायल) हो जाता है, उस को 'भूः स्वाहा'-इस आहुति से भर दिया जाता है। जैसे शरीर का क्षत (घाव) चिकित्सा से भर जाता है, इसी प्रकार यज्ञ के क्षत (घावस्थानीय त्रुटियों) की यह आहुति चिकित्सा है। भूः भुवः स्वः ये तीनों व्याहृतियाँ तीनों वेदों की, तीनों लोकों की, तीनों देवों की सारभूत हैं, तत्त्व हैं ॥ ३-४ ॥

अब यजुर्वेदनिमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कथन किया जाता है, यथा—

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टंᳫं संदधाति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके बाद यदि यज्ञ में यजुर्वेद के मन्त्रोच्चारण से किसी प्रकार की हानि हुई हो तो उसकी निवृत्ति के लिए दक्षिणाग्नि में 'भुवः स्वाहा' इस मंत्र से हवन करे। क्योंकि यजुर्वेद के मंत्रों से उत्पन्न हुई यज्ञ की पूर्ति यजुर्वेद के रस से व यजुर्वेद के पराक्रम से ही पूर्ण हो सकती है ॥ ५ ॥

(अब कुछ स्थलों तक दो दो मन्त्रों का भाष्य विशेष एक साथ रहेगा—)

अब सामवेद निमित्तक यज्ञ के खण्डित होने पर प्रायश्चित्त कहा जाता है, यथा—

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टंᳫं संदधाति ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि यज्ञ में सामवेद के मंत्रोच्चारण से किसी प्रकार की हानि हुई हो तो उसकी निवृत्ति के लिए आहवनीयाग्नि में 'स्वः स्वाहा' इस मंत्र से हवन करे। क्योंकि सामवेद के मंत्रों से उत्पन्न हुई यज्ञ की क्षति की पूर्ति सामवेद के रस से व सामवेद के पराक्रम से ही पूर्ण हो सकती है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—ईश्वर को छोड़कर अन्य कोई भी भ्रम-प्रमादरहित प्राणी नहीं है, अतः कार्य करनेवाला कोई कितना ही विज्ञ हो और वह कितनी ही सावधानता रखनेवाला हो, पर भूल करने से कोई नहीं बचता। प्राचीन समय में यज्ञानुष्ठान का काम बडे सुयोग्य परीक्षित विद्वान् लोगों को दिया जाता था, पर त्रुटि उनके काम में भी आ जाती थी। विद्वानों ने उसकी निष्कृति के उपाय भी बताये हैं, वे विभिन्न प्रकार के हैं। यहाँ तीनों वेदों के अनुष्ठान में जो कुछ भूल चूक हो जाय उसके क्रम से 'भूः स्वाहा' 'भुवः स्वाहा' 'स्वः स्वाहा' ये उपाय हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि यह उपाय होता आदि के कर्म में जो त्रुटि या प्रमाद हो जाय तद्विषयक ही है ॥ ४ ॥

विशेष—ये ही सब पूर्वोक्त प्रायश्चित्त होता, उद्गाता और अध्वर्यु द्वारा होनेवाली हानियों की पूर्ति के लिए हैं। ब्रह्मा के कारण यज्ञक्षत होने पर तीनों अग्नियों में तीनों व्याहृतियों द्वारा हवन करे, क्योंकि ब्रह्मा के द्वारा होनेवाला वह यज्ञक्षत त्रयी विद्या का ही क्षत है। जैसा कि "ब्रह्मत्व किसके द्वारा सिद्ध होता है ? इस त्रयीविद्या से ही" इस श्रुति से सिद्ध होता है। या ब्रह्मत्व के कारण होनेवाले यज्ञक्षत के लिए कोई और न्याय ढूँढना चाहिये ॥ ५-६ ॥

अब विद्वान् ब्रह्मा की विशिष्टता का वर्णन दो मंत्रों से करते हैं, यथा—

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ सꣳदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारुणा चर्म ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सुहागे से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से राँगे को, राँगे से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से लकडी को तथा चमड़े से भी लकड़ी को जोड़ते हैं ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ सदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार इन लोकों के, इन देवताओं के तथा इस त्रयी विद्या के प्रभाव से यज्ञ की कमी को ब्रह्मा पूर्ण करता है। वह यज्ञ अवश्य ही मानो ओषधियों द्वारा संस्कृत होता है, जिस यज्ञ में ब्रह्मा इस प्रकार व्याहृतिहोम का तथा प्रायश्चित्त कर्म का ज्ञाता होता है ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि जैसे लवण याने सुहागे से सुवर्ण को जोड़ा जाता है, क्योंकि वह कठिन सुवर्ण को मृदु करनेवाला है, सुवर्ण से चाँदी को, जिसका जुड़ना अत्यन्त कठिन है, जोड़ते हैं, इसी प्रकार चाँदी से राँगा, राँगे से सीसा, सीसे से लोहा तथा लोहे से काष्ठ या चर्म से काष्ठ को बाँधा या जोड़ा जाता है। वैसे ही इन कहे हुए लोकों की, देवताओं की तथा वेदत्रयी की रसरूपी व्याहृतियों से ऋत्विक् ब्रह्मा यज्ञ की क्षति को पूर्ण कर देता है। और जैसे रोग का जाननेवाला सुशिक्षित चिकित्सक रोगी पुरुष को रोग

से रहित कर देता है, वैसे ही जिस यज्ञ में व्याहृति और होमरूप प्रायश्चित्त का जाननेवाला ब्रह्मा ऋत्विक् होता है, वह यज्ञ भी निश्चय फलदायक ही होता है ॥८॥

विशेष—थोड़े में इन मन्त्रों का तात्पर्य यह है कि जैसे लोहे से काष्ठ जुट जाता है और शिक्षित वैद्य रोगी को निरोग बना देता है, वैसे ही पूर्वोक्त व्याहृति-होमरूप प्रायश्चित का ज्ञाता ब्रह्मा त्रयी विद्या की रसरूपी व्याहृतियों करके यज्ञीय क्षति के नाश द्वारा यजमान को फलविशिष्ट बना देता है ॥ ७-८ ॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्‌ गच्छति ॥ ९ ॥

भावार्थ—जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उत्तर मार्ग की प्राप्ति का हेतु होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्मा के उद्देश्य से ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि जहाँ जहाँ कर्म आवृत होता है वहीं वह पहुँच जाता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—जहाँ इस प्रकार व्याहृतिहोम का और प्रायश्चित्त कर्म का ज्ञाता ब्रह्मा ऋत्विक् होता है वही यज्ञ उदक्प्रवण=उत्तर की ओर प्रवाहवाला होता है यानी उत्तम लोक को ले जाता है। इसीलिए यह गाथा ब्रह्मा की स्तुति के विषय में कही गई है कि जिस जिस स्थान से होता, अध्वर्यु आदि के द्वारा हानि पहुँचती है, उसी उस स्थान में ब्रह्मा यज्ञ के प्रायश्चित्त को अनुसंधान करके उस क्षति की पूर्ति कर देता है ॥ ९ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जहाँ जहाँ होता आदि ऋत्विजों का यज्ञ क्षत-युक्त होता है, ब्रह्मा उस उस यज्ञ के क्षत की प्रायश्चित्त से पूर्ति करता जाता है। याने यज्ञकर्ता की सब तरह रक्षा करता है ॥ ९ ॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाꣳश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवं विदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

भावार्थ—ब्रह्मा ही एक मानव ऋत्विक् है। जैसे लड़ाई में अश्वा वीरों की रक्षा करती है वैसे ही व्याहृति आदिकों का ज्ञाता ब्रह्मा यज्ञ, यजमान तथा दूसरे

समस्त ऋत्विजों की भी सब ओर से रक्षा करता है। इसलिए ऐसा जाननेवाले को ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवाले को नहीं, ऐसा न जाननेवाले को नहीं ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—तात्पर्य यह है कि व्याहृति आदिकों का ज्ञाता यज्ञ, यजमान और समस्त ऋत्विजों की रक्षा उन के किये हुए दोषों की निवृत्ति द्वारा वैसे ही करता है जैसे अश्वा समर में अपनी तेजी से सवार की रक्षा करती है। इसलिए व्याहृतिहोम तथा प्रायश्चित्तकर्म के ज्ञाता को ही यज्ञ में ब्रह्मा बनाना चाहिये दूसरे को नहीं ॥ १० ॥

विशेष—मौन धारण करने से तथा वेदार्थों का अच्छी तरह मनन करने से ब्रह्मा में मानव शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'नानेवंविदं नानेवंविदं' यह द्विरुक्ति अध्याय की समाप्ति के लिए है।

यहाँ 'कुरून्' 'अश्वा' और 'गाथा' शब्दों पर विचार करना प्रसङ्ग के अनुकूल होगा। आनन्दगिरि कहते हैं कि गाथा गायत्री आदि छन्दों में होती है। पर किसी का कहना है कि यह गाथा या शङ्कराचार्य के अनुसार अनुगाथा प्रायः गायत्री छन्द में है। महात्माओं से इस का असली पाठ यह सुना जाता है कि "यतो यत आवर्तते तत्तद् गच्छति मानवः, कुरूनश्वाभिरक्षितः" इति। प्रतीत यह होता है कि यह किसी प्राचीन घटना से लिया हुआ है। इस में कुरुवंशियों में से किसी एक बड़े शूर वीर की और उस की घोड़ी की महिमा गाई गई है। अर्थ यह है कि जहाँ जहाँ से (सेना) पीछे लौटती है, वहाँ वहाँ वह मानव (मनु की सन्तान) पहुँचता है। घोड़ी कुरुओं की रक्षा करती है, अर्थात् घोड़ी बड़े वेग से कुरुओं की सहायता के लिए उसे वहाँ पहुँचाती है, जहाँ उस की सेना के पाँव उखड़ गये हैं। यह गाथा यहाँ यज्ञ को सफल बनाते हुए ब्रह्मा के विषय में लगाई गई है। क्योंकि जहाँ कहीं वह यज्ञ में क्षति देखता है वहीं पहुचता है, और कुरुओं की अर्थात् यज्ञ के करनेवालों की रक्षा करता है ॥ २ ॥

सत्रहवाँ खण्ड और चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चम अध्याय प्रारम्भ

प्रथम खण्ड

गत अध्याय में सगुण ब्रह्मविद्या की उत्तरायण मार्गरूपा गति बतला दी गई है। अब दक्षिणदिशा सम्बन्धिनी और बारंबार पुनरावृत्तिरूपा संसारगति और तीसरी उस से भी क्लिष्टतरा संसारगति का वैराग्य के लिए वर्णन करना है, इसी से आगे का ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है। भाव यह है कि इस पाचवें अध्याय का उद्देश्य उन भिन्न भिन्न मार्गों का प्रकट करना है, जिन पर लोग मृत्यु के अनन्तर गमन करते हैं। इन मार्गों में से एक देवपथ है जो ज्ञानियों का मार्ग है, यह ब्रह्म को प्राप्त कराता है, वहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती। यह पहली उपनिषदों में भी वर्णन किया गया है। दूसरा एक मार्ग और है जो कर्मियों का है। और तीसरा उन का है जो उभयभ्रष्ट हैं जिन का कथन आगे होगा।

अब प्राणोपासकों के लिए समस्त इन्द्रियों में प्राण की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता का निरूपण पहले करते हैं, यथा—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

भावार्थ—जो निश्चय करके आयु में बड़े ज्येष्ठ को तथा गुणों में उत्तम श्रेष्ठ को जानता है वही सब में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ होता है। प्राण ही निःसंदेह इन्द्रियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो कोई ज्येष्ठ=आयु में प्रथम तथा श्रेष्ठ=गुणों में अधिक को जानता है, वह भी ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो जाता है। इस फल का लोभ दिखाकर उपासक की वृत्ति को श्रुति अपने संमुख करके कहती है कि हे प्रियदर्शन! सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्राण ही ज्येष्ठ है, क्योंकि जब बालक गर्भ में आता है तब उस के पिण्ड में प्रथम प्राण ही का आगमन होता है। और फिर वह वागादि इन्द्रियों के आने के लिए उन के गोलकों में प्रवेश करके उन को फैलाता तथा बढ़ाता है, जिस

से उस के शरीर की वृद्धि और चक्षुरादि इन्द्रियों की स्थिति होती है। इस लिए आयु की दृष्टि से प्राण ज्येष्ठ है, उस की श्रेष्ठता 'सुहय' इत्यादि दृष्टान्त द्वारा बारहवें मंत्र में प्रतिपादन की जायगी। इस लिए इस कार्यकारण संघात में प्राण ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है॥ १॥

विशेष—या "एतस्माज्जायते प्राणः" "प्राणमसृजत" इत्यादि श्रुतिप्रमाण द्वारा प्राण की सब से पहले उत्पत्ति होने के कारण भी प्राण अन्य सब की अपेक्षा ज्येष्ठ है। भाव यह है कि प्राण सब से बड़ा इस लिए है कि वह गर्भ में दूसरी इन्द्रियों के प्रकट होने से पहले अपना काम आरम्भ करता है। दूसरी इन्द्रियाँ अपने अपने स्थानों के बन जाने पर पीछे अपना काम आरम्भ करती हैं। यह पहले कहे गये विषय का संक्षिप्त भाग है, प्राण की श्रेष्ठता तो यहाँ कहनी ही है॥ १॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः॥ २॥

भावार्थ—जो निश्चय करके वसिष्ठ को जानता है वह अपनी जातियों में वसिष्ठ होता है, अवश्य वाणी ही वसिष्ठ है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जो प्रसिद्ध, सब को आच्छादित करनेवाले या धनाढ्य वसिष्ठ को जानता है यानी उपासना करता है वह भी स्व जातियों में वसिष्ठ= धनाढ्य हो जाता है। वसिष्ठ कौन है? इस बात को श्रुति बतलाती है कि वाणी ही वसिष्ठ है॥ २॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जो वाणीरूप प्राण की उपासना करता है वह श्रेष्ठ वक्ता तथा धनाढ्य होता है। क्योंकि श्रेष्ठ वक्ता सभा में तथा अपनी ज्ञातियों में सब का पराजय करके उत्तम धन प्राप्त करता है। इस लिए वाणी ही वसिष्ठ है॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिंश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा॥ ३॥

भावार्थ—जो स्पष्ट ही प्रतिष्ठा को जानता है वह इस लोक में तथा परलोक में अवश्य ही प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है॥ ३॥

वि० वि० भाष्य--जो पुरुष इस प्रसिद्ध प्रतिष्ठित नेत्रविशिष्ट प्राण को जानता है यानी उपासना करता है वह जीते हुए इस लोक में तथा मृत्यु होने के

अनन्तर परलोक में प्रतिष्ठा अर्थात् उत्तम स्थान को प्राप्त होता है या दृढ़ता को प्राप्त होता है। प्रतिष्ठा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति कहती है कि नेत्र ही प्रतिष्ठित यानी दृढ़ है ॥ ३ ॥

विशेष—क्योंकि ऊँच, नीच, सम तथा दुर्गम स्थल में अच्छी तरह से देख-कर पुरुष उत्तम स्थान में दृढ़ता के साथ स्थित होता है, इस लिए नेत्र ही प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

यो ह वै संपदं वेद सᳬहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो निश्चय करके सम्पद् को जानता है उस के लिए दैव तथा मानुष कार्य यानी भोग अच्छी तरह से प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पद् है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—जो निस्संदेह सम्पत्ति को जानता है अर्थात् प्रसिद्ध श्रोत्रविशिष्ट प्राण की उपासना करता है, वह देव तथा मनुष्यसंबन्धी कामनाओं को प्राप्त होता है। सम्पत्ति क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवती श्रुति कहती है कि श्रोत्र ही सम्पत्ति है ॥ ४ ॥

विशेष—क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय करके ही मनुष्य वेदों के मन्त्रों को ग्रहण कर अर्थ को जानता है, पुनः उस के अनुसार यज्ञादि कर्मों को करता है, उस के बाद अपनी इष्ट कामनाओं को प्राप्त होता है। इसलिए श्रोत्र ही कामसंपत्ति के हेतु होने से संपत्ति हैं ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनᳬ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो आयतन को जानता है वह अपनी जातियों का आश्रय होता है। निश्चय करके मन ही आयतन=आश्रय है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—जो अच्छी तरह आयतन=आश्रय को जानता है यानी मनविशिष्ट प्राण की उपासना करता है वह स्वजनों का आश्रय बन जाता है। वह आयतन क्या है ? इस प्रश्न का भगवती श्रुति समाधान करती है कि निश्चय मन ही आयतन है ॥ ५ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये हुए भोगार्थ व ज्ञानार्थ विषयों का मन ही आश्रय है, मन ही सब का आश्रय है। उक्त द्वितीय,

तृतीय, चतुर्थ और पंचम मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि वाणी सब से बढ़कर अमीर है, क्योंकि अच्छा बोलनेवाले दूसरों को दबा लेते हैं। नेत्र दृढ़ स्थिति है, क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम और विषम दोनों जगह दृढ खड़ा हो सकता है। श्रोत्र सम्पदा है, क्योंकि श्रोत्र से वेद सुना जाता है, और तदनुसार कर्म करने से सम्पदा मिलती है। मन घर है, क्योंकि इन्द्रियाँ जो अपने अपने विषयों के ज्ञान की भेट आत्मा को देना चाहती हैं, वे मन में रख देती हैं। प्रायः घर जाकर ही भेट दी जाती है, यात्रा में भी डेरे पर जाकर यदि क्वचित् किसी ने मार्ग में दी भी हो तो उस का उपयोग प्रायः घर या डेरे पर ही होता है ॥ ५ ॥

'पूर्वोक्त सम्पूर्ण गुण मुख्य प्राणगामी ही हैं' इस बात को कहने के लिए इन्द्रियों की विवादरूपी आख्यायिका का आरम्भ करते हैं—

अथ ह प्राणा अहꣳश्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयान-स्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस के बाद प्राण=इन्द्रियाँ 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार आपस में अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करने लगीं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! पूर्वोक्त गुणविशिष्ट समस्त इन्द्रियाँ अहंकार के साथ आपस में लड़ने झगड़ने लगीं कि कल्याणकारी वस्तुओं में सब की अपेक्षा मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ ॥ ६ ॥

विशेष—वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अचेतन इन्द्रियों में विवाद का होना असम्भव है। तब उन में विवाद कैसे हुआ? इस शंका का समाधान यह है कि भगवती श्रुति मुख्य प्राण में श्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिए उन में विवाद का आरोप करती है। और वह आरोप भी इसलिए किया गया कि विवाद के द्वारा निर्णीत वस्तु सिद्धान्तभूत होती है। यह आख्यायिका प्राणसंवाद या प्राणविद्या के नाम से अन्य उपनिषदों तथा माध्यन्दिन शतपथ में भी आई है ॥ ६ ॥

इस प्रकार की विप्रतिपत्ति का स्वतः निरास होना असम्भव है, इसीलिए सब इन्द्रियाँ प्रजापति के पास गईं। सब के जाने पर प्रजापति ने निर्णय किया; इसी बात को भगवती श्रुति कहती है—

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः

श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतर-मिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—उन सब प्राण आदि इन्द्रियों ने पिता प्रजापति के पास जाकर इस प्रकार कहा कि हे स्वामिन्! हम सब में कौन उत्तम है? प्रजापति ने उन से ऐसा कहा कि तुम लोगों में से जिस के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ सा दिखाई देने लगे वही तुम में उत्तम है ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—तब सब इन्द्रियों ने इस बात को जानने के लिए कि कौन हम लोगों में से श्रेष्ठ है? अपने पिता प्रजापति के पास जाकर प्रणाम करके कहा कि हे भगवन्! हम लोगों के मध्य में गुणों करके कौन श्रेष्ठ है? आप कृपा करके कहें ताकि हमारा आपस का विवाद मिट जाय। तब उन की बातों को सुनकर प्रजापति ने इन्द्रियों से कहा कि जिस एक के निकल जाने पर यह शरीर अत्यन्त अपवित्र यानी शव के समान दिखलाई पड़े वही तुम सब के बीच में श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जिस के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त निकृष्ट दिखाई दे और शव के समान अस्पृश्य एवं अपवित्र जान पड़े वही तुम में श्रेष्ठ है। इस प्रकार उन के दुःख की निवृत्ति चाहते हुए उत्पत्तिकर्ता प्रजापति ने काकु यानी स्वरभङ्गरूप उपायविशेष से उत्तर दिया ॥ ७ ॥

प्रजापति के पूर्वोक्त प्रकार से कहने पर वागिन्द्रिय की परीक्षा का वर्णन करते हैं—

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथाऽकला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसै-वमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

भावार्थ—तब वह वागिन्द्रिय निकली, और उसने एक वर्ष पर्यंत बाहर रहकर पुनः आकर पूछा कि तुम सब मेरे बिना किस तरह जीवित रह सके? इस पर उन्होंने कहा कि जैसे गूँगे बिना बोले प्राण से श्वास लेते हुए, नेत्र से देखते हुए, कान से सुनते हुए तथा मन से ध्यान करते हुए जीते हैं, वैसे ही हम लोग जीते हैं। यह सुनकर वागिन्द्रिय शरीर में प्रवेश कर गई ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! सर्वज्ञ प्रजापति के इस प्रकार कहने पर वागिन्द्रिय अपने स्थान से निकलकर एक वर्ष तक अपने व्यापार से उपरत हो बाहर स्थित रही और जब एक वर्ष व्यतीत हो गया तब फिर शरीर के समीप आकर दूसरी इन्द्रियों से कहने लगी कि हे सहचारियों, तुम लोग मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने में समर्थ रहे हो ? इस प्रश्न के सुनने पर सबों ने कहा कि जैसे गूँगे लोग बिना बोले भी प्राण से प्राणनक्रिया करते हुए संसार में जीवित रहते हैं, चक्षु देखते हैं, श्रोत्र श्रवणः करते हैं और मन मनन करता है, वैसे ही तुम्हारे एक के बिना हम लोग जीवित रहे हैं। इस प्रकार उन इन्द्रियों के कहने पर वह वागिन्द्रिय अपनी अश्रेष्ठता समझकर श्रेष्ठता के अहंकार को छोड़ अपने स्थान में स्थित हो, अपने व्यापार में प्रवृत्त हो गई ॥ ८ ॥

विशेष—शंका—सर्वज्ञ प्रजापति ने इन्द्रियों से यह क्यों नहीं कहा कि तुम सब में एक मुख्य प्राण ही श्रेष्ठ है ? समाधान—यदि प्रजापति उन इन्द्रियों से पहले ही कह देता कि तुम सब के बीच में एक मुख्य प्राण ही श्रेष्ठ है तो वे वागादि सब दुःखी हो जाते। क्योंकि जब अपनी श्रेष्ठता तथा नेष्ठता अपने यथार्थ अनुभव से अच्छी तरह जानी जाती है तब दुःख नहीं होता। अत एव उन को दुःख न होने के लिए प्रजापति ने उन के प्रति प्राण को श्रेष्ठ न कहके इस प्रकार कहा कि वे अपना निर्णय आप ही कर लें ॥ ८ ॥

(आगे नवम, दशम तथा एकादश मंत्रों के भाष्य विशेष का उल्लेख नहीं किया जायगा। क्योंकि उन तीनों का भाष्य विशेष आठवें मंत्र के समान ही होगा, केवल भावार्थ का उल्लेख किया जायगा। कहीं कहीं अन्य मन्त्रों में भी ऐसा ही होगा।)

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

भावार्थ—उस के बाद नेत्र निकला और उसने एक साल तक बाहर रह फिर लौटकर पूछा कि तुम सब मेरे बिना किस प्रकार जीते रहे हो ? उन सब ने उत्तर दिया कि जैसे अन्धे नहीं देखते हुए, प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते

हुए, श्रोत्र से सुनते हुए और मन से ध्यान करते हुए जीवित रहते हैं, उसी तरह हम सब जीवित हैं। ऐसा सुनकर नेत्र ने शरीर के भीतर प्रवेश किया ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तो चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैव-मिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

भावार्थ—उस के बाद श्रोत्र ने उत्क्रमण किया और वह एक वर्ष तक बाहर रहकर फिर आकर बोला कि तुम सब मेरे बिना कैसे जीवित रहे हो ? इस पर उन इन्द्रियों ने उत्तर दिया कि जैसे बहिरे नहीं सुनते हुए, प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए तथा मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, इसी प्रकार हम सब भी जीते रहे हैं। ऐसा सुनकर कर्णेन्द्रिय ने शरीर के अन्दर प्रवेश किया ॥ १० ॥

अब मन का उत्क्रमण कथन करते हैं, यथा—

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथ-मशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैव-मिति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

भावार्थ—उस के बाद मन निकला और वह एक साल तक देह से बाहर रह फिर लौटकर बोला कि तुम सब मेरे बिना किस प्रकार जीने को समर्थ हुए ? इस पर वे सब बोले कि जैसे छोटे बालक मनरहित प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, कान से सुनते हुए जीवित रहते हैं, ऐसे ही हम सब जीवित रहे। ऐसा सुनकर मन ने भी शरीर के अन्दर प्रवेश किया ॥ ११ ॥

इस प्रकार परीक्षा के द्वारा वागादिकों में अश्रेष्ठता निश्चित होने पर प्राण की परीक्षा कहते हैं—

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथा सुहयः पड्वीश-

शङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥ १२ ॥

भावार्थ—फिर प्रसिद्ध मुख्य प्राण ने निकलने की इच्छा की, उसने जैसे श्रेष्ठ अश्व अपने पादबन्ध कीलों को उखाड़ता है वैसे ही अन्य प्राणों को उखाड़ दिया। तब उन सब ने उस के समीप आकर कहा कि हे भगवन्! आप हम सब के मध्य श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें ॥ १२ ॥

वि० वि० भाष्य—जिस तरह अच्छे अश्व की परीक्षा के लिए परीक्षक उस पर चढ़कर कोड़े से मारता है तब वह अश्व भागने की इच्छा से अपने पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ डालता है। उसी तरह मुख्य प्राण ने इन्द्रियों से अपने विषय में अनादररूप ताड़ना पाकर निकलने की इच्छा कर अपने अंश अपानादि वा वागादि इन्द्रियविशिष्टरूप अन्य प्राणों को उन के स्थानों से उखाड़ डाला। तब समस्त इन्द्रियाँ उस मुख्य प्राण के समीप आकर नम्रतापूर्वक कहने लगीं कि हे भगवन्! आप पूजा तथा नमस्कार के योग्य हैं, हम सब आप की प्रजा हैं, और आप के लिए कर देने को तैयार हैं। आप हमारे स्वामी हैं, आप अपना कर लेवें और इस देह में रहें। आप के निकलने पर हम सब नाश को प्राप्त हो जायँगी, अतः आप इस शरीर के बाहर मत जायँ ॥ १२ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जैसे वैश्य राजा से धन उपार्जन करके फिर उसी धन को राजा के लिए कररूप में देते हैं, वैसे ही हम सब आप को ही धन अर्पण करते हैं, क्योंकि आप हम सब के स्वामी हैं। इस लिए आप अपना कर स्वीकार कर इस देह से मत निकलें, क्योंकि आप के निकलने से हम लोग नाश को प्राप्त हो जायँगे ॥ १२ ॥

अब इन्द्रियों द्वारा प्राण की स्तुति का वर्णन करते हैं—

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठाऽसीति ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुनः मुख्य प्राण से वाणी बोली कि मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो। उस के बाद नेत्र ने कहा कि मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो ॥ १३ ॥

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥ १४ ॥

भावार्थ—फिर श्रोत्र ने कहा कि मैं जो सम्पद् हूँ सो तुम्हीं सम्पद् हो। उस के बाद उस से मन बोला—मैं जो आयतन हूँ सो तुम्हीं आयतन हो ॥ १४ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे सोम्य ! पुनः उस मुख्य प्राण से वागिन्द्रिय ने कहा कि हे भगवन् ! जो वसिष्ठत्व गुण मुझ में है वह तुम्हारा ही दिया हुआ है, किन्तु मैं अज्ञान से उसे अपना गुण मानकर व्यर्थ ही अभिमान करता था। उस के बाद मुख्य प्राण से चक्षुरिन्द्रिय ने कहा कि हे भगवन् ! जो प्रतिष्ठात्व गुण मुझ में है वह तुम्हारा ही है, परन्तु उस को न जानकर उस गुण को अपना जान व्यर्थ ही मैं अभिमान के फेर में पड़ा था, कि यह मेरा गुण है। इसी तरह हे सोम्य ! जब वागिन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय मुख्य प्राण की अधीनता स्वीकार कर चुकीं, उस के अनन्तर श्रोत्र मुख्य प्राण से कहने लगा कि जो मुझ में सम्पद्त्वरूप गुण है, वह तुम्हारा ही है मेरा नहीं, मैंने इस को अपनी अज्ञानता से अपना मान रखा था। इस के बाद मन मुख्य प्राण से कहने लगा कि हे भगवन् ! जो आयतनत्वरूप गुण मुझ में है वह तुम्हारा ही है, मैंने उस को अज्ञानता से अपना गुण मान रखा था, जिस से कि मुझ को लज्जित होना पड़ा ॥ १३–१४ ॥

विशेष—वाणी, नेत्र, श्रोत्र और इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, इन में एक एक के जय करने में ऋषियों के तपोमय जीवन की समाप्ति हो जाती है, इस पर भी इन पर काबू पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इन पर नियन्त्रण करने के शास्त्रों में अनेक उग्र उपाय बताये हैं इसी से इन की प्रबलता का पता लग सकता है कि शास्त्रोक्त उपायों को जानते हुए उन के अनुष्ठान कर्ता ऋषि मुनि भी इन के चक्कर में आ जाते है। देवता तो इन के अधीन ही हैं, मनुष्य इनका दास ही है और राक्षसादि का तो रोम रोम इन में रमा है इसी से इनको अभिमान होगया था, उस का यहाँ भङ्ग दिखाया गया है ॥ १३-१४ ॥

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥ १५ ॥

भावार्थ—क्योंकि संसार में समस्त इन्द्रियों को न वाणी, न नेत्र, न कर्ण तथा न मन ही कहते हैं, किन्तु 'प्राण' ऐसा कहते हैं। कारण यह है कि ये सब प्राण ही हैं॥ १५॥

वि० वि० भाष्य—यदि वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन इन में से कोई सबसे बढकर श्रेष्ठ, इन सब का आश्रय, और सब का मालिक होता तो सब उसी के नाम से पुकारे जाते। पर क्योंकि प्राण सब से श्रेष्ठ है, दूसरी इन्द्रियों की स्थिति भी प्राण के ही अधीन है। इसलिए प्राण यही नाम सब इन्द्रियों का है। भाव यह है कि प्राण स्वतन्त्र है॥ १५॥

विशेष—यदि वादी शंका करे कि इन्द्रियों के जड़ होने के कारण उन का शरीर से निकलना, प्रजापति के पास जाना, पुनः शरीर में लौटना, एक साल तक बाहर रहना, अपने व्यापार से उपरत होना, पुनः लौटकर प्रश्न करना, लज्जित होना, अपने स्थान में आकर स्वव्यापार में प्रवृत्त होना, इत्यादि कुछ भी संभव नहीं। इस के समाधान में आचार्य का कहना है कि अग्नि आदि देवता चेतनावान् हैं और उन के आश्रित ये इन्द्रियाँ हैं। अधिष्ठान से अधिष्ठित, अलग न होने के कारण तादात्म्याध्यास के द्वारा वागादि इन्द्रियों को चेतनता संभव है, अतः उनमें बोलना आदि क्रिया होती हैं। इस विषय में "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदिति" यह श्रुति प्रमाण है।

इस खण्ड में कथित विद्या का नाम प्राणविद्या है। इसका यह नाम इस आशय से है कि प्राणशब्द मुख्यतया प्राणों में वर्तता है याने प्राण यह खास नाम तो प्राणों का है, पर गौणी वृत्ति से यहाँ अन्य इन्द्रियों का भी वाचक है। क्योंकि वे सब अपनी अपनी सत्ता को प्राणों के सहारे ही प्राप्त करती हैं। इसीलिए सब इन्द्रियों को भी प्राण कहा गया है। इस खण्ड के संवाद से सब वागादि इन्द्रियों में प्राण की प्रधानता कथन की गई है। इस आख्यायिका को पाठकों ने सावधानतापूर्वक पढा होगा। भाव यह है कि मनुष्य को उचित है कि प्राणों को मुख्य समझकर उन को अपने अधीन करने का यत्न करें। महापुरुषों ने कहा है कि वह यत्न प्राणायाम द्वारा संयम करने से ही सफल हो सकता है, उपायान्तर नहीं है। अर्थात् योगशास्त्रोक्त प्राणायाम की विधि से अपने प्राणों को वशीभूत करके परमात्मपरायण होना ही प्राणों को स्वाधीन करने का एकमात्र उपाय है।

यह समझो कि सुखपूर्वक शरीरयात्रा करने के लिए यह प्राणविद्या सब से

मुख्य है। इसीलिए इस का वर्णन कई एक उपनिषदों आदि में मिलता है। अब यह जिज्ञासु का कर्तव्य है कि उसे सम्पादन करे या न करे। जो धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय में लगे हुए हैं उन का मनोरथ भी प्राणविद्या की प्राप्ति के विना निष्पन्न नहीं हो सकता। जितने भी रोग शोकरूप आधि व्याधि हैं वे प्राणनशक्ति जीवनीसामर्थ्य को ही नष्ट करते हैं। इसी से मनुष्य के सब काम जहाँ के तहाँ धरे रह जाते हैं, अल्पप्राण सुखपूर्वक अपनी जिन्दगी के दिन तक ढंग से नहीं काट सकते। ये तो महाप्राण ही हैं जो प्रयाण तक पर अपना अधिकार रखते हैं। हमने सन्तों से सुना है, देखा भी है कि वे अपने जीवन मरण को जानते रहते हैं। वे दूसरों के विषय में भी जान जाते हैं। यह सब प्राणविद्या की महिमा का ही फल है ॥ १५ ॥

———:❀❀❀:———

द्वितीय खण्ड

वागादिकों का स्वामी श्रेष्ठत्वादिगुणविशिष्ट प्राण है ऐसा जाने; अब इस प्रकार प्रधान विद्या का उपदेश कर उस के अङ्गरूप अन्नवासदृष्टि के विधान के लिए उपक्रम करते हैं, यथा—

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमाश्वभ्य आशकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥ १ ॥

भावार्थ—उस प्राण ने स्पष्ट कहा कि मेरा अन्न क्या होगा ? तब वागादि ने कहा कि कुत्तों तथा पक्षियों से लेकर सब जीवों से जो कुछ भक्षण किया जाता है सो वह सब प्राण का ही अन्न है। अतः स्पष्ट ही प्राण का प्रत्यक्ष नाम अन है। जो इस प्रकार प्राण को जानता है, उस के लिए कुछ भी अन्न=अभक्ष्य नहीं होता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसा जाननेवाले के लिए भक्ष्याभक्ष्य का भेद नहीं रहता। किंतु ऐसा जाननेवाले ने प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से जो कुछ भी खाया है उस से वह पापी नहीं ठहरता, यह उषस्ति चाक्रायण के इतिहास से स्पष्ट है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! जैसे राजा को प्रजा बलि अर्पण करती है

वैसे ही जब प्राण को इन्द्रियों ने अपना अपना भाग अर्पण कर दिया, तब शरीर में स्वस्थ होकर प्राण ने उन इन्द्रियों से पूछा कि मेरा भोग क्या होगा ? इस पर वागादि इन्द्रियों ने कहा कि हे भगवन् ! जो कुछ इस संसार में कुत्तों से लेकर पक्षियों तक की भोग करने योग्य वस्तु है वह सम्पूर्ण आप का आहार होगा, या जो कुछ प्राणीमात्र से खाया जाता है वह सब आप का भोग होगा। "प्राणोऽत्ता सर्वस्यान्नस्य" इस श्रुतिप्रमाण से प्राण तथा इन्द्रियों की आख्यायिका को कहकर भगवती श्रुति स्वयं प्राण की प्रतिष्ठा को इस प्रकार कहती है कि अन्न=भोग अन=प्राण का ही है, यानी जो कुछ लोक में भोग्य वस्तु है वह सब प्राण की ही है। इस प्रकार जाननेवाले पुरुष को सदा अन्न प्राप्त होता है। समस्त प्राणों का 'अन्न' यह नाम असली है। प्र+अन=प्राण, अप+अन=अपान आदि उस के विशेष कार्यों के हेतु से विशेष नाम हैं ॥ १ ॥

विशेष—अभिप्राय यह है कि प्राणवेत्ता के लिए यानी जो यह जानता है कि मैं समस्त भूतों में स्थित सम्पूर्ण अन्नों का भोक्ता प्राण हूँ, उस के लिए अखिल प्राणियों द्वारा भक्षित होनेवाला कोई भी अन्न अभक्ष्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जाननेवालों के लिए सभी अन्न हैं, क्योंकि ऐसा जाननेवाला विद्वान् प्राणस्वरूप हो जाता है। जैसा कि एक दूसरी श्रुति में भी "प्राण से ही यह उदित होता है और प्राण में ही अस्त होता है" ऐसा उपक्रम कर "इस प्रकार जाननेवाले से ही सूर्य उदित होता है और इस प्रकार जाननेवाले में ही अस्त होता है" ऐसा उपसंहार किया गया है। अभिप्राय यह है कि हर एक प्रकार का अन्न चाहे वह कुत्तों से खाया जाता हो या पक्षियों से, प्राण का ही आहार है। इस मन्त्र पर बहुत विचार किया जा सकता है, कोई कहते हैं कि है तो सभी कुछ अन्न, पर भक्ष्याभक्ष्य, योग्यायोग्य का विचार करके। क्योंकि वेदों में मनुष्य के मांसभक्षण का निषेध है। कोई यह अर्थ लगाते हैं कि प्राणिमात्र का सब कुछ भक्ष्य है, किसी का अन्न मल है, किसी का विष औषध। इसी प्रकार कोई कुछ कहता है, और कोई सब कुछ खा जाने को कहता है। यहाँ मन्त्र का वास्तविक भाव यह है कि जो पुरुष अन्न की परिभाषा को जानता है कि अमेध्य से अमेध्य पदार्थ भी किसी न किसी का अन्न है, उस के ज्ञान में कोई भक्ष्य पदार्थ अनन्न नहीं, किन्तु सब अन्न ही हैं ॥ १ ॥

अब प्राण का वस्त्रनिर्देश बतलाते हैं, यथा—

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्त-

स्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिद्-धति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—फिर उस प्राण ने कहा कि मेरा वस्त्र क्या होगा ? इस पर वागादिकों ने कहा कि जल। इसी कारण भोजन करनेवाले मनुष्य भोजन के पहले तथा बाद में इसे जल से ढकते हैं, ऐसा करने से वह मनुष्य वस्त्र प्राप्त करनेवाला होता है तथा नग्न नहीं रहने पाता ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! मुख्य प्राण ने पुनः इन्द्रियों से पूछा कि मेरा वस्त्र क्या होगा ? इस के उत्तर में वागादि इन्द्रियों ने कहा कि आप का वस्त्र जल होगा। इसी लिए विद्वान् ब्राह्मण भोजन के पहले तथा पीछे जल को वस्त्र स्थानापन्न जानकर प्राण के लिए अर्पण करता है। ऐसे विद्वान् को वस्त्र की प्राप्ति हमेशा होती है और वह कभी भी नग्न नहीं होता ॥ २ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि भोजन आरम्भ करनेवाले तथा भोजन कर चुकनेवाले का जो शुद्धि के लिए आचमन विख्यात है उस में 'यह प्राण का वस्त्र है' ऐसी दृष्टि मात्र का विधान किया गया है। अर्थात् खाने से पहले और पीछे जो आचमन किया जाता है, वह प्राण को वस्त्र पहनाना है, याने उसे ढाँपना है ॥ २ ॥

अब प्राणविद्या की स्तुति करते हैं, यथा—

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायो-क्त्वोवाच यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवा-स्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—सत्यकाम जाबाल नामक ऋषि ने इस प्राणस्तुति को वैयाघ्रपद्य गोश्रुति के प्रति प्रतिपादन करके यह कहा कि अगर प्राणोपासक सूखे ठूँठ से भी इस प्राणविद्या को कहे तो उस में डालियाँ उत्पन्न हो जायँ और पत्ते भी निकल आवें ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! सत्यकाम जाबाल नामक ऋषि ने जो प्राण-विद्या को अच्छी तरह से जानता था, इसे व्याघ्रपद् के पुत्र गोश्रुति नामक ऋषि के प्रति कहकर फिर यह भी बात कही कि यदि प्राणविद्या का जाननेवाला प्राणोपासक किसी सूखे काष्ठ के ठूँठ से इस विद्या को कहे तो उस में भी नवीन शाखा पत्र पुष्पादिक प्रकट हो जायँ। यदि जीवित पुरुष से कहे तब तो कहना ही क्या है ॥३॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि यह प्राणविद्या प्राणोपासक के द्वारा साधन-सम्पन्न जिज्ञासु के प्रति यदि अच्छी तरह उपदेश की जाय तो उस के अन्तःकरण में श्रद्धारूपी शाखा, धारणारूप पत्र, उपासनारूप पुष्प तथा सूत्रात्मा के पद की प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ३ ॥

यथोक्त प्राणविद् के महत्व के लिए मन्थ कर्म को कहते हैं, यथा—

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपात-मवनयेत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस के अनन्तर यदि महत्त्व प्राप्त करने की इच्छा हो तो उसे अमावस्या को दीक्षित होकर पूर्णिमा की रात में सब ओषधियों के मन्थ=कच्चे रस को दही तथा शहद के साथ पात्र में मिलाकर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' इस प्रकार कहते हुए अग्नि में घृत का हवन कर उस का अवशिष्ट भाग मन्थ में डाल देना चाहिए ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वागादिकों में प्राण की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता जानने के बाद यदि उस विद्वान् को सब में महत्ता प्राप्त करने की कामना हो तो उस के लिए यह मन्थाख्य कर्म की विधि कहते हैं—धन से यज्ञ होता है और यज्ञ से देवयान तथा पितृयान की प्राप्ति होती है। अतः इन मार्गों की प्राप्ति के लिए मन्थाख्य कर्म विद्वान् को करना चाहिए। वह विद्वान् पहले सत्यभाषण करे, ब्रह्मचर्य से रहे, स्नानादि से पवित्र रहे, भूमि पर कम्बल या चटाई बिछाकर उस पर शयन करे, इन्द्रियों को विषयों से रोके, समाहित चित्त होता हुआ प्राण की ज्येष्ठता तथा श्रेष्ठता आदि गुणों को श्रुतियों के वाक्यानुसार विचारता रहे, अन्न को त्याग कर केवल दूध मात्र का आहार करे। इस प्रकार आचरण करता हुआ अमावस्या के दिन दीक्षित होकर पूर्णमासी की रात्रि में कर्म को आरम्भ करे। ग्राम तथा अरण्य में प्राप्त होनेवाली ओषधियों को अपनी शक्ति के अनुसार इकट्ठा करे, और पुनः उन ओषधियों को कूटकर एक पात्र में रखे। उस में फिर दही तथा शहद मिला-कर गूलर की लकड़ी से मन्थन करे, उस के बाद उसे अपने आगे रख 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए आवसथ्याग्नि में आवापस्थान में घृत की आहुति दे

और स्रुव में लगे हुए अवशिष्ट हवि को मन्थ में डाल दे यानी उस घृत की धारा को मन्थ में गिरा दे ॥ ४ ॥

विशेष—भाष्य में ग्राम तथा अरण्य में प्राप्त होनेवाली सब ओषधियों को अपनी शक्ति के अनुसार थोड़ा थोड़ा लेने के लिए कहा गया है। यहाँ शक्ति के अनुसार थोड़ा थोड़ा लेने का तात्पर्य यह है कि आगे चलकर यह बात कही जायगी कि सब ओषधियों का मन्थ अन्त में यजमान को भक्षण करना पड़ता है। इस लिए अपने भक्षण करने की शक्ति के अनुसार ही ग्रहण करे, क्योंकि वह फेंका नहीं जाता। भाष्य में यह कहा ही गया है कि यहाँ असली दीक्षा से तात्पर्य नहीं है जो सोम-यज्ञों के आरम्भ की विधि है, किन्तु तप, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन आदि दीक्षा के धर्म पालन से अभिप्राय है ॥ ४ ॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—"वसिष्ठाय स्वाहा" इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति दे और स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल दे। "प्रतिष्ठायै स्वाहा" इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति दे तथा स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में छोड दे। "सम्पदे स्वाहा" इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति दे और स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल दे। तथा "आयतनाय स्वाहा" इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति दे और स्रुवा में बचे हुए घृत को मन्थ में डाल दे ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—'वसिष्ठाय' 'प्रतिष्ठायै' 'सम्पदे' 'आयतनाय स्वाहा' इन चारों मंत्रों से अलग अलग अग्नि में घृत की आहुति देकर स्रुवा में अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाले ॥ ५ ॥

विशेष—पूर्व मन्त्रों में प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन के जो जो गुण बतलाये हैं उन्हीं नामों से यहाँ आहुतियाँ कही हैं। विशिष्ट शक्ति के नाम से ही लोग नमते हैं, अतः यहाँ उन्हीं को भाग देने का विधान किया गया है। अल्प को पूछता ही कौन है ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हवन के अनन्तर अग्नि से कुछ दूर हटकर अञ्जलि में मन्थ को लेकर उस की इस प्रकार स्तुति करे—अम=प्राण नामक आप हैं, अमा=प्राण के सहित आप का ही यह सम्पूर्ण जगत् है। वह निःसंदेह ज्येष्ठ श्रेष्ठ, राजा दीप्तिमान्, तथा अधिपति है। वह मेरे लिए ज्येष्ठता, श्रेष्ठता, राज्य और आधिपत्य को प्राप्त करे, ताकि मैं निःसंदेह इस सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाऊँ॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! पूर्वोक्त रीति से श्रद्धापूर्वक हवन करके पश्चात् अग्नि देव से कुछ दूर हटकर अञ्जलि में मन्थ को लेकर इस प्रकार उस की स्तुति करे—हे मन्थ! तू ही प्राण है और प्राण सहित सम्पूर्ण जगत् तू ही है, तू ही निःसंदेह ज्येष्ठ श्रेष्ठ तथा दीप्तिमान् स्वामी है। तू मुझ को ज्येष्ठता, श्रेष्ठता और स्वामित्व को प्राप्त कर, ताकि मैं पूर्वोक्त सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाऊँ॥ ६॥

विशेष—अम यह प्राण का नाम है, अन्न के कारण ही प्राण शरीर में प्राणन क्रिया करता है, इसी कारण मन्थरूप द्रव्य के प्राण का अन्न यानी आश्रय होने से उस मन्थ की प्राणरूप से स्तुति करते हैं—हे मन्थ! तू अम नामवाला है, तू प्राण के साथ एक है, क्योंकि यह सारा जगत् अपने प्राणभूत तेरे साथ अवस्थित है। वह निश्चय करके प्राणभूत मन्थ ज्येष्ठ श्रेष्ठ है, इसी लिए सब का राजा तथा सब का अधिष्ठाता होने से सब का तू पालयिता है। सो तू मुझ को भी प्राणात्मभूत प्राण के ज्येष्ठत्वादि गुणों को प्राप्त कर, जिस से कि मैं भी प्राणवत् गुणवान् हो जाऊँ॥ ६॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस के बाद निश्चय करके इस ऋचा से पच्छः=एक एक पाद पढ़कर पीता जाय। "तत्सवितुर्वृणीमहे" इस मंत्र को पढ़कर मन्थ को पीवे। "वयं देवस्य भोजनम्" इस मंत्र को पढ़कर मन्थ को पीवे। "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" इस मंत्र को पढ़कर मन्थ को पीवे। "तुरं भगस्य धीमहि" इस मंत्र से सब मन्थ-लेप को पी जाय। यानी काँसे के पात्र को अथवा चमसाकार औदुम्बर पात्र को धोकर सब पी जाय, तथा वह समाहितचित्त हो अग्नि के पीछे मौन होकर मृगचर्म पर या पवित्र यज्ञभूमि पर शयन करे। यदि स्वप्न में स्त्री को देखे तो ऐसा जाने कि कार्य सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! इस के अनन्तर एक एक पाद पढ़कर मन्थ में से एक एक ग्रास निकालकर भक्षण करता जाय। फिर समाहितचित्त होकर अग्नि की ओर मस्तक कर पूर्व दिशा में मृगचर्म या पवित्र यज्ञभूमि पर शयन करे। इस तरह सोया हुआ यजमान अगर स्वप्न में स्त्री को देखे तो निश्चय करे कि मेरा कार्य सिद्ध हुआ, यानी मुझे लक्ष्मी की प्राप्ति अवश्य होगी ॥ ७ ॥

विशेष—तत्सवितुर्वृणीमहे-इत्यादि चारों पादों का स्पष्ट अर्थ यह है कि सब की उत्पत्ति करनेवाले सूर्यदेव के उस मन्थरूप भोजन की हम प्रार्थना करते हैं। यहाँ प्राण और आदित्य को एक मानकर ऐसा कहा गया है कि जिन अन्न अर्थात् सविता देवता से उपभोग किये हुए भोजन द्वारा हम सूर्यस्वरूप को प्राप्त होंगे, उन समस्त अन्नों की अपेक्षा प्रशस्यतम, समस्त जगत् के धारयिता या सम्पूर्ण जगत् के उत्पत्तिकर्ता मन्थ यानी आदित्यदेव के स्वरूप का शीघ्र ही ध्यान करते हैं। तात्पर्य यह है कि उस विशिष्ट भोजन से संस्कारयुक्त और शुद्धचित्त होकर हम उस के स्वरूप का ध्यान करते हैं। अथवा भग यानी श्री के कारणभूत महत्त्व को प्राप्त करने के लिए कर्म करनेवाले हम उस का चिन्तन करते हैं। थोड़े में इस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है—हम प्रकाशमान सविता के उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवता के स्वरूप का ध्यान करते हैं ॥ ७ ॥

तदेष श्लोकः।

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने
तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब काम्य कर्मों के करने में स्वप्न में स्त्री को देखे तो उस स्वप्न-दर्शन के होने पर उस कर्म में सिद्धि की प्राप्ति को जाने। इस विषय में यह मंत्र प्रमाण है॥ ८॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे सोम्य! जो विद्वान् पुरुष जिस समय किसी कामना से यज्ञादि कर्मों के करने में स्वप्न में यदि स्त्री को देखे तो उस में समृद्धि जाने, यानी उन कर्मों का फल प्राप्त होगा ऐसा जाने। तात्पर्य यह है कि उस स्त्री आदि प्रशस्त स्वप्नदर्शन के होने पर कर्म की सफलता समझे। 'तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्न-निदर्शने' यह द्विरुक्ति कर्म की समाप्ति के लिए है॥ ८॥

विशेष—जिस किसी स्त्री के देखने से कर्म में सफलता नहीं होती है किन्तु सौभाग्यवती स्त्री के देखने से ऐसा होता है। भाव यह है कि यह स्वप्न इस लिए शुभसूचक है कि प्रसन्न चित्तवाले को ही उक्त प्रकार के स्वप्न आते हैं। और काम्य कर्मों में ऐसे स्वप्न इस लिए भी समृद्धिप्रद हैं कि काम्य कर्मों में मङ्गलसूचक पदार्थ दृष्टि पड़ने चाहिएँ। स्त्री शृङ्गारप्रधान होने से मङ्गलसूचक है। फिर सब से बड़ी बात यह है कि पुरुष के लिए स्त्री से बढकर ऐश्वर्यप्रद तथा माङ्गलिक पदार्थ संसार में दूसरा कोई है ही नहीं। स्त्री पितृशक्ति से बढकर मातृशक्ति है, दो ही तो ये शक्तियाँ हैं जिन्होंने संसारशकट (गाड़ी) के वहन का भार अङ्गीकार करके इसे स्वर्ग बना रखा है। इस में मातृशक्ति के मस्तक पर बहुत बड़ा भार है। स्वप्न में ऐसे देवता का दर्शन होना सौभाग्यसूचक तो है ही॥ ८॥

तृतीय खण्ड

जो पुरुष मोक्ष की दृढ़ इच्छावाला है उस को इस नाम रूप क्रियात्मक अति दुःखमय असत् संसार से, जो दृढ़ बन्धन का हेतु है, दृढ़ वैराग्य उत्पन्न करने के लिए ब्रह्मा आदि से लेकर स्तम्ब पर्यन्त संसार की गतियों का वर्णन करना योग्य जानकर परम उपकार करनेवाली श्रुति भगवती यह आख्यायिका कहती है। इस में उद्दालक नामक ऋषि और प्रवाहण नामक राजा का संवाद है, जिस में राजा ने ऋषि को संसारगति दिखाने के लिए पञ्चाग्नि विद्या का उपदेश किया है, यथा—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाᳬ समितिमेयाय तᳬ ह

प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

भावार्थ—श्वेतकेतु नामक प्रसिद्ध आरुणेय पञ्चालों की सभा में प्राप्त हुआ, तब उस से प्रवाहण नामक जैवलि राजा ने पूछा—हे कुमार ! क्या तुझ को पिता ने शिक्षा दी है ? इस पर उसने कहा—हाँ भगवन् ! शिक्षा दी है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—एक समय श्वेतकेतु नामवाला प्रसिद्ध आरुणेय (अरुण का पुत्र आरुणि, उस का पुत्र आरुणेय) पञ्चाल नामक देश के राजा की सभा में प्राप्त हुआ। तब उस को अपनी सभा में आया हुआ देखकर प्रसिद्ध जो प्रवाहण नामवाला जिवल राजा का पुत्र था, उसने पूछा कि हे कुमार ! तुझ को पिता ने विद्याशिक्षा दी है ? यानी तू अपने पिता से विद्याशिक्षा पाकर अनुशिष्ट=सर्वविद्यासम्पन्न हुआ है ? इस प्रकार जब प्रवाहण नामक जैवलि राजा ने श्वेतकेतु से पूछा तब उसने उत्तर दिया कि पूजा के योग्य राजन् ! मैं शिक्षा पाया हुआ हूँ ॥ १ ॥

विशेष—यह जो पञ्चमाध्याय सम्बन्धी आख्यायिका है वह षष्ठाध्याय की आख्यायिका के बाद की है, क्योंकि उद्दालक ऋषि ने अपने श्वेतकेतु नामक पुत्र को षष्ठाध्याय में उपदेश किया है। उस के पहले उद्दालक ने स्वयं उस श्वेतकेतु को विद्याध्ययन नहीं कराया किन्तु दूसरे आचार्य के पास भेजकर विद्याध्ययन कराया। और इस पञ्चमाध्याय की आख्यायिका में जैवलि राजा ने श्वेतकेतु से प्रश्न किया है कि हे कुमार ! तुझ को तेरे पिता ने सर्व विद्या का उपदेश किया है। इस लिए यह बात समझनी चाहिए कि षष्ठाध्याय की आख्यायिका के बाद की यह आख्यायिका है। उस श्वेतकेतु को राजा के द्वारा किये गये पाँचों प्रश्नों में से किसी का भी उत्तर न आया, तब उस ने अत्यन्त लज्जित हो अपने पिता के समीप जाकर कहा कि हे भगवन् ! आपने मुझ से कहा था कि मैंने तुझ को सब विद्या का अध्ययन करा दिया है, किन्तु आपने राजा के द्वारा पूछी गई विद्या का अध्ययन नहीं कराया। अतः इन सब प्रसङ्गों से मालूम होता है कि जो पञ्चमाध्यायसंबन्धी श्वेतकेतु की कथा है वह षष्ठाध्याय के बाद की है। परन्तु षष्ठ, सप्तम व अष्टम अध्याय में जो कथा है वह सब आत्मविद्या, महावाक्य तथा आत्मोपासना का उपदेश है, अतएव इस षष्ठ अध्याय की आख्यायिका के बाद होनेवाली आख्यायिका को उपासना सम्बन्धिनी होने से इस पञ्चमाध्याय में, जिस में कि अन्य भी उपासनाविद्याएँ हैं, कहा है ॥ १ ॥

(दूसरे तथा तीसरे मंत्र का व्याख्यान साथ ही किया जाता है, क्योंकि दूसरे मंत्र में तीन प्रश्न और तीसरे मंत्र में दो प्रश्न किये गये हैं। अतः पाँचों प्रश्नों को साथ ही लिखना ठीक है।)

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति न भगव इति ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा जिस प्रकार इस लोक से ऊपर के लोक को जाती है यह तू जानता है? उसने उत्तर दिया कि हे भगवन्! मैं यह नहीं जानता। फिर उसने पूछा कि प्रजा जाकर फिर जैसे लौटती है यह तू जानता है? उसने उत्तर दिया कि हे भगवन्! यह मैं नहीं जानता। उसने फिर पूछा कि तू उस स्थान को जानता है जहाँ से देवयान और पितृयान मार्गों का वियोग हुआ है? उसने इस प्रकार उत्तर दिया कि हे भगवन्! यह भी मैं नहीं जानता ॥ २ ॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत ३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुनः राजा ने पूछा—क्या तू जानता है कि पितृलोक क्यों नहीं भरता? उसने उत्तर दिया कि भगवन् नहीं। पुनः राजा ने पूछा कि तू यह जानता है कि पाँचवीं आहुति में जल पुरुषवाचक कैसे होते हैं? उसने उत्तर दिया कि हे भगवन्! यह भी मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पुनः प्रवाहण राजा ने प्रश्न किया कि जैसे इस लोक से प्रजा मरकर ऊर्ध्वलोक को जाती है, क्या तू उस को जानता है? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! मैं उस को नहीं जानता हूँ। पुनः राजा ने प्रश्न किया कि जैसे वह प्रजा पुनः इस लोक में आती है, क्या तू इस को जानता है? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि हे भगवन्! उस को भी मैं नहीं जानता हूँ। तब राजा ने पुनः प्रश्न किया कि हे कुमार! तू उस स्थान को जानता है, जहाँ से देवयान तथा पितृयान मार्ग अलग अलग होते हैं, और देवमार्ग से गये हुए पुनरावृत्ति को प्राप्त नहीं होते

हैं एवं पितृमार्ग से गये हुए फिर लौट आते हैं ? इस के उत्तर में श्वेतकेतु ने कहा कि हे राजन् ! मैं उस को नहीं जानता हूँ। जब श्वेतकेतु ने प्रवाहण राजा के तीन प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, तब राजा ने पुनः प्रश्न किया कि हे श्वेतकेतो ! पितृलोक-सम्बन्धी स्वर्गलोक में अनेक कर्म करनेवाले जाते हैं तो भी वह नहीं भरता, इस का कारण तू जानता है ? इस के उत्तर में श्वेतकेतु ने कहा कि हे भगवन् ! उस को मैं नहीं जानता हूँ। पुनः राजा ने प्रश्न किया कि हे श्वेतकेतो ! आहुति किया हुआ जल पाँचवीं आहुति में पुरुषाकार हो जाता है, क्या तू उस को जानता है ? उसने उत्तर दिया कि हे भगवन् ! मैं नहीं जानता हूँ ॥ ३ ॥

विशेष—अपनी बाल्यावस्था में माता पिता को अधिक प्यारा तथा चञ्चल स्वभाव होने से श्वेतकेतु शिक्षा को न ग्रहण कर मूर्ख बालकों के समान खेलता ही रहा। तब उस के पिता ने उस के स्वभाव को देखकर अपने मन में सोचा कि यह यहाँ पढ़ नहीं सकता, इस लिए इस को किसी अन्य आचार्य के पास अध्ययन के लिए भेजना चाहिए। ऐसा विचार कर उस का यज्ञोपवीत संस्कार कर अन्य आचार्य के यहाँ विद्याध्ययन के लिए भेजा। उस समय श्वेतकेतु की अवस्था बारह वर्ष की थी, तीव्र बुद्धि होने के कारण चौबीस वर्ष की अवस्था में उसने छओ अङ्ग और अर्थ सहित ऋगादि चारों वेदों को पढ़ लिया। अब अन्य सब विद्यार्थियों में अधिक विद्वान् होने से उस को यह अभिमान हुआ कि इस समय मेरे समान विद्वान् दूसरा कोई नहीं है। इस प्रकार वह श्वेतकेतु अहंकारी अप्रणत स्वभाव हुआ देश देशान्तरों में जाकर शास्त्रार्थ में अन्य ब्राह्मणों को परास्त कर अपने पिता के पास आया, किन्तु अपने को बड़ा विद्वान् समझकर पिता को भी प्रणाम नहीं किया। तब उस के पिता ने उस को महा अभिमानी अप्रणतस्वभाव दोष से युक्त होने के कारण अपने शुद्ध कुल में कलङ्करूप जान उस के दोष की निवृत्ति के लिए उस से पूछा कि दूसरे ब्राह्मणों की अपेक्षा तुझ में क्या विशेषता है, क्या तू उस विद्या को जानता है जिस एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है ? तब उसने कहा कि मैं उस विद्या को नहीं जानता और न आचार्य ने ही उस विद्या को मुझ से कहा है। अतः हे भगवन् ! आप उस विद्या को मुझे बताइए ? श्वेतकेतु के इस प्रकार कहने पर उस के पिता ने दृष्टान्तपूर्वक अद्वैत आत्मविद्या का उपदेश किया। तब श्वेतकेतु 'परा अपरा' उभय विद्या पाकर सब विद्याओं का अधिकारी हुआ। उसी समय श्वेतकेतु पञ्चाल देश के राजा की सभा में गया। राजा ने पहले ही से

इस बात को सुना था कि एक ऋषि का पुत्र विद्या में अपने को सब से अधिक मानकर जहाँ तहाँ ब्राह्मणों से विवाद करता फिरता है। उसी ऋषिपुत्र श्वेतकेतु को अपनी सभा में देख राजा ने उस से पूर्वोक्त पाँच प्रश्नों को किया, वह उन का उत्तर न दे सका, और उस का मान चूर चूर हो गया ॥ २-३ ॥

अब प्रवाहण से पराभूत श्वेतकेतु के अपने पिता के पास आने का कथन करते हैं—

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हाऽऽयस्तः पितुरर्धमेयाय तꣳ होवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषमिति ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा ने कहा कि जब तू जानता नहीं तो क्यों ऐसा कहा कि मैं अनुशिष्ट हूँ, जो निश्चय करके इन प्रश्नों के उत्तर को नहीं जानता वह क्यों ऐसा कहेगा कि मैं अनुशिष्ट हूँ ? तब उस श्वेतकेतु ने लज्जित होकर अपने पिता के स्थान पर आकर पिता से कहा कि मुझ को स्पष्ट अनुशासन किये बिना ही आपने कह दिया था कि तुझे सब विद्या की शिक्षा दे दी है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उक्त प्रकार से जब श्वेतकेतु निरुत्तर हो गया तब राजा ने कहा कि हे कुमार ! जो तू इस प्रकार अज्ञ है कि मेरे किये हुए प्रश्नों में से जब एक का भी उत्तर नहीं जानता, तब अपने को 'मैं अनुशिष्ट हूँ' ऐसा क्यों कहा। जो इन मुझ से पूछे प्रसिद्ध प्रश्नों के उत्तरों को न जानता हो वह विद्वानों में यह कैसे कह सकता है कि मैं अनुशिष्ट हूँ ? यानी कभी नहीं कह सकता। इस तरह जब उस राजा ने कुछ निरादरपूर्वक उस श्वेतकेतु से कहा, तब उसने अत्यन्त लज्जित हो उस सभा से निकल अपने पिता के स्थान पर जाकर कहा कि हे पिताजी ! आपने मुझ को अनुशासन किये बिना, अर्थात् सब विद्या का उपदेश किये बिना ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन की समाप्ति के समय कहा कि मैंने तुझ को सब विद्या का अध्ययन करा दिया है, अब कोई विद्या अध्ययन के लिए अवशिष्ट नहीं है। सो आपने असत्य ही कहा ॥ ४ ॥

विशेष—यहाँ पिता पुत्र दोनों का कहना सुनना ठीक ही है। क्यों कि पिता को जो ज्ञात था, वह सब कुछ उसने पुत्र को बिना छिपाये कह दिया। इस

के अनन्तर पिता का पुत्र से कहना योग्य ही था कि मैंने तुझ को सब विद्या अध्ययन करा दी। पिता का यह कहना अपने ज्ञान की अपेक्षा से था। चाहे कोई भी क्यों न हो, सिवा ईश्वर के, सब के ज्ञान शक्ति बल आदि ससीम होते हैं। पुत्र को पिता के उक्त कथन का यह अभिप्राय समझना चाहिये था कि पिता को जो मालूम था, उन्हों ने वह सब कुछ मुझे सिखा पढा दिया है। पर यह न समझकर वह पिता के पास यह कहने आया कि आपने मुझे वह अमुक विद्या तो पढाई नहीं जो अमुक जगह अमुक ने मुझ से पूछी है ? इस प्रश्न का उत्तर पिता ने यही दिया कि भैय्या ! वह विद्या मैं स्वयं ही नहीं जानता था, अतः तुम्हें न बता सका ॥ ४ ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकं चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदेतानवदो यथाऽहमेषां नैकं चन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! उस राजन्यबन्धु ने मुझ से पाँच प्रश्नों को पूछा, उन में से मैं एक का भी उत्तर कहने के लिए समर्थ न हो सका। पिता ने कहा—हे पुत्र ! आते ही तुम ने जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उन में से एक को भी मैं नहीं जानता। यदि ये प्रश्न मुझे मालूम होते तो तुम्हें क्यों न बतलाता ? ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि हे भगवन् ! राजन्यबन्धु ने—राजन्य (क्षत्रिय लोग) जिस के बन्धु हों उसे राजन्यबन्धु कहते हैं, यानी जो स्वयं दुराचारी है ऐसे उस राजन्यबन्धु, धृष्ट क्षत्रिय ने मुझ से गिनती के पाँच प्रश्न पूछे थे। किन्तु मैं उन में से एक का भी विवेचन नहीं कर सका, यानी उनका विशेष रूप से अर्थ निर्णय नहीं कर सका। तब पिता ने कहा कि हे पुत्र ! जैसे तू राजा के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ हुआ वैसे ही मुझ को भी उनके उत्तर देने में असमर्थ जान। यदि मैं उस विद्या को जानता होता तो अवश्य तुझ को उस में शिक्षित करता। हे पुत्र ! तू मुझ को परम प्रिय है, अतः यदि मैं उस विद्या को जानता होता तो तुझ से समावर्तन काल में अवश्य कहता ॥ ५ ॥

विशेष—पिताजी के कथन का तात्पर्य यह है कि हे पुत्र ! मेरे ऊपर असत्यवादित्व का आरोप कर क्रोध करना तुझ को योग्य नहीं, क्योंकि गुरु शिष्य में से एक के अज्ञानरूप हेतु से दूसरे के विषय में अनुमान के द्वारा अज्ञान की सिद्धि

हो जाती है। इस लिए अपने अज्ञान से तुम उस विषय में मेरा अज्ञान समझ लो, क्योंकि मैं इन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर नहीं जानता। यानी हे तात! जैसे तुम इन प्रश्नों के उत्तर को नहीं जानते, उसी प्रकार मैं भी नहीं जानता, इस लिए मेरे प्रति तुम्हें अन्यथाबुद्धि नहीं करनी चाहिए॥ ५॥

अब राजा प्रवाहण के पास पिता और पुत्र के जाने का वर्णन करते हैं, यथा—

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तꣳ होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्रीबभूव॥ ६॥

भावार्थ—तब वह गौतम राजा के स्थान पर आया। राजा ने अपने यहाँ आये हुए उस प्रसिद्ध गौतम की पूजा की। फिर दूसरे दिन प्रातःकाल सभा में राजा के जाने पर वह गौतम उस के पास गया। राजा ने उस गौतम ऋषि से इस प्रकार कहा—हे भगवन् गौतम! मानुषवित्त का वरदान माँग लो। उस गौतम ने स्पष्ट कहा कि हे राजन्! मनुष्यसंबंधी धनादिक तुम्हारे ही पास रहें, तुम ने मेरे पुत्र के प्रति जो बात प्रश्नरूप से कही थी उस को ही मुझ से कहो। यह सुनकर वह राजा अत्यन्त दुःखी हो गया॥ ६॥

वि॰ वि॰ भाष्य—वह गौतमगोत्रोत्पन्न मुनि राजा जैवलि के स्थान पर आया, जब वह वहाँ पहुँचा तब राजा ने उस के समीप जाकर कुशल प्रश्नपूर्वक अर्घ पाद्यादि आतिथ्यसत्कार करके सुखविश्राम के निमित्त उस को एक मकान में ठहरा दिया। दूसरे दिन उद्दालक ऋषि स्नान संध्योपासनादि नित्य कर्म करके राजा की सभा में पहुँचा और पुनः उस राजा ने ऋषि का पूजन आदि सत्कार किया और हाथ जोड़ विनयपूर्वक ऋषि से कहा कि हे पूज्य गौतम! मनुष्यलोकसंबंधी धन, ग्राम, रत्न, रथ आदि पदार्थों में से अपनी इच्छानुसार माँग लीजिये। इस के उत्तर में गौतम ऋषि ने कहा कि हे राजन्! मनुष्यलोकसम्बन्धी धनादिक सब आप के ही पास रहें, मुझ को उनकी इच्छा नहीं है। तब राजा ने शंकापूर्वक प्रश्न किया कि फिर आप की क्या इच्छा है, किस लिए आप का आगमन हुआ है? तब उद्दालक ऋषि ने उत्तर दिया कि हे राजन्! जो आप ने मेरे पुत्र के प्रति पाँच प्रश्न किये हैं,
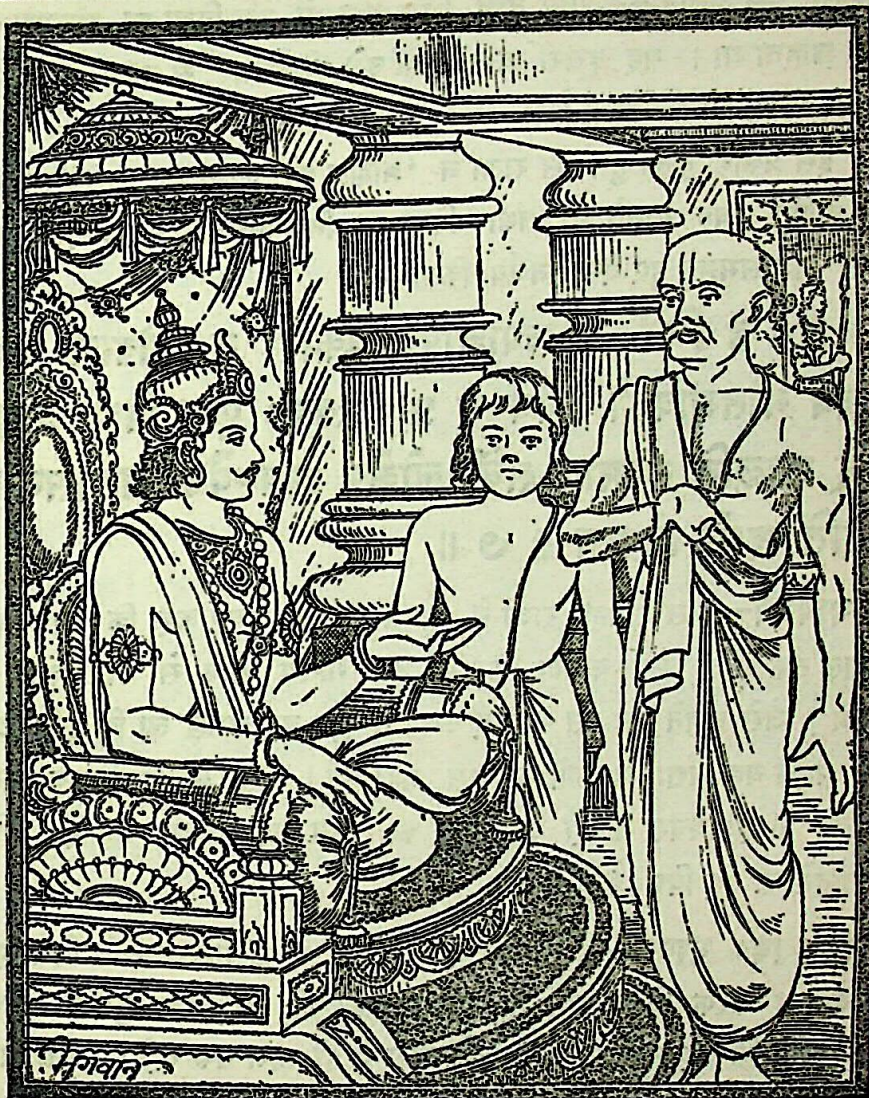
जिन के उत्तर वह नहीं दे सका, उन को मैं भी नहीं जानता हूँ, इस लिए उन को मुझ से अवश्य कहिए। यह सुनकर राजा को बड़ा खेद हुआ ॥ ६ ॥

विशेष—प्राचीन लोगों को ज्ञानप्राप्ति की कैसी उत्कण्ठा रहती थी, यह घटना इस से जानी जाती है। ऋषि अपने पुत्र की निरुत्तरता से राजा के ज्ञान की योग्यता समझ गया। वह ऋषि तत्काल जिज्ञासु बनकर राजा की सेवा में जा उपस्थित हुआ, धन प्राप्ति के सुअवसर का त्याग किया पर विद्या ग्रहण की प्रार्थना की। उधर राजा को विद्या की रक्षा का, जो परंपरा से एक विशेष जाति में चली आ रही थी, कितना ममत्व था। ऋषि की प्रार्थना को सुनकर राजा को कष्ट हुआ।

वह किसी ऐसे अज्ञात-कुल-शील तथा भिन्न कुल में उस विद्या का संक्रमण नहीं करना चाहता था। यह दूसरी बात है कि उसे शिष्टाचार से बाध्य होकर ऐसा करने पर विवश होना पड़ा ॥ ६ ॥

इस प्रकार दुखी हुए उस राजा ने 'ब्राह्मण की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए' यह मानते हुए तथा 'विद्या का नियमानुसार ही उपदेश करना चाहिए' यह समझते हुए ऐसा निर्णय किया—

तꣳ ह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार तꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस प्रवाहण राजा ने गौतम ऋषि से स्पष्ट कहा कि आप यहाँ कुछ काल तक रहें। ऐसा कहकर फिर भी उस गौतम ऋषि से स्पष्ट कहा कि हे गौतम! जैसे तुमने मुझ से कहा है उस से तुम यह समझ लो कि पूर्वकाल में तुम से पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसी कारण निश्चय करके सब लोकों में क्षत्रियवंश में ही इस विद्या का पठन पाठन होता रहा है। फिर उसने गौतम से वह विद्या कही ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! जब गौतम ने संसारसम्बन्धी वित्तादिकों की याचना न करके विद्या पाने की इच्छा प्रकट की, तब राजा दुःखित होकर विचारने लगा कि यह सर्वोत्तम विद्या क्षत्रियवंश में ही आज तक रही। इसी विद्या को यह ब्राह्मण माँगता है, यदि नहीं देता हूँ तो धर्म से च्युत होता हूँ। क्योंकि क्षत्रियों का सुपात्र ब्राह्मणों को दान देना परमधर्म है, यदि देता हूँ तो यह अद्वितीय विद्या मेरे क्षत्रियघर से निकलकर ब्राह्मणों के घर जाती है। किन्तु क्षत्रिय को धर्म से च्युत होना अनुचित है, अतः इस जिज्ञासु ब्राह्मण को परीक्षा लेकर विद्या प्रदान करना ही चाहिये। ऐसा विचार कर राजा ने कहा कि हे गौतम! यहाँ एक साल तक मेरे पास निवास करो, फिर मैं विद्या को आप के प्रति कहूँगा। इस प्रकार कहे हुए मेरे वाक्य पर आप क्षमा करें। हे गौतम! आप सब प्रकार की विद्या जानते हैं, और सर्वोत्तम ब्राह्मण हैं, तो भी उस विद्या को न जानते हुए जिस के प्रति मैंने आप के पुत्र से पाँच प्रश्न किये थे, आप को उस विद्या के पाने के

निमित्त तप करना उचित है, इस शास्त्ररीति को आप अच्छी तरह जानते हैं। ऐसा निवेदन कर एक वर्ष बाद उस गौतम से राजा जैवलि ने विद्या का उपदेश किया ॥ ७ ॥

विशेष—जिस समय आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचाल देश की सभा में गया, तब वहाँ जैवलि प्रवाहण ने उस से पूछा कि आप के पिताजी ने जो उद्दालक नाम से विद्वत्ता में प्रसिद्ध हैं, कुछ पढ़ाया है ? उस ने उत्तर दिया कि अवश्य सब कुछ शिक्षा दी है। यह सुन प्रवाहण ने उस से उपर्युक्त पाँच प्रश्न किये, जिन में से एक का भी उत्तर श्वेतकेतु से देते न बन पड़ा। अन्त में निरुत्तर हो उस ने अपने पिता से पांचालों की सभा में अपने अपमानित होने का प्रसङ्ग कह सुनाया। जिन प्रश्नों का उत्तर श्वेतकेतु नहीं दे सका था, उन का उत्तर उद्दालक को भी नहीं मालूम था। यदि विदित होता तो वह अपने पुत्र को पहले ही बता देता, जिस से श्वेतकेतु को राजसभा में लज्जित न होना पड़ता। अन्त में दोनों राजा के पास गये। राजा उद्दालक को वह विद्या बताना नहीं चाहता था, वह विद्या आज तक ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं हुई थी। उन को प्राप्त न होने से क्षत्रियों की इस विद्या में बड़ी ख्याति थी। यह सब होने पर भी अन्त में योग्य पात्र समझकर वह विद्या, जिस पर आज तक क्षत्रियों का ही अधिकार था, राजा ने ब्राह्मण को भी दे दी ॥ ७ ॥

—❀❀❀—

चतुर्थ खण्ड

अब 'पाँचवीं आहुति में जल पुरुषसंज्ञक क्यों हो जाते हैं ? इस प्रश्न का सब से पहले समाधान किया जाता है, क्योंकि उस का निराकरण होने पर अन्य प्रश्नों का निराकरण सुगम हो जायगा। अग्निहोत्र की प्रातःकालिक सायंकालिक दोनों आहुतियों का जो कार्यारम्भ है वह वाजसनेयोपनिषद् में बतला दिया गया है। वहाँ उस के विषय में उन दोनों आहुतियों की उत्क्रान्ति, गति, प्रतिष्ठा, तृप्ति, पुनरावृत्ति तथा लोकों के प्रति उत्थान करना ये छः प्रश्न हैं। वहीं उन का निराकरण भी इस प्रकार बतलाया गया है—

ये आहुतियाँ हवन किये जाने पर अपूर्वरूप होकर उत्क्रमण करते हुए यजमान को आवृत्त कर उस के साथ उत्क्रमण करती हुई अन्तरिक्षलोक में प्रवेश

करती हैं। वे अन्तरिक्षलोक को ही आहवनीय, वायु को समिध तथा किरणों को शुक्ल आहुति बनाती हैं। इस प्रकार वे अन्तरिक्षलोक को तृप्त करती हैं यानी अन्तरिक्षलोकस्थ यजमान को फलोन्मुख करती हैं। पुनः वहाँ से यजमान के उत्क्रमण करने पर वे उत्क्रमण करती हैं। इत्यादि रूप से इसी तरह आहुतियाँ पहले ही के समान द्युलोक को (द्युलोकस्थ यजमान को फल प्रदान द्वारा) तृप्त करती हैं। उस के बाद प्रारब्धक्षय होने पर यजमान के पुनरावर्तन करने पर वे वहाँ से लौट आती हैं, तथा इस लोक में प्रवेश कर इसे तृप्त करने के बाद पुरुष में प्रवेश करती हैं। पुनः स्त्री में प्रवेश कर वे परलोक के प्रति लौकिक कर्म कराती हुई उत्थान करनेवाली होती हैं। यानी गर्भरूप से उत्पन्न हुए यजमान को कर्मानुष्ठान में समर्थ देह की प्राप्ति करके उस के द्वारा पारलौकिक कर्म कराती हुई उस का परलोक के प्रति गमन कराती हैं।

वाजसनेयोपनिषद् में तो यह बतलाया गया था कि अग्निहोत्र की आहुतियों का केवल कार्यारम्भ मात्र इस प्रकार होता है। परन्तु यहाँ अग्निहोत्र के अपूर्व के विपरिणामरूप उस कार्यारम्भ को पाँच प्रकार से विभक्त कर उन में उत्तरमार्ग की प्राप्ति के साधनभूत अग्निभाव से उपासना का विधान करने की इच्छा से श्रुति 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' इत्यादि कथन करती है। इस लोक में जल आदि जिन के साधन हैं, जो श्रद्धापूर्वक निष्पन्न की जाती हैं, जिन में आहवनीय अग्नि, समिध, धूम, अर्चि, अङ्गार और विस्फुलिङ्ग की तथा कर्ता आदि कारक की भावना की गयी है, वे अग्निहोत्र की सायंकालिक एवं प्रातःकालिक दो आहुतियाँ अन्तरिक्ष क्रम से उत्क्रमण कर द्युलोक में प्रवेश करती हुई सूक्ष्म एवं जलमयी होने के कारण 'अप' शब्द की वाच्य हैं और श्रद्धाजनित होने के कारण 'श्रद्धा' शब्द की वाच्य हैं। यहाँ उन के आश्रयभूत अग्नि और उस से सम्बद्ध जो समिध् आदि हैं उन का वर्णन किया जाता है तथा उन आहुतियों में जो अग्नि आदि की भावना है उस का भी उसी प्रकार निर्देश किया जाया है।

अब अर्थक्रम का आश्रयण करके पञ्चम प्रश्न का उत्तर देने के लिए लोकरूपा अग्निविद्या को कहते हैं—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! यह स्वर्ग लोक ही अग्नि है, और उसका ईंधन निश्चय करके सूर्य है, किरणें धूम हैं, दिन अर्चि=प्रकाश है, चन्द्रमा अङ्गार है तथा नक्षत्र चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! अग्नि की उपासना करनेवाला पुरुष हवन करते समय इस प्रकार चिन्तन करता है कि मेरे सामने की आहवनीय अग्नि स्वर्ग-रूप अग्नि है। इसका ईंधन सूर्य है, क्योंकि यही सम्यक् दीपन करनेवाला है, उससे निकलने के कारण किरणें धूम हैं, क्योंकि समिध से ही धूम निकला करता है। प्रकाश में समानता और आदित्य का कार्य होने के कारण दिन ज्वाला है। चन्द्रमा अङ्गार है, क्योंकि यह दिन के शान्त होने पर अभिव्यक्त होता है, लौकिक अङ्गारे भी ज्वाला के शान्त होने पर ही प्रकट हुआ करते हैं। तथा चन्द्रमा के अवयवों के समान नक्षत्रगण विस्फुलिङ्ग हैं, क्योंकि इधर उधर छिटके रहने में विस्फुलिङ्गों के साथ उनकी समानता है ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि ऐसा समझकर उपासक इस अग्नि का स्वर्ग से तादात्म्य करके जब शरीर त्यागता है, तब उसी आहवनीय अग्नि की आहुतियाँ उसको स्वर्ग लोक में ले जाती हैं। वहाँ वह अपने कर्मानुसार उत्तम सुखों को भोगकर चन्द्रलोक में आता है और चन्द्रलोक से जल द्वारा पृथिवी पर आता है तथा व्रीह्यादि अन्न द्वारा मनुष्य का वीर्य बनता है। पुनः मातृगर्भ को प्राप्त होकर पुरुष की सूरत में बाहर निकलता है, और बड़ा होने पर फिर अपने अग्निहोत्रादि कर्म को करने लगता है, जिससे कि स्वर्गादि को प्राप्त हुआ था। इसी तरह वह कर्म द्वारा पुण्यजन्य उत्तम लोकों को प्राप्त होता रहता है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस अग्नि में देवगण श्रद्धा (जल) की आहुति करते हैं, उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब हवन करनेवाला पुरुष दुग्ध घृतादि द्रव्य को स्वर्गाख्य अग्नि का स्मरण करता हुआ अपने सम्मुख आहवनीय अग्नि में हवन करता है, तब हवन की हुई घृतादि वस्तु सूक्ष्म परिणाम को प्राप्त हुई सूर्य की किरणों करके स्वर्ग को प्राप्त होती है तथा वहाँ एकत्रित रहती है। जब अग्निहोत्र करने-वाला शरीर को छोड़ता है और उस के शरीर का दाह उस के अग्निहोत्र-अग्नि में

किया जाता है, तब उस पुरुष को अग्निदेव स्वर्ग को पहुँचाता है। वहाँ वह अपने पूर्वकृत कर्म के फल को भोगता है, तथा जब कर्मफल क्षय होने पर होता है, तब पुनः वह शेष कर्म भोगने के लिए स्वर्गाख्य अग्नि में श्रद्धारूप सूक्ष्म जल का हवन करता है। उन्हीं आहुतियों के साथ तन्मय हुआ स्वयं भी हवन किया हुआ सा होता है, जिस के फलस्वरूप सोम राजा उत्पन्न होता है॥ २॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि वह चन्द्रलोक के भोगों को भोगने के लिए चन्द्रलोक में उत्पन्न होता है। हे गौतम! यजमान के प्राण आदि इन्द्रियों को अग्नि आदि देवताओं के आश्रय होने के कारण देवता कहते हैं। यह जो अग्निहोत्र की घृतादि आहुतियाँ हैं, वे परिणामरूप होने के पहले सूक्ष्म जलरूप थीं, और वे ही श्रद्धा करके भावित होने से श्रद्धा कही जाती हैं। यही श्रद्धारूपी जल स्वर्गाख्य अग्नि में हवन किया हुआ पाँचवीं आहुति करके स्त्रीरूप अग्नि में पुरुष के परिणाम को प्राप्त होता है॥ २॥

पञ्चम खण्ड

वह सोम पर्जन्यरूपी अग्नि में हुत होता हुआ वृष्टिरूप से परिणत होता है। इसी बात को कहते हैं, यथा—

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

भावार्थ—हे गौतम! मेघ ही अग्नि है, उस का वायु ही समिध् है, अभ्र धूम है, विजली ज्वाला है, वज्र अङ्गार है और गर्जन विस्फुलिङ्ग है॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे गौतम! अग्नि का उपासक द्वितीय बार अपने सम्मुख अग्नि को मेघदेवरूप अग्नि समझकर कल्पना करता है कि इस का ईंधन वायु है, जैसे ईंधन से अग्नि वृद्धि को प्राप्त होता है, वैसे ही वायु के द्वारा मेघ की वृद्धि होती है तथा वृष्टि होती है। उस का धूम अभ्र (बादल) है, जैसे धूम से अग्नि की सिद्धि होती है, वैसे ही अभ्ररूप धूम से मेघदेव की सिद्धि होती है। उस की ज्वाला विजली है, जैसे ज्वाला में चमक होती है वैसे ही विजली में चमक है। उस का अङ्गार विजली का चमकना है, जैसे अंगार में चमक होती है वैसे ही विजली

में चमक होती है। उस की चिनगारियाँ मेघ का गर्जनशब्द है, जैसे चिनगारियों में शब्द होते हैं वैसे ही मेघों के गर्जने में शब्द होते हैं ॥ १ ॥

विशेष—केवल पर्जन्यरूप अग्नि ही वृष्टि का कारण नहीं है। किन्तु वायुएँ समिधाओं का काम करती हैं और प्रकृति की दिव्य शक्ति चतुरणुकादि परमाणुपुञ्ज को एकत्रित करके जब उस की आहुति देती है, तब वृष्टि होती है। इस प्रकार पर्जन्यरूप अग्नि वृष्टि का कारण है। सब कुछ यज्ञ से हो रहा है। गीता में तो जप को भी यज्ञ कहा है। इस बीसवीं शताब्दी के निकट प्रारम्भ में स्वाधीनतारूप स्वर्ग की प्राप्ति के लिए स्वातन्त्र्यसंग्रामरूप यज्ञ में भारतीय नेतारूप होताओं ने अपने स्वार्थत्यागघृत के साथ निज अस्थिरुधिरमय जीवन के द्रव्य की आहुति दी थी ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ संभवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस अग्नि में देवगण सोम राजा का हवन करते हैं, उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—उस इस अग्नि में देवगण पूर्ववत् राजा सोम का हवन करते हैं। उस आहुति से वर्षा होती है। श्रद्धासंज्ञक आप इस द्वितीय पर्याय में सोम के आकार में परिणत हो मेघरूप अग्नि को प्राप्त होकर वृष्टिरूप में परिणत हो जाते हैं ॥ २ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि हवनकर्ता इस प्रकार की कल्पना करता है कि पर्जन्यरूप अग्नि में यजमान की इन्द्रियाँ, जो देवता कही जाती हैं, सोम राजा अर्थात् सोमलोकस्थ जीवात्मा को हवन करती हैं, यानी ले जाती हैं तथा उस दी हुई आहुति से वर्षारूप फल की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

——:❀❀❀:——

षष्ठ खण्ड
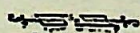
इस प्रकार उत्पन्न वृष्टि इस लोक में हुत अन्नरूप से परिणत होती है, इसी बात को कहते हैं, यथा—

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदा-काशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फु-लिङ्गाः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है, उस का संवत्सर ही समिध् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशायें अङ्गार हैं और अवान्तर दिशायें चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा जैबलि ने कहा कि हे गौतम ! यह पृथिवी ही प्रसिद्ध अग्नि है और उस पृथिवीरूप अग्नि का संवत्सर ही समिध् है। क्योंकि संवत्सररूप काल से समिद्ध होकर यानी पुष्टि लाभ करके ही पृथिवी धान्यादि की निष्पत्ति में समर्थ होती है। और उस पृथिवीरूप अग्नि का आकाश धूम है, क्योंकि जैसे अग्नि से धूम उठता है वैसे ही आकाश पृथिवी से उठा हुआ सा दिखाई देता है। रात्रि ज्वाला है तथा उस पृथिवीरूप अग्नि का पूर्वादि दिशायें अङ्गार हैं, क्योंकि जैसे अग्नि अंगाररूप हो जाने से शान्त प्रतीत होने लगती है वैसे ही दिशा भी शान्त प्रतीत होती हैं। क्षुद्रत्व में समानता होने के कारण अवान्तर दिशायें यानी ईशानादिक चारों कोण विस्फुलिङ्ग = चिनगारियाँ हैं, क्योंकि जैसे चिनगारियाँ अग्नि से इधर उधर निकलती हैं वैसे ही उपदिशायें भी दिशाओं से इधर उधर निकलती हैं ॥ १ ॥

विशेष—भाष्य में 'रात्रि ज्वाला है' ऐसा कहा गया है, उस का तात्पर्य यह है कि अप्रकाशात्मिका पृथिवी के अनुरूप ही रात्रि ज्वाला है। क्योंकि वह तमोरूपा है, इसलिए पृथिवीरूप अग्नि के समान यह उसके अनुरूप ज्वाला है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुते-रन्नꣳ संभवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस अग्नि में देवता वर्षा की आहुति करते हैं, उस आहुति से अन्न होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—इस पृथिवीरूप अग्नि में देवगण वर्षा का हवन करते हैं और उस आहुति से व्रीहियवादि अन्नरूप फल की उत्पत्ति है ॥ २ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि जब ऐसी पृथिवीरूप अग्नि में देवता वर्षा की आहुति देते हैं तब उस आहुति से व्रीहि यवादिरू अन्न उत्पन्न होते हैं ॥ २ ॥

——❀❀❀——

सप्तम खण्ड
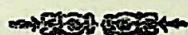
वह अन्न पुरुषरूप अग्नि में हुत होता हुआ वीर्य के आकार में परिणत होता है, इसी बात को इस खंड में कहते हैं, यथा—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, उस की वाणी ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, नेत्र अङ्गार हैं, कर्ण चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! यह पुरुष ही प्रसिद्ध अग्नि है, इस का ईंधन वाणी है, जैसे ईंधन से अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही वाणी के द्वारा पुरुष प्रकाश को प्राप्त होता है। इस का धूम प्राण हैं, जैसे अग्नि से धूम का उत्थान होता है, वैसे पुरुषरूप अग्नि से मुख द्वारा प्राण का उत्थान होता है। इस की ज्वाला जिह्वा है, जैसे ज्वाला लाल रंगवाली होती है, वैसे जिह्वा भी लाल होती है। इस का अंगार चक्षु है, जैसे अंगार झलकता है वैसे नेत्र भी झलकता है। इस की चिनगारियाँ श्रोत्र हैं, जैसे चिनगारियाँ इधर उधर बिखरती हैं, वैसे ही श्रोत्र भी घूम फिर करके शब्द ग्रहण करता है ॥ १ ॥

विशेष—पुरुषरूप अग्नि की वाणी समिधा है। मनुष्य अग्नि के समान तेजस्वी तभी होगा जब उसमें वाणीरूपी इन्धन का सहयोग होगा। विना इन्धन के अग्नि बुझ जाती है, विना वाणी के मनुष्य भी निकम्मा हो जाता है। यद्यपि धन, बल, जन आदि शक्तियाँ भी मनुष्य को चमका देती हैं, किन्तु वाणी की शक्ति याने वावदूकता तो उसे सर्वोच्च स्थान का एकमात्र पूर्ण अधिकारी बना देती है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस अग्नि में देवता अन्न का होम करते हैं, उस होम से वीर्य उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब पुरुषरूप अग्नि में इन्द्रियरूप देवता व्रीहि यवादिक अन्न की आहुति करते हैं तब उस आहुति से वीर्यरूप फल उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

विशेष—पुरुषाग्नि में इन्द्रिय देवगण व्रीहियवादि संस्कृत यानी सिद्ध किये हुए अन्न की आहुति करते हैं, उस से वीर्यरूप फल की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

——❀❀❀——

अष्टम खण्ड

फिर वह वीर्य योषित्‌रूप अग्नि में हुत होता हुआ पुरुषाकार में परिणत होता है, इसी बात का वर्णन प्रकृत मंत्र से किया जाता है—

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे गौतम ! स्त्री ही अग्नि है, उसका उपस्थ ही ईंधन है, पुरुष जो वार्तालाप करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है, और जो भीतर की ओर करता है वह अङ्गारे हैं तथा अभिनन्दाः=विषयजन्य सुखाभास विस्फुलिङ्ग हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा जैवलि ने कहा कि हे गौतम ! यह स्त्री ही प्रसिद्ध अग्नि है, उसका ईंधन पुरुष की उपस्थ इन्द्रिय है, जैसे ईंधन से अग्नि प्रज्वलित होती है वैसे ही स्त्री भी पुत्रादि की उत्पत्ति करने के लिए प्रकाशित होती है। उसका धूम वार्तालाप है, जैसे धूम से अग्नि की सिद्धि होती है उसी तरह वार्तालाप करने से स्त्री की स्थिति प्रकट होती है। उसकी ज्वाला योनि है, ज्वाला की अरुणता से योनि की समता है। उसका अंगार मैथुन है, जैसे अग्नि अङ्गाररूप होने पर शान्त हो जाती है वैसे ही मैथुन के पीछे कामाग्नि की शान्ति हो जाती है। उसकी चिनगारियाँ अग्नि से निकलकर क्षण मात्र में नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही भोगजन्य सुखाभास भी क्षण मात्र में नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

विशेष—जगत में दो ही शक्तियाँ हैं, एक मातृशक्ति, दूसरी पितृशक्ति।

इस भाव को लेकर पहले पुरुष को यज्ञाग्नि कहा गया है और यहाँ स्त्री को। क्योंकि सृष्टिक्रम में दोनों ही परमावश्यक हैं। यह भूल नहीं करनी चाहिये कि पुरुष ही सब कुछ है। स्त्री भी बहुत कुछ है। उसी का यहाँ श्रुति उपयोग दिखाती है ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस अग्नि में देवता वीर्य की आहुति करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब ऐसी स्त्रीरूप अग्नि में देवगण (इन्द्रियाँ) पुरुष में हुत व्रीह्यादि से अच्छी तरह तैयार हुए वीर्य की आहुति करते हैं, तब उस आहुति से गर्भरूप फल की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

विशेष—हे गौतम ! श्रद्धा शब्द का वाच्य जल स्वर्गलोकादि उक्त अग्नियों में हवनक्रम से सोम, वर्षा, अन्न, रेत, इत्यादि परिणाम को पाता हुआ स्त्रीरूप अग्नि में परिणाम को प्राप्त होता है। आहुति को जल कहने का कारण यह है कि आहुति में जलभाग यानी घृत विशेष रहता है और अन्न यानी पार्थिव तथा अग्निभाग न्यून रहता है, अतः इस को जल का परिणाम कहते हैं ॥ २ ॥

नवम खण्ड

पञ्चम आहुति में पुरुषत्व को प्राप्त हुए जल की गति कहते हैं—

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥ १ ॥

भावार्थ—झिल्ली से लिपटा हुआ वह गर्भस्थ पुरुष दश या नौ या कम ज्यादा महीनों तक पेट में रहकर उस के बाद उत्पन्न होता है। इस प्रकार पाँचवीं आहुति में जल पुरुष के परिणाम को उपरोक्त रीति से प्राप्त होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! श्रद्धारूप जल जो प्रथम स्वर्गाख्य अग्नि में हवन किया गया था, वही क्रम से पञ्चम स्त्रीरूप अग्नि में वीर्यरूप से हवन किया हुआ पुरुषाकार में परिणत होकर जरायुसंज्ञक गर्भवेष्टन चर्म से वेष्टित हुआ दश या नौ मास तक अथवा जितने भी न्यून या अधिक समय में पूर्णाङ्ग हो माता की कुक्षि में शयन करने के अनन्तर फिर उत्पन्न होता है। यह उत्तर उस प्रश्न का है जिस को मैंने तुम्हारे पुत्र से पूछा था कि किस पाँचवी आहुति में जल पुरुष नामवाला होता है ॥ १ ॥

विशेष—इस प्रश्न का तात्पर्य वैराग्य दिखलाने में है ताकि ऐसे परिणाम को प्राप्त हुआ पुरुष अनेक प्रकार के दुःखों से जो गर्भाशय में उस को वारंवार सहने पडते हैं, बचने का प्रयत्न करे। यहाँ पाँचवे प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि आहुति से जल जो द्यौ में श्रद्धारूप से वर्तमान था, उस की आहुति होकर सोम, सोम की आहुति होकर वृष्टि, वृष्टि की आहुति होकर अन्न, अन्न की आहुति होकर वीर्य और वीर्य की आहुति होकर पुरुष के रूप में फिर वापिस आ गया ॥ १ ॥

अब पहले प्रश्न 'क्या तू जानता है कि ये प्रजाएँ कैसे और कहाँ से आती हैं ?' इस का उत्तर प्रारम्भ किया जाता है, यथा—

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—पैदा हुआ वह गर्भस्थ पुरुष जितनी उसकी आयु है, उतने काल तक जीता है। फिर उसको मृत देखकर दाहकर्म के लिए अग्नि के प्रति ही ले जाते हैं, जहाँ से कि वह आया था तथा जिससे उसकी उत्पत्ति हुई थी ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! उपरोक्त रीति से पुरुष गर्भाशय में निवास कर समयानुकूल उससे बाहर आकर जितनी उसकी आयु होती है उतने काल पर्यन्त जीता है। जब कर्मफल को भोगकर वह मृत्यु को प्राप्त होता है तब यदि वह राजा है तो उसके मृतक शरीर को पुरोहित आदिक श्मशान में ले जाते हैं और यदि वह साधारण गृहस्थ पुरुष है तो उसके पुत्रादि श्मशान में ले जाते हैं। वहाँ उस अग्नि में उसका दाह करते हैं जिससे उसकी उत्पत्ति हुई थी ॥ २ ॥

विशेष—इसका तात्पर्य यह है कि केवल वेदोक्त अग्निहोत्र का कर्ता घटी-यंत्रवत् बारंबार जन्म मरण को प्राप्त होता है। कभी वह ऊर्ध्वलोक को जाकर स्वर्ग-

लोक के भोगों को भोगता है और कभी लौटकर मर्त्यलोक में स्त्रीयोनि को प्राप्त होकर अनेक प्रकार का दुःख उठाता है। अन्त को उसी अग्नि में उसका दाह किया जाता है जिस पञ्चाग्नि से वह पैदा हुआ था तथा स्वर्गलोक को गया था ॥ २ ॥

दशम खण्ड

अब 'क्या तू जानता है कि इस लोक से प्रजा कहाँ जाती है ?' इस प्रथम प्रश्न के निराकरण के लिए भगवती श्रुति कहती है, यथा—

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांꣳस्तान् ॥१॥ मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो गृहस्थाश्रमी पुरुष उस पञ्चाग्नि को इस प्रकार जानते हैं और वानप्रस्थ, संन्यासी वन में श्रद्धा तथा तपपूर्वक हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे मृत्यु के बाद अर्चि-अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। अर्चि-अभिमानी देवताओं से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिवसाभिमानियों से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को, शुक्लपक्षाभिमानियों से, उन छः महीनों को, जिनमें सूर्य उत्तर मार्ग से निकलता है, प्राप्त होते हैं। उन महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष रहता है वह उन्हें कार्यब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है ॥१-२॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम! जो अग्निहोत्र कर्म के कर्ता गृहस्थ पुरुष, जिन में उपकुर्वाण ब्रह्मचारी भी शामिल हैं, इस के वास्तविक रूप को न जानकर कर्म करते हैं वे बारंबार उपरोक्त रीति से जन्म मरण को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो अग्निहोत्र कर्म के कर्ता इस पञ्चाग्निविद्या के यथार्थ रूप को जानकर हिरण्यगर्भ की उपासना सहित यज्ञकर्म को करते हैं, वे उपासनाकर्मबल से ब्रह्मलोक को प्राप्त

होते हैं और वहाँ ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या पाकर मुक्त होते हैं। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वे हैं जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर विद्याध्ययन के बाद गृहस्थाश्रमी बनते हैं, और नैष्ठिक ब्रह्मचारी वे हैं जो ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके गृहस्थाश्रम को नहीं ग्रहण करते, उन को वानप्रस्थ तथा संन्यास का अधिकार होता है ॥ १-२ ॥

विशेष—गृहस्थों में जो विद्वान् लोग हैं उन के लिए उत्तर मार्ग और केवल कर्मियों के लिए दक्षिण मार्ग है। ऊर्ध्वरेतस तथा वनवासियों के लिए उत्तर मार्ग ही है। उत्तर मार्ग से वे ही जाते हैं जो काम क्रोधादि दोषरहित होते हैं तथा इस मार्ग से जानेवाले पुरुष की इस लोक में तो आवृत्ति नहीं होती किन्तु ब्रह्मलोक में ही ऐसे कई लोक हैं जिन में वह तप के प्रभाव से जाता है। महः, जनः, तपः और सत्य—ये चारों ही लोक ब्रह्मलोक के अन्तर्गत हैं। साधक अपनी साधना के प्रभाव से इन में किसी एक लोक में जाता है और फिर वहाँ से ज्ञान द्वारा उत्तरोत्तर लोक में जाता हुआ सत्यलोक में पहुँचकर मुक्त हो जाता है। यह लोकान्तर गमन उस की अन्यत्र आवृत्ति है। इस के सिवा जिन का ऐसा अनुभव है कि 'एकमात्र अद्वितीय सत् ही है' उन का शीर्षस्थानीय नाडी द्वारा अर्चिरादि मार्ग से गमन भी नहीं होता, जैसा कि "वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है" "इसी से वह सब कुछ हो गया" "उस के प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वहीं लीन हो जाते हैं" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों से प्रमाणित होता है ॥ १-२ ॥

अब तृतीय प्रश्न के उत्तर देवयान और धूमयान के व्यावर्तन स्थान को कहते हैं—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—तथा जो ये कर्मोपासक गृहस्थ ग्राम में इष्ट, पूर्त, दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण मार्ग से जाता है उन को प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे गौतम ! जो गृहस्थ इष्टापूर्त दानादि कर्म करते हैं

किन्तु पञ्चाग्निविद्या को नहीं जानते हैं, वे मृत्यु के बाद अग्नि में दाह हुए धूमाभिमानी देवता के लोक को प्राप्त होते हैं। धूमलोक से रात्रि-अभिमानी देवता के लोक को, रात्रिलोक से कृष्णपक्षाभिमानी देवता के लोक को, कृष्णपक्षाभिमानी लोक से षट्-मासाभिमानी देवता के लोक को प्राप्त होते हैं, जिस में सूर्य दक्षिणायन रहता है। किन्तु ये गृहस्थकर्मी संवत्सराभिमानी देवता को नहीं प्राप्त होते हैं। किन्तु यहाँ संवत्सरप्राप्ति का प्रसङ्ग ही कहाँ था जो प्रतिषेध किया गया ? इस शंका का समाधान यह है कि दक्षिणायन तथा उत्तरायण ये एक संवत्सर के दो अवयव हैं, इनमें अर्चिरादि मार्ग से जानेवाले पुरुषों की उत्तरायण के महीनों से अपने अवयवी संवत्सर की प्राप्ति बतलायी गयी थी। इस लिए यहाँ भी उसके अवयवभूत दक्षिणायन के महीनों की प्राप्ति सुनकर पूर्ववत् उनके अवयवी संवत्सर की भी प्राप्ति हो जाती है। अत एव वे संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ऐसा कहकर उसकी प्राप्ति का प्रतिषेध किया जाता है ॥ ३ ॥

विशेष—इष्ट का अर्थ अग्निहोत्र वैदिक कर्म है और पूर्त का अभिप्राय बाग, कूप, पाठशालादिक हैं। दान का मतलब उत्तम दान व निकृष्ट दान हैं। उत्तमदान धन, अन्न, वस्त्रादि हैं जो ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ स्वकर्मारूढों को श्रद्धापूर्वक दिये जाते हैं। निकृष्ट दान वह है जो स्वनाम प्रकाशार्थ अन्धे, लूले, लँगड़े या अन्य कर्मरहित ब्राह्मणों को दिया जाता है। इससे सिद्ध पितृयान मार्ग कहलाता है ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥४॥

भावार्थ—षट्मासाभिमानी देवता के लोक से वे पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को तथा आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। इसी कारण यह सोम राजा देवताओं का अन्न है, उसको देवगण भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! वे दक्षिणायन के महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को तथा आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह वही चन्द्रमा है जो अन्तरिक्ष में दृष्टिगोचर होता है तथा जिस में लोक को प्राप्त हुए यजमान इन्द्रादि देवताओं के अन्न (भोग) बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब यजमान शरीर छोड़कर चन्द्रलोक में जाते हैं तब वहाँ वे स्त्री, सेवक, पशु इत्यादि स्व स्व कर्मानुसार बन जाते हैं और उनके साथ इन्द्रादि देवगण क्रीड़ा करते हैं। उस क्रीड़ा करनेमें

उनको वैसा ही सुख मिलता है जैसा इन्द्रादि देवताओं को मिलता है। चन्द्ररूप अन्न के भक्षण करने का यही तात्पर्य है जो ऊपर कहा गया, यह नहीं है कि जैसे मनुष्य अन्न को ग्रास कर खाते हैं उसी तरह देवगण उपासकों को भक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

विशेष—उनका सुखोपभोग्य जलीय शरीर चन्द्रमंडल में आरम्भ होता है। पहले यह बात कही जा चुकी है कि 'श्रद्धा' शब्दवाच्य जल का द्युलोकरूप अग्नि में हवन किये जाने पर सोम राजा की उत्पत्ति होती है। वह कर्मसंबन्धी जल अन्य भूतों से अनुगत हो द्युलोक में पहुँचकर चन्द्रत्व को प्राप्त हो इष्टादि कर्मों की उपासना करनेवाले पुरुषों के शरीरादि का आरम्भ कनेवाला होता है। पुनः शरीररूप अन्तिम आहुति के हुत होने पर जब अग्नि द्वारा शरीर दग्ध होने लगता है तो उस से उत्पन्न होनेवाले आप (जल) धूम के साथ यजमान को आच्छादित करके ऊपर चन्द्रमंडल में पहुँचकर कुश एवं मृत्तिकास्थानीय बाह्य शरीर का आरम्भ करनेवाले होते हैं। उनसे आरब्ध शरीर से ही वे इष्टादि कर्मों का फल भोगते हुए वहाँ रहते हैं ॥ ४ ॥

अब द्वितीय प्रश्न के उत्तर पुनः आवर्तनक्रम को कहते हैं—

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

भावार्थ—कर्मक्षय होने तक उस चन्द्रमंडल में रहकर वे जीव उसके बाद फिर उसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे, उसी प्रकार वहाँ से आकाश को लौट आते हैं। अपने से संमिलित आकाश से वायु होकर वे धूम हो जाते हैं, उस धूम से अभ्र होता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम! जब तक उस चन्द्रलोक के उपभोगों के निमित्तभूत कर्म का क्षय होता है, (जिस के द्वारा संपतन होता है उसे संपात यानी कर्म का क्षय कहते हैं, यावत्संपात यानी जब तक कर्म का क्षय होता है) तब तक उस चन्द्रमंडल में निवास कर उसके बाद पुनः आगे कथित मार्ग में ही जीव लौट आते हैं। "फिर लौट आते हैं" ऐसा प्रयोग होने से यह ज्ञात होता है कि पहले भी कई बार चन्द्रमंडल को प्राप्त होकर लौट चुके हैं, इस लिए वे इस लोक में इष्टादि कर्म करके चन्द्रमंडल को पहुँचते हैं और उनका क्षय होने पर फिर लौट आते हैं। उस समय वहाँ की स्थिति के निमित्तभूत कर्मों का क्षय हो जाने के कारण उस स्थान पर

उनका एक क्षण भी ठहरना नहीं हो सकता, जैसे कि तेल का क्षय हो जाने पर दीपक नहीं ठहर सकता। चन्द्रमंडल से उसी मार्ग के द्वारा लौटते हैं जिससे कि वे पहले गये थे। अर्थात् चन्द्रलोक से आकाश को, आकाश से वायुलोक को, वायुलोक में वे वायु होकर धूम होते हैं और धूम होकर मेघ होता है ॥ ५ ॥

विशेष—शंका—जो ऐसा, कहा है कि इष्टापूर्तादि सब कर्म फल को कर्मी चन्द्रलोक में भोग लेता है और उन कर्मों के क्षय होने पर मृत्युलोक को लौट आता है, यह असंभव है। क्योंकि जब कुछ कर्म शेष रहा नहीं तो वह कर्मी कैसे मृत्यु-लोक में आ सकता है ? समाधान—कर्मी इष्टापूर्त के कर्मफल को चन्द्रलोक में भोगता है और उस कर्मफल की समाप्ति वहीं हो जाती है। परन्तु जो उसने और दूसरे कर्म किये हैं उसका भोग मृत्युलोक ही में हो सकता हैं, उस कर्मसंस्कार से प्रेरित हुआ वह कर्मी मृत्युलोक में लौट आता है और अपने कर्मानुसार जन्म पाता है तथा पुनः कर्म करने लगता है।

शंका—जब शरीर नष्ट होता है तब उसके साथ कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। अतः जब इष्टापूर्त कर्म करने के पहले तथा शरीर से किया गया जो कर्म है वह कर्म इष्टापूर्त कर्म के बाद शरीर के दाह होने पर नष्ट हो गया, तब पुनः कर्मी चन्द्रलोक से मृत्युलोक में कैसे आ सकता है ?

समाधान—शरीर के नाश होने से कर्म फल विना भोगे कभी नष्ट नहीं होता है, कर्म का सूक्ष्म संस्कार बुद्धि आदि में स्थित रहता है तथा उस कर्मी के जन्म लेने में कारण बन जाता है। यदि ऐसा न हो तो पैदा होते ही अपने माता पिता के अनु-सार कर्म को नहीं कर सकता है। जब वानर का बच्चा पैदा होता है तब पैदा होते ही अपने माता पिता के समान कूद फाँद करने लगता है। कारण यह है कि वह बच्चा इस जन्म के पहले भी मर्कट था, और उस जन्म के किये हुए कर्म के संस्कार बने थे। यदि ऐसा न होता तो पैदा होते ही मर्कट की तरह कूद फाँद न कर सकता, क्योंकि उसको किसी ने सिखलाया नहीं।

शंका—श्रुति ने कर्मी के जाने की विधि जैसे चन्द्रलोक में कही है वही विधि चन्द्रलोक से आने की भी कही है, परन्तु इस तरह कर्मी नहीं आता है। समाधान—श्रुति के कहने का तात्पर्य चन्द्रलोक से मृत्युलोक में आने का ही है, चाहे वह किसी मार्ग से आवे ॥ ५ ॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह

व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—उन जीवों से अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है, तब वे सब इस मृत्युलोक में धान, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल तथा उर्द रूप से उत्पन्न होते हैं। इन में से निकलना निश्चय करके कठिन है, क्योंकि जो जो अन्न को खाता है तथा जो जो वीर्य को सिंचन करता है, फिर वही निश्चय करके उसी रूप से उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! वे पुरुष जिन के विशेष कर्म स्वर्ग में क्षीण हो गये हैं तथा कुछ अवशिष्ट कर्म भोगार्थ रह गये हैं, वे अभ्र होकर उस के बाद वर्षा करने में समर्थ मेघ होते हैं, फिर मेघ होकर ऊँचे स्थानों में वृष्टि करते हैं, यानी वर्षा की धाराओं के रूप में पृथिवी को प्राप्त होते हैं, फिर पृथिवी से अन्न या वनस्पति, रूप हो जाते हैं। पुनः उस के भक्षण करने पर पुरुष को प्राप्त होकर वीर्यरूप में परिणत होते हैं, पुनः स्त्री के गर्भाशय में प्राप्त होते हैं और फिर मनुष्यशरीर पाकर बचे खुचे कर्मफल को भोगते हैं तथा भविष्य फलभोगार्थ कर्म करते हैं। यह गति शुभकर्मियों की है, जो अशुभकर्मी हैं, वे वृष्टि द्वारा नदी, समुद्र, पर्वत, वन आदि स्थानों में गिरते हैं, तथा घासादि में प्रवेश करके क्रूर जीवों के भक्ष्य बनते हैं और अचेतावस्था में अनादि काल तक पड़े रहते हैं। जब किञ्चित् कर्म फल देने को उदय होते हैं, तब वे उद्भिज्ज के आकार को प्राप्त होते हैं, यानी पृथिवी को फोड़कर निकलते हैं, जैसे घास, वृक्ष आदि। उस के बाद स्वेदज होते हैं, जैसे जुआँ, खटमल आदि, बाद में अण्डज होते हैं, जैसे चील, कौआ आदि। ये घटीयंत्र की तरह क्रूर योनियों में बारंबार आया जाया करते हैं, इन का असंख्य काल तक उद्धार नहीं होता। हे गौतम ! तुम अनुभव कर सकते हो कि स्त्री के गर्भाशय को प्राप्त होना ही और योनियों को अपेक्षा अति दुर्लभ है तथा यह श्रेष्ठ कर्मों का फल है। क्योंकि कभी अभक्ष्यों में उत्पन्न होने पर वे वहीं सूख जाते हैं, कभी अन्न भक्षण करनेवाले अनेकों होने के कारण ऊर्ध्वरेता, बालक, नपुंसक अथवा वृद्ध पुरुषों द्वारा खाये जाने पर वे पेट के भीतर ही नष्ट हो जाते हैं। जिस समय काक-तालीय न्याय से वे कभी वीर्य सेचन करनेवाले पुरुषों द्वारा भक्षित किये जाते हैं, उसी समय वीर्यसेचकरूपता को प्राप्त हुए उन जीवों को कर्मों की वृत्ति का लाभ

होता है। भाव यह है कि जो जो वीर्यसेचक अनुशीय जीवों से युक्त अन्न भक्षण करता है तथा पुनः ऋतुकाल में वीर्य सेचन करता है, वह जीव उसी के आकार का हो जाता है। उस के अवयवों की आकृति की अधिकता होना 'भूयः' ऐसा कहा जाता है। परन्तु जो अनुशीय जीवों से भिन्न प्राणी अपने घोर पाप कर्मों के कारण चन्द्रमंडल पर आरूढ हुए बिना ही व्रीहि यवादि भाव को प्राप्त होते हैं, मनुष्यादि भाव को प्राप्त नहीं होते, उन का व्रीहि-यवादि भाव से निष्क्रमण होना बहुत कष्टप्रद नहीं है। क्योंकि उन्होंने कर्म के कारण ही व्रीहि यवादि का देह प्राप्त किया है, इस लिए उस उपभोग के निमित्त का क्षय होने पर व्रीहि आदि स्तम्बदेह का नाश हो जाने के कारण वे अपने कर्मानुसार उपार्जित अन्य नवीन नवीन शरीर में जोंक के समान विज्ञानयुक्त रहकर ही संक्रमण करते हैं। जैसा कि "वह सविज्ञान होता है तथा सविज्ञान रहता हुआ ही अन्य शरीर में संक्रमण करता है" इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। यद्यपि जीव इन्द्रियों के हृदय में लय हो जाने पर ही देहान्तर में जाते हैं तथापि इस श्रुतिप्रमाण से वे स्वप्न के समान देहान्तर की प्राप्ति के निमित्तभूत कर्म से उत्पन्न की हुई वासना के विज्ञान से सविज्ञान हुए ही देहान्तर को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार अर्चिरादि तथा धूमादि मार्ग से जो गमन होता है वह भी स्वप्न के समान उद्भूत विज्ञान रूप से ही होता है, क्योंकि वह गमन लब्ध-वृत्ति कर्म के कारण होता है। परन्तु व्रीहि-यवादि रूप से उत्पन्न हुए अनुशयी जीवों का जो रेतःसेचन करनेवालों या स्त्री के देहों से संबन्ध होता है वह सविज्ञान रूप से ही होना संभव नहीं है, क्योंकि व्रीहि आदि के काटने, कूटने या पीसने में सविज्ञान जीवों की स्थिति नहीं होती ॥ ६ ॥

विशेष—शंका—चन्द्रमंडल से उतरनेवाले जीवों का देहान्तर गमन भी वैसा ही होने के कारण उनकी भी जोंक के समान सविज्ञानता ही माननी उचित है। ऐसा होने पर इष्टापूर्तादि कर्म करनेवालों को चन्द्रमंडल से लेकर जब तक ब्राह्मणादि जन्म की प्राप्ति होगी तब तक घोर नरक का अनुभव होना सिद्ध होगा। ऐसी अवस्था में इष्टापूर्तादि उपासना अनर्थ के लिए ही विहित मानी जायगी। इस प्रकार वैदिक कर्म के अनर्थानुबन्धी होने के कारण श्रुति की अप्रामाणिकता सिद्ध होगी।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वृक्ष पर चढने तथा उससे गिरने के समान इन अवस्थाओं में अन्तर रहना सम्भव है। एक देह से दूसरे देह को प्राप्त कराने की इच्छावाले कर्म लब्धवृत्ति होने के कारण उन कर्मों द्वारा उत्पन्न किये हुए

विज्ञान से उस जीव का सविज्ञान रहना उचित है। फल लेने की इच्छा से वृक्ष पर चढनेवाले मनुष्य की जिस प्रकार सविज्ञानता सम्भव है, इसी प्रकार अर्चिरादि मार्ग से जानेवाले तथा धूमादि मार्ग से चन्द्रमंडल पर आरूढ होनेवाले जीवों की भी सविज्ञानता सम्भव है। परन्तु इसी तरह वृक्षाग्र से गिरनेवाले पुरुषों के समान चन्द्रमंडल से गिरनेवालों की सचेतनता सम्भव नहीं है।

जिस प्रकार कि मुद्गरादि से आहत पुरुषों की, जिनके इन्द्रियग्राम उनके आघातों की वेदना के कारण मूर्च्छित या प्रतिबद्ध हो गये हैं, अपने देह से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते समय विज्ञानशून्यता देखी गई है। उसी प्रकार स्वर्गभोग के निमित्तभूत कर्मों का क्षय हो जाने से जिनके जलीय शरीर नष्ट हो गये हैं और इन्द्रियसमूह अवरुद्ध हो गये हैं, उन चन्द्रमंडल से मनुष्यादि देहान्तरों के प्रति गिरनेवाले अनुशयी जीवों की विज्ञानशून्यता उचित ही है। अतः देह के बीजभूत आपों के परित्यक्त न होने से वे उनके सहित ही मूर्च्छित हुए के समान आकाशादि क्रम से इस पृथिवी पर उतरकर अपने कर्मानुसार जातिवाले स्थावर शरीरों में मिल जाते हैं और इन्द्रियों के प्रतिबद्ध रहने के कारण अचेत ही रहते हैं।

इसी प्रकार वे काटने, कूटने, पीसने, पकाने, खाने, रसादि रूप में परिणत होने और वीर्यसेचन के समय भी मूर्च्छित से ही रहते हैं, क्योंकि उनका देहान्तर का आरम्भ करनेवाला कर्म अलब्धवृत्ति रहता है। वे सब अवस्थाओं में देह के बीजभूत आप का संबन्ध न छोड़ते हुए ही विद्यमान रहते हैं, अतः जोंक के समान उनके चेतनायुक्त होने में भी कोई विरोध नहीं आता। बीच में जो विज्ञान-शून्य दशा रहती है वह मूर्च्छित के समान है, इस लिए उसमें कोई दोष नहीं है॥६॥

अब अनुशयी जीवों की कर्मानुरूपगति को कहते हैं—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि-मापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥७॥

भावार्थ—उनमें से जो इस लोक में शुभाचरणवाले हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनि को, यानी ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं। और जो इस संसार में निन्दित आचरणवाले हैं वे शीघ्र ही निन्दित योनि, यानी कुत्तों की योनि को, सूकरयोनि को अथवा चण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं॥७॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! जो दैवी सम्पद्वाले पुरुष हैं यानी जिन्होंने इष्टापूर्त आदि कर्म किये हैं तथा साथ ही साथ उसके सत्य, दया, आर्जव और क्षमा आदि लक्षणों से लक्षित रहते हैं, वे चन्द्रलोक में अपने इष्टापूर्त आदि कर्मों के फल को भोगकर मृत्युलोक में ऊपर कहे हुए मार्ग द्वारा आकर ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के कुल में उत्पन्न होते हैं। और जो इनके विपरीत आसुरी सम्पद्वाले हैं यानी इष्टापूर्तादि कर्म तो करते हैं, परन्तु असत्य, परस्त्रीगमन, निर्दयता, कुटिलता, क्रोध आदि दुष्ट लक्षणों से लक्षित रहते हैं, वे इष्टापूर्तादि कर्मफल चन्द्रलोक में भोगकर मर्त्यलोक में आकर अधम योनि यानी श्वान, सूकर, चण्डाल आदि योनियों को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

विशेष—रमणीय आचरणवाले रमणीय योनि को प्राप्त होते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि जिनके सत्त्वगुणात्मक कर्म उत्तम हैं, वे ब्राह्मणकुल में, जिनके मध्यम हैं वे क्षत्रियकुल में और जिनके निकृष्ट हैं वे वैश्यकुल में उत्पन्न होते हैं। इनसे भी अधम कर्म जिनके हैं वे अतिनिन्दित योनियों में जन्म लेते हैं ॥ ७ ॥

अब चतुर्थ प्रश्न 'यह परलोक क्यों नहीं भरता ?' इसका उत्तर कहते हैं—

जो शुभाचरणशील द्विजाति हैं वे यदि अपने कर्मों में स्थित रहकर इष्टादि कर्म करनेवाले होते हैं तो घटीयन्त्र के समान धूमादि मार्ग से पुनः पुनः आते जाते रहते हैं। यदि उन्हें उपासनात्मक विद्या की प्राप्ति हो जाती है तो अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं। जिस समय वे न तो उपासना करनेवाले होते हैं और न इष्टादि कर्मों का ही सेवन करते हैं, उस समय—

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो न पञ्चाग्निविद्या के सेवी हैं, न इष्टापूर्तादि कर्म को सेवन करते हैं, वे इन ऊपर कहे हुए दोनों मार्गों में से किसी मार्ग द्वारा नहीं जाते हैं। वे निश्चय करके क्षुद्र, कीट पतंगादि बारंबार जीने मरनेवाले जीवरूप से उत्पन्न होते हैं। इस लिए 'जन्में और मरें' यह ईश्वर की उनके प्रति आज्ञा है, इस तरह यह तृतीय स्थान है। इसी कारण से यह लोक पूर्ण नहीं होता है, अतः इस संसारगति से घृणा करनी चाहिये ॥ ८ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! पञ्चाग्नि की उपासना करनेवाले उत्तरायण मार्ग से क्रमशः संवत्सर को प्राप्त होते हैं, उसी तरह इष्टापूर्तादि कर्म करके कर्मी दक्षिणायन मार्ग से संवत्सर की अवधि तक पहुँचते हैं। पुनः संवत्सर के आगे पञ्चाग्नि का उपासक उत्तरायण मार्ग से सूर्यलोक को प्राप्त होता है और इष्टापूर्तादि कर्म का कर्ता दक्षिण मार्ग से पितृलोक को प्राप्त होता है। इस अग्नि का उपासक ब्रह्मलोक में दिव्य भोगों को भोगता है और ब्रह्मा से ब्रह्मविद्या को पाकर स्वेच्छित मर्त्यलोक में आता है। इष्टापूर्तादि कर्म का कर्ता अपने कर्मफलों को अल्प काल तक चन्द्रलोक में भोगकर क्रमशः मर्त्यलोक में जन्म को पाता है। परन्तु जो इन दोनों मार्गों के कर्मों से गिरे हैं यानी जो न इष्टापूर्तादि कर्म करते हैं और न पञ्चाग्नि विद्या की उपासना करते हैं, वे मृत्युलोक ही में अधम योनि अर्थात् कीट पतंगादि योनियों को प्राप्त होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि उन जीवों को दोनों मार्गों से पतित हुए देखकर मानो ईश्वर ही कहता है कि 'तुम जन्म लो और मरो।' यही कारण है कि न ये स्वर्गलोक को जाते हैं और न स्वर्गलोक पूर्ण होता है। यह संसार अत्यन्त घृणास्पद है, क्योंकि इस में किञ्चित् मात्र सुख नहीं है, यह केवल दुःखरूप है, जीव घटीयंत्र की तरह इस में ऊपर नीचे अहर्निश फिरा करते हैं ॥ ८॥

विशेष—पूर्वोक्त प्रश्नों में से पाँचवें प्रश्न की व्याख्या पञ्चाग्निविद्या द्वारा की गई, प्रथम प्रश्न का निराकरण दक्षिण एवं उत्तर मार्ग के वर्णन से किया गया। मरे हुए उपासक तथा कर्मठ, इन को अग्नि में डालना एक समान होता है, वहाँ से आगे उन का वियोग होता है, उनमें से एक अर्चिरादि मार्ग से जाते हैं और दूसरे धूमादि मार्ग से, पुनः उत्तरायण और दक्षिणायन इन छः छः मासों को प्राप्त होकर वे एक बार मिलकर फिर बिछुड़ जाते हैं। उन में से एस तो संवत्सर को प्राप्त होते हैं और दूसरे मासाभिमानी देवताओं से पितृलोक को जाते हैं। इस तरह दक्षिण और उत्तर मार्गों की व्यावृत्ति की भी व्याख्या की गई। क्षीणानुशायी जीवों की चन्द्रमंडल से आकाशादि क्रम से पुनरावृत्ति भी बतला दी गई। इस परलोक की अपूर्ति का तो 'तेनासौ लोको न संपूर्यते' ऐसे प्रत्यक्ष शब्दों से ही उल्लेख कर दिया गया।

इस तरह यह बात स्पष्ट बतलाई गई कि संसारगति अत्यन्त कष्टमयी है, अतः उस से घृणा करनी चाहिये, क्योंकि जन्म-मरण से होनेवाली वेदना के अनुभव में ही जिन का समय जाता है वे क्षुद्र जीव नौकाहीन अगाध सागर के समान, जिसे पार

करने में वे निराश रहते हैं, अतिदुस्तर घोर अज्ञानान्धकार में प्रविष्ट कर दिये जाते हैं। अतः इस तरह की संसारगति से घृणा करनी चाहिये कि इस तरह के घोर संसार महासागर में हमारा पतन न हो। उसी अर्थ में पञ्चाग्निविद्या की स्तुति के लिए यह मंत्र है ॥ ८ ॥

अब पाँच पतित कौन कौन हैं, इस का वर्णन करते हैं—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति ॥९॥

भावार्थ—सुवर्ण का चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुपत्नी के साथ गमन करनेवाला, ब्रह्महत्यारा ये चारों पतित होते हैं और पाँचवां उन के साथ संसर्ग करनेवाला भी पतित होता है ॥ ९ ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! चार प्रकार के महापातकी होते हैं, उन में पहला वह जो ब्राह्मण का सुवर्ण चुराता है, द्वितीय वह ब्राह्मण जो मद्यपान करता है, तृतीय वह जो गुरुपत्नी के साथ गमन करता है तथा चौथा वह जो ब्राह्मण का बध करता है और पाँचवा वह जो इन महापातकियों का साथ करता है। यह पाँचों पतित होते हैं ॥ ९ ॥

विशेष—आगे दसवें मन्त्र में पञ्चाग्निविद्या की स्तुति इस प्रकार की गई है कि पञ्चविध महापातकी भी यदि पंञ्चाग्निविद्या को जानता है तो वह पाप से लिप्त नहीं होता। अतः उस के पहले पञ्चविध महापातकियों का उल्लेख करना आवश्यक जानकर प्रकृत मंत्र का उल्लेख किया गया है ॥ ९ ॥

अब भगवती श्रुति पञ्चाग्निविद्या के महत्त्व का वर्णन करती है, यथा—

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न सह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥ १० ॥

भावार्थ—इस के अनन्तर जो पुरुष निःसंदेह इन पूर्वोक्त पञ्चाग्नियों को अच्छी तरह जानता है वह उपरोक्त उन महापातकियों के साथ संबन्ध होने पर भी पाप से लिप्त नहीं होता। जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है वह शुद्धान्तःकरण पुरुष पवित्र स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—हे गौतम ! जो पञ्चाग्निविद्या के महत्व को अच्छी तरह जानता है वह उन महापातकियों के साथ व्यवहार करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता, शुद्ध ही रहता है। क्योंकि वह पञ्चाग्नि विद्या के प्रसाद से शुद्ध होता हुआ प्रजापति आदि लोकों को प्राप्त होता है। जो "य एवं वेद" दो बार कहा गया है वह सब प्रश्नों के निर्णीतार्थ प्रतिपादन के लिए तथा पञ्चाग्निविद्या की समाप्ति सूचित करने के लिए है ॥ १० ॥

विशेष—इस खण्ड में पाँच प्रश्न किये गये थे, जिन का उत्तर भी दिया गया। वह प्रश्नोत्तर संक्षेप में इस प्रकार हैं, जैसे—

पहला प्रश्न 'किस प्रकार पाँचवी आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं ?' यह है। इस का उत्तर पाँच अग्नियों द्वारा पुरुष की उत्पत्ति बतलाते हुए दिया गया है।

दूसरा प्रश्न 'मरने के अनन्तर मनुष्य कहाँ जाते हैं ?' इस प्रकार है। इस का उत्तर यह दिया गया कि कुछ देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, कुछ पितृयान से चन्द्रलोक को, और कुछ यहीं बार बार जन्मते मरते हैं।

तीसरा प्रश्न 'फिर कैसे पुनः लौटते हैं ?' यह है। इस का उत्तर यह है कि कुछ ब्रह्म को पहुँच जाते हैं, दूसरे आकाशादि मार्ग से पृथिवी को वापिस आते हैं।

चौथा प्रश्न 'देवताओं और पितरों का मार्ग कहाँ अलग अलग होता है ?' यह है। इस का उत्तर है कि पञ्चाग्नि के ज्ञाता देवयान से जाते हैं, याने अयन [आधे वर्ष] से गमन करते हैं, इष्टापूर्तकर्ता पितृयानवाले अयन से पितृलोक को जाते हैं। याने एक उत्तरायण से, दूसरे दक्षिणायन से जाते हैं। ये दो अलग होने के भिन्न मार्ग हैं।

पाँचवाँ प्रश्न 'वह लोक भर क्यों नहीं जाता ?' यह है। इस का उत्तर यह है—क्योंकि वे जानेवाले अपना फल भोग करके इस लोक को पुनः लौट आते हैं। अतः जानेवालों का आना उस जगह को कभी भरने नहीं देता ॥ १० ॥

——※※※——

एकादश खण्ड

पञ्चाग्निविद्या की समाप्ति के बाद वैश्वानरविद्या को कहते हैं, यथा—

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो

भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाᳫंसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

भावार्थ—उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि के पुत्र का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ तथा परम श्रोत्रिय इकट्ठे होकर आपस में विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल ये पाँचों ऋषि अकस्मात् किसी एक तीर्थ पर मिले तथा स्नानादि क्रिया करके अपनी वैश्वानरविद्या का पाठ करने लगे। किन्तु वैश्वानर के एक एक अङ्ग के ज्ञाता होने के कारण उन का पाठ एक दूसरे से मिलता नहीं था, तब सब परस्पर मिलकर वैश्वानर आत्मा के विषय में विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है ? क्या आत्मा ब्रह्म है या ब्रह्म और आत्मा एक दूसरे का विशेष्य विशेषण भाव है, या अध्यात्म उपाधिपरिच्छिन्न होने से ब्रह्म ही आत्मा कहा जाता है, या उपाधि के अभाव से आत्मा ही ब्रह्म कहा है ? अथवा अभेद होने के कारण "अयमात्मा ब्रह्म" आत्मा ही ब्रह्म है, "नातः परमस्ति" इस से पृथक् कुछ नहीं है, "तत्त्वमसि" वही ब्रह्म तू जीवात्मा है, इत्यादि श्रुतियों के प्रमाणपूर्वक वे ऋषि विचार करने लगे ॥ १ ॥

विशेष—'वह देवताओं का अन्न है' 'देवगण उस का भक्षण करते हैं' ऐसा कहकर पहले दक्षिण मार्ग से जानेवालों के अन्नभाव का प्रतिपादन किया गया तथा क्षुद्र जन्तुरूप संसार की कष्टमयी गति भी बतायी गई। उन दोनों दोषों को त्यागने की इच्छा से वैश्वानरसंज्ञक भोक्तृत्व की प्राप्ति के लिए प्रकृत ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। यहाँ जो आख्यायिका आरम्भ की गई है वह सरलता से समझाने के लिए तथा विद्याप्रदान की उचित विधि प्रदर्शित करने के लिए है ॥ १ ॥

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तᳫं हन्ताभ्यागच्छामेति तᳫं हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

भावार्थ—उन पूज्यों ने निश्चय किया कि यह अरुणकुमार उद्दालक सम्प्रति इस वैश्वानर आत्मा को जानता है, इसलिए हम लोग इस के पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उस के पास आये ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! पूर्वोक्त पाँचों ऋषियों ने यह जानकर कि इस समय अरुण का पुत्र उद्दालक ऋषि इस वैश्वानरविद्या को अच्छी तरह जानता है, अतः उस के पास चलना उचित है, इस प्रकार निश्चय कर वे उस आरुणि के पास आये ॥ २ ॥

विशेष—ऋषियों ने विचार किया कि इस समय हमें वैश्वानरविद्या अभिप्रेत है और उस के ज्ञाता उद्दालक हैं। हमें अभी चलकर उन से इस विद्या का सम्पादन करना चाहिये। वे ही हमारे सहायक होंगे। शायद वे किसी राजा के यज्ञकार्य में फँस जायँ या अपने ही किसी अनुष्ठानविशेष में लग जायँ तो उन को फिर समय न मिले। अतः अभी चलें तो काम बने ॥ २ ॥

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्य-मभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस ने निश्चय किया कि ये परमश्रोत्रिय महागृहस्थ मुझ से प्रश्न करेंगे, परन्तु मैं इन्हें अच्छी तरह से नहीं बतला सकूँगा। इसी लिए मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उन पाँचों ऋषियों को आते हुए देखकर उद्दालक ने निश्चय किया कि वेद पढ़नेवाले ये सब गृहस्थ मुझ से वैश्वानरविद्या के विषय में प्रश्न करेंगे और मैं इन के प्रश्नों के उत्तर को अच्छी तरह नहीं दे सकूँगा। इसलिए उचित यही है कि उस के विषय में दूसरे उपदेशक को बतला दूँ ॥ ३ ॥

विशेष—पूर्वोक्त कथन से शिक्षा मिलती है कि कोई यदि किसी से कुछ पूछे तो यदि उस को वह विषय अच्छी तरह से अवगत हो तब बतावे, नहीं तो झूठ मूठ बातों को कहकर प्रतारणा न करे ॥ ३ ॥

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीम-मात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

भावार्थ—उद्दालक ने उन लोगों से कहा कि हे भगवन्! सम्प्रति केकय का पुत्र अश्वपति इस वैश्वानर नामक आत्मा को पूरी तरह से जानता है। आइये, हम लोग उसी के पास चलें। इस प्रकार कहकर वे उस के पास चले गये॥ ४॥

वि० वि० भाष्य—उद्दालक ऋषि ने उन पाँचों ऋषियों से कहा कि इस समय केकय देश का राजा अश्वपति वैश्वानर विद्या को अच्छी तरह जानता है। हम लोग उस के पास चलें और उस से इस विद्या को ग्रहण करें। इस प्रकार विचार कर सब अश्वपति राजा के पास चल दिये॥ ४॥

विशेष—उन ऋषियों के साथ अश्वपति राजा के पास उद्दालक भी गया। उद्दालक वैश्वानर विद्या के विषय में जानता अवश्य था पर वह एक बार किसी विज्ञाता के द्वारा उसे सुनकर असंदिग्ध करना चाहता था। उसे यह अच्छा अवसर काकतालीयन्याय से मिल गया। प्रतीत होता है, वैदिक काल में साम्प्रदायिकता का यह अर्थ नहीं था जो आज कल के लोगों ने लगा रखा है। पहले कोई भी किसी के पास विद्याध्ययन के लिए जा सकता था। पढाना किसी जातिविशेष की बपौती नहीं था॥ ४॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातः संजिहान उवाच।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥ ५॥

भावार्थ—उस राजा ने आये हुए उन ऋषियों का पूजन अलग अलग भली भाँति करवाया। प्रातःकाल दूसरे दिन इस प्रकार उन से कहा कि मैं यज्ञ करूँगा, अवश्य ही आप लोग यहाँ ठहरें, तथा जितना धन प्रत्येक ऋत्विक् के लिए दूँगा उतना ही आप लोगों को दूँगा। ऐसा सुनकर उन ऋषियों ने इन्कार किया। इस पर राजा ने कहा कि मेरे देश में न चोर हैं, न लोभी हैं, न मदिरा को पीनेवाले हैं,

न यज्ञहीन हैं, न मूर्ख हैं, न व्यभिचारी हैं, अतः व्यभिचारिणी तो हो कहाँ सकती हैं ? इसलिए आप लोग मेरे धन को ग्रहण करें ॥ ५ ॥
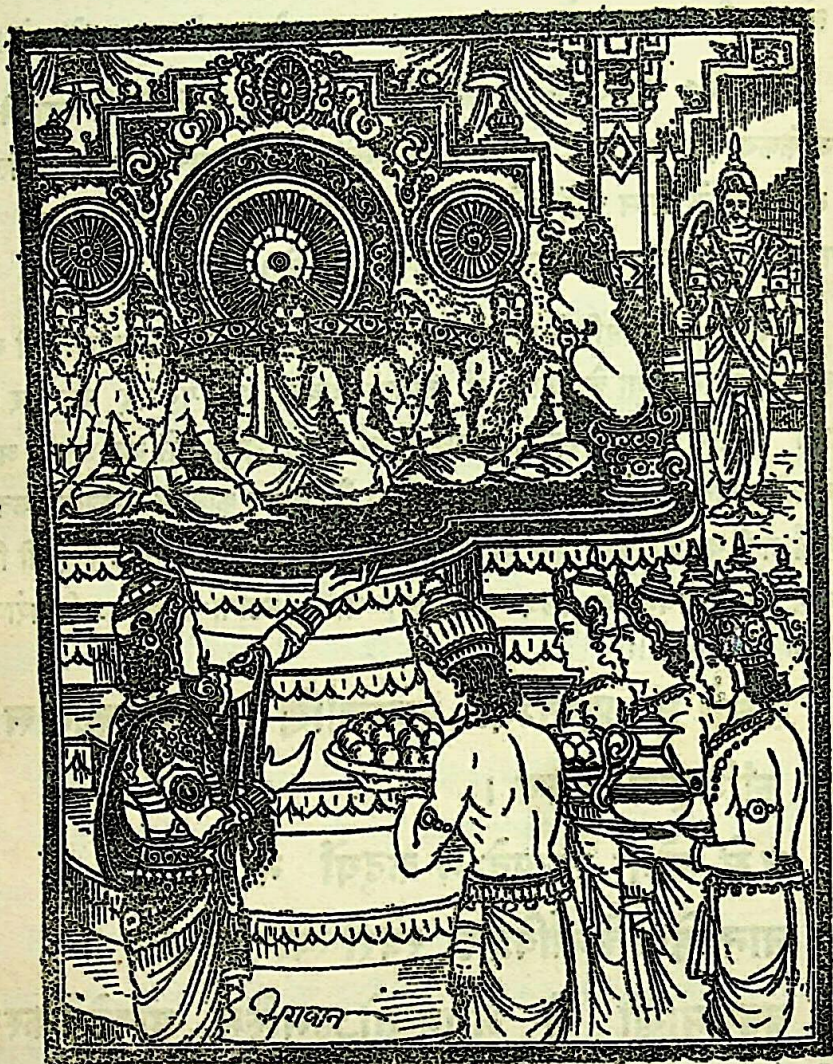
वि० वि० भाष्य—अपने पास आये हुए उन ऋषियों का राजा ने पुरोहित और सेवकों से अलग अलग सत्कार कराया। दूसरे दिन राजा ने प्रातःकाल उठते ही उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहा कि यदि आप लोग धन के निमित्त आये हैं तो मेरे दिये हुए धन को ग्रहण करें। ऋषियों ने धन लेना अस्वीकार किया, तब राजा को संशय हुआ कि ऋषियों ने मेरे धन को अयोग्य समझकर स्वीकार नहीं किया है। अतः उनका संशय दूर करने के निमित्त कहा कि हे ऋषियों! मेरे देश में चोर, लोभी, कुकर्मी, मूर्ख, व्यभिचारी तथा व्यभिचारिणी स्त्री आदि कोई नहीं है।

आप लोग किस कारण से मेरा धन लेने से इन्कार करते हैं ? पुनः राजा को शंका हुई कि शायद अल्प धन की प्राप्ति के ख्याल से लेने से इन्कार करते हों, अतः इस शंका को दूर करने के लिए राजा ने कहा कि मैं यज्ञ करूँगा, और जितना धन अपने ऋत्विजों में से प्रत्येक को दूँगा, उतना ही आप लोगों में से प्रत्येक को दूँगा, आप ठहरें ॥ ५ ॥

विशेष—उन ऋषियों के प्रति राजा कहता है कि मेरे राज्य में दूसरे का धन हरण करनेवाला, सम्पत्ति रहते हुए दान न करनेवाला, द्विजश्रेष्ठ मद्यपान करनेवाला, सौ गौओंवाला होकर अग्निहोत्रहीन, अपने अधिकार के अनुरूप अविद्वान्, परस्त्रियों के प्रति गमन करनेवाला तथा दुराचारिणी स्त्री कोई नहीं है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि राजा अपने द्रव्य को विशुद्ध बतलाकर उनसे विनय करता है कि आप लोग इस द्रव्य का ग्रहण अवश्य करें। परन्तु उन आगन्तुक ऋषियों का तात्पर्य वैश्वानर विद्या के जानने में था, अतः उन लोगों ने उस द्रव्य को हेय समझकर स्वीकार नहीं किया।

भाव यह है कि राजा को इस बात के कहने की आवश्यकता कदाचित् यों हुई कि पहले के ब्राह्मण ऐसे राजा से कुछ नहीं लेते थे जो अपने कर्तव्य का पालन न कर रहा हो। इस राजा का कर्तव्य अपनी प्रजा के प्रति अच्छा था। इसी से राजा ने 'न चोर हैं न मूर्ख हैं' इत्यादि कहकर अपनी राज्यव्यवस्था प्रकट करते हुए यह कहा है कि मेरा धन अन्यायोपार्जित नहीं है। राजा के कहने का यह भाव न लगाया जाय कि वह अभिमान प्रकट करता है ॥ ५ ॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳ हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—उन ऋषियों ने इस प्रकार कहा कि जिस निमित्त पुरुष दूसरे के पास जाय, उसी अर्थ को निश्चय करके कहे। इस समय उस वैश्वानर आत्मा को आप जानते हैं, अतः उसी को हम लोगों से कहें ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! ऋषियों ने राजा से कहा कि जब एक पुरुष दूसरे पुरुष के पास जाय तो उसको चाहिये कि अपने प्रयोजन को पहले प्रकट करे। हम लोगों ने सुना है कि आप वैश्वानरविद्या को अच्छी तरह जानते हैं, अतः उस विद्या का प्रदान हम लोगों को करें ॥ ६ ॥

विशेष—सत्पुरुषों का ऐसा ही नियम है कि वे जहाँ जाते हैं स्पष्ट बतला

देते हैं कि मेरे आने का यही प्रयोजन है। इसीलिए उन ऋषियों ने राजा से आने का प्रयोजन जो वैश्वानरविद्या को जानने की इच्छा थी वह प्रकट किया और कहा कि हे राजन्! आप वैश्वानरविद्या के भली भाँति ज्ञाता हैं इसलिए हमारे प्रति उसी का उपदेश करें ॥ ६ ॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥ ७ ॥

भावार्थ—उन ऋषियों से राजा ने इस प्रकार कहा कि मैं इसका उत्तर कल प्रातःकाल दूँगा। तब वे दूसरे दिन पूर्वाह्ण में हाथ में समिधायें लेकर राजा के पास गये, और उस राजा ने उनको अनुपनीय=शिष्यकर्म न कराकर ही उपदेश किया ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! राजा ने उन ऋषियों से कहा कि जिस विद्या को आप लोग चाहते हैं उसका प्रदान कल प्रातःकाल करूँगा। तब वे छओं ऋषि दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही स्नानादि नित्यकर्म करके समिधा हाथ में लिये हुए शिष्यवत् नम्र भाव से राजा के पास वैश्वानर विद्या के ग्रहण के लिए गये। राजा ने भी शिष्यकर्म बिना कराये उनको वैश्वानरविद्या का प्रदान किया ॥ ७ ॥

विशेष—वे ऋषिगण महागृहस्थ तथा परमश्रोत्रिय ब्राह्मण होने पर भी महागृहस्थत्व आदि के अभिमान को छोड़कर हाथों में समिधायें ले विद्यार्थी बन अपने से हीन जातिवाले राजा के पास विनयपूर्वक जैसे गये थे, वैसे ही विद्योपार्जन की इच्छावाले अन्य पुरुषों को भी होना चाहिये। राजा ने उनका उपनयन बिना किये ही उन्हें विद्या दे दी। इसलिए इस आख्यायिका का यही तात्पर्य है कि जिस प्रकार उन योग्य विद्यार्थियों को राजा ने विद्या दी थी, उसी प्रकार दूसरों को भी विद्यादान करना चाहिए ॥ ७ ॥

——❀❀❀——

द्वादश खण्ड

अश्वपति और औपमन्यव के संवाद में किस तरह वैश्वानरविद्या का उपदेश आरम्भ किया गया है, सो कहते हैं, यथा—

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव

भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

भावार्थ—हे उपमन्युकुमार ! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो ? इस प्रकार राजा ने पूछा। ऋषि ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! द्युलोक की। पुनः राजा ने कहा कि वह वैश्वानर आत्मा सुतेजा नाम से विख्यात है जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो। इसीलिए तुम्हारे कुल में सुत, प्रसुत तथा आसुत दिखाई देते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उन छओं ऋषियों में से एक ऋषि जिसका नाम औपमन्यव था, उससे राजा ने प्रश्न किया कि हे मुने ! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैं द्युलोकसंबन्धी आत्मा की उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि हे ऋषे ! तुम सुतेजा नामक वैश्वानर की उपासना करते हो और यही कारण है कि तुम्हारा कुल बड़े ही कर्मनिष्ठ पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्रों से सम्पन्न है। भाव यह है एक सोम को ही 'अहर्गण' में सुत, 'अहीन' में प्रसुत और 'सत्र यज्ञ' में आसुत कहते हैं। अर्थात् आपके कुल में पूर्ण रीति से अग्निहोत्री पाये जाते हैं ॥ १ ॥

विशेष—शंका—अश्वपति आचार्य होकर भी शिष्यतुल्य ऋषि से पूछता है, यह तो ठीक नहीं है। समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि "जो कुछ तू जानता है उसे बतलाकर तू मेरे प्रति प्राप्त हो, तब उससे आगे मैं तुझे बतलाऊँगा" ऐसा न्याय सप्तमाध्याय में सनत्कुमार की उक्ति से जाना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी आचार्य अजातशत्रु का अपने प्रतिभाशून्य शिष्य से प्रतिभा उत्पन्न करने के लिए "तो फिर यह कहाँ उत्पन्न हुआ, और कहाँ से आया ?" ऐसा प्रश्न करना देखा जाता है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रिय पुत्रादिकों को देखते हो। जो कोई दूसरा भी इसी प्रकार इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, उसके वंश में ब्रह्मतेज होता है। वह अन्न को खाता है तथा प्रिय पुत्रादिकों को देखता है। परन्तु वैश्वानर आत्मा का मस्तक है; यदि तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे ऋषे ! तुम दीप्ताग्नि होकर अन्न भोजन करने में समर्थ हो तथा प्रिय पुत्रादिकों को अपने घर में देखते हो। जो कोई दूसरा भी इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है; तथा वह अन्न के भोगने में नीरोगता के कारण समर्थ होता है और प्रिय पुत्र पौत्रादिकों को अपने घर में देखता है ॥ २ ॥

विशेष—कोई भी वस्तु हो, उसका साङ्गोपाङ्ग ज्ञान ही लाभप्रद हो सकता है। घड़ी का संग्रह अच्छा ही है, सम्भव है वह किसी पुर्जे के बिना या उसके ठीक हुए बिना भी चलती हो। पर समय पर एक दम बन्द होकर या न्यूनाधिक रूप में प्रतिकूल समय बताकर मनुष्य को हानि भी पहुँचा सकती है। इसी प्रकार यहाँ द्युलोक की उपासना सम्पूर्ण वैश्वानर की उपासना नहीं है, द्युलोक तो उसका केवल मस्तक है। अतः इसकी समस्त बुद्धि से उपासना के कारण औपमन्यव का मस्तक गिर जाता, याने वह विद्वानों की सभा में इस लिए लज्जित होता कि उसने अन्धों की तरह हाथी के एक अङ्ग को सम्पूर्ण हाथी मान लिया है ॥ २ ॥

——❀❀❀——

त्रयोदश खण्ड

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः उसने पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ से कहा—हे प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? वह बोला—हे पूज्य राजन् ! मैं आदित्य

की ही उपासना करता हूँ। राजा ने कहा—यह अवश्य ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो। इसी कारण तुम्हारे कुल में बहुत सा विश्वरूप साधन दिखायी देता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! इस के बाद राजा ने सत्ययज्ञ नामक पुलुषकुमार से पूछा कि हे प्राचीनयोग्य! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो? उसने उत्तर दिया कि हे राजन्! मैं सूर्य की उपासना करता हूँ। ऐसा सुनकर राजा ने कहा कि यही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस की तुम उपासना करते हो। यही कारण है कि तुम्हारे घर में बहुत सी संपत्ति दिखाई देती है ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य यह है कि शुक्ल नीलादि रूप होने के कारण आदित्य की विश्वरूपता है, अथवा सर्वरूप होने के कारण, या सब रूप त्वष्टा के ही हैं, अतः आदित्य विश्वरूप है। उस की उपासना के कारण तुम्हारे कुल में बहुत सा विश्वरूप ऐहिक तथा पारलौकिक साधन दिखाई देता है ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—तुम्हारे लिए खचरों की गाड़ी, दास, दासी तथा मणि आदिक तैयार हैं, तुम अन्न को भोजन करते हो, प्रिय पुत्रादिकों को देखते हो। जो कोई वैश्वानर आत्मा की उपासना करत है वह अन्न भक्षण करता है, प्रिय पुत्रादिकों को देखता है तथा उस के वंश में ब्रह्म तेज होता है। परन्तु वैश्वानर आत्मा का यह नेत्र है। उस राजा ने इस प्रकार स्पष्ट कहा कि जो तुम मेरे पास न आते तो अन्धे हो जाते ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य! राजा ने प्राचीनयोग्य ऋषि से कहा कि जो तुम सूर्यरूप वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो वह सूर्यरूप वैश्वानर आत्मा का नेत्र है। अतः तुम एकाङ्गी उपासना करते हो, और यही कारण है कि तुम निरोग हो, अच्छी तरह भोजन करते हो, प्रिय पुत्रादिकों को देखते हो तथा तुम्हारे पास बहुतेरे खचर, दास, दासी, रत्नादि भोग के लिए मौजूद हैं। इसी तरह दूसरा भी जो कोई वैश्वानर आत्मा की उपासना करेगा, वह भी तुम्हारे समान ऐश्वर्यवान् होगा।

यदि तुम मेरे पास न आये होते तथा किसी सभा में शास्त्रार्थ के निमित्त जाते तो एकाङ्गी उपासना के कारण नेत्रहीन हो जाते ॥ २ ॥

विशेष—सूर्य वैश्वानर नहीं है, वह उस का नेत्र है। उस को समस्त अङ्गी मानकर उपासना करना नेत्रहीनता का ही परिचय देना है। 'सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः' इस वचन से उसे असली अन्धा कहा गया है जो शास्त्र को नहीं जानता या उसे विपरीत समझ बैठा है। अच्छा हो गया जो तुम मेरे पास आकर इस गुत्थी को सुलझा सके, नहीं तो विद्वानों की सभा में शास्त्र के विपरीत ज्ञान के कारण 'प्रज्ञान्ध' की उपाधि प्राप्त कर लेते, तुम अन्धे समझ लिये जाते। आँखें फूटनी क्या इससे बढ़कर हैं ? ॥ २ ॥

चतुर्दश खण्ड

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्माऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद राजा ने भाल्लविकुमार इन्द्रद्युम्न से कहा—हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? वह बोला—हे पूज्य राजन् ! मैं वायु की ही उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो वह अवश्य ही पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है, अत एव तुम्हारे लिए बहुत से उपहार आते हैं और तुम्हारे पीछे बहुत सी रथ की पङ्क्तियाँ चलती हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! उस के बाद राजा ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न से कहा कि हे ऋषे ! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो ? ऋषि ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैं वायु की उपासना करता हूँ। ऐसा सुनकर राजा ने कहा कि निःसंदेह यही अनेक मार्गों में फिरनेवाला वैश्वानर आत्मा है जिस की तुम उपासना करते हो, और यही कारण है कि तुम्हारे पास बहुत सी भोग्य वस्तुएँ तथा बहुतेरी रथादिक सवारियाँ उपलब्ध हैं ॥ १ ॥

विशेष—न करनेवाले की अपेक्षा करनेवाला अच्छा है। एक ब्राह्मण के पास भागवत खण्डित था, उस में दशम स्कन्ध अपूर्ण था। वह कुछ दिन में उस का पूर्ण पण्डित हो गया। इससे उस के सम्मान में पहले की अपेक्षा जब कि वह कुछ नहीं जानता था, उन्नति हुई पर वह श्री कृष्णचरित का पूर्ण ज्ञाता नहीं हो सका। ऐसा न होने पर भी वह लोगों में प्रतिष्ठा तथा भोगसामग्रियों की उपलब्धि में समर्थ देखा गया। इसी प्रकार इन्द्रद्युम्न की अधूरी उपासना भी बिलकुल न होने की अपेक्षा अच्छी ही थी ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—तुम अन्न को खाते हो, प्रिय पुत्रादिकों को देखते हो, जो कोई इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न को खाता है, प्रिय पुत्रादिकों को देखता है, उस के कुल में ब्रह्मतेज होता है। किन्तु यह वैश्वानर आत्मा का प्राण है, अगर तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण निकल जाता। इस तरह राजा ने कहा ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'अत्स्यन्नम्' इस मन्त्र का अर्थ स्वतः स्पष्ट है ॥ २ ॥

विशेष—केवल वायु की उपासना भी आत्मदेव की पूर्ण उपासना नहीं है। अधूरे को पूरा समझनेवाला कोई यदि विद्वानों की सभा में ऐसा कह बैठे और विद्वान् उस को अज्ञ बतावें तो मारे लज्जा के उस का दम ऐसे घुटने लगता है, जैसे किसी श्रेष्ठ पुरुष के आने पर अभिवादन न करने से कनिष्ठ के प्राण उत्क्रमण सा करने को उद्यत हो जाते हैं। त्रुटि सिद्ध होना बुरी दशा है ॥ २ ॥

पञ्चदश खण्ड

अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा

वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद राजा ने जन नामक ऋषि से इस प्रकार कहा कि हे शार्कराक्ष्यकुमार! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो? ऋषि ने उत्तर दिया कि हे पूज्य राजन्! मैं आकाश की ही उपासना करता हूँ। यह सुनकर राजा ने कहा कि यही बहुल नामक यानी व्यापक वैश्वानर आत्मा है जिस की तुम उपासना करते हो। यही कारण है कि तुम बहुत सन्तान तथा धन करके सम्पन्न हो॥१॥

वि० वि० भाष्य—'पुनः उस ने जन से कहा' इत्यादि अर्थ पूर्ववत् है। यह अवश्य ही बहुल संज्ञक वैश्वानर आत्मा है। सर्वगत होने के कारण तथा बहुल गुणरूप से उपासित होने के कारण आकाश का बहुलत्व यानी पूर्णत्व है। अत एव तुम पुत्रपौत्रादिरूप प्रजा और सुवर्णादि धन से बहुल यानी परिपूर्ण हो॥ १ ॥

विशेष—आकाश व्यापक है, उस की उपासना करनेवाला याने उसे यह समझनेवाला कि यही आत्मा है, जहाँ तक संभव होगा किसी से विद्वेष नहीं करेगा। क्योंकि वह प्रायः सब जगह आकाश को याने इस अपने अभिमत आत्मा को ही देखेगा। जो ऐसा होगा उस के पास धन धान्य पुत्र पौत्रादि ऐश्वर्य हो जायगा। उस का कोई विरोधी न होगा, क्योंकि वह भी किसी से वैर नहीं रखता, अत एव दूसरे भी विरोध करके उस का कुछ बिगाड़ करना न चाहेंगे। यही उस की श्रीवृद्धि का कारण हो जाता है॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—तुम अन्न भक्षण करते हो तथा प्रिय पुत्रादिकों को देखते हो। जो कोई दूसरा भी इसी प्रकार इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, उस के वंश में ब्रह्मतेज होता है तथा वह अन्न भक्षण करता है और प्रिय पुत्रादिकों को देखता है। किन्तु यह वैश्वानर आत्मा का संदेह=शरीर का मध्यभाग है, यदि तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारे देह का मध्यभाग गल जाता। इस प्रकार राजा ने कहा॥ २॥

वि० वि० भाष्य—हे ऋषे ! तुम अन्न के भोजन करने में समर्थ हो, तथा प्रिय पुत्रादिकों को अपने घर में देखते हो। जो कोई दूसरा भी इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, उस के कुल में ब्रह्मतेज होता है, और वह अन्न के भोगने में निरोगता के कारण समर्थ होता है एवं प्रिय पुत्रादिकों को अपने घर में देखता है। शेष अर्थ भावार्थ में ही स्पष्ट है ॥ २ ॥

विशेष—आकाश की उपासना भी वैश्वानर की पूर्ण उपासना नहीं है, यह केवल धड़ की उपासना है। यदि विद्वानों से पता लग जाय कि धड़ याने शरीर का मध्यभाग ही पूरा शरीर नहीं होता, तो उस उपासक का धड़ नष्ट हो जायगा। याने इतने दिनों से जो उसने धड़ [शरीर के मध्यभाग] को अपना ध्येय मान रखा था वह धारणा, वह अभिनिवेश चूर चूर हो जायगा। वह एक बार तो ऐसा हो जायगा मानो लकवा मार गया है। सो भाई ! तुमने अच्छा किया जो मेरे पास आकर समय रहते यह बात समझ ली ॥ २ ॥

सोलहवाँ खण्ड

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः राजा ने अश्वतराश्वकुमार बुडिल से कहा कि हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? ऋषि ने उत्तर दिया कि हे पूज्य राजन् ! मैं तो जल की ही उपासना करता हूँ। तब राजा ने कहा—जिस की तुम उपासना करते हो वह अवश्य ही रयिनामक वैश्वानर आत्मा है, इसी कारण से तुम रयिमान् और पुष्टिमान् हो ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! इस के अनन्तर राजा ने बुडिलसंज्ञक अश्वतराश्व के पुत्र से पूछा कि हे व्याघ्रपदकुमार ! तुम किस वैश्वानर आत्मा की उपासना करते हो ? इस पर उस ऋषि ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! मैं जलरूप वैश्वानर

आत्मा की उपासना करता हूँ। यह सुनकर राजा ने कहा कि यही रयि यानी धनरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस की तुम उपासना करते हो। इसी से तुम धनवान् तथा शरीर से बलवान् हो ॥ १ ॥

विशेष—जलरूप आत्मा के उपासक हमेशा शान्त रहते हैं और दूसरें को भी वे ऐसा ही देखना चाहते हैं। वे ऐसे लोगों से अधिक संपर्क रखते हैं जो बखेड़िये नहीं होते। इसी कारण वे धन आदि जुटा लेने में और उस के संरक्षण तथा उपयोग में अन्यों की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते वस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच वस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! उस के बाद राजा ने कहा कि हे ऋषे ! तुम अन्न भक्षण करते हो तथा प्रिय पुत्रादिकों का दर्शन करते हो। जो कोई दूसरा भी इस प्रकार वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह भी अन्न भक्षण करता है, अपने घर में प्रिय पुत्रादिकों को देखता है तथा उस के वंश में ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह वैश्वानर आत्मा का वस्ति ही है, यदि तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारा वस्तिस्थान फट जाता ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—यह वैश्वानर आत्मा का वस्ति है यानी मूत्राशय स्थान है। यह निश्चय ही धनरूप रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है, क्योंकि जल से अन्न होता है और अन्न से धन। इसी से तुम रयिमान् यानी धनवान् हो तथा शरीर से पुष्टिमान् हो। क्योंकि पुष्टि अन्न के कारण हुआ करती है। यही भाव पहले मन्त्र में कहा गया है ॥ २ ॥

विशेष—राजा ने कहा कि जल की उपासना भी आत्मा की पूर्णोपासना नहीं है। यह मुझ से अभी जान लो, अन्यथा कहीं भी हास्यास्पद हो जाओगे। वस्तिस्थान भङ्ग का आशय यह है कि इतने शिथिल हो जाओगे कि लघुशङ्का की सुधि भूल जाओगे ॥ २ ॥
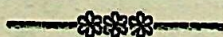
सत्रहवाँ खण्ड
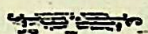
अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद राजा ने अरुणकुमार उद्दालक से कहा कि हे गौतम ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ? ऋषि ने उत्तर दिया कि हे पूज्य राजन् ! मैं तो पृथिवी की ही उपासना करता हूँ। इस पर राजा ने कहा कि जिसकी तुम उपासना करते हो वह अवश्य ही प्रतिष्ठा नामक वैश्वानर आत्मा है। इसी से तुम प्रजा तथा पशुओं करके प्रतिष्ठित हो ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा के प्रश्न का ऋषि ने यह उत्तर दिया कि मैं पृथिवी की उपासना करता हूँ। यह सब का आधार है, इस के बिना किसी की स्थिति नहीं हो सकती। गुरु, ग्रन्थ, आहार, शय्या आदि पार्थिव पदार्थ ही मनुष्य को देवभा में लाने के तथा विश्राम के साधन हैं। राजा ने कहा—ठीक है, इसी से सम्पन्न हो रहे हो ॥ १ ॥

विशेष—भूमि की उपासना करनेवाले अपना तो उपकार करते ही हैं, पर दूसरों को भी कम लाभ नहीं पहुँचाते। कृषक अज्ञ होते हैं पर उन से कितना उपकार होता है। ये वेचारे उपासना का तत्त्व नहीं जानते। जो लोग इसे आत्मा समझकर सेवते हैं उन के पास वस्तु की कमी नहीं रहती। इसे कोई जानना चाहे तो भूस्वामियों के धान्यपूर्ण घरों को देख सकता है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादस्त्वेष आत्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—हे उद्दालक ! तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रिय पुत्रादिकों को अपने घर में देखते हो। इसी तरह जो कोई दूसरा पुरुष इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह भी तुम्हारे समान अन्न भक्षण करता है तथा प्रिय पुत्रादिकों को अपने घर में देखता है। किन्तु जिस की तुम उपासना करते हो वह वैश्वानर आत्मा का चरण है, यदि तुम मेरे पास न आये होते तो तुम्हारे चरण गल जाते और तुम लूले हो जाते ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—तात्पर्य यह है कि तुम्हारे चरण विशेष रूप से म्लान यानी शिथिल हो जाते, यदि मेरे पास न आते तो। क्योंकि यह पृथिवी की उपासना पूर्ण आत्मा की उपासना नहीं है, पृथिवी तो उस का चरण है। भाव यह है कि पृथिवी ऐसी वस्तु है कि उस का भक्त कहीं जा नहीं सकता, उसे वहीं रहकर व्यवस्था करनी पड़ती है। कहावत है—जैसी भूमि अचल है, वैसे ही वह अपने भक्तों को भी अचल बना देती है ॥ २ ॥

विशेष—द्वादश से सप्तदश तक के खंडों का थोड़े में तात्पर्य यह है कि अश्वपति राजा ने पूर्वोक्त छओं ऋषियों से पूछा कि तुम लोग किस आत्मा की उपासना करते हो ? छओं ने क्रमशः इस प्रकार उत्तर दिया—औपमन्यव ने कहा कि मैं द्युलोक की उपासना करता हूँ। सत्ययज्ञ ने कहा कि मैं आदित्य की, इन्द्रद्युम्न ने कहा कि मैं वायु की, शार्कराक्ष्य ने कहा कि मैं आकाश की, बुडिल ने कहा कि मैं जल की और उद्दालक ने कहा कि मैं पृथिवी की उपासना करता हूँ। यह सुनकर राजा ने क्रमशः सबों का अलग अलग फल बतलाकर कहा कि ये एकाङ्गी उपासनायें हैं, जिन की तुम लोग उपासना करते हो। अगर मेरे पास न आये होते तो तुम लोगों का अवश्य ही अङ्ग भङ्ग हो जाता।

यहाँ तक यह क्रम रहा है कि पहले राजा ने प्रत्येक ऋषि से उस का उपास्य पूछा। जब जान लिया तो उस की प्रशंसा की, उस का फल भी कथन किया। इस के अनन्तर उस में जो दोषापत्ति होती थी वह भी बताई और साथ ही उपाय का बोधन किया। विशेषता यह रही कि राजा ने उस उस ऋषि की वह वह हानि बताई, जिस जिस विषय में उन की उपासनासम्बन्धी त्रुटि थी। राजा ने ऋषियों का स्वागत अपने पास आने का अभिनन्दन करते हुए 'अच्छा हुआ आप मेरे पास आ गये, अन्यथा आप का अमुक अनिष्ट होता' यह कहकर किया ॥ २ ॥

——❋❋❋——

अठारहवाँ खण्ड

अब अश्वपति पूर्ण उपासना का उपदेश तथा समस्तोपासना का फल कहता है—

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा ने उन छओं ऋषियों से कहा कि तुम सब इस वैश्वानर आत्मा को पृथक् पृथक् जानते हुए अन्न=अनेक विध भोगों को, अत्थ=भोगते हो, किन्तु जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान का विषय होनेवाले इस प्रादेश मात्र वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह सब लोकों में, सब भूतों में तथा सब प्राणियों में निश्चय करके भोग को भोगता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा ने वैश्वानर दृष्टिवाले उन छओं ऋषियों से कहा कि तुम लोग अपने से अभिन्न होने पर भी इस वैश्वानर आत्मा के एक एक अंग की समस्त अंगबुद्धि से उपासना करते हो। तात्पर्य यह है कि जन्मान्ध पुरुषों के हस्तिदर्शन के समान, अर्थात् जिस प्रकार कुछ जन्मान्ध, जिन्होंने हाथी को कभी नहीं देखा, उस के आकार का अनुमान करने लगें तो उन में से जो पुरुष हाथी के सूँड, शिर, कान अथवा टाँग आदि जिस अवयव का स्पर्श करता है वह उसे ही हाथी का समग्र रूप समझने लगता है, उसी प्रकार तुम सब की भी वैश्वानर के अवयवों में समग्र वैश्वानरबुद्धि हो रही है। उस का फल यह है कि तुम अन्न तथा प्रिय पुत्रादि की बहुलता को प्राप्त हो। यदि कोई इस वैश्वानर आत्मा की उपासना यह समझकर करता है कि वह ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सब में व्यापक है, तथा स्वर्ग, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारागणादि में स्थित है, वही जीवों के कर्म फल का दाता है, वही समष्टिचेतन आत्मा है, उस से पृथक् कुछ नहीं है, वही एक से अनेक होकर विराजमान है; तो ऐसा उपासक सब लोकों में, सब प्राणियों में, समस्त भूतों में पूर्ण भोगों को प्राप्त होता है। अनन्तर राजा ने

वैश्वानर के एक एक अंग की उपासना करने से प्राप्य न्यून फल को दिखाकर अनिष्ट फल भी उसी अंग का दिखाया है, जिस से ऐसा समझकर उपासक अज्ञान के साथ वैश्वानर के एक एक अंग की उपासना न करे किन्तु ज्ञान के साथ वैश्वानर के पूर्ण अंगों की उपासना करे। इस प्रकार करने से संपूर्ण फल की प्राप्ति होती है ॥१॥

विशेष—प्रादेशमात्र से तात्पर्य उस पुरुष से है जिस का शिर स्वर्ग, पैर पृथिवी, नेत्र सूर्य चन्द्र, धड़ आकाश, श्वास वायु, मुख अग्नि है। यानी "प्रकर्षेण दिश्यन्ते इति प्रादेशा द्युलोकादयः, ते एव परिमाणा यस्य तत् प्रादेशमात्रम्" अभिविमान से तात्पर्य उस पुरुष से है जिस का सम्बन्ध शरीरवासी समष्टिचेतन आत्मा से है, यानी जो कर्मियों को उन के कर्मानुसार उन के नियत किये हुए लोकों को ले जाता है, अथवा उस का तात्पर्य व्यापक आत्मा से है, या उस चेतन आत्मा से है जो उस एक से अनेक होकर विराजमान है। ये दोनों शब्द वैश्वानर के विशेषण हैं ॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

भावार्थ—इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देह का मध्यभाग बहुल (आकाश) है, वस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण हैं, वक्षस्थल वेदी है, लोम दर्भ हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है तथा मुख आहवनीय है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा ऋषियों से कहता है कि हे ऋषियों! वैश्वानर आत्मा का शिर द्युलोक है, प्राण वायु है, देह का मध्यभाग आकाश है, मूत्राशय जल है, पैर पृथिवी है, नेत्र सूर्य है, वक्षस्थल वेदी है, रोम कुश हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है तथा मुख आहवनीयाग्नि है।

अब इस से आगे वैश्वानरवेत्ता के भोजन में अग्निहोत्र का निश्चय करने की इच्छा से राजा कहता है कि इस वैश्वानर यानी भोक्ता का वक्षस्थल ही आकार में समान होने के कारण वेदी है, रोम कुशाएँ हैं क्योंकि वेदी में बिछे हुए कुशों के समान वे वक्षस्थल पर बिछे हुए दिखाई देते हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, क्योंकि मन

हृदय से ही उत्पन्न सा होकर उस का अन्तर्वर्ती होता है, अतः मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा मुख आहवनीयाग्नि के समान आहवनीय है, क्योंकि इस में अन्न का हवन होता है ॥ २ ॥

विशेष—हे सोम्य ! गार्हपत्य वह अग्नि है जो अग्निहोत्रकर्ता के घर में सदा स्थापित रहती है। अन्वाहार्य अग्नि वह है, जिस को अग्निहोत्रकर्ता गार्हपत्याग्नि से निकालकर हवन करते समय अपने दक्षिण ओर रखता है। आहवनीय अग्नि वह है जो अन्वाहार्य से निकालकर हवनकर्ता अपने सम्मुख रखता है, और जिस से मंत्र पढ़कर आहुतियों को डालता है। गार्हपत्याग्नि की समता हृदय से इस कारण कही है कि जैसे सब अग्नियों में मुख्य अग्नि गार्हपत्य है, वैसे ही शरीर के सब स्थानों में हृदय मुख्य है। जैसे गार्हपत्याग्नि से दक्षिणाग्नि की उत्पत्ति होती है वैसे ही मन की उत्पत्ति हृदय से होती है, क्योंकि खाये हुए अन्न का सब रस पहले हृदय में जाता है, पुनः उस का सूक्ष्म अंश मन की वृद्धि को करता है। जैसे आहवनीय अग्नि में आहुतियाँ छोड़ी जाती हैं, इस अभिप्राय से कि उस का फल देवताओं को मिले, इसी प्रकार अन्नादि भोग्य वस्तु की आहुति मुखरूप अग्नि में दी जाती है, ताकि उस का फल नेत्रादिक शरीरस्थ देवताओं को मिले ॥ २ ॥

उन्नीसवाँ खण्ड
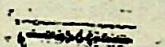
अब भोजन की अग्निहोत्रत्वसिद्धि के लिए 'प्राणाय स्वाहा' इस पहली आहुति का वर्णन करते हैं, यथा—

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳ स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥१॥

भावार्थ—हे सोम्य ! ऋषियों से राजा ने कहा कि भोजन के समय जो अन्न पहले आवे वही हवन करने योग्य है। पहले ग्रास को, जिस की वह आहुति करना चाहता है, "प्राणाय स्वाहा" यह कहकर मुख में डाले। इस प्रकार करने से प्राण संतुष्ट होता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—ऐसा होने के कारण भोजन के समय जो अन्न आवे उस

से हवन करना चाहिये। यहाँ अग्निहोत्र की कल्पनामात्र विवक्षित है, अतः अग्निहोत्र के अङ्गभूत सहकारी साधनों की प्राप्ति नहीं है। वह भोक्ता जो पहली आहुति दे, उसे किस प्रकार दे ? सो भगवती श्रुति बतलाती है कि "प्राणाय स्वाहा" इस मंत्र से मुख में हवन करे। ऐसा करने से प्राण संतुष्ट होता है ॥ १ ॥

विशेष—यहाँ 'आहुति' शब्द होने के कारण अवदान प्रमाण यानी जितना आहुति में विहित है, उतना ही अन्न मुख में डालना चाहिये ॥ १ ॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किं च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऋषियों से कहता है कि प्राण के तृप्त होने पर नेत्र तृप्त होता है, नेत्र के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने पर जो कुछ सूर्य तथा द्युलोक के बीच में स्थित है या जिस किसी पर द्युलोक और आदित्य स्वामिभाव से अधिष्ठित हैं वह सब तृप्त हो जाता है। उन सब के तृप्त होने पर हवनकर्ता की तृप्ति सन्तान, पशु, अन्नाद्य, तेज तथा ब्रह्मतेज के द्वारा होती है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—जब हवनीय द्रव्य से आहुति दे तो "प्राणाय स्वाहा" यह मन्त्र बोलकर आहुति दे। इस से प्राण तृप्त होते हैं। यह तो प्रत्यक्ष फल है, हवन करने से अपूर्व तो उत्पन्न होता ही है, पर वायु भी विशुद्ध हो जाती है। वायु का शुद्ध होना भी उस की तृप्ति है। वायु के तृप्त होने पर चक्षु की तृप्ति होती है, क्योंकि हवनादि यज्ञों में प्रथम नेत्र का ही सम्बन्ध विशेष होता है। प्रकाशक होने से नेत्रविशेष शक्ति का नाम आदित्य है। उस से द्युलोक तृप्त होता है। द्युलोक तथा आदित्य के तृप्त होने से अन्य जितने पदार्थ हैं उन सब की तृप्ति होती है। इस के पश्चात् यजमान प्रजा से, पशुओं से, विविध भोग्य पदार्थों से, सांसारिक ऐश्वर्यरूप तेज से और ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ २ ॥

विशेष—शरीरस्थ दीप्ति, उज्ज्वलता या प्रगल्भता का नाम 'तेज' है तथा सदाचार और स्वाध्याय के कारण होनेवाला तेज 'ब्रह्मतेज' है ॥ २ ॥

बीसवाँ खण्ड

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद जो दूसरी आहुति दे, उसे 'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिए। इस से व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

भावार्थ—व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशायें तृप्त होती हैं तथा दिशाओं के तृप्त होने पर जिस किसी पर चन्द्रमा और दिशायें स्वामिभाव से अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उस की तृप्ति के अनन्तर वह भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—इस खण्ड के दोनों मन्त्रों का भाष्य और विशेष साथ दिया जाता है—व्यान के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होता है। व्यान नाम श्रोत्रेन्द्रियाधिष्ठित वायु का है। सो इस वायु के तृप्त होने से श्रोत्रतृप्ति का कथन करना समुचित ही है। श्रोत्र के तृप्त होने से चन्द्रमा की तृप्ति होती है, क्योंकि 'चदि आह्लादे' धातु के अनुसार चन्द्रमा का अर्थ आनन्ददाता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द श्रवण करने से भी आनन्द की प्राप्ति होती है। चन्द्रमा की तृप्ति से दिशाएँ तृप्त होती हैं, क्योंकि दिशाओं के सम्बन्ध से ही श्रोत्र में शब्द आता है। अतः श्रोत्र की तृप्ति से दिशाओं का तृप्त होना स्पष्ट है। चन्द्रमा तथा दिशाओं के तृप्त होने से इन के अधिकारी पदार्थ भी तृप्त होते हैं। सब की तृप्ति के पश्चात् यजमान सन्तान, पशु, अन्न, सांसारिक तेज तथा ब्रह्मतेज से तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

विशेष—भारतीय सभ्यता के अनुसार आर्य लोगों ने दैविक सम्बन्ध बराबर

बनाये रखने का प्रयत्न किया है। वे अपने कार्यों से अपनी ही तृप्ति नहीं मानते थे। उन की धारणा थी कि देवताओं की तृप्ति से चराचर जगत् तृप्त हो सकता है। गीता, उपनिषद् तथा वेदों में भी देवताओं को सन्तुष्ट करने से यज्ञ, भक्ति उपासना आदि अनेक उपायों का सविस्तर वर्णन मिलता है ॥ १-२ ॥

इक्कीसवाँ खण्ड
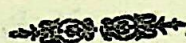
'अपानाय स्वाहा' इस तीसरी आहुति का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

भावार्थ—पुनः जो तीसरी आहुति दे उसे 'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इस से अपान तृप्त होता है ॥ १॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

भावार्थ—अपान के तृप्त होने पर वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होती है, अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है और पृथिवी के तृप्त होने पर जिस किसी पर पृथिवी और अग्नि स्वामिभाव से अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उस की तृप्ति के बाद भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज तथा ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'अपानाय स्वाहा' यहाँ अपान शब्द से वागिन्द्रियस्थानाधिष्ठित वायु का ग्रहण है। इसी अभिप्राय से कहा है कि अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है। वाणी का उच्चारण अग्नि की सहायता से होता है, क्योंकि जहाँ अग्नि न हो वहाँ वाणी का उच्चारण नहीं हो सकता। इसी से वायु की तृप्ति द्वारा अग्नि की तृप्ति कही गई है। या यों कहो कि वाणी का देवता अग्नि है, इस

लिए अग्नि के तृप्त होने से पृथिवी की तृप्ति होती है। यहाँ पृथिवी का तात्पर्य वाणी-गत स्थान है। अग्नि तथा पृथिवी के अधिकार में जो पदार्थ हैं, उन की और उन के पश्चात् प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति होती है ॥ १-२ ॥

विशेष—वैदिक साहित्य बड़ा ही रोचक है। उस में साधारण से व्यवहार द्वारा उच्च शिक्षा दी गई है। पर आज कल हमारे संस्कार मलिन होने से हम उस के समझने का यत्न नहीं करते। यहाँ तक हो गया है कि हमें वैदिक वार्ता विलक्षण सी प्रतीत होती है। किंतु अब तो भारतियों का ही राज्यशासन हो गया है अतः अब वेदों-उपनिषदों आदि के समझने में अधिक दत्तचित्त होना चाहिये ॥ १-२ ॥
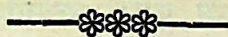
बाईसवाँ खण्ड

'समानाय स्वाहा' इस चौथी आहुति का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥ १ ॥

भावार्थ—उस के बाद जो चौथी आहुति दे उसे 'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इस से समान वायु तृप्त होता है ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

भावार्थ—समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर मेघ तृप्त होता है, मेघ के तृप्त होने पर बिजली तृप्त होती है और बिजली के तृप्त होने पर जिस किसी के ऊपर बिजली और मेघ अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। इस तरह उस की तृप्ति के बाद भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज तथा ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—सारे शरीर में विचरनेवाले वायु का नाम समान है। इस से चतुर्थी आहुति 'समानाय स्वाहा' यह पढकर दे। इस से समान की तृप्ति होती है। समान के तृप्त होने से मन की तृप्ति यहाँ इस लिए कथन की गई है कि मन भी सब इन्द्रियों में समान की तरह वर्तता है। यहाँ मन की शक्तिविशेष का नाम पर्जन्य तथा मन की गति का नाम विद्युत् है, और वह इस पर्जन्य के तृप्त होने पर तृप्त होती है। इस के अनन्तर पर्जन्य और विद्युत् के अधिकार में जो कुछ है वह सब तृप्त होता है और फिर ब्रह्मतेज आदि से यजमान तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

विशेष—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस कथन से मन को सब कुछ कहा गया है। चौथी ग्रासरूप आहुति के 'समानाय स्वाहा' इस मन्त्र करके हवन करने से समान अनन्तर क्रम से मन, पर्जन्य, विद्युत् तथा विद्युत् के आश्रित सब प्राणिमात्र तृप्त होते हैं ॥ १-२ ॥

तेईसवाँ खण्ड

अब 'उदानाय स्वाहा' इस पाँचवीं आहुति का वर्णन करते हैं, यथा—

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥ १ ॥

भावार्थ—इस के बाद जो पाँचवीं आहुति को दे उसे 'उदानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इस से उदान वायु तृप्त होता है ॥ १ ॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

भावार्थ—उदान के तृप्त होने पर त्वचा तृप्त होती है, त्वचा के तृप्त होने पर वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है तथा आकाश के तृप्त

(ऊपर) अज्ञानपूर्वक यज्ञ (नीचे) ज्ञानपूर्वक यज्ञ (अ. ५ ख. २४)

(ઉપર) અજ્ઞાનપૂર્વક યજ્ઞ (નીચે) જ્ઞાનપૂર્વક યજ્ઞ (અ. ૫ ખં. ૨૪)

होने पर जिस किसी पर वायु और आकाश स्वामिभाव से अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उस की तृप्ति के बाद स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्त होता है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—त्वगिन्द्रिय स्थान के वायु का नाम उदान है। उस उदान वायु की तृप्ति के लिए 'उदानाय स्वाहा' यह मन्त्र पढकर पाँचवीं आहुति दे। इस से उदान की तृप्ति होती है। उदान से त्वक् की पुष्टि होती है। त्वक् की पुष्टि होने से स्पर्शेन्द्रिय की शक्ति बढती हैं। वायु के तृप्त होने पर आकाश की तृप्ति और आकाश की तृप्ति होने पर जो कुछ आकाश और वायु के आश्रित हैं उन सब की पुष्टि होती है। उस के अनन्तर प्रजा आदि से यजमान की तृप्ति पुष्टि तुष्टि होती है ॥ १-२ ॥

विशेष—ब्रह्मविद्या के उपासक चतुर्थाश्रमियों तथा कर्मनिष्ठ बहुत से ब्राह्मणों में भोजन से पहले—"प्राणाय स्वाहा" "अपानाय स्वाहा" "व्यानाय स्वाहा" "समानाय स्वाहा" "उदानाय स्वाहा" इन पाँच मन्त्रों का उच्चारण करके पञ्चग्रास करने की पृथा है। यह रीति वैदिक है। इसी का तत्त्व इस पञ्चाग्नि विद्या में उपर्युक्त खण्डों में समझाया गया है, जिसे प्रत्येक मुमुक्षु को जानना चहिये ॥ १-२ ॥

—❀❀❀—

चौबीसवाँ खण्ड

अब अविद्वान् के हवन का स्वरूप वर्णन करते हैं, यथा—

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ॥ १ ॥

भावार्थ—वह जो अग्निहोत्रकर्ता इस वैश्वानर आत्मा को न जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, वह ऐसा होता है जैसे कोई जलती हुई अग्नि को छोडकर राख में हवन करता है ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—राजा कहता है कि हे ऋषियों! वह जो कोई इस उपर्युक्त वैश्वानर विद्या को न जानता हुआ अग्निहोत्र कर्म करता है, उसका वह हवन वैश्वानरोपासक के अग्निहोत्र की अपेक्षा इसके सदृश है जैसे कि आहुतियोग्य अङ्गारों को हटाकर कोई आहुति न देने योग्य स्थान राख में आहुति दे ॥ १ ॥

विशेष—तात्पर्य इस मंत्र का यह है कि प्राण आदि जो पुरुष के शरीर के अन्दर स्थित हैं, उनके लिए आहुति देना श्रेष्ठ है। यदि कोई पुरुष ज्ञानपूर्वक प्राणादि शरीरस्थ अग्नि में आहुति देता है तथा बाह्य अग्नि में नहीं देता है तो वह पाप से युक्त नहीं होता है। इस प्रकार प्रसिद्ध अग्निहोत्र की निन्दा द्वारा वैश्वानरोपासक के अग्निहोत्र की स्तुति की जाती है ॥ १ ॥

अब विद्वान् के हवन का फल कहते हैं, यथा—

अथ च एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—क्योंकि जो इस प्रकार इस वैश्वानर को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसकी हवन की हुई आहुति सब लोकों में, सब भूतों में तथा सम्पूर्ण आत्माओं में प्राप्त होती है ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'सब लोकों में' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य यह है कि वैश्वानरवेत्ता मस्तकादिरूप द्युलोकादि लोकों में, सम्पूर्ण चराचर भूतों में तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिरूप समस्त आत्माओं में हवन यानी अन्न भक्षण करता है ॥२॥

विशेष—'शरीरादिरूप सम्पूर्ण आत्माओं में' इस कथन का कारण यह है कि इन्हीं में प्राणियों की आत्मकल्पना का निर्देश किया जाता है। 'अन्न भक्षण करता है' इसका तात्पर्य यह है कि वैश्वानरवेत्ता सर्वात्मा होकर अन्न भक्षण करता है। अज्ञानियों के समान पिण्डमात्र में अभिमान करके अन्न नहीं खाता ॥ २ ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३॥

भावार्थ—इस विषय में यह दृष्टान्त भी है कि जैसे कोई इस प्रकार इस वैश्वानर विद्या को जानता हुआ अग्निहोत्र कर्म करता है, उसके सब पाप उस प्रकार से भस्म हो जाते हैं जिस तरह मूँज का फूल अग्नि में डालते ही भस्म हो जाता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—जैसे सींक का तूल=अग्रभाग अग्नि में डालने पर शीघ्र ही जल जाता है, वैसे ही सब के अन्तरात्मभूत तथा समस्त अन्नों के भोक्ता इस विद्वान् के अनेक जन्मों में सञ्चित हुए तथा ज्ञानोत्पत्ति से पहले और ज्ञान के

साथ साथ होनेवाले धर्माधर्मसंज्ञक निःशेष पाप दग्ध हो जाते हैं। जो इस वैश्वानर विद्या को इस तरह जाननेवाला होकर हवन करता अर्थात् भोजन करता है उसको ऐसा फल होता है ॥ ३ ॥

विशेष—सञ्चितादि समस्त पाप तो भस्म हो जाते हैं परन्तु केवल वर्तमान शरीर का आरम्भ करनेवाले पाप रह जाते हैं। क्योंकि लक्ष्य के प्रति छोड़े हुए बाण के सदृश फल देने में प्रवृत्त हो जाने के कारण उनका दाह नहीं हो सकता ॥३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे ऋषियों! वैश्वानरविद्या का ज्ञाता अपना झूठा अन्न भी कभी चाण्डाल के लिए दे तो वैश्वानर विद्या के जानने के कारण वह दिया हुआ अन्न उस चाण्डाल में भी वैश्वानर में आहुति दी हुई के सदृश होता है। इस विषय में यह मन्त्र है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—वह यद्यपि उच्छिष्ट दान करे, तो भी चाण्डाल के शरीर में स्थित वैश्वानर आत्मा में ही वह हुत होगा। वह पाप का हेतु नहीं होगा। इस प्रकार कहकर भगवती श्रुति विद्या की प्रशंसा करती है। उस स्तुति के विषय में यह श्लोक अर्थात् मंत्र भी है ॥ ४ ॥

विशेष—जो वैश्वानरविद्या को जानता है, उस के अन्तःकरण में पापों की वासना नहीं रहती, उस का अन्न सर्वदा वैश्वानर अग्नि में ही हुत द्रव्य के समान पुण्यप्रद होता है। यदि वह चाण्डाल को भी उच्छिष्ट देता है तो भी उस के तपोबल से वह वैश्वानर अग्नि में हुत द्रव्य की तरह पुण्यकारक हो जाता है। अर्थात् उस के सम्बन्ध में जितने कार्य होते हैं उन सब कार्यों में उस के आत्मिक बल का प्रभाव बना रहता है। इसलिए चाण्डाल भी उस के अन्न को खाकर उत्तम कार्य करने के लिए उद्यत होता है ॥ ४ ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवꣳ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे इस लोक में भूखे बालक सब तरह से माता की उपासना

करते हैं, वैसे ही समस्त प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, अग्निहोत्र की उपासना करते हैं ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे सोम्य ! अश्वपति राजा कहता है कि हे ऋषियों ! इस संसार में जैसे भूखे बालक क्षुधानिवृत्त्यर्थ सब तरह से अपनी माता की उपासना या प्रतीक्षा करते हैं कि माता हमें कब अन्न देगी ? वैसे ही अन्न भक्षण करनेवाले सब प्राणी फलप्राप्ति के लिए इस प्रकार जाननेवाले अग्निहोत्री के भोजन की प्रतीक्षा करते हैं कि यह कब भोजन करेगा ? 'अग्निहोत्रमुपासते' इस वाक्य की द्विरुक्ति अध्याय की समाप्तिसूचन के लिए है ॥ ५ ॥

विशेष—वैश्वानरवेत्ता पुरुष के भोजन की प्रतीक्षा निरन्तर सब लोग करते हैं, इस में कारण यह है कि उक्त ज्ञाता पुरुष के भोजन करने से सारा जगत् तृप्त हो जाता है। जैसे क्षुधापीडित बालक 'माता हमें कब भोजन देगी' इस प्रकार माता का ध्यान करता है, वैसे ही वैश्वानर-उपासक के पूर्व में कहे हुए अग्निहोत्र के लिए सब प्राणी 'यह कब भोजन करेगा जिस से हम तृप्त होंगे' ऐसा ध्यान लगाये रहते हैं। वैश्वानर का उपासक अपने आप को वैश्वानरस्वरूप मानता है। वैश्वानर से कोई प्राणी भिन्न नहीं, यह अर्थ इस वैश्वानर शब्द से ही प्रकट हो रहा है, जैसे—विश्व नाम=सब, विश्वरूप होकर पुनः सब का कारण होने से जो नररूप हो वह वैश्वानर कहाता है। अथवा विश्व जिस का नियम्य हो ऐसा जो नर उस का नाम वैश्वानर हो सकता है। तथा विश्व नाम सर्व, नर नाम पुरुष, याने जो सर्वपुरुषरूप हो उसे वैश्वानर समझो। इस से यह आया कि वैश्वानर सर्व रूप है, उस को अपना स्वरूप माननेवाला जो उपासक है, वह हुआ वैश्वानर। ऐसे वैश्वानर के तृप्त होने से सम्पूर्ण जगत् तृप्त होता है। इसीलिए सब भूत उस को मातावत् प्रिय जानकर उस की उपासना करते हैं। वह खाता है तो सब तृप्ति का अनुभव करते हैं। वैश्वानरविद्या का यह महत्त्व है ॥ ५ ॥

चौवीसवाँ खण्ड और पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

तीसरे अध्याय में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इस मन्त्र से 'जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, उसी के आश्रित है और उसी में लीन हो जाता है, यह कह चुके हैं। उसके साधन करने के लिए अभी गत अध्याय में बताया गया है कि एक विद्वान् के भोजन कराने पर सारा संसार तृप्त हो जाता है। ऐसा आत्मा का एकत्व होने पर ही हो सकता है, इसे भी सिद्ध करने के लिए छठा अध्याय आरम्भ किया जाता है। यहाँ पुत्र को पिता के उपदेशरूप से विद्या का सारतत्त्व सिद्ध करने के लिए आख्यायिका की रचना करते हैं, यथा—

ॐ श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस तꣳ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध अरुण ऋषि का पौत्र श्वेतकेतु नामक था। उससे पिता ने कहा—हे श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्य वास कर याने ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता हुआ गुरुकुल में जाकर रह। क्योंकि हे सोम्य ! हमारे कुल में ऐसा पुरुष नहीं उत्पन्न होता जो वेद को न पढ़कर ब्रह्मबन्धु सा बन जाय ॥ १ ॥

योग्यता रहने पर भी ऋषिने पुत्र का उपनयन नहीं किया, इससे प्रतीत होता है उसे अवकाश नहीं था। अनुमान यह लगाया जाता है कि शायद वह अत्यावश्यक काम से कहीं बाहर जानेवाला था।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳ ह

पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥ २ ॥

भावार्थ—वह बारह वर्ष की आयु में आचार्य के पास गया, और चौबीस वर्ष की आयु तक सम्पूर्ण वेदों को पढकर लौट आया। वह अपने को बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्यान करनेवाला मानता हुआ बड़ी अकड़ के साथ घर लौटा। उससे पिता ने कहा—हे सोम्य! तू जो ऐसा महामना, पण्डितम्मन्य और अविनीत है सो क्या तूने वह (आगे कथित) उपदेश अपने आचार्य से पूछा है? ॥ २ ॥

उस आदेश को श्रुति विशेष रूप से स्पष्ट करती है, यथा—

येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न जाना हुआ जाना हुआ और न समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है। यह सुनकर श्वेतकेतु पूछता है—वह आदेश किस प्रकार का है? ॥ ३ ॥

'उस आदेश को सुन' ऐसा कहकर पिता ने अनेक दृष्टान्त देकर उपपादन किया, यथा—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥

भावार्थ—हे सोम्य! जैसे एक मिट्टी के टुकड़े से सम्पूर्ण मिट्टी के पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि विकार वाणी के आरम्भ मात्र नामवाले हैं, नाम तो वाणी से अलग बोला भर जाता है। सत्य तो केवल मृत्तिका ही है ॥ ४ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

भावार्थ—हे सोम्य! जिस प्रकार एक सुवर्णमणि का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जाने जाते हैं। क्योंकि विकार वाणी के उत्पादक नाममात्र हैं, पर वह जो सोना है वही सच्चा है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! जैसे एक नख काटनेवाले लोहे के नहन्ने से लोहे के सब विकार विदित हो जाते हैं। क्योंकि विकार वाणी का आरम्भ होने से नाममात्र है, सत्य केवल लोहा है। हे सोम्य ! ऐसा ही यह आदेश भी है ॥ ६ ॥

ऐसा सुनकर पुत्र बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

भावार्थ—वे मेरे आचार्य अवश्य ही इसे नहीं जानते होंगे। यदि वे जानते होते तो मुझे क्यों न कहते ? अब आप ही मुझे बताइये। तब उद्दालक बोला—हे सोम्य ! ऐसा ही होगा, याने बतलाता हूँ ॥ ७ ॥

वि० वि० भाष्य—(इस खण्ड के सातों मन्त्रों का भाष्य और विशेष साथ ही लिखा जाता है—)

आरुणि का पुत्र आरुणेय श्वेतकेतु था, उस को पिता ने बड़े प्यार से पाला था, माता पिता की इस अत्यधिक प्रीति के कारण वह खेल में लगा रहता था। वह उपनयन संस्कार से रहित हुआ अपने साथी बालकों को पीड़ित तथा अपने से बड़ों का अपमान तक कर बैठता था। ऐसी दशा देखकर एक दिन उस के पिता ने उस से कहा कि तू द्वादश वर्ष का होकर भी ब्राह्मणों के कर्म से रहित हो ब्राह्मणों में अधम जैसा प्रतीत हो रहा है। अतः किसी गुरु के समीप जाकर वेदाध्ययन कर, मैं तुझे पढा नहीं सकता। मैं तुझ पर प्यार करता रहा, इस कारण मेरा तेरे ऊपर प्रभाव नहीं रहा। श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञा से गुरुकुल में जाकर गुरु से अर्थ सहित चतुर्वेद तथा षडङ्ग पढे, किन्तु उपनिषद्रूप वेदान्त नहीं पढा। चौबीस वर्ष पर्यन्त वेदादिकों को पढकर वह घर आया, किन्तु विद्या के अभिमान से पिता को प्रणाम किये बिना ही उद्धत भाव से अकड़कर बैठ गया।

पुत्र की ऐसी अशिष्टता देखकर पिता को क्रोध तो नहीं आया, पर दुःख अवश्य हुआ। वह बोला—हे पुत्र ! तू जिस अधिकता के अभिमान से ठूँठ की तरह स्तब्ध हो रहा है, जिस से अपने को वेदों का ज्ञाता मानता है, और अपने को सब से बढ चढकर मान बैठा है, ऐसा कौन सा गुण तू गुरु से सीख आया है। गुरु ने ऐसी कौन सी बूँटी पिला दी है जिस से तू मारे अभिमान के आपे से बाहर हुआ जाता है ? भला यह तो बता कि तूने अपने गुरु से यह भी पूछा था कि जिस वस्तु के श्रवण करने से अश्रुत पदार्थों का भी श्रवण हो जाता है, जिस एक के मनन करने से सब का मनन हो जाता है, और जिस एक के निश्चय से सब अनिश्चित पदार्थ भी निश्चित हो जाते हैं, उसे यदि तुम जानते हो तो हमें सुनाओ ?

पिता की यह बात सुनकर श्वेतकेतु आश्चर्य में पड़ गया और कहने लगा कि यह कैसे हो सकता है कि किसी एक के जानने से बिना जाना भी जाना जा सकता हो ? उस का गर्व दूर हो गया, तब पिता ने पूछने पर उस से कहा—जैसे एक कारणरूप मृत्तिका का ज्ञान होने से मृत्तिका के कार्य सब घटादि का ज्ञान हो जाता है। यदि घटादि कार्य मृत्तिका से भिन्न होते तो उन का ज्ञान न होता, पर यहाँ तो घटादि मृत्तिका मात्र ही हैं। वाणी से उच्चारण किये नाम से भिन्न घटादि पदार्थ और कुछ चीज हैं नहीं, किन्तु नाम मात्र हैं। ऐसे ही एक स्वर्णपिण्ड के ज्ञान से स्वर्ण के कार्य कटक कुण्डलादिकों का ज्ञान हो जाता है, और ऐसे ही एक लोह-पिण्ड के ज्ञान से उस लोहे के कार्य खड्गादि ज्ञात होते हैं। स्वर्णकार्य कुण्डलादि तथा लोहकार्य खड्गादि एवं मृत्तिकाकार्य घटादि केवल नाम मात्र होने से वाणी द्वारा उच्चारण किये जाते हैं। वास्तव में वे मृत्-स्वर्ण-लोहादि से किंचित् भी भिन्न नहीं, मृत्तिका-स्वर्ण-लोह ये कारण ही सत्य हैं। मृत्तिका-स्वर्ण-लोह रूप कारण के ज्ञान से इन के कार्य घट कुण्डल खड्गादिकों का ज्ञान अवश्य होता है। 'घट' इस नाम मात्र से वह कोई मृत्तिका से भिन्न नहीं हो गया। वैसे ही एक आत्मा का ज्ञान होने से उस आत्मा के कार्यरूप सर्व पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। हे पुत्र ! एक का ज्ञान होने से ऐसे ही सब का ज्ञान होता है ॥ १-७ ॥

विशेष—'फिर मुझे पिताजी मेरे गुरु के पास न भेज दें' इस बात को मन में रखकर श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा—मेरे गुरुदेव की मेरे ऊपर बड़ी कृपा थी, इससे उन्होंने मुझे समग्र विद्या का उपदेश दिया। मुझ अत्यन्त प्रिय शिष्य को निष्क-पट भाव से उन्होंने सभी विद्याओं को बताया। प्रतीत होता है वे उस विद्या को

नहीं जानते थे जिस विषय का आप ने प्रश्न किया है। अतः कृपा करके आप ही बताइये। तब पिता ने उपर्युक्त सिद्धान्त समझाया॥ १-७॥

विकार नाम है बनी हुई वस्तु का। जब कोई चीज नई बनती है तो उस में नाम रूप का भेद हो जाता है, मिट्टी के बर्तन नाम में और रूप (आकार) में भिन्न हो जाते हैं पर वे मिट्टी से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं हैं।

ब्रह्मबन्धु=ब्राह्मण जैसा, जो ब्राह्मणों को अपने बन्धु बतलाता है, पर वह स्वयं ब्राह्मणों के गुण कर्म से भूषित नहीं है। आदेश उस उपदेश को कहते हैं जो केवल शास्त्रगम्य अथवा गुरुगम्य ही हो। दूसरे मन्त्र में जो महामना शब्द आया है, उस का अर्थ है जिस का मन महत् अर्थात् गम्भीर हो। यानी जिस का मन अपने को दूसरों के समान न समझनेवाला हो। अनूचानमानी=अपने को बड़ा प्रवक्ता माननेवाला, अर्थात् जो श्वेतकेतु जैसे स्वभाववाला हो, उसे अनूचानमानी कहते हैं॥ १-७॥

द्वितीय खण्ड

एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है, यह जो पहले कहा था उसे बताते हैं, यथा—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सद्जायत॥ १॥

भावार्थ—हे सोम्य! सृष्टि से पहले यह एक अद्वितीय सत् ही था। उस प्रसिद्ध ब्रह्म के विषय में कोई एक यह कथन करते हैं कि आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय असत् ही था। उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ॥ १॥

इस मत का प्रतिषेध करते हैं, यथा—

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्॥२॥

भावार्थ—किन्तु हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, अर्थात् सत् की उत्पत्ति असत् से कैसे हो सकती है ? अतः हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। ऐसा आरुणि ने कहा ॥ २ ॥

सत् की अद्वितीयता का जगदुत्पत्त्यादि प्रदर्शन से समर्थन करते हैं, यथा—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत तस्माद्यत्र क्व शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस ने ज्ञानपूर्वक सङ्कल्प किया कि मैं बहुत रूप होकर प्रकट होऊँ। इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेज ने ईक्षण किया—मैं बहुत हो जाऊँ, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ। इस प्रकार ईक्षण कर उस ने जलों को उत्पन्न किया। इसी कारण मनुष्य जिस किसी स्थान में जल अथवा पसीने से भीगता है तो वे जल तेज से ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

भावार्थ—उन जलों ने इच्छा की कि हम बहुत हो जावें, हम प्रजावाले हो जावें, उन्होंने अन्न को उत्पन्न किया। इसी से जहाँ कहीं वृष्टि होती है वहीं बहुत सा अन्न होता है। वह अन्नाद्य जल से ही उत्पन्न होता है, अर्थात् जल से ही वह अन्न खाने के योग्य होता है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे प्रियदर्शन पुत्र ! यह सम्पूर्ण नाम रूपात्मक जगत् उत्पत्ति से प्रथम सत्, अद्वितीय ब्रह्मरूप ही था। इस जगत् के स्थूल नाम रूप कुछ भी नहीं थे। और नास्तिक शून्यवादी कहते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व शून्य-रूप असत् ही था, वह असत् ही एक अद्वितीय रहा। असत् को ही कारण मानने-वाले शून्यवादी हठी हैं, और उन का यह कहना बिलकुल युक्तिरहित है।

यदि असत् को कारण माना जायगा तो वन्ध्यापुत्र में भी कारणतापत्ति हो जायगी। अत एव असत्रूप शून्य से कार्योत्पत्ति नहीं होती। इस से यह समझ

लो कि सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदरहित अद्वितीय ब्रह्म ही उत्पत्ति से पहले रहा। स्थूल रूप में नाम रूप प्रपंच कुछ भी नहीं था।

अब उस सत्य अद्वितीय ब्रह्म के बोधन के वास्ते नाम रूप प्रपंच की उत्पत्ति कहने को परमात्मा के विचार का कथन करते हैं—

सत्यरूप परमात्मा ने इस प्रकार चिन्तन किया—मेरे विना प्रपंच बहुत रूपोंवाला नहीं हो सकता, अतः मैं परमात्मा ब्रह्म ही नाना रूपों को प्राप्त करूँ। यह चिन्तन करके मायाशबल परमात्मा ने आकाशादि पंचभूतों को उत्पन्न किया। यद्यपि इस छान्दोग्य उपनिषद् में पृथिवी, जल और तेज इन भूतों की उत्पत्ति कही है, वायु और आकाश की नहीं, तथापि श्रुति में आकाशादि पञ्चभूतों की उत्पत्ति कही है। और व्यासजी ने तथा श्री शङ्कराचार्यजी ने शारीरक नामक ग्रन्थ के द्वितीय अविरोधाध्याय के तृतीय वियत्पाद में तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार पंचभूतोत्पत्ति कथन की है। इस से इस उपनिषद् के साथ विरोध नहीं समझना। ऐसे ही परमात्मा ने आकाश एवं वायु को उत्पन्न करके तेज को उत्पन्न किया। तेज उपहित हुए परमात्मा ने चिन्तन किया—मैं बहुत रूपोंवाला हो जाऊँ। तब तेज उपहित परमात्मा ने जल को उत्पन्न किया। लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि जब बहुत तपस पड़ता है तभी वृष्टि होती है। इस कारण अग्नि से जलों की उत्पत्ति कही है। पुनः जल उपहित परमात्मा ने एक से बहुत हो जाने की इच्छा से अन्नशब्दार्थ पृथिवी को उत्पन्न किया ॥ १-४ ॥

विशेष—'तदैक्षत' यहाँ 'ऐक्षत' यह क्रिया प्रकट करती है कि यह सत् चेतन है, न कि अचेतन। यहाँ उसे प्रकृति का अन्तर्यामी मानकर शबलरूप में प्रकट किया है। कोई कहते हैं कि जल और तेज जड़ होने के कारण ईक्षण (इच्छा) नहीं कर सकते, उनको उत्तर यह है कि यहाँ उपचार से ऐसा कहा गया है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि तेज में व्यापक ब्रह्म ने ईक्षण याने इच्छा करके जल को और जलगत ब्रह्म ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। इस लिए इस शास्त्र पर जड़ता का दोष नहीं आता ॥ १-४॥

तृतीय खण्ड

अब जीवों द्वारा आविष्ट भूतकार्यों को परंपरा से ब्रह्मकार्यता है, यह कहने के लिए उनका अनुवाद करते हैं, यथा—

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

भावार्थ—निश्चय करके उन इन पत्ती आदि प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज ॥ १ ॥

इन शरीरों को परंपरा से उक्त भूतकार्यता है, यह कहते हैं, यथा—

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस इस देवता ने—जिस का सत् नाम था उसने—ईक्षण यानी सङ्कल्प किया कि अब मैं इन तीनों (तेज, जल, पृथ्वी) देदीप्यमान भूतों में जीवात्मारूप से अनुप्रवेश कर नाम और रूप की अभिव्यक्ति—विस्तार—करूँ ॥ २ ॥

और—

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उनमें से एक एक देवता को त्रिवृत् करूँ याने हर एक को तीन तीन गुना बनाऊँ। ऐसा विचार कर उस इस देवता ने इस नाम रूप से ही उन तीन देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम और रूप को व्याकरण किया—अलग अलग किया ॥ ३ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

भावार्थ—इन में से हर एक को तीन तीन गुना बनाया। हे सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक एक करके प्रत्येक त्रिवृत् त्रिवृत् हैं—हर एक तीन तीन गुने हैं—अब यह मुझ से जान ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे श्वेतकेतो ! पृथिवी, जल, तेज इन तीन भूतों के अनुसार ही अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज इन तीन भूतों के बीज उत्पन्न हुए हैं।

स्वेदज दो प्रकार के हैं, एक तो मशकादिरूप स्वेदज उद्भिज्जरूप होते हैं, दूसरे यूकादिरूप स्वेदज अण्डज रूप होते हैं। इससे स्वेदज का जल के कार्य उद्भिज्ज रूप से तथा पृथिवी के कार्य अण्डज रूप से ग्रहण करना। गर्भ के चर्मवाले वेष्टन का नाम जरायु है। उस जरायु की जठराग्निरूप तेज से उत्पत्ति होने के कारण वह तेज का कार्य कहा जा सकता है। परमात्मा पृथिवी आदिक तीन भूतों में प्रविष्ट होकर इस प्रकार का विचार करने लगा कि इन तीन भूतों में मैं परमात्मा जीवरूप से प्रवेश करके नाम रूप को स्पष्ट करूँ, प्रथम इन तीन भूतों के तीन तीन भाग करूँ, इन भूतों के नौ भाग करने से नामरूप स्पष्ट हो जायँगे।

इस प्रकार विचार करके उस परमात्मा ने एक एक भूत के दो दो भाग करके, फिर तीनों में से एक एक भाग को अलग रखकर, बाकी बचे तीन भागों के दो दो भाग करके अपने अपने भाग को छोडकर तीन बड़े भागों में मिलाकर त्रिवृत्-करण किया। यह त्रिवृत्करण पंचीकरण का उपलक्षण है। इसी रीति से उद्दालक पिता ने नाम रूप प्रपंच की उत्पत्ति भूतों से वर्णन की है ॥ १-४ ॥

विशेष—तेज आदि की उत्पत्ति दिखाकर अब इस खण्ड में उसके बाद में जीवित सृष्टि का उत्पन्न होना और उसके द्वारा अलग अलग नाम रूप का व्यवहार होना दिखाया गया है। इस खण्ड के दूसरे मन्त्र में 'सेयं देवतैक्षत' यहाँ यह भाव है कि यद्यपि परमात्मा ने तेज, जल और अन्न को उत्पन्न कर दिया है, पर अभी भी बहुत होने का प्रयोजन पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसने फिर सोचा। यह 'सा इयं देवता ऐक्षत' इसका अभिप्राय है।

अण्डे से उत्पन्न हुए को अण्डज कहते हैं, इसलिए अण्डा ही बीज है ऐसा कहना उचित है। फिर अण्डज को बीज इसलिए कहा जाता है कि श्रुति में अण्डज को ही बीज बताया है। क्योंकि अण्डज आदि का अभाव होने से ही उस जाति की सन्तति का अभाव हो जाता है, अण्डे आदि का अभाव होने पर नहीं। अतः अण्ड आदि के बीज अण्डज आदि ही हैं ॥ १-४ ॥

चतुर्थ खण्ड

उन देवताओं का जो त्रिवृत्करण कहा गया है, उसका उदाहरण दिया जाता है। (जो एक देश की प्रसिद्धि द्वारा सम्पूर्ण देश की प्रसिद्धि के लिए कहा जाता है, उसे उदाहरण कहते हैं) यथा--

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अग्नि में रक्त रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का रूप है, और जो कृष्ण रूप है वह अन्न (पृथिवी) का रूप है। इस प्रकार अग्नि से अग्नित्व निवृत्त हो गया। क्योंकि अग्निरूप विकार वाणी से कहने के लिए नाममात्र है, केवल तीन रूप हैं इतना ही सत्य है ॥ १ ॥

इसी प्रकार—

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचा-रम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सूर्य का लाल रंग है, वह तेज का रंग है। जो श्वेत रंग है वह जलों का है और जो काला है वह पृथिवी का है। अब सूर्य का सूर्यपना चला गया। विकार नाममात्र अलग है, जो वाणी का सहारा है। जो कुछ सत्य है, वह तीन रूप ही हैं ॥ २ ॥

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा का जो रोहित रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है। इस प्रकार चन्द्रमा से चन्द्रत्व निवृत्त हो गया। क्योंकि चन्द्रमारूप विकार वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र है, तीन रूप हैं इतना ही सत्य है ॥ ३ ॥

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो विद्युत् में रक्त रूप दीखता है, वह तेज का, जो शुक्ल रूप है वह जल का, जो कृष्ण रूप है वह पृथिवी का है। इस तरह विद्युत् से विद्युत्पन जाता रहा। क्योंकि विकार वाणी के आरम्भमात्र नामवाले हैं। तीन रूप ही सत्य हैं॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः॥ ५॥

भावार्थ—प्राचीन समय के बड़े गृहस्थ और बड़े वेदवेत्ता जिन्होंने इस बात को जान लिया था, उन्होंने कहा—अब हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं बतलायेगा, जो हमारी न सुनी हुई, न समझी हुई और न जानी हुई हो। क्योंकि इन तीन रूपों के जानने से उन्होंने सब कुछ जान लिया था॥ ५॥

वे किस प्रकार जान गये, यह कहते हैं—

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः॥ ६॥

भावार्थ—जो कुछ लाल सा है वह उन्होंने तेज का रूप जाना, जो शुक्ल सा है वह जल का रूप है ऐसा उन्होंने जाना, तथा जो कृष्ण सा है वह अन्न का रूप है ऐसा उन्होंने जाना है॥ ६॥

यदु विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति॥ ७॥

भावार्थ—जो विज्ञात सा है वह इन देवताओं का ही समुदाय है, ऐसा उन्होंने जाना। हे सोम्य! अब तू मुझ से यह जान कि ये तीनों देवता जब पुरुष को प्राप्त होते हैं, तब किस प्रकार उन में से त्रिवृत् त्रिवृत् हो जाते हैं, यानी हर एक तीन तीन गुने हो जाते हैं॥ ७॥

त्रि० वि० भाष्य—श्वेतकेतु के पिता ने ही अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् ये चार दृष्टान्त जगत् के अपवाद के लिए कहे हैं। जैसे हे श्वेतकेतो! अग्नि आदि चारों में जो रक्त रूप प्रतीत हो रहा है वह तेज का जानना, जो शुक्ल है वह जलों का और इन चारों में जो कृष्ण है वह अन्न का याने पृथिवी का रूप है। कारण, तेज आदिकों के रूप के बिना कार्यभूत अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् आदि विकार वाणी करके सिद्ध हैं। ये नाम मात्र से पृथक् नहीं। पृथक् करके मिथ्या ही हैं। इस प्रकार जो जो संसार में पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, वे वे अपने कारण तेज, जल, पृथिवी इन के रूपों से पृथक् नहीं हैं। तेज आदिक सर्व पदार्थों का कारण परमात्मा है, उस परमात्मरूप कारण से भिन्न कोई तेज आदि सिद्ध नहीं होता। इस सत्य परमात्मरूप कारण के ज्ञान से तेज आदि कार्य का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान कहा है।

अब इस विषय में विद्वानों के अनुभव का वर्णन करते हैं, यथा—हे श्वेतकेतो! कोई विद्वान् कारण को सत्य जानकर हर्ष को प्राप्त होकर इस प्रकार का वचन कहते हैं—हमारे विद्यारूप कुल में जो मनुष्य उत्पन्न होंगे उन में कोई मनुष्य भी अज्ञात वस्तु का कथन न करेगा, किन्तु कारणरूप सत्य को जानकर तथा कारण से भिन्न कार्य को मिथ्या जानकर ज्ञात वस्तु का ही निरूपण करेगा ॥ १-७ ॥

विशेष—अग्नि जल आदि कोई मौलिक पदार्थ नहीं है, ऐसी कुछ अन्य चीजें हैं जिन के मिश्रण से ये बने हैं। अग्नि का अग्निपना कोई अपना स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि अग्नि तीन रूपों का विकारविशेष है, इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह बात सृष्टि के आदि में जो आर्य ऋषियों ने बता दी थी आज विज्ञान-जगत् में उसी का समर्थन हो रहा है। सारा ही जगत् त्रिवृत्कृत है, और अग्नि की तरह केवल तीन ही रूप सत्य हैं तो अग्नि के अग्नित्व की तरह संसार का संसारत्व भी निवृत्त हो गया। तथा जल का कार्य अन्न है, इसलिए जल ही सत्य है, अन्न केवल वाचारम्भण मात्र है, तथा तेज का कार्य होने के कारण जल का भी वाचारम्भणत्व ही है, तेज ही सत्य है। और तेज भी सत् का कार्य है, इसलिए उस का भी वाचारम्भणत्व है, केवल सत् ही सत्य है। यहाँ यही अर्थ बताना इष्ट है कि सत्य केवल सत् है, और उस के जाननेवाले को कुछ भी अनजाना नहीं रह जाता ॥ १-७ ॥

पञ्चम खण्ड

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १

भावार्थ—जब अन्न (पृथिवी) खाया जाता है तो वह तीन प्रकार का हो जाता है, उस का सब से स्थूल भाग मल बन जाता है। जो मध्य भाग है वह मांस हो जाता है, और जो सब से सूक्ष्म भाग है वह मन हो जाता है ॥ २ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

भावार्थ—पीये हुए जल तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं, उन का जो स्थूलतम भाग है, वह मूत्र होता है, जो मध्य भाग है वह रुधिर और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है ॥ २ ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३ ॥

भावार्थ—घृतादि तैजस रूप पदार्थ भुक्त होने पर तीन प्रकार का हो जाता है। उस का जो स्थूल भाग है वह अस्थि हो जाता है, जो मध्य भाग है वह मज्जा और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है ॥ ३ ॥

क्योंकि यह बात है—

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! मन अन्नमय है, अन्न का बना हुआ है। प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है। ऐसा सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—भगवन् !

मुझे फिर कहिये, अधिक स्पष्ट करके बताइये। तब आरुणि उद्दालक ने 'अच्छा सोम्य' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले बाह्य अग्नि, चन्द्रादि सर्व पदार्थों में भूतकार्यता वर्णन करने के अनन्तर अब स्थूल सूक्ष्म शरीरों में भी भूतकार्यता का वर्णन करते हैं, जैसे—हे श्वेतकेतो ! भक्षण किये हुए अन्न के उदर में जाकर तीन भाग होते हैं। अन्न का जो स्थूल भाग है वह विष्ठा, मध्य भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है। इसी प्रकार पीया हुआ जल भी स्थूल, मध्य, सूक्ष्म भाग से क्रमश मूत्र, रुधिर और प्राण हो जाता है। एवं तैल घृतादिरूप तेज भी अस्थि, मज्जा और वाणी में विभक्त हो जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि अन्न का कार्य मन है, जल का प्राण और अग्नि का कार्य वाणी है।

यद्यपि अन्य उपनिषदों में भूतों के सात्त्विक भाग का कार्य मन, राजस का प्राण और आकाश के राजस भाग का कार्य वाक् इन्द्रिय कहा है, तथापि तैल घृतादिरूप तेज वागिन्द्रिय की पुष्टि का हेतु है। प्राण की स्थिति का हेतु जल है और मन की पुष्टि का हेतु अन्न है। मन आदि कार्य तो भूतों के सात्त्विक भागों के ही हैं ॥ १-४ ॥

विशेष—संसार की प्रत्येक वस्तु अन्न, जल और तेज इन तीनों की बनी हुई है। इस लिए जो कोई वस्तु जिस किसी प्राणधारी से खाई जाती है, उस में इन तीनों का भाग पाया जाता है, चाहे उस का न्यूनाधिक भाग कुछ ही हो। ऊपर कहा गया है कि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है। यहाँ शंका होती है कि केवल अन्न भक्षण करनेवाले चूहे आदि वाक्-युक्त और प्राणवान् देखे जाते हैं। तथा समुद्र में रहनेवाले केवल जल मात्र के भक्षक मत्स्य एवं मकर आदि मन और वाणी से युक्त होते हैं। इसी प्रकार घृतादि न खानेवालों का भी प्राणवत्त्व और मनस्वित्व अनुमानतः जाना जा सकता है। तब फिर 'हे सोम्य ! मन अन्नमय है' इत्यादि कथन कैसे किया जाता है ?

उत्तर यह है कि सब कुछ त्रिवृत्कृत होने के कारण सब का सब वस्तुओं में होना सम्भव है। कोई भी जीव अत्रिवृत्कृत अन्न भक्षण नहीं करता, और न अत्रिवृत्कृत जल तथा तेज ही पीता एवं खाता है। अतः कुछ विरोध नहीं है। ईश्वर की अगम्य अतर्क्य सृष्टि में किसी जीव या वस्तु में शक्ति के विकास को देखकर सामान्य सिद्धान्तों पर विचार करना चाहिये ॥ १-४ ॥

षष्ठ खण्ड

पिता ने श्वेतकेतु को बताने को जो कहा था, अब उसे कथन करते हैं, यथा—

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! मथे जाते हुए दही का जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है, वह मक्खन बनता है ॥ १ ॥

जैसा यह दृष्टान्त है उसका दार्ष्टान्त—

एवमेव खलु सोम्याऽन्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सब से सूक्ष्म भाग ऊपर उठ आता है, वह मन बन जाता है ॥ २ ॥

अपाᳬ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—पीये हुए जलों का जो सूक्ष्म भाग है, वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है, वही प्राण होता है ॥ ३ ॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! भक्षण किये हुए तेज का जो सूक्ष्म भाग होता है वह एकत्र होकर ऊपर आ जाता है, और वह वाणी होता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार—

अन्नमयᳬ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है। आरुणि से ऐसा सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—भगवन् ! मुझे फिर समझाइये। पिता ने कहा—तथा अस्तु। अर्थात् यह सुनकर आरुणि ने कहा—हे सोम्य ! अच्छा ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—श्वेतकेतु ने पूछा कि हे भगवन् ! सूक्ष्म जो मन आदिक हैं वे स्थूल अन्न आदिकों का कार्य कैसे हो सकते हैं ? यह सुनकर उद्दालक ने उत्तर दिया कि हे प्रियदर्शिन्। जैसे दधि के मथन करने से स्थूल दधि से भी सूक्ष्म घृत की उत्पत्ति होती है, वैसे ही मन आदि सूक्ष्म भी स्थूल भूतों से प्रकट होते हैं। जैसे स्थूल दही का मध्य भाग फेन है, तथा स्थूल भाग तक्र होता है, वैसे ही स्थूल भूतों के मध्यम स्थूल भागों का पहले निरूपण किया गया है ॥ १–५ ॥

विशेष—उद्दालक ने कहा कि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है। इस प्रकार मेरा यह कथन यथार्थ ही है। इस पर श्वेतकेतु ने पूछा—आप के कथनानुसार जल और तेज के विषय में तो भले ही सब कुछ ऐसा ही हो, किन्तु अभी तक मुझे इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं हुआ कि मन अन्नमय है। अतः हे भगवन् ! मुझे मन का अन्नमयत्व फिर दृष्टान्त द्वारा समझाइये। यह सुनकर पिता ने पुत्र को समझाने का फिर उपक्रम किया॥ १-५ ॥
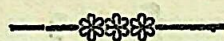
सप्तम खण्ड

मन अन्नरस से ही बना हुआ है, इसे अन्वय व्यतिरेक से दिखाते हैं, यथा—

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माऽशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! पुरुष सोलह कलाओंवाला है। यदि तू पूर्ण रूप से जानना चाहता है तो पन्द्रह दिन भोजन मत कर, जल को ही इच्छानुसार पीकर रह। प्राण जलमय है, जल पीते हुए तेरा प्राण शरीर से न पृथक् होगा ॥ १ ॥

पिता के ऐसा कहने पर—

स ह पञ्चदशाहानि नाऽऽशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥ २ ॥

भावार्थ—उस श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन भोजन नहीं किया। इसके अनन्तर वह पिता आरुणि के पास जाकर बोला—हे भगवन्! क्या बोलूँ, याने क्या सुनाऊँ? पिता ने कहा—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद सुना। श्वेतकेतु बोला—हे भगवन्! मुझे उनका स्फुरण नहीं होता, याने मुझे कुछ भी भान नहीं हो रहा है ॥ २ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर पिता ने उत्तर दिया कि इस विषय में जो कारण है, उसे सुन—

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस श्वेतकेतु से उद्दालक बोला कि हे सोम्य! जैसे बहुत सी प्रज्वलित अग्नि का एक अङ्गार जब खद्योतमात्र शेष रह जाता है, तब उस से फिर बहुत दाह नहीं होता। इसी प्रकार हे सोम्य! तेरी सोलह कलाओं में से केवल एक कला रह गई है। उस के द्वारा तू वेदों का अनुभव नहीं कर सकता। ठीक है, जा भोजन कर, तब तू मेरी बात समझ सकेगा ॥ ३ ॥

ऐसा कहा जाने पर—

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳ ह यत्किंच पप्रच्छ सर्वꣳ ह प्रतिपेदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस श्वेतकेतु ने भोजन किया और फिर आरुणि के पास आया। तब उस से पिता ने जो कुछ पूछा, वह सब उसे उपस्थित हो गया ॥ ४ ॥

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—श्वेतकेतु से उद्दालक बोला—हे सोम्य ! जैसे बड़ी भारी प्रज्वलित अग्नि का एक अङ्गार जो खद्योतमात्र बचा हुआ है, उसे तृण से सम्पन्न कर जला दिया जाय तो वह अपने पूर्व परिमाण की अपेक्षा अधिक दाह कर सकता है ॥ ५ ॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत्साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! इसी प्रकार तेरी सोलह कलाओं में से एक कला जो शेष बच रही है वह अन्न द्वारा वर्धित होकर प्रज्वलित हो गई। अब उसी से तू वेदों का अनुभव कर रहा है। क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है। उस प्रसिद्ध पिता के उपदेश को श्वेतकेतु समझ गया, उस ने समझ लिया ॥ ६ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे श्वेतकेतो ! यदि तुझ को 'मन अन्न का कार्य है' इस अर्थ के दृढ निश्चय करने का संकल्प है तो पन्द्रह दिन तक भोजन न कर, किन्तु जलपान अपनी इच्छा के अनुसार करता रह। जो जल पीना छोड़ देगा तो शरीर नहीं रह सकेगा। हे सोम्य ! यह मनोमय जीव अन्न की शक्ति से सोलह कलावाला कहाता है। अन्न के भक्षण से उत्पन्न हुई जो मन की वृत्तियाँ हैं, वे ही कला कहाती हैं, उन वृत्तियों से विशिष्ट पुरुष षोडशकल कहाता है।

इस प्रकार पिता की आज्ञा मानकर पुत्र ने पन्द्रह दिन तक भोजन नहीं किया। फिर पिता के पास जाने पर उस से पिता ने कहा—हे पुत्र ! तूने जो गुरु से पढा है, उसे मुझे सुना। पुत्र बोला—हे भगवन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद जो मैं ने गुरु से श्रवण किये थे, उन में से मुझ को एक भी नहीं स्फुरण होता। पिता ने कहा—हे पुत्र ! जैसे महान् प्रज्वलित अग्नि काष्ठादिकों को दग्ध करके जब

केवल खद्योत सदृश अङ्गाररूप से शेष रह जाती है, उतने भर से बहुत काष्ठादिकों का दहन नहीं होता। वैसे ही पन्द्रह दिन तक भोजन न करने से तेरे मन की पंचदश कलाओं का नाश हो गया है, केवल एक कला शेष रह गई है। इस कारण मन से तू किञ्चित् भी नहीं जानता। अभी भोजन कर ले।

जब श्वेतकेतु ने भोजन किया तो पिता ने जो पूछा था वह सब कह दिया। पिता ने कहा—हे पुत्र! जैसे खद्योत के समान अग्नि की चिनगारी में शुष्क तृणों का संयोग करने पर प्रज्वलित होकर वह लकड़ियों के ढेर को जला देती है। वैसे ही आहार न करने से जो तेरे मन की कला सिर्फ एक ही रह गई थी, अब भोजन करने से अग्नि की तरह उसकी सोलहों कला सावधान हुई हैं, इसी से अब तू वेदों को जानता है। इस रीति से पिता उद्दालक ने तेज आदिकों के कारण अद्वितीय परमात्मा तत्पदार्थ का निरूपण किया॥ १-६॥

विशेष—खाये हुए अन्न का जो सूक्ष्म भाग मन में शक्ति पहुँचाता है, वह शक्ति अन्न से बढती है, उस के सोलह विभाग हैं, ये ही षोडस अंश कला कहलाती हैं। अर्थात् भक्षित अन्न के सूक्ष्मतम अंश ने मन में शक्ति का सञ्चार किया, उस मन की शक्ति का सोलह प्रकार से जो विभाग है, उसे ही पुरुष की कलारूप से निर्देश किया गया है। मन में अन्न के द्वारा उपचित तथा सोलह भागों में विभक्त हुई शक्ति से संयुक्त याने उस शक्तिवाले देह और इन्द्रियों का संघातरूप, जीवविशिष्ट पुरुष सोलह कलाओंवाला कहा जाता है। इसी मन की शक्ति के रहने पर पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञाता तथा समस्त क्रियाओं में समर्थ होता है और इसी के क्षीण होने से उस की शक्ति का ह्रास हो जाता है। लोक में मनोबल से सम्पन्न पुरुष बलवान् देखे जाते हैं। क्योंकि अन्न सर्वरूप है, अतः मानसिक बल अन्न से ही होता है। जैसे चन्द्रमा की सोलह कला पन्द्रह दिन बढ़ती या घटती हैं, इसी प्रकार ये पुरुष की कला भी पन्द्रह दिन भोजन न करने से क्षीण होती जाती हैं, भोजन करने से बढ भी जाती हैं। यहाँ अन्तिम मन्त्र के अन्त में 'विजज्ञौ इति' इन पदों का दो बार उच्चारण त्रिवृत्करण विद्या के प्रकरण की समाप्ति के लिए है॥ १-६॥

अष्टम खण्ड

त्रिवृत्करणविषयक अवान्तर प्रकरण को समाप्त करके पुनः सत् विषय का

अनुसरण करते हुए मन के लय होने पर सुषुप्ति में जीव की सत्सम्पत्ति का वर्णन करने के लिए जो कहा गया उसे कहते हैं, यथा—

उद्दालको हाऽऽरुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसिद्ध है कि अरुण का पुत्र उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र से बोला—हे सोम्य ! तू मुझ से स्वप्नान्त [सुषुप्ति अथवा स्वप्न के स्वरूप] को याने सुषुप्ति अवस्था की विद्या को विशेष रूप से जान ले। जिस अवस्था में यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जा सकता है, उस काल में हे सोम्य ! यह सत् से सम्पन्न हो जाता है, ब्रह्म के साथ मिल जाता है, याने अपने स्व स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। उस समय इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं। क्योंकि उस समय यह स्व=अपने को ही, अपीत=प्राप्त हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप में लीन हो जाता है ॥ १ ॥

इस प्रकार उक्त सत्=संपत्ति को ही दृष्टान्त से बोधन करते हैं, यथा—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे डोरी में बँधा हुआ पक्षी चारों ओर उड़ने के लिए फड़फड़ाकर अन्यत्र स्थान लाभ न करता हुआ अपने बन्धनस्थान का ही सहारा लेता है, उसे उसी आश्रय पर आना पड़ता है। इसी प्रकार निश्चय हे सोम्य ! यह मन दिशा विदिशाओं में जाकर अन्यत्र स्थान न पाता हुआ प्राण का ही सहारा लेता है। क्योंकि हे सोम्य ! मन प्राणरूप बन्धनवाला है, प्राण से बँधा है ॥ २ ॥

'स्वपिति' इस नाम की प्रसिद्धि के द्वारा जीव के सत्यस्वरूप जगत् के मूल को पुत्र के प्रति दिखाकर अन्न-जल आदि कार्य-कारण परंपरा से भी जगत् के मूलभूत सत् को दिखाने की इच्छा से उद्दालक ने कहा—

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! भूख और प्यास के तत्त्व को तू मुझ से जान ले ! जिस समय यह पुरुष 'अशिशिषति' खाना चाहता है, ऐसे नामवाला होता है, अर्थात् भूखा होता है, तो उस समय जल ही उस के भक्षण किये हुए अन्न को ले जाता है। इस का अभिप्राय यह हुआ कि जब यह कहा जाता है कि 'भूखा है' तो जल उस के खाये हुए को पचा रहा है। जिस प्रकार लोक में गाय ले जानेवाले को 'गोनाय' घोड़ा ले जानेवाले को 'अश्वनाय' और पुरुषों को ले जानेवाले राजा या सेनापति को 'पुरुषनाय' कहते हैं, उसी प्रकार जल को (जो अन्न को जीर्ण करता है और क्षुधा का कारण है) 'अशनाय' इस नाम से कथन करते हैं। हे सोम्य ! यह जो अन्न के पचने आदि से शरीररूप अङ्कुर निकलता है, विश्वास रख कि यह बिना कारण के नहीं हुआ। क्योंकि कार्य बिना सत् कारण के नहीं होता॥ ३ ॥

वटाङ्कुरवत् यह शरीर समूल है तो इसके मूल को कहिये ? इस का उत्तर देते हैं कि—

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—उसका मूल सिवाय अन्न के और कहाँ हो सकता है ? इसी प्रकार हे सोम्य ! अन्न भी एक अङ्कुर है, उसके भी मूल को खोज। ढूँढने पर पता चलेगा कि वह जल है। इसी प्रकार जलरूप कार्य द्वारा तेजोरूप मूल को समझ,

एवं तेजरूप शुङ्ग के द्वारा सद्रूप मूल का अनुसन्धान कर। बस, हे सोम्य! इन सारी प्रजाओं का वास्तविक मूल सत् है, अब भी स्थितिकाल में यह सत् के आश्रित हैं और अन्त को सत् में ही लीन होती हैं॥ ४॥

अब जलरूप अङ्कुर के द्वारा भी सत् का अनुसन्धान करते हैं, यथा—

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ५॥

भावार्थ—अब यह कथन करते हैं कि जिस काल में यह पुरुष प्यासा होता है, तब तेज ही उस पीये हुए को यथास्थान में पहुँचाता है। याने प्राणादि रूप में बदलता है। अतः जिस प्रकार 'गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय' कहाते हैं, उसी प्रकार उस तेज को 'उदन्या' ऐसा कहा जाता है। हे सोम्य! उस जलरूप मूल से यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ है, ऐसा जान। अवश्य ही यह बिना मूल (कारण) के नहीं हो सकता॥ ५॥

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥ ६॥

भावार्थ—उसका मूल जल के अतिरिक्त और कहाँ हो सकता है? इसी प्रकार हे सोम्य! जल भी एक अङ्कुर है, उस से तू उसके मूल का अन्वेषण कर, ढूँढने पर मालूम होगा कि वह तेज है। तेज को भी एक अङ्कुर ही समझ, उसके भी मूल को ढूँढ, वह सत् है। बस, हे सोम्य! इन सारी प्रजाओं का मूल सत् है,

वे सत् की आश्रय हैं और सत् में लीन होती हैं। हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीनों देवता [अन्न, जल और तेज] पुरुष को प्राप्त होकर अपने में से प्रत्येक त्रिवृत् त्रिवृत् याने तीन तीन गुनी हो जाती हैं, यह पहले ही कहा है। हे सोम्य! जब कोई पुरुष यहाँ से चलता (मरता) है तो उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राणों में, प्राण तेज में और तेज परा देवता (सत्) में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह जो यह अणिमा है, सूक्ष्मता है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। आरुणि उद्दालक का उपर्युक्त कथन सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। पिता ने उत्तर दिया—तथास्तु, यानी बहुत अच्छा बेटा ॥ ७॥

वि० वि० भाष्य—अद्वितीय परमात्मा ही 'त्वं' पदार्थ प्रत्यग्रूप है, अब इस अर्थ का निरूपण करते हैं। जैसे—हे श्वेतकेतो! यह जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में सद्रूप ब्रह्म को प्राप्त होता है। इस से जीव सुषुप्ति में 'स्वपिति' नामवाला कहाता है। जैसे कोई बाज, चील, बुलबुल आदि पक्षी डोरी में बँधा हुआ अनेक दिशाओ में चलायमान होता है, इधर उधर उड़ने को फड़फड़ाता है, किन्तु अन्य स्थान में आश्रय को न प्राप्त होकर अपनी खूँटीरूप स्थान पर ही आ जाता है। वैसे ही मनविशिष्ट जीव भी जाग्रत् स्वप्न में भ्रमण करता हुआ कहीं आश्रय नहीं पाता, सुषुप्ति में ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। हे श्वेतकेतो! यह आत्मा वास्तव में क्षुधा पिपासा से रहित है, भूख प्यास तो प्राणों का धर्म है। प्राणों के साथ अध्यास करके जाग्रत स्वप्न अवस्था में उन प्राणों के क्षुत् तृट् धर्मों को व्यर्थ ही इसने अपने में मान रखा है। जब भूखा मनुष्य अन्न खाता है तो उसे जल द्रवीभाव करके ले जाता है। इस कारण जल का नाम 'अशनाय' है, यानी अशन भोजन, जो उसको ले जाय। जैसे अश्वों को प्राप्त करनेवाले 'अश्वनाय' कहाते हैं, गौओं के ले जानेवाले 'गोनाय' वैसे ही अन्न को ले जाने के कारण जल को 'अशनाय' और जल को ले जाने के कारण तेज का नाम श्रुति में 'उदन्या' कहा है।

हे श्वेतकेतो! इस शरीररूप कार्य से अन्नरूप कारण को जान, क्योंकि

कारण द्वारा ही कार्य का ज्ञान हुआ करता है। इस से शरीररूप कार्य द्वारा कारण-रूप अन्न का ज्ञान होता है। उस अन्नरूप कार्य से पृथिवीरूप कारण का निश्चय कर। जलरूप कार्य से तेजरूप कारण का अन्वेषण कर और तेजरूप कार्य से कारण जो सदात्मा ब्रह्म है, उस का निश्चय कर। यह स्थावर जंगमरूप सर्व प्रजा सद्ब्रह्म का ही कार्य है तथा सद्रूप ब्रह्म में स्थित है और उसी में लीन हो जाती है। इस कारण सर्व नाम रूप प्रपञ्च आत्मरूप है, इस सूक्ष्म आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। सो ब्रह्म ही आत्मा है, इस तरह ब्रह्मरूप ही तू है।

यह सुनकर श्वेतकेतु शङ्का करता है कि हे भगवन्! भला मैं ब्रह्म कैसे हूँ? मैं परिच्छिन्न (व्याप्य) हूँ, ब्रह्म तो व्यापक है। यह सुन पिता ने समाधानरूप प्रथमाभ्यास का यों निरूपण किया—हे श्वेतकेतो! जब मनुष्य मरता है तो पहले नेत्रादि इन्द्रिय सहित वाक् इन्द्रिय मन में लय हो जाती है। मन प्राण में, प्राण सूक्ष्म पंचभूतों सहित जीवात्मा में और उन भूतों सहित जीवात्मा माया सहित ब्रह्म में लय भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण मरण समय में जीव जिस ब्रह्म में एकता को प्राप्त होता है, ऐसा ब्रह्म तू ही है। नित्य ही सुषुप्ति अवस्था में तू उस ब्रह्म के साथ अभेद भाव को प्राप्त होता है। परिच्छिन्नता आदिक भी केवल शरीरादि उपाधि करके हैं, वास्तव में तू शुद्ध पूर्णरूप ब्रह्म ही है। इस से इन परि-च्छिन्न देहादिकों में अभिमान को त्याग कर अपने शुद्ध रूप ब्रह्म का स्मरण कर।

श्वेतकेतु शङ्का करता है—हे भगवन्! जब कि सभी जीव सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म में एकता को प्राप्त होते हैं, तब सर्व साधारण जनों को अनुभव होना चाहिये कि हम ब्रह्म के साथ अभिन्न एक हुए हैं। अभेद तो हो जाय पर उस का ज्ञान नहीं हो यह कैसी बात है? इस विषय को मुझे अनुकूल दृष्टान्त देकर समझाने की कृपा कीजिये, मेरे प्रश्न का सरल उत्तर दीजिये। पिता ने कहा अच्छा॥ १-७॥

विशेष—'अन्न शरीर का मूल रस है' इसका भाव यह है कि अन्न जब खाया जाता है तो उसको तेज जीर्ण कर देता है और वह जठराग्नि में जाकर एक प्रकार का रस बन जाता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डियों से मज्जा और मज्जा से वीर्य हो जाता है। दूसरी ओर स्त्री से खाया हुआ अन्न रस आदि के क्रम से रज बनता है। रज और वीर्य ये दोनों अन्न के कार्य हैं, इन उभय के मेल से नया शरीर बनता है और वह प्रतिदिन के आहार से बढ़ता है। जब पुरुष मरता है तो पहले उसकी वाणी बंद होती है, वह बोलता नहीं, पर समझता है। फिर उसका मन लीन होता है, वह कुछ नहीं समझता, पर

उसकी छाती गरम रहती है। फिर जब तेज लीन हो जाता है, वह ठंडा हो सदा के लिए चल बसता है।

"तत्त्वमसि" यह वेदान्त का सब से बड़ा वाक्य उन चार महावाक्यों में से एक है, जो अद्वैतवाद के स्तम्भ माने गये हैं। इन महावाक्यों के विषय में अनेक वादियों का परस्पर बहुत विचार है जो यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा। यह "तत्त्वमसि" महावाक्य यहाँ नौ बार दुहराया गया है। इसी से इसका महत्त्व पाठकों की समझ में आ जायगा ॥ १-७ ॥
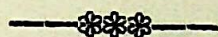
नवम खण्ड

प्रतिदिन सत् को प्राप्त होकर भी प्रजा यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हुईं, इसमें दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाᳬ रसान्समवहारमेकताᳬ रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! जिस प्रकार मधु बनानेवाली मक्खियाँ मधुसमूह को बनाती हैं तो नाना गतियोंवाले, विविध दिशाओं में स्थित वृक्षों का रस इकट्ठा करके उस को एकरूप में एकरस बना देती हैं ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

भावार्थ—वे रस जैसे मधु में इस प्रकार विवेचन नहीं कर सकते कि मैं इस वृक्ष का रस हूँ, मैं उस वृक्ष का रस हूँ। हे सोम्य ! इसी प्रकार जब [सुषुप्ति में या मरणानन्तर] सारे जीव सत् में लीन हो जाते हैं, तो वे यह नहीं जानते कि हम सत् में लीन हुए हैं ॥ २ ॥

वे अपनी सद्रूपता को बिना जाने ही सत् को प्राप्त होते हैं, इसलिए—

त इह व्याघ्रो वा सिᳬहो वा वृको वा वराहो वा कीटो

वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे इस जगह, इस लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतंग, डाँस अथवा मच्छर जो जो भी सुषुप्ति आदि से पहले होते हैं, वे ही पुनः हो जाते हैं ॥ ३ ॥

जिस में प्रवेश करके साधारण प्रजा तो लौट आती है, सत्यात्मा के अभिनिवेशी नहीं लौटते, यह कहते हैं, यथा—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह जो अणिमा (सूक्ष्मता) है एतद्रूप ही यह सब है, अर्थात् वह सूक्ष्म ही सब का मूल है। वह सत्य है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! वही तू है। उद्दालक की यह बात सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—भगवन्! मुझे फिर बतलाइये। पिता ने उत्तर दिया—तथास्तु हे सोम्य! ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर पिता द्वितीय अभ्यास का कथन करता है—हे पुत्र! जैसे नाना वृक्षों के रसों को मक्षिका मधु में एकत्र करती है, उन रसों को यह ज्ञान नहीं होता कि हम अमुक वृक्ष के रस हैं। और जैसे किसी के घर में भूमि में खजाना दबा होता है पर उसे उस का पता नहीं होता। वैसे ही तुम नित्य सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त होते हो, परन्तु अज्ञान के सद्भाव से तुम को 'हम ब्रह्म से अभिन्न हैं' यह ज्ञान नहीं होता। एवं ज्ञान के साधन मन आदिकों का अभाव होने से भी सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता। अविद्या, कर्म, वासनाओं के अनुसार व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश और मशक इत्यादि अपने शरीरों को सुषुप्ति से उठकर सब जीव प्राप्त होते हैं। ऐसा शुद्ध ब्रह्म तेरा स्वरूप है, उस का निश्चय कर ॥ १-४ ॥

विशेष—चौथे मन्त्र के अन्त में अपने पिता से श्वेतकेतु ने यह कहा है कि हे भगवन्! आप मुझे फिर समझाइये। इस शङ्का का अभिप्राय यह है कि श्वेतकेतु कहता है—हे पिताजी! सुषुप्ति अवस्था में तथा मरणावस्था में सब की ब्रह्म के

साथ एकता होती है; यह तो मैंने समझा। परन्तु जब कोई पुरुष अपने घर में सोता है और सवेरे उठकर फिर किसी दूसरे गाँव में जाता है, वह जानता है कि मैं अपने घर से आया हूँ। तब क्या कारण है कि प्रजाएँ सत् से आकर नहीं जानतीं कि हम सत् से आई हैं। अर्थात् जैसे सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ हम अभिन्न हुए थे, अब उस ब्रह्म से ही हम ने आगमन किया है; ऐसा जाग्रत में स्मरण होना चाहिये, पर होता नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। इस कारण मुझे फिर समझाइये ॥ १–४ ॥

दशम खण्ड
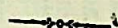
अब इस विषय में श्वेतकेतु को दृष्टान्त श्रवण कराते हैं—

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! पूर्व दिशा की ओर जानेवाली वे नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं तथा पश्चिम की ओर जानेवाली नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। वे समुद्र से निकलकर फिर समुद्र में ही मिल जाती हैं, समुद्र ही हो जाती हैं। (मेघ समुद्र से खींचकर पानी को अन्तरिक्ष में ले जाते हैं, वहाँ से वह बरसता है, फिर नदियों से बहकर समुद्र में जा मिलता है, फिर वहाँ से बादल खींचते हैं, फिर वृष्टि और फिर नदियों द्वारा सागर में जाता है। इस प्रकार) वे नदियाँ समुद्र को प्राप्त होकर यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ' ॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—इसी प्रकार निश्चय करके हे सोम्य ! ये सब प्रजा सत्स्वरूप ब्रह्म से आकर यह नहीं जानतीं कि हम सत् से आई हैं। इस लोक में वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतंग, डाँस अथवा मच्छर जो जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जो यह सूक्ष्मता है, यह सब कुछ इसी से आत्मावाला है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! वही तू है। पुत्र ने कहा—हे भगवन् ! मुझे फिर समझाइये। पिता ने उत्तर दिया—अच्छा सोम्य ! ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—इस शंका के समाधान के लिए पिता तृतीय अभ्यास का कथन करते है कि हे पुत्र ! जैसे प्राणियों के कर्मों द्वारा प्रेरित हुए मेघ समुद्र से जल ग्रहण करके देशान्तर में डाल देते हैं, वह जल नदीरूप से सागर की ओर जाता है। वे नदियाँ अपने वास्तविक समुद्ररूप को नहीं जानतीं। वैसे ही तू भी अद्वितीय ब्रह्मरूप है, केवल उपाधि करके तूने परिच्छिन्न भाव को धारण कर रखा है, इस कारण देहादि उपाधि से तू परिच्छिन्नता को प्राप्त हो रहा है। अब देहादि उपाधि का परित्याग करके अपने शुद्ध रूप का निश्चय कर। तू शुद्ध निर्विकार ब्रह्मरूप है ॥ १-३ ॥

विशेष—तृतीय मन्त्र के अन्त में 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु' 'फिर मुझे समझाइये' ऐसा कहा है। इस कथन का यह तात्पर्य है कि उद्दालक से श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन् ! नदियों के दृष्टान्त में मुझे सन्देह है। जैसे नदियाँ समुद्र में लय भाव को प्राप्त होकर नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही जीव का भी नाश होगा। उस विनाशी जीव की ब्रह्म के साथ एकता नहीं बन सकती। और यह नाम रूप प्रपञ्च भी उस सद्रूप ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, सो यह प्रपंच भी सत्य होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जैसे तरंग, झाग और बुदबुद जो पानी से उठते हैं, फिर पानी में लीन होकर नष्ट हो जाते हैं। पर ये प्रजाएँ सत् से आकर सुषुप्ति में, मरने में और प्रलय में सत् में लीन होती हुई नष्ट क्यों नहीं हो जातीं ? यह मुझे फिर समझाइये ॥ १-३ ॥

———

एकादश खण्ड

जीव के नष्ट न होने को दृष्टान्त से कहते हैं, यथा—

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य ! यदि कोई इस सामनेवाले बड़े वृक्ष की जड पर चोट पहुँचाये तो यह जीता हुआ ही बहा करेगा। अर्थात् इसमें से रस बहेगा, यह सूख नहीं जायगा, जीता रहेगा। यदि मध्य में आघात करे तो भी वह जीवित रहेगा पर रस बहाता रहेगा। यदि कोई चोटी पर आघात करे तो भी वृक्ष जीता हुआ बहेगा। वह वृक्ष जीते हुए आत्मा से व्याप्त हुआ और पुष्टिकारक रसों को पूरी तरह पीता हुआ हरा भरा होकर खड़ा रहेगा ॥ १ ॥

अस्य यदेकाᳬं शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच ॥ २ ॥

भावार्थ—पर जब उस वृक्ष की एक शाखा को जीव छोड देता है तब वह सूख जाती है। यदि दूसरी को छोड देता है तो वह सूख जाती है और तीसरी को छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है। इसी प्रकार यदि जीव सारे वृक्ष को छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ २ ॥

जीव से युक्त वृक्ष नहीं सूखता, रस पान करता रहता है, पर जीव से रहित होने पर मर जाता है, रस भी नहीं पी सकता है। वृक्ष के दृष्टान्त से यह कहा गया है, यही कहते हैं, यथा—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे सोम्य! इसी प्रकार निश्चय करके तू जान कि जीव से पृथक् हुआ यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। आरुणि ने ऐसा कहा। सो जो यह सूक्ष्मता सबका मूल है, यह सब कुछ इसी से आत्मावाला है। वह सत्य है, वह आत्मा है; हे श्वेतकेतो! वह तू है। आरुणि के ऐसा कहने के अनन्तर श्वेतकेतु बोला—हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। यह सुन आरुणि ने कहा—अच्छा प्रियदर्शिन्! ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—उक्त शंका की निवृत्ति के लिए पिता चतुर्थ अभ्यास को कहता है—हे श्वेतकेतो! जैसे इस वृक्ष के मूलदेश में कुठार आदिकों के प्रहार करने से रस निकलता है, मध्य में प्रहार करें तो भी रस बहता है, और वृक्ष के अग्र भाग में प्रहार करें तो भी रस बहता है। इस से प्रतीत होता है कि वृक्ष निश्चय ही जीवसहित है। तथा वृक्षशरीरवाला जीव जब एक शाखा का त्याग कर देता है तब वह शाखा शुष्क हो जाती है। द्वितीय शाखा के त्यागने से वह भी सूख जाती है, और इसी तरह तीसरी भी। जब जीव सर्व वृक्षशरीर का त्याग करता है तब पूरा वृक्ष सूख जाता है। वैसे ही यह जीवात्मा मनुष्यदेहादिकों का त्याग करता हुआ द्वितीय देह का ग्रहण करता है। जीव का कभी नाश नहीं होता। केवल कर्मों करके प्राप्त इस स्थूल देह का ही नाश होता है। यह नित्य जीवात्मा ही ब्रह्मरूप है। ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जो नाम रूप जगत् है, वह रज्जुसर्प की तरह मिथ्या है, सत्य नहीं। जैसे रज्जु से उत्पन्न हुआ सर्प मिथ्या ही है, सत्य नहीं कहाता, वैसे ही ब्रह्म से उत्पन्न हुआ प्रपंच मिथ्या है, सत्य नहीं। इस कारण हे श्वेतकेतो! तू अपने अद्वितीय भाव को ग्रहण कर ॥ १-३ ॥

विशेष—इस खण्ड के तृतीय मन्त्र के अन्त में जो यह कहा है कि हे भगवन्, मुझ को फिर समझाइये, इस का तात्पर्य यह है—पिता से पुत्र बोला कि हे भगवन्! इस सूक्ष्म ब्रह्म से यह स्थूल प्रपञ्च कैसे उत्पन्न होता है ? तथा ब्रह्म इस स्थूल

जगत् का आधार भी कैसे है? स्थूल मृत्तिका ही घट को उत्पन्न करती है, परमाणु से घट की उत्पत्ति नहीं देखने में आती। तथा सूक्ष्म परमाणु के आश्रित होकर घट की स्थिति भी नहीं हो सकती, किन्तु स्थूल मृत्तिका के कपालों से ही होती है। अतः यह सूक्ष्म ब्रह्म जगत् का कारण तथा आश्रय कदाचित् नहीं बन सकता। इसलिए मेरी शंका का समाधान करते हुए मुझे फिर समझाइये।

इस खण्ड के तीसरे मन्त्र में "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वम्" वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है, यह कहा है। इस का अर्थ यह होता है कि इस सारे जगत् का कारण ब्रह्म है, सो कैसे? जैसे रज्जु में सर्प का विवर्त है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् का विवर्त है। सत्य अधिष्ठान का ही मिथ्यारूप से प्रतीत होना विवर्त है। ब्रह्म का जगत् यदि परिणाम होता, तब तो जगत् सत्य होता। जैसे दूध वास्तव में दधिरूप को प्राप्त होता है, उस दूध से भिन्न ही दही है, पर दूध की तरह सही है। वैसे निरवयव ब्रह्म का यह जगत् परिणाम नहीं बन सकता है। हाँ विवर्त तो निरवयव आकाश में भी नील रूप तथा कटाह रूप से होता है। इस से जैसे रज्जु में सर्प मिथ्या उत्पन्न होता है, और जैसे आकाश में मिथ्या नील रूपादि प्रतीत होते हैं, वैसे ही ब्रह्म से मिथ्या ही उत्पन्न हुआ जगत् ब्रह्म में ही प्रतीत होता है। इस कारण हे श्वेतकेतो! तू अपने स्वरूपानुसन्धान में लग जा॥ १-३॥

द्वादश खण्ड

सूक्ष्म स्थूल का कारण है, इसे दृष्टान्त से वर्णन करते हैं, यथा—

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति॥ १॥

भावार्थ—इस वट के वृक्ष से जो सामने खड़ा है, एक फल ले आ। फल लाकर श्वेतकेतु बोला—भगवन्! यह ले आया, लीजिये।

उसे देखकर आरुणि बोले—इसे फोड डाल।

श्वेतकेतु ने कहा—भगवन्! फोड दिया।

आरुणि बोले—इसमें क्या देखता है?

श्वेतकेतु ने जवाब दिया—भगवन्! इसमें ये अति सूक्ष्म दाने हैं।

आरुणि बोले—प्रिय! अच्छा तो इसमें से एक को फोड़।

श्वेतकेतु बोला—हे भगवन्! फोड दिया।

आरुणि ने कहा—इन में क्या देखता है?

श्वेतकेतु बोला—भगवन्! कुछ भी नहीं॥ १॥

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति॥ २॥

भावार्थ—तब उस श्वेतकेतु को आरुणि ने कहा—हे सोम्य! इस बड़ के वृक्ष की जिस सूक्ष्मता को तू नहीं देख रहा है, हे सोम्य! उस अणिमा का ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष है जो यहाँ खडा हुआ है। हे सोम्य! तू इस बात में श्रद्धा कर।२।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

भावार्थ—वह जो यह सूक्ष्मता है, यह सब कुछ इसी से आत्मावाला है। वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह तू है। आरुणि की बात सुनकर श्वेतकेतु बोला—भगवन्! मुझको पुनः उपदेश कीजिये। तब आरुणि ने कहा—अच्छा सोम्य!॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिए पिता पञ्चम अभ्यास का वर्णन करता है कि हे पुत्र! इस वटवृक्ष से एक कोई अच्छा सा फल ले आ। आज्ञा पाते ही श्वेतकेतु फल ले आया। पिता ने कहा—इस फल को फोड़ दे। श्वेतकेतु ने उसे भेदन किया। पिता बोला कि इस फोड़े हुए फल में तू क्या देख रहा है? पुत्र ने उत्तर दिया—अति ही छोटे छोटे बीज दिखाई दे रहे हैं। पिता ने कहा—इन सूक्ष्म बीजों में से एक सूक्ष्म अणु बीज को फोड़ डाल। पुत्र ने फोड़

दिया ! पिता बोला—इस फूटे हुए बीज में तू क्या देख रहा है ? पुत्र ने जवाब दिया—हे भगवन् ! मुझको अब किंचित् भी प्रतीत नहीं होता है।

यह सुनकर पिता ने कहा—हे पुत्र ! यह महान् वटवृक्ष इस सूक्ष्म वटबीज में ही स्थित है। जो इस बीज में वृक्ष का अभाव मानो तो जैसे बन्ध्यापुत्र से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता वैसे ही इस सूक्ष्म बीज से भी वृक्ष उत्पन्न नहीं होगा। इस कारण सूक्ष्म रूप से यह महान् वृक्ष उत्पत्ति से प्रथम इस बीज में स्थित हुआ इससे ही उत्पन्न होता है। वैसे ही इस सूक्ष्म ब्रह्म में यह जगत् सूक्ष्म रूप से स्थित हुआ इसी से उत्पन्न हुआ है ॥ १-३ ॥

विशेष—'हे भगवन्, फिर मुझ को समझाइये' यह जो इस खण्ड के तृतीय मन्त्र के अन्त में कहा गया है, इस का भाव यह है कि हे भगवन् ! जब कि प्रत्यग् ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है तो सर्वसाधारण को अपने आत्मरूप से प्रतीत होना चाहिये। तथा सर्व जगत् में व्यापक होने से अखिल विश्व में प्रतीत भी होना योग्य है। जब सूक्ष्म होने के कारण दर्शन के अयोग्य होगा तो उस ब्रह्म का साक्षात्कार किसी भी मनुष्य को न होने से किसी का भी संसारभ्रम निवृत्त नहीं होना चाहिये। इस से मैं ब्रह्म कैसे हूँ ? यह शंका है श्वेतकेतु की।

पिछले मन्त्रों में बार बार कई जगह ब्रह्म को अणु या सूक्ष्म कहा गया है। पर वह केवल सूक्ष्म ही नहीं है, महान् भी तो है, जैसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहा है। इस पर कहते हैं—हे पुत्र ! यह हमारा समाधान तेरी शंका को मानकर है। वास्तव में तो महान् आकाशादिकों से भी ब्रह्म महान् है और सत्तारूप से घटादिरूप सर्व जगत् में व्यापक है। सूक्ष्म रूप से श्रुति में जो कथन किया है सो केवल दुर्लक्ष्य के अभिप्राय से है, वह अल्प है इस कथन में श्रुति का तात्पर्य नहीं है। जैसे सूक्ष्म वस्तु का दर्शन सावधान हुए बिना नहीं होता, वैसे ही सावधान हुए बिना ब्रह्म का प्रत्यक्रूप से दर्शन नहीं हो सकता। इससे तू शुद्ध ब्रह्म है ॥ १-३ ॥

त्रयोदश खण्ड

कभी कोई वस्तु रहते हुए भी उपलब्ध नहीं होती, किन्तु प्रकारान्तर से बदल जाती है, इस में दृष्टान्त कहते हैं, यथा—

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥ १ ॥

भावार्थ—हे वत्स ! इस लवणपिण्ड को जल में डालकर तदनन्तर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। पिता के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। तव उद्दालक उस से बोला—हे वत्स ! तूने रात में जो लवण जल में डाला था, उसे ले आ। पुत्र ने उसे खोजा, पर नहीं पाया ॥ १ ॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्राश्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥ २ ॥

भावार्थ—आरुणि ने कहा—वह नमक पानी में घुल गया है, इस जल को ऊपर से आचमन कर। अर्थात् तू आँखों से इसलिए नहीं देख रहा है कि यह एकाकार हो गया है, यदि जानना चाहता है तो आचमन कर। उसे ऊपर से आचमन करने पर पिता ने पूछा—कैसा है ? पुत्र बोला—सलोना। आरुणि ने कहा—बीच में से आचमन कर। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। आरुणि ने पूछा—किस प्रकार का है ? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया—नमकीन है। आरुणि ने कहा—नीचे से आचमन कर। श्वेतकेतु के ऐसा करने पर आरुणि ने पूछा—कैसा है ? श्वेतकेतु ने जवाब दिया—नमकवाला। आरुणि ने कहा—अच्छा, इस जल को छोड़कर मेरे समीप आ। उस ने वैसा ही किया और कहा—वह लवण सब में विद्यमान है। तब श्वेतकेतु से उद्दालक ने कहा—हे सोम्य। वैसे ही वह सत् भी यहीं विद्यमान है, तू उसे नहीं देखता है किन्तु वह अवश्य ही यहाँ उपस्थित है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जो यह सूक्ष्मता है, यह सब कुछ इसी से आत्मावाला है। वह सत्य है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! वही तू है। पिता के इस प्रकार कहने पर पुत्र बोला—भगवन्! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा—ठीक है सोम्य!॥ ३॥

वि० वि० भाष्य—इस शंका की निवृत्ति के लिए पिता षष्ठ अभ्यास का उपदेश करता है—हे पुत्र! इस लवण को रात्रि में जल में डालकर सवेरे मेरे पास आना। श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया और सवेरे पिता के पास पहुँच गया। उद्दालक ने कहा—हे पुत्र! रात्रि में तूने जो नमक जल में डाला था, उसे निकाल। श्वेतकेतु ने जल में हाथ डालकर बहुत खोजा पर कहीं नमक का पता न लगा। यह देख पिता ने कहा—जल के ऊपर के भाग का आचमन कर। उस ने वैसा ही किया। पिता ने पूछा—कैसा है? पुत्र ने उत्तर दिया—नमकीन है। फिर उसने जल के मध्य भाग का आचमन करके पूछने पर उसे भी सलोना बताया। अनन्तर नीचे के भाग से आचमन करने पर भी स्वाद पूछने का उत्तर 'नमकीन है' यही दिया। पिता ने कहा—अच्छा, इस जल को छोड, मेरे पास आ। श्वेतकेतु यह कहता हुआ पिता के पास आया कि लवण इस में सर्वत्र वर्तमान है। यह सुन पिता बोला—हे पुत्र! जैसे इस जल में नमक है परन्तु तुझ को इन नेत्रों से प्रतीत नहीं हो रहा है। वैसे ही सर्व में व्यापक ब्रह्म भी बहिर्मुख इन्द्रियों से प्रतीत नहीं होता। जैसे लवण का रसना से ज्ञान होता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धि से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। इस कारण श्रद्धा सहित शुद्ध बुद्धि करके अपने शुद्ध स्वरूप का निश्चय कर, ब्रह्म को कहीं दूर मत जान। इस शरीर में साक्षीरूप से ब्रह्म विद्यमान है। जैसे जल से भिन्न ही लवण है वैसे ही देहादिकों से भिन्न ही ब्रह्म है। इससे देहादिकों से भिन्न तू शुद्ध ब्रह्मरूप है॥ १-३॥

विशेष—इस खण्ड के तीसरे मन्त्र के अन्त में जो 'हे भगवन्! आप मुझे फिर समझाइये' ऐसा कहा है, इस कथन का भाव यह है—श्वेतकेतु ने आरुणि से कहा कि जो आप ने अब तक कहा है उसे मैंने समझा। किन्तु हे भगवन्! नेत्रादिकों के अविषयस्वभाव आत्मा के प्रत्यक्ष का कोई उपाय कथन कीजिये, जिस से मैं शीघ्र ही आत्मा को जानकर कृतार्थ हो जाऊँ। अर्थात् लवण की तरह जगत् का मूल भी वह सत् किसी उपाय से उपलब्ध होना चाहिये।

इन्द्रियों से तो वह उपलब्ध नहीं होता, तब भी उस की उपलब्धि का उपाय क्या है यह बताइये। जब उस का जानना ही परम पुरुषार्थ है तो मुझे ऐसा ही करना योग्य है ॥ १-३ ॥
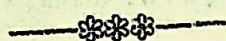
चतुर्दश खण्ड
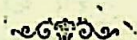
अब उस के उपाय को दृष्टान्त से बोधन करते हैं, यथा—

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ् वोदङ् वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य! जैसे कोई पुरुष (लुटेरा) किसी मनुष्य को आँखें बाँधकर गन्धार देश से ले आवे और उस को निर्जन वन में छोड़ दे। तब जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की ओर मुँह करके वह पुकारने लगे कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है, और आँखें बाँधे हुए ही छोड़ दिया गया है ॥ १ ॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य ताव- देव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥ २ ॥

भावार्थ—इस पर जैसे कोई पुरुष उसकी पट्टी खोलकर बतलाये कि गन्धार देश इस दिशा में है, अतः इसी दिशा को चले जाओ। यदि वह विद्वान और समझवाला है तो एक दूसरे ग्राम का रास्ता पूछता हुआ निःसन्देह गन्धार में ही पहुँच जाता है। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी वह पुरुष, जिसको आचार्य मिल गया है, वह उस सत् को जान लेता है। उसके लिए मुक्ति में उतनी ही देर है जब तक कि वह देहबन्धन से नहीं छूटता। उसके अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न हो जाता है, ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जो यह सूक्ष्मता है, एतद्रूप ही यह सब कुछ है। वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वही तू है। आरुणि के यह कहने पर श्वेतकेतु बोला—भगवन्! मुझे फिर समझाइये। 'अच्छा सोम्य!' आरुणि ने ऐसा उत्तर देते हुए स्वीकार किया ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्व शंका की निवृत्ति के लिए पिता सप्तम अभ्यास का कथन करता है—हे पुत्र! किसी गन्धार देशनिवासी मनुष्य को पकड़कर चोर जंगल में ले गये। वे उसे वहाँ आँख बाँधकर ले गये थे, वे उसके वस्त्र भूषण द्रव्य को लेकर आँखों पर पट्टी बँधे हुए उसे वैसा ही छोडकर चलते बने। वह मनुष्य उस निर्जन वन में अत्यन्त दुःख से चिल्लाने लगा। कभी पूर्व की ओर मुँह करके चिल्लाता है तो कभी पश्चिम तरफ मुख करके पुकारता है। कभी उत्तर की ओर, तो कभी नीचे मुँह करके रोता है। कहता है कि मैं गन्धार देश का निवासी हूँ, चोरों ने आँख मुँह आदि बाँधकर तथा वस्त्र भूषण द्रव्यादि छीनकर मुझे इस कठिन वन में छोड़ दिया है। इस वन में मुझे सिंह व्याघ्र सर्पादि दुःख दे रहे हैं। इस प्रकार उच्च स्वर से पुकारते हुए उस मनुष्य को दुःखी देखकर किसी कृपालु मनुष्य ने उसके नेत्रों के बन्धन को खोलकर यह कहा—इस ओर जाओ, इधर ही गन्धार देश है। वह उस दयालु मनुष्य के उपदेश को सुनकर अपने देश में पहुँच गया। क्योंकि वह मनुष्य उपदेश ग्रहण करने में समर्थ था, स्वयं भी बुद्धिमान् था, इसी से अपने देश को पाकर प्रसन्न हुआ।

हे श्वेतकेतो! ऐसे ही तुझ को काम क्रोधादि चोरों ने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप स्वदेश से हटाकर संसाररूपी वन में ला पटका है। उन काम क्रोधादि चोरों ने साक्षीरूप नेत्रों को बाँधकर महान् दुःख को प्राप्त करा दिया है। इसी से तू संसाररूपी वन में दुःखी हो रहा है। ब्रह्मवेत्ता गुरु के महावाक्य-उपदेशरूप हाथों से अज्ञानरूप दृढ बन्धन को निवृत्त कर। इस से तू भी गन्धार देश की तरह अपने ब्रह्मरूप देश को प्राप्त होगा। गुरु का उपदेश ही ब्रह्मप्राप्ति में द्वार है। जानना यह है कि उसके सहकारी शिष्य की बुद्धि तथा आत्मजिज्ञासा कितनी है। गुरु के उपदेश को

सुनकर आत्मनिश्चयवाला पुरुष ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होता है। उस महात्मा ज्ञानी का तब तक शरीर प्रतीत होता है जब तक प्रारब्ध है। भोग करने से प्रारब्ध के निवृत्त होने पर वह विद्वान् विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। जिस ब्रह्म में विद्वान् अभिन्न हो जाता है ऐसा शुद्ध ब्रह्म ही तेरा स्वरूप है ॥ १-३ ॥

विशेष—इस खण्ड के तीसरे मन्त्र के अन्त में जो फिर समझाने के लिए पिता से श्वेतकेतु ने कहा है, उसका अभिप्राय यह है—हे भगवन्! सुषुप्ति की तरह मरण काल में जैसे अज्ञानी ब्रह्म से अभिन्न होता है, वैसे ही विद्वान् भी ब्रह्म से अभिन्न होता है, अथवा किसी अन्य रीति से ब्रह्म के साथ अभिन्न होता है? हे भगवन्! यह मुझे समझाने की कृपा कीजिये।

यहाँ पर आरुणि ने "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस वाक्य का जो अभिप्राय कहा है, भाष्यकार के शब्दों में उसका अभिप्राय कहा जाता है—जिस प्रकार कृपालु मनुष्य के द्वारा बताये हुए मार्ग से समझदार गन्धारदेशनिवासी पुरुष बन्धनों से छूट गया और वन के क्लेशों से बचकर पूछता पूछता अपने देश को पहुँचकर आनन्द को प्राप्त हुआ। ठीक इसी तरह संसार के आत्मस्वरूप सत् से तेज, जल और अन्नादिमय देहरूप वन में; जो कि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि और मल मूत्र से पूर्ण, शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व और सुख दुःख से युक्त है; यह जीव मोहरूप वस्त्र से बँधे हुए नेत्रवाला होकर तथा स्त्री, पुत्र, मित्र, पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट अनेकों विषयतृष्णाओं से जकड़ा जाकर पुण्य पापरूप चोरों द्वारा प्रवेशित कर दिये जाने पर इस तरह चिल्लाता है—"मैं इस का पुत्र हूँ, ये मेरे बान्धव हैं, मैं सुखी, दुःखी, मूढ, पण्डित, धार्मिक अथवा बन्धुमान् हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मरता हूँ, जराग्रस्त हूँ, पापी हूँ, मेरा पुत्र मर गया है, धन नष्ट हो गया है, हा! मैं मारा गया, अब कैसे जीवित रहूँगा? मेरी क्या गति होगी? अब मेरा रक्षक कौन है?" इसी प्रकार के अनेकों सैकड़ों अनर्थजालों से युक्त होकर रोता हुआ कभी पुण्य की अधिकता होने से किसी प्रकार किसी परमकृपालु सद्-ब्रह्मात्मज्ञ बन्धनमुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष को प्राप्त होता है। उस ब्रह्मवेत्ता द्वारा दयावश सांसारिक विषयों के दोष दर्शन का मार्ग दिखाये जाने पर सांसारिक विषयों स विरक्त हो जाता है तथा तू "संसारी नहीं है और न इसके पुत्रत्वादि धर्मवाला ही है, तो कौन है? जो सत् तत्त्व है वह तू है" इस प्रकार के उपदेश से अविद्यामय मोहरूप वस्त्र के बन्धन से छुड़ाया जाकर गन्धारदेशीय पुरुष के समान

अपने सदात्मा को प्राप्त होकर सुखी और शान्त हो जाता है। यही "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इस वाक्य का भाव है ॥ १–३ ॥

——:❀❀❀:——

पञ्चदश खण्ड

अब पूर्वोक्त प्रयाणक्रम को दिखाते हैं—

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥ १ ॥

भावार्थ—हे सोम्य! जब कोई मनुष्य जरादि से सन्तप्त हो जाता है याने मुमूर्षु होता है तो उसके सम्बन्धी बान्धव उसके आस पास चारों ओर से घेरकर बैठ जाते हैं, और यह पूछते हैं कि क्या तू मुझे जानता है? क्या तू मुझे पहचानता है? जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं होती, तथा मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परा देवता [सत्] में लीन नहीं होता, तब तक वह जानता है ॥ १ ॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥ २ ॥

भावार्थ—पर जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, तथा मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में लीन हो जाता है, तब वह नहीं पहचानता ॥२॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो यह सूक्ष्मता (सब का मूल) है यह सब कुछ इसी से आत्मावाला है। वह सत्य है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! वही तू है।

आरुणि का उक्त कथन सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—भगवन् ! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा—हे सोम्य ! ऐसा ही होगा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—पूर्व शंका की निवृत्ति के लिए पिता अष्टम अभ्यास का वर्णन करता है—हे पुत्र ! मरणकाल में संबन्धी लोग अज्ञानी पुरुष के समीप आकर पूछते हैं कि तुम पुत्रों को जानते हो ? तुम पिता को पहचानते हो ? वह पुरुष तभी तक जानता है जब तक उसकी वागिन्द्रिय मन में लय नहीं होती, और मन प्राण में, प्राण जीव में तथा जीव परमात्मा में लयभावापन्न नहीं होता। जब उसके वागिन्द्रियादि सब लय होते हैं तब वह कुछ नहीं जानता। ब्रह्मप्राप्ति पर्यन्त तो इस क्रम में विद्वान् तथा अज्ञानी की समान गति है। विलक्षणता यह है कि अज्ञानी पुरुष मरणकाल में सुषुप्ति की तरह ब्रह्म में लय होता है, परन्तु ज्ञान के अभाव से उसकी अविद्या निवृत्त नहीं होती तथा कर्मवासना भी सुषुप्ति की तरह सूक्ष्म रूप से बनी रहती है। इस कारण वह अज्ञानी पुरुष अविद्या, कर्म के अधीन हो पुनर्जन्म को प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष की अविद्या का ब्रह्मज्ञान से नाश हो जाता है। अविद्या के नष्ट होने से उसकी अविद्या के कार्य वासना, कर्म, संशय तथा विपर्यय आदि निवृत्त हो जाते हैं। इस कारण उस ज्ञानी के प्राणादिक परलोक में गमन नहीं करते, किन्तु ब्रह्म में लय भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण हे श्वेतकेतो ! ज्ञानी इस शरीर का त्याग करके जिस ब्रह्म से अभिन्न होता है, ऐसे शुद्ध ब्रह्म को तू प्राप्त हो, वही तेरा स्वरूप है ॥ १-३ ॥

विशेष—इस खण्ड के तीसरे मन्त्र के अन्त में 'हे भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये' ऐसा जो श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा है, उस का अभिप्राय यह है—श्वेतकेतु पूछता है कि हे भगवन् ! जब अज्ञानी पुरुष को मृत्यु परलोक में ले जाता है तो ज्ञानी को क्यों नहीं ले जाता ? इस में क्या कारण है ? अथवा अज्ञानी जब कि परलोक में ब्रह्म को प्राप्त होता है तो फिर सुख दुःख को किस वास्ते प्राप्त होता है ? अभिप्राय यह है कि जो सत् को नहीं जानता और जो जानता है, मरकर जब ये दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं तो जाननेवाला उसको प्राप्त कर लेता है और न जाननेवाला नवीन जन्म धारण करने के लिए फिर वापिस आता है। इस में जो कारण है वह मुझे फिर दृष्टान्त द्वारा बतलाइये ॥ १-३ ॥
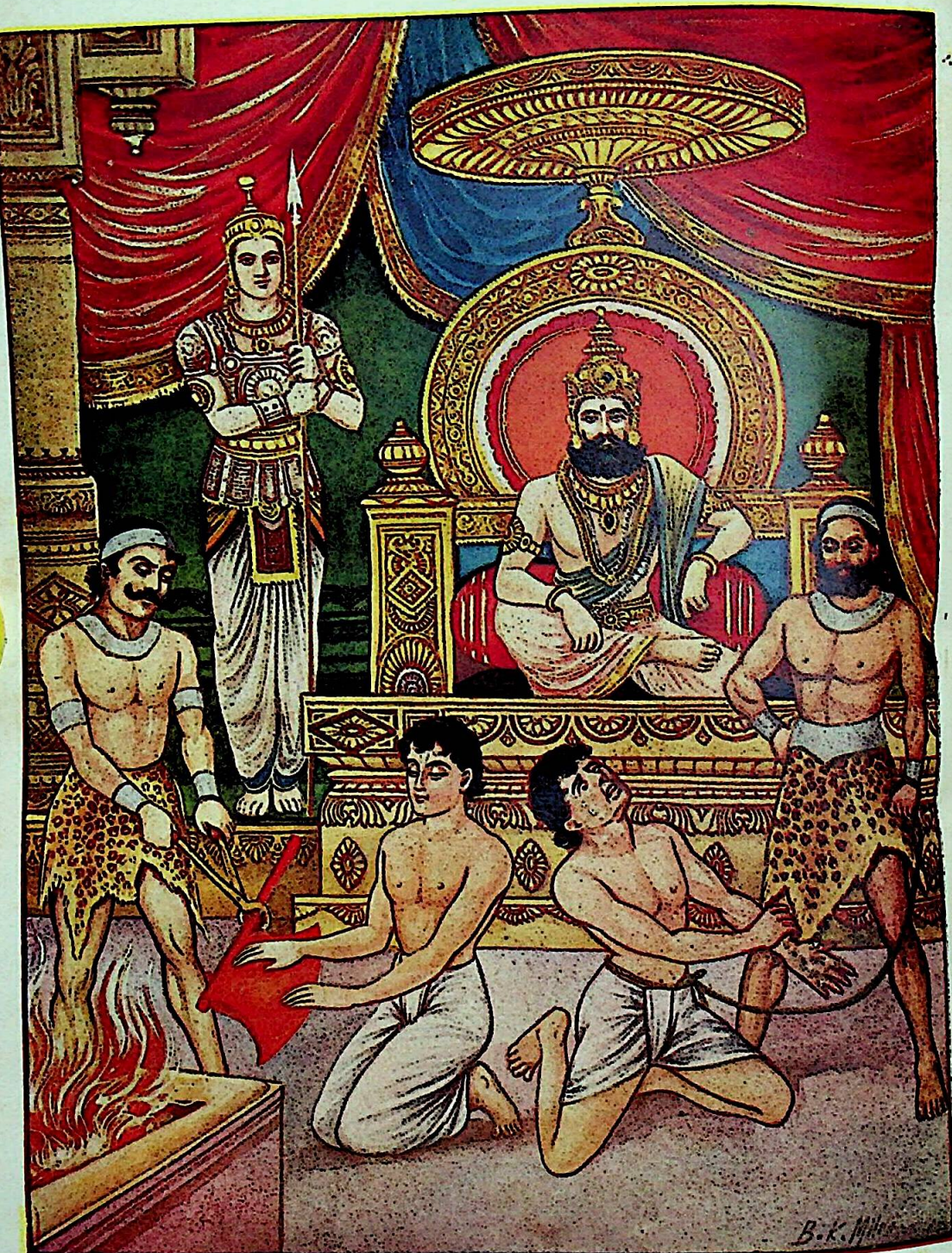
अग्निपरीक्षा—तप्त लोहा छूने से अपराधी का जलना और निरपराधी का न जलना (अ० ६, ख० ११)

અગ્નિપરીક્ષા—તપેલા લોખડને અડવાથી અપરાધી દાઝી જાય છે. ને નિરપરાધી દાઝતો નથી.
(અ૦ ૬, ખં૦ ૧૧)

सोलहवाँ खण्ड

उसके बोधन के लिए दृष्टान्त कहते हैं—

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १॥

भावार्थ—हे सोम्य ! राजा के सेवक कर्मचारी किसी मनुष्य को हाथ बाँधकर राजा के निकट लाते हैं और कहते हैं कि इस ने धन का अपहरण किया है, इस ने चोरी की है। तब राजा कहता है—इस के लिए परशु तपाओ, परशुयन्त्र गरम करो। यदि वह चोरी का कर्ता है तो उस चोरी को छिपाने से ही अपने को मिथ्यावादी सिद्ध करता है। और वह अनृतभाषी पुरुष अनृत से अपने आत्मा का छिपाकर उस तप्त परशुयन्त्र को पकड़ता है। उस से वह जल जाता है और मारा जाता है ॥ १ ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि वह उस चोरी का करनेवाला नहीं होता है, तो वह उसी से अपने आप को सच्चा प्रमाणित करता है। वह सच्चे अभिप्रायवाला सचाई से अपने आप को ढाँपकर तपे हुए लोहे के फरसे को पकड़ता है। वह उस से नहीं जलता और तुरन्त ही छोड़ दिया जाता है ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वह सत्यनिष्ठ पुरुष उस परीक्षा के समय नहीं जलता, यह सब उसी आत्मा का भाव है। वह सत्य है, वह आत्मा है, और हे श्वेतकेतो! वही तू है। इसके अनन्तर श्वेतकेतु आरुणि के कथन के तत्त्व को जान गया, उसे जान गया ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—उक्त शंका की निवृत्ति के लिए अन्तिम नवम अभ्यास का पिता वर्णन करता —हे श्वेतकेतो! जैसे एक मनुष्य चोर था और दूसरा साधु, उन दोनों को राजकर्मचारियों ने चोर समझकर जबरदस्ती पकड़ लिया। वे राजा के पास जाकर बोले कि ये दोनों चोर हैं, इन्होंने धन चुराया है। चोर और शाह दोनों ने कहा कि हम न तो चोर हैं न हमने चोरी ही की है। तब राजा के मन्त्रियों ने कहा—जब कि तुम लोगों ने चोरी नहीं की तो तुम इस तपे हुए परशु नामक लोहे के यन्त्र को हाथ से छूओ। यदि तुम चोर न होगे तो तुम्हारा हाथ नहीं जलेगा। पहले चोर ने अपने कर्म को प्रकट नहीं किया और मिथ्या सम्भाषण करके तप्त परशु ग्रहण कर लिया। उस का हाथ जल गया। उसे तस्कर समझकर राजपुरुषों ने अनेक प्रकार का दण्ड दिया।

एवं जब उस साधु पुरुष का हाथ नहीं जला तो राजकिंकरों ने उस से क्षमा याचना की तथा उसे क्षतिपूर्तिस्वरूप अन्न धन वस्त्रादि देकर ससम्मान विदा किया। इसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप को न जानता हुआ कहता है कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, सुखी दुःखी, जन्म मरणवाला हूँ' बस यही चोरीरूप कर्म का छिपाना है। जैसे पहले उस चोर के हाथ का दाह हुआ, फिर राजा के भृत्यों ने बाँधकर दुःख दिया, वैसे ही अज्ञानी पहले मृत्यु से पीड़ा को प्राप्त होता है, पश्चात् चौरासी लाख योनिरूप बन्धन को प्राप्त हो दुःखी होता है। जैसे साधु पुरुष को किञ्चिन्मात्र भी दुःख नहीं हुआ, प्रत्युत सभी राजा आदि जनों ने उस का सत्कार ही किया। वैसे ही ज्ञानी पुरुष भी अपने शुद्ध स्वरूप में निश्चयवाला होकर तथा विक्षेपों से रहित होकर ब्रह्मादिकों का भी पूज्य होता है। इस कारण अज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप को न जानकर अपने अज्ञान से ही पुनः पुनः जन्म मृत्यु को प्राप्त होता है। ज्ञानी तो शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपना स्वरूप जानकर बारंबार जीवन मरण के चक्कर में नहीं आता। जिस ब्रह्मस्वरूप को ज्ञानी प्राप्त होता है, हे श्वेतकेतो! 'तत्त्वमसि' याने वह ब्रह्म तेरा अपना स्वरूप है। उस को जानकर कृतकृत्य भाव को प्राप्त हो जा ॥ १-३ ॥

विशेष—इस खण्ड के पहले मन्त्र में "परशुमस्मै तपत इति" याने इस के लिए कुल्हाड़ा तपाओ, यह कहा गया है। इस का भाव यह है कि तपे हुए लोहे को सच्चा और झूठा दोनों व्यक्ति पकड़ते हैं। एक के हाथ को सचाई लपेटे हुए है इस लिए वह अग्नि के दाह से बच जाता है। दूसरा अग्नि के और हाथ के मध्य में झूँठ का परदा डालता है, अतएव उस के असर से नहीं बचता। इसी प्रकार मरने के पीछे यद्यपि दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं; वह भी जो उस को जानता है, और वह भी जो उस को नहीं जानता है। तथापि फल दोनों के लिए भिन्न भिन्न हो जाते हैं। एक ब्रह्मानन्द को पहुँचता है, और दूसरा जन्म के लिए पुनः वापिस आता है।

जहाँ किसी लौकिक उपाय से सच्चे झूँठे का पता न लग सके, वहाँ सच्चे झूँठे की परीक्षा के लिए गरम लोहे का छूनारूप (सीता-अग्निपरीक्षा की तरह) दिव्य उपाय स्मृतियों में बतलाया गया है। उस समय के लिए यह उपाय ठीक रहा होगा। क्योंकि जिस के हृदय में 'अचौर्य' की प्रतिष्ठा होती है तथा सत्य का आग्रह होता है, वह किसी आपत्ति में ग्रस्त नहीं होता। उसे जल, अग्नि, विष आदि का मारात्मक भयानक प्रयोग हानि नहीं पहुँचा सकता। प्रह्लाद, मीरा आदि इस के अनेक उदाहरण हैं। जैसे अहिंसा के प्रतिष्ठान से याने अहिंसाव्रत पालन करने से सर्प, सिंहादि भयङ्कर जन्तुओं का जरा भी भय नहीं रहता, प्रत्युत वे उस के मित्र हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ अचौर्यकर्मानुष्ठाता का हाथ नहीं जला। तद्विपरीत आचरणकर्ता का हाथ दग्ध हो गया।

श्रुति माता इन खण्डों में उपदेश देती है कि जैसे उद्दालक आरुणि के उपदेश को श्रवण करके, पुनः उसका मनन तथा निदिध्यासन करके स्वस्वरूप ब्रह्म को जानकर भोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों का क्षय करता हुआ श्वेतकेतु विदेह कैवल्य को प्राप्त हो गया, इसी प्रकार सर्व मुमुक्षुजनों को ब्रह्म का आत्मस्वरूपत्वेन निश्चय करने के लिए आत्मा का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन सर्वदा सर्वथा कर्तव्य है। अस्तु, यहाँ अब अध्याय समाप्ति में अनुभवी वेदान्तचिन्तकों एवं वृद्ध संन्यासी महात्माओं से सुने हुए तथा उन के द्वारा विरचित छान्दोग्योपनिषद् व्याख्यान के विचार करने से उपलब्ध हुए पूर्वोक्त विषय का संक्षेप में सारांश कहा जाता है—

श्रवण दो प्रकार का होता है, एक साधारण श्रवण, दूसरा असाधारण श्रवण। कथा आदिकों के श्रवण तथा सन्त महात्माओं के वचनों के श्रवण को साधारण श्रवण कहते हैं। षड्विध लिङ्गों से वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य निश्चय

करना यह दूसरा असाधारण श्रवण कहा जाता है। वेदान्तों के तात्पर्यग्राहक वे षड्विध लिङ्ग इस प्रकार हैं—

१—उपक्रम-उपसंहार। २—अभ्यास। ३—अपूर्वता। ४—फल। ५—अर्थवाद। ६—उपपत्ति।

(१) उपक्रम—नाम आरम्भ का है। उपसंहार—नाम समाप्ति का है। अर्थात् आदि अन्त में अद्वितीय ब्रह्म के कथन का नाम उपक्रमोपसंहार है। यह श्रवण का प्रथम लिङ्ग है, याने कारण है। जैसे-छान्दोग्योपनिषद् के इस षष्ठ अध्याय के आरम्भ में यह श्रुतिवचन है कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" 'हे सोम्य ! यह सर्व जगत् उत्पत्ति से प्रथम सद्रूप ही था। वह सत् सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेदत्रय से रहित है।' फिर प्रसङ्ग समाप्ति में यह श्रुतिवाक्य है कि "एतदात्म्यमिदं सर्वम्" 'यह सम्पूर्ण जगत् इस आत्मा का ही स्वरूप है।' इस तरह आदि अन्त में एक अर्थ का बोधक होने से यह 'उपक्रमोपसंहार' लिङ्ग हुआ।

(२) अभ्यास—सत् अद्वितीय ब्रह्म के बारंबार कथन का नाम अभ्यास है। इस छान्दोग्य के षष्ठ अध्याय में ही यह श्रुतिवचन बार बार कहा है कि "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।" 'वह ब्रह्म सत्य है, वह साक्षी आत्मा रूप ब्रह्म ही है। हे श्वेतकेतो ! सो शुद्ध ब्रह्मस्वरूप भेदत्रयरहित तेरा आत्मा है।' यह श्रुतिवचन नौ बार पढा गया है।

(३) अपूर्वता—अद्वितीय ब्रह्म में उपनिषद् प्रमाण के बिना अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषयत्व प्रतिपादन करने का नाम अपूर्वता है। इस छान्दोग्य के षष्ठ अध्याय में ही अपूर्वताप्रतिपादक यह श्रुतिवचन है कि "अत्र वाव किल तत्सोम्य न निभालयसे" 'इस शरीर में ही हे सोम्य ! सत्स्वरूप ब्रह्म स्थित है, उस को तू नहीं जानता।' यहाँ उक्त श्रुतिवाक्य में 'किल' यह शब्द आचार्य के महावाक्य उपदेशरूप उपाय को ब्रह्मप्राप्ति में द्वाररूप से कथन करने के लिए कहा है।

(४) फल—अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान से अद्वितीय ब्रह्म की प्राप्तिरूप कथन का नाम फल है। उस फल के बारे में इस छान्दोग्य की यह श्रुति है कि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" 'उस ज्ञानी को विदेहमुक्ति में तभी तक की देर है, जब तक प्रारब्ध से रहित नहीं होता, भोग करके प्रारब्ध के निवृत्त होने पर कैवल्य को प्राप्त होगा।'

(५) अर्थवाद—अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान की स्तुति करने का नाम अर्थवाद है। इस छान्दोग्य के षष्ठ अध्याय में ही यह श्रुतिवचन है कि "येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति" 'जिस एक ब्रह्म के श्रवण करने से नहीं श्रवण किया भी पदार्थ श्रवण हो जाता है, नहीं मनन किया भी मननकृत और अनिश्चित पदार्थ भी निश्चित हो जाता है। ऐसे अद्वितीय ब्रह्म के श्रवण, मनन, निदिध्यासन करने से अन्य अश्रुत, अमत तथा अविज्ञात पदार्थ का भी श्रवणादि होने से उस ब्रह्म की स्तुति की गई है।

(६) उपपत्ति—अद्वितीय ब्रह्म को दृष्टान्तरूप युक्ति से वारंबार प्रतिपादन करने का नाम उपपत्ति है। इस छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में ही यह श्रुति आई है कि "वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" वाणी के उच्चारण मात्र ही घटादि विकार हैं, क्योंकि घटादि का नाममात्र है, इससे वे मिथ्या हैं, कारणरूप मृत्तिका ही सत्य है।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में उद्दालक ऋषि ने मृत्तिका, स्वर्ण, लोहादिकों के दृष्टान्तों से कारण ब्रह्म की अद्वितीयता प्रतिपादन की है। इस प्रकार के षड्विध लिङ्गों से अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्तों के तात्पर्य के निश्चय का नाम श्रवण है। वेदान्त ब्रह्म के प्रतिपादक हैं या अन्य किसी अर्थ के प्रतिपादक हैं ? इस प्रकार की असंभावना इस श्रवण से ही निवृत्त होती है। अब मनन के विषय में भी कुछ कह देना उचित प्रतीत होता है। भेदबाधक युक्तियों से अद्वितीय ब्रह्म के चिन्तन का नाम मनन है। युक्तियाँ ये हैं—जीव ईश्वर का स्वाभाविक भेद है, या औपाधिक भेद है ? स्वाभाविक भेद याने साक्षीरूप जीव चेतन से ईश्वर को भिन्न मानना, इससे तो ईश्वर में जड़ता की प्राप्ति होगी। श्रुति ने ईश्वर को चेतनरूप से वर्णन किया है, इस श्रुति से विरोध होगा। चेतनरूप ईश्वर से जीव को भिन्न मानें तो चेतन तो एक ही है, उस चेतन से भिन्न तो जड़ ही होगा। इससे जीव में जडतापत्ति होगी, इस कारण स्वाभाविक भेद नहीं है। उपाधि करके भेद मानें तो अन्तःकरणोपाधि सुषुप्ति में नहीं रहती, इससे सुषुप्ति में जीव ईश्वर के भेद का लोप हो जायगा। यदि अज्ञान उपाधि मानें तो वह बन नहीं सकती, क्योंकि अज्ञान शुद्ध ब्रह्म से ईश्वर के भेद का साधक है, जीव ईश्वर के भेद का साधक नहीं है। यदि ऐसा मानोगे तो, जीव ईश्वर के भेद को अज्ञान उत्पन्न करता है, या प्रकाश करता है, या स्थित करता है ? जीव ईश्वर भेद को अनादि मानने से प्रथम पक्ष असङ्गत है। अज्ञान के जड

होने से द्वितीय पक्ष नहीं बन सकता। तृतीय पक्ष में यह दोष है कि प्रयोजन बिना तो अज्ञान भेद को स्थिर करता नहीं है, और आश्रय विषय लाभ के बिना अज्ञान का और कोई प्रयोजन कहा नहीं जा सकता। आश्रय बिना तो निर्विभाग चेतन ही हो सकता है। भेद से अज्ञान का स्थिर करना निष्फल है। इत्यादि युक्ति-चिन्तनरूप मनन से भेद की निवृत्ति हो जाती है। तब तैलधारावत् ब्रह्माकार वृत्ति-रूप निदिध्यासन से अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

पहले कई बार 'हे श्वेतकेतो! वह तू है, वह सत्य है, वह आत्मा है' यह वचन आ चुका है। अब यहाँ यह प्रष्टव्य है कि 'त्वं' शब्द का वाच्य वह श्वेत-केतु है कौन? इसका यह उत्तर है कि जो 'मैं श्वेतकेतु उद्दालक का पुत्र हूँ' ऐसा अपने को जानता था उसने पिता के आदेश का श्रवण, मनन और निदिध्यासन किया। उसने पिता से अश्रुत, अमत और अविज्ञात को जानने के लिए बार बार 'भगवन्! वह आदेश किस प्रकार का है?' यह प्रश्न किया। उस ने यह जाना कि वह श्रोता, मन्ता और विज्ञाता दर्पण में प्रतिफलित हुए और जलादि में प्रतिविम्ब-रूप से प्रविष्ट हुए सूर्यादि के समान तेज, जल, अन्नमय देहेन्द्रियसंघात में नाम रूप की अभिव्यक्ति करने के लिए प्रविष्ट हुई पर देवता है। वह पिता का उपदेश सुनने से पूर्व अपने को देह और इन्द्रियों से भिन्न सद्रूप सर्वात्मा नहीं मानता था। अब 'वह तू है' इस प्रकार दृष्टान्त और हेतुपूर्वक पिता द्वारा समझाये जाने पर वह पिता के इस कथन को कि 'मैं सत् ही हूँ' समझ गया। भाव यह है कि वह है श्वेतकेतु जो ब्रह्मज्ञानरूपी यान से कैवल्य धाम का अधिकारी हो गया।

इससे श्वेतकेतु की कोई स्तुति न समझ ले, क्योंकि श्वेतकेतु उपास्य नहीं है। न उसको लक्ष्य करके सत् की स्तुति ही की जा सकती है। क्योंकि 'तू दास है' ऐसा कहकर राजा की प्रशंसा नहीं हो सकती। यह प्रकरण बड़ा सुन्दर अथच गम्भीर है॥ १—३॥

सोलहवाँ खण्ड और षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

गत छठे अध्याय में मूल परा देवता का उपदेश दिया गया है, उस में निचले तत्त्वों की महिमा नहीं दिखलाई। अब इस सातवें अध्याय में स्थूल से लेकर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषय का बोधन करते हुए अन्त में उसी परा देवता का निर्देश किया है। अर्थात् नाम आदि जो एक दूसरे से उत्तम हैं, उन सब से बढकर भूमा नामी तत्त्व है, उस की प्राप्ति के लिए नाम आदि की क्रम से महिमा बतलाई है। मानो यह एक सीढी ही सीढी से होकर भूमा तक पहुँचने का उपाय है। अर्थात् पूर्व षष्ठाध्याय में साक्षात् ब्रह्म का निरूपण किया है। अब सप्तम अध्याय में नामादि द्वारा ब्रह्म का परंपरा से उपदेश करते हैं, यथा—

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥ १ ॥

भावार्थ—महामुनि सनत्कुमार के पास आकर नारदजी बोले कि भगवन्! मुझे उपदेश दीजिये। सनत्कुमार ने उन से कहा—जो कुछ तुम जानते हो उसे बताते हुए मेरे समक्ष उपसन्न होवो, तब में उस के आगे तुम्हें बतलाऊँगा। तब नारदजी ने कहा ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—एक समय नारदजी ने ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मश्रोत्रिय योगिराज महर्षि सनत्कुमार के प्रति उपसन्न होकर याने शिष्यभाव से समीप जाकर निवेदन किया कि हे भगवन्! मुझे अध्ययन कराने की कृपा कीजिये। नियमपूर्वक अपने पास आये हुए नारदजी से सनत्कुमार ने कहा कि आत्मा के विषय में आज तक जो

तुमने जाना है, पहले मुझे वह बता दो, फिर मैं तुम्हारे ज्ञान से आगे उपदेश दूँगा, क्योंकि पिष्टपेषण से वृथा कालक्षेप करना उचित नहीं है ॥ १ ॥

विशेष—यहाँ की आख्यायिका परा विद्या की प्रशंसा के लिए है। जैसे—नारदजी सर्वविद्यासम्पन्न और कृतकृत्य थे, फिर भी आत्मज्ञानरहित होने के कारण उन को शोकाकुल होना ही पड़ा। फिर जो इतना पुण्यात्मा नहीं ऐसे किसी अन्य अल्पज्ञ जीव की तो बात ही क्या कहनी है? फिर यह भी बात है कि आत्मज्ञान से बढकर और कोई दूसरा कल्याण का साधन नहीं है। इसी कारण नारदजी उत्तम कुल, विद्या, आचार, सम्मान और नाना प्रकार के साधनों की सम्पत्ति से युक्त होने पर भी निरभिमान हो साधारण पुरुष के समान निःश्रेयसप्राप्ति के लिए सनत्कुमार के पास गये। इस से भी यह आख्यायिका आत्मविद्या की निरतिशय आवश्यकता सूचित करती है ॥ १ ॥

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥२॥

भावार्थ—भगवन्! मैं ऋग्वेद पढ़ा हूँ तथा यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्वेद जानता हूँ। इसके अतिरिक्त इतिहास पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदों का भी वेद, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या; ये सब मैं जानता हूँ ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—सनत्कुमार के प्रश्न का उत्तर नारदजी ने इस प्रकार दिया कि हे ऐश्वर्यवान्! मैं चारों वेद और पाँचवा इतिहास पुराणरूप वेद तथा वेदों का भी वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, महाकालादि निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, ब्रह्मविद्या (ब्रह्म याने ऋग्यजुःसाम संज्ञक वेदों की विद्या अर्थात् शिक्षा, कल्प, छन्द और चिति), भूतशास्त्र, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पदेवजनविद्या अर्थात् गारुड़, गन्धयुक्ति तथा नृत्य गान वाद्य और शिल्प आदि विज्ञान; ये सब मैं जानता हूँ ॥ २ ॥
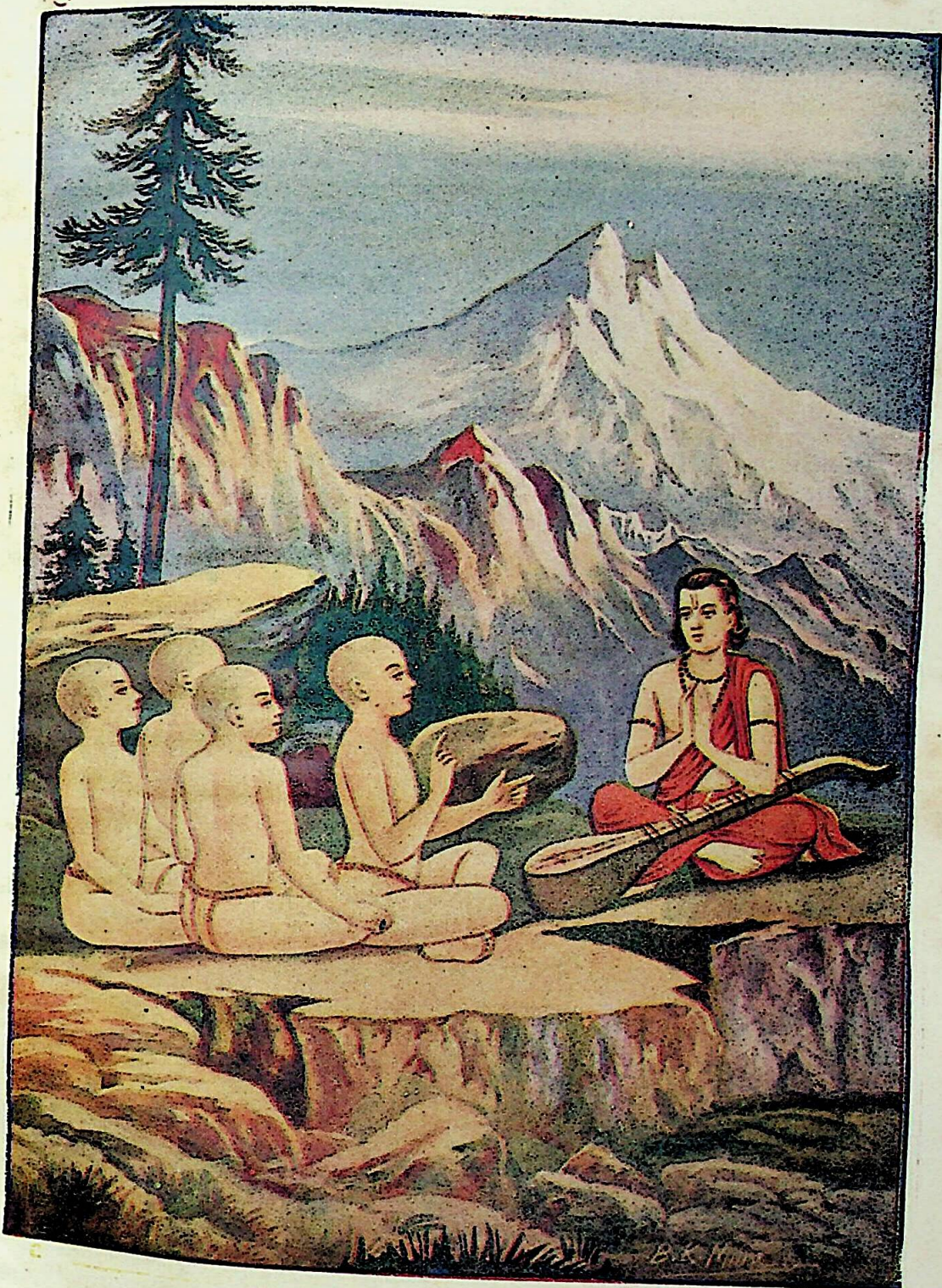
नारदजी को श्री सनत्कुमार का उपदेश (अ. ७ ख. १)

નારદજીને શ્રી સનત્કુમારનો ઉપદેશ (અ. ૭ ખં. ૧)

विशेष—इस मन्त्र का अर्थ विचार करने पर बहुत सी विद्याओं का पता चलता है। प्रतीत होता है ये उपनिषद्काल में आर्यावर्त में साधारणतया पढी पढाई जाती थीं। इन विद्याओं से क्या क्या कुछ अभिप्रेत है ? इस का निर्णय प्राचीन प्रमाणों पर निर्भर है। ऋषियों को ये सब विद्याएँ सीखनी पड़ती थीं, क्योंकि वे क्षत्रिय वैश्यादि सभी श्रेणी के लोगों के शिक्षक थे। जो मनुष्य गुरुकुलों से अपने घर आकर गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त हो जाते थे, वे घूम घूमकर क्षत्रियादि को इन में से किसी न किसी विद्या का अभ्यास कराते रहते थे, जिसे वे गुरुकुलों (विद्यालयों) से पढकर आये थे।

प्रकृत मन्त्र में 'इतिहासपुराणं पञ्चमम्' 'वेदानां वेदम्' ऐसा पाठ आया है। इस विषय में कोई लोग इतिहास याने महाभारतादि और भागवतादि पुराणों को भी पाँचवा वेद ही मानते हैं। भाष्यकार शङ्कराचार्य कहते हैं कि 'इतिहास पुराणं पञ्चमम्' यहाँ पर 'वेदम्' यह पद प्रसङ्ग से आ जाता है, अतः ये भी पाँचवें वेद ही हैं। किसी किसी के मत में इतिहास पुराण वेद नहीं हो सकते, वेद तो चार ही हैं, जो प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार 'वेदानां वेदम्' इस पद का अर्थ कोई कोई 'वेदान्त शास्त्र' यह करते हैं। पर आचार्य शंकर कहते हैं कि 'वेदानां वेदम्' का अर्थ है व्याकरण, क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही पदादि के विभाग पूर्वक ऋग्वेदादि का ज्ञान होता है ॥ २ ॥

तब तो तुम सर्वज्ञ होने के कारण कृतार्थ हो गये हो ? इस पर कहते हैं, यथा—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप जैसे पुरुषों से सुना है कि जो आत्मा को जान लेता है, वह शोक से परे हो जाता है। सो मैं हे भगवन् ! शोक में हूँ, आप मुझे शोक से पार करें। तब सनत्कुमार ने उन से कहा कि जो कुछ तुमने यह पढा है, वह केवल नाम है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—हे ऐश्वर्यशालिन्! मैं केवल शब्दार्थ मात्र जाननेवाला हूँ, क्योंकि समस्त शब्द अभिधानमात्र ही तो हैं और सम्पूर्ण अभिधान मन्त्रों में आते हैं। अभिप्राय यह निकला कि मैं कर्मविद् हूँ, आत्मवेत्ता नहीं। कर्म का कार्य ही सारा विकार है, अतः मुझे विकारज्ञ ही जानिये।

मैंने आप जैसे महापुरुषों से यह जान रखा है कि आत्मज्ञानी मानसिक ताप अर्थात् अकृतार्थता बुद्धि से पार हो जाता है, और मैं मनस्ताप से सदा संतप्त रहता हूँ। सो हे भगवन्! आप मुझे आत्मज्ञान की नाव पर चढाकर शोकसागर के पार उतार दीजिये, जिस से मैं कृतार्थ होकर अभयपद प्राप्त कर लूँ। नारद से ऐसा सुनकर सनत्कुमार ने कहा—जो तुम यह सब जानते हो वह नाम ही नाम है, क्योंकि वाचारम्भण विकार केवल नाममात्र है॥ ३॥

विशेष—भाव यह निकला कि नारदजी का यह सब कुछ जानना व्यर्थ ही है, क्योंकि "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋग्वेद) जो उसे नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा? जब कि नारद मन्त्रवित् हैं तो ऐसा होने पर भी वे आत्मवेत्ता क्यों नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा भी तो मन्त्रों द्वारा ही प्रकाशित होता है? पर यह शंका इस लिए ठीक नहीं है कि नाम नामी का जो भेद है वह तो विकारी ठहरा, और विकार आत्मा माना नहीं जाता॥ ३॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति॥ ४॥

भावार्थ—नाम ही ऋग्वेद है, और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वणवेद पाँचवाँ वेद इतिहास पुराण, वेदों का वेद वेदान्त या व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजनविद्या संगीतादि कला गन्धर्वविद्या, ये सब नाम ही हैं। तुम नाम की उपासना करो॥ ४॥

वि॰ वि॰ भाष्य—इस का व्याख्यान दूसरे मन्त्र में कर आये हैं, उसी

की यहाँ आवृत्ति हो गई है। यह पुनरुक्ति मन्त्र में वर्णित विद्याओं के महत्त्व बोधन के लिए है। अर्थात् सारा संसार इन विद्याओं को जानता हुआ उलझनों में पड़ा हुआ है, पर यथार्थ आत्मस्वरूप को न पहचानकर अपनी जीवनगुत्थी को सुलझाना नहीं चाहता। बहुत से लोगों ने रामायण महाभारतादि पुण्य उपाख्यान सुने हैं, और अनेकों ने गीता उपनिषदादि ग्रन्थ पढे पढाये हैं, पर उन पर इन का असर कुछ भी नहीं होता। नारद को सनत्कुमार ने यहाँ यही कहा है कि तुम उस तत्त्व से एकदम अनभिज्ञ हो, जिस के जानने से और कुछ समझना बूझना अवशिष्ट नहीं रहता। श्रुति भगवती को आलस्य नहीं है, इसी से इस मन्त्र में फिर उन सब विद्याओं का आनुपूर्वी उल्लेख कर दिया, जिन का कथन पहले पूर्व में अभी कर चुके हैं ॥ ४ ॥

विशेष—यहाँ नारद ने दूसरे मन्त्र में जिन विद्याओं का नाम लेकर उन के जानने की बात कही थी, उन सब विद्याओं का उसी तरह सनत्कुमार ने अनुवाद करते हुए उत्तर दिया है। इसी से प्रकृत में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है। यह कथन दो ऋषियों का भिन्न भिन्न है, इस से पुनः कथन नहीं है। सनत्कुमार नारदोक्त विद्याओं का अनुवाद करते हुए उन्हें समझाते हैं कि ऋग्वेद आदि ये सब नाम हीं हैं। इस लिए जैसे प्रतिमा में विष्णुबुद्धि से उपासना की जाती है, उसी तरह तुम नाम की 'यह ब्रह्म है' ऐसी बुद्धि से याने ऐसा समझकर उपासना करो ॥४॥

अब उक्त नामोपासक के लिए फल कथन करते हैं, यथा—

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह पुरुष जो नाम को 'ब्रह्म' समझकर उपासना करता है, जहाँ तक नाम की गति है वहाँ तक उसकी इच्छानुसार पहुँच होती है। नाम की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना का ऐसा माहात्म्य है। क्या नाम से बढ़कर कोई अन्य वस्तु है ? यह नारद के पूछने पर सनत्कुमार ने कहा—हाँ नाम से बढकर है। यह सुन नारद ने कहा कि भगवन् ! मुझे वही बताइये ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—'नाम ब्रह्म है' जो ऐसी उपासना करता है, उसका नाम के विषय में स्वेच्छाचरण होता है, जैसा कि राजा का अपने अधिकृत देश के विषय में स्वेच्छाचरण होता है। अर्थात् जहाँ तक नाम जाता है वहाँ तक उसका उपासक भी जाता है, जो 'नाम ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। नारद के यह पूछने पर कि क्या नाम से बढकर भी कुछ है, अर्थात् जो दृष्टि के योग्य हो ऐसी कोई और वस्तु भी है ? सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि हाँ इससे बढ़कर भी है। यह सुनकर नारद ने उसके विषय में जिज्ञासा की ॥ ५ ॥

विशेष—'नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है' ऐसा मन्त्र में यह दुबारा पाठ उपसंहार के लिए है। ग्रन्थान्तरों में नामी से बढकर नाम की महिमा का वर्णन मिलता है। जैसे भगवान् रामचन्द्रजी ने एक अहल्या नारी का उद्धार किया, पर उनके नाम से याने 'राम' इस नाम के लेने से कितने ही कृतकृत्य हो गये। महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी आदिकों ने तो उन कुछ ही लोगों में भारतीय संस्कृति के उद्धार का जोश भरा था जो उनके साथ थे, पर आज तक उनके नाम से जिन्हें स्फूर्ति मिली है ऐसे अनगिनत लोग हैं। अस्तु, प्रकृत मन्त्र में बताया गया है कि नाम तो बड़ा है ही पर नाम में सामर्थ्य देनेवाली भी कोई एक वस्तु है, वह भी बताई जायगी ॥ ५ ॥

द्वितीय खण्ड

अब सनत्कुमार नारद के प्रति वाणी की विशेषता का कथन करते हैं, यथा—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च

देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पती-ञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—वाणी ही नाम से बढकर है, यह वाणी ही है जो ऋग्वेद को जतलाती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्वणवेद, पञ्चम वेद इतिहास पुराण, व्याकरण या वेदान्त, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, संगीतविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देवता, मनुष्य, पशु पक्षी, तृण वनस्पति, सब हिंस्र जन्तु, कीट पतङ्ग पिपीलिका तक प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और झूठ, भला और बुरा, प्रिय और अप्रिय, जो कुछ हैं, वे सब वाणी से विज्ञापित होते हैं। यदि वाणी न होती तो न धर्म जाना जाता न अधर्म, न सत्य न झूठ, न भला न बुरा, न प्रिय न अप्रिय। वाणी ही यह सब कुछ हमें समझाती है। अतः तुम वाणी की उपासना करो ॥ १ ॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो वाणी को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, उसके लिए जहाँ तक वाणी की पहुँच है, वहाँ तक कोई रोक नहीं रह सकती। कौन ? जो वाणी की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। नारदजी के पूछने पर 'वाणी से बढकर भी और कुछ है' यह जब सनत्कुमारजी से मालूम पड़ा तो नारदजी ने उसकी जिज्ञासा की ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार ऋग्वेद का सब को बोध करानेवाली वाणी ही है। इसी प्रकार यजुर्वेद आदि के मन्त्र में लिखी सभी विद्याओं तथा धर्माधर्मादिकों को विज्ञापित करानेवाली भी वाणी ही है। वाक् के बिना पढ़ना नहीं बनता, उसके बिना अर्थ श्रवण का अभाव हो जाता है और अर्थ ज्ञान बिना धर्मादि का विज्ञान नहीं होता है। अतः शब्दोच्चारण के द्वारा वाक् ही इन सब को विज्ञापित कराती है। इसलिए तुम वाणी की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करो ॥ १-२ ॥

विशेष—'वाक्' यह इन्द्रिय जिह्वामूल आदि आठ स्थानों में अर्थात्—वक्षःस्थल, कण्ठ, मूर्द्धा, दन्त, ओष्ठ, नासिका और तालु एवं जिह्वामूल में स्थित वर्णों को अभिव्यक्त करनेवाली है। वर्ण ही नाम हैं। इसी से यह कहा जाता है कि नाम से वाक् उत्कृष्ट है। लोक में कार्य से कारण में उत्कृष्टता देखी जाती है, जैसे पुत्र से पिता में ॥ १-२ ॥

तृतीय खण्ड

अब सनत्कुमार वाणी से मन को बड़ा कथन करते हैं, यथा—

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—मन ही वाणी से उत्कृष्ट है। जिस प्रकार एक मुट्ठी में दो आँवले, दो बेर तथा दो बहेड़े समा जाते हैं, उसी प्रकार वाक् और नाम का मन में समावेश हो जाता है। जब कोई पुरुष मन से विचार करता है कि 'मैं मन्त्रों को पढ़ूँ' तब पढता है, जब सोचता है—'मैं काम करूँ' तब कर्म करता है। जब खयाल करता

है कि 'मैं पुत्र और पशुओं को चाहूँ' तभी उनकी इच्छा करता है। जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोक की कामना करूँ' तभी उनकी कामना करता है। मन ही आत्मा है, मन ही निःसन्देह लोक है, मन ही ब्रह्म है। तुम मन की उपासना करो ॥ १ ॥

मन के उपासक का फल कथन करते हैं, यथा—

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो मन को ब्रह्मरूप से उपासना करता है, जहाँ तक मन की पहुँच है, वहाँ तक उसे कोई रोक नहीं सकता। जो मन की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी यह महिमा है। नारद ने पूछा—भगवन्! मन से भी बढ़कर कोई है? सनत्कुमार के स्वीकार करने पर नारद ने कहा—भगवन्! मेरे प्रति उसी का वर्णन करिये ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—लोक में जिस प्रकार दो आँवलों, दो बेरों तथा दो बहेड़ों को मुट्ठी अनुभव करती है, व्याप्त करती है अर्थात् वे मुट्ठी के अन्तर्गत हो जाते हैं, वैसे ही उनके समान वाणी और नाम इन दोनों का मन अनुभव करता है। मनुष्य जब मन से विवक्षाबुद्धि करता है कि 'मैं मन्त्र पाठ करूँ, मैं कर्म करूँ, मैं पुत्र और पशुओं की इच्छा करता हूँ, मैं इस लोक तथा परलोक को उपाय द्वारा प्राप्त करना चाहता हूँ' ऐसे संकल्पपूर्वक उनकी प्राप्ति के उपाय द्वारा उन्हें जब चाहता है तब प्राप्त कर लेता है। आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व मन के रहने पर ही हो सकता है, अतः मन ही आत्मा है। मन के रहने पर ही लोक और उसकी प्राप्ति के उपाय का अनुष्ठान होता है, अतः मन ही को लोक समझो। जब कि मन ही लोक है, इस लिए मन ही ब्रह्म है, क्योंकि वह ऐसा है इसलिए उसकी उपासना करो। 'मन ही ब्रह्म है' जो ऐसी उपासना करता है उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता। अस्तु, इसके अनन्तर नारद के पूछने पर सनत्कुमार जो मन से भी बढ़कर है उसे बतलाते हैं ॥ १-२ ॥

विशेष—मन–मननशक्ति विशिष्ट अन्तःकरण वाणी से उत्कृष्ट है। वह मननयुक्त मन ही वाणी को वक्तव्य विषय में प्रेरित करता है। अतः वाक् मन के अन्तर्गत है। जो जिसके अन्तर्गत होता है, उसकी अपेक्षा वह व्यापक होने के कारण बड़ा होता है। भाव यह है कि मन में जब खयाल आता है, तब वह वाणी को वक्तव्य विषय में प्रेरित करता है, इस प्रकार वाणी मन के अन्तर्गत है, और नाम वाणी के अन्तर्गत है ॥ १-२ ॥

चतुर्थ खण्ड

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

भावार्थ—सङ्कल्प ही मन से बढकर है। जिस समय मनुष्य सङ्कल्प करता है तभी वह खयाल करता है, तब वाणी को प्रेरित करता है। वह उसे नाम के लिए प्रेरित करता है। नाम में मन्त्र और मन्त्रों में कर्म एकाकार हो जाते हैं ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—मनन के समान याने ख्याल करने की तरह सङ्कल्प भी अन्तःकरण की वृत्ति है, अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्य विषयों का विभागपूर्वक समर्थन ही सङ्कल्प है। इस प्रकार विषय का विभागपूर्वक समर्थन होने पर ही चिकीर्षाबुद्धि होती है। जिस समय मनुष्य सङ्कल्प करता है अर्थात् 'यह काम करना चाहिये' इस प्रकार कर्तव्यादि विषयों का विभाग करता है, तभी वह सोचता है—मैं मन्त्रों का पाठ करूँ, इत्यादि। तदनन्तर मन्त्रादि का उच्चारण करने में वाणी को प्रेरित करता है, फिर उस वाणी को नाम में याने नामोच्चारणनिमित्तक विवक्षा करके नाम में प्रेरित करता है, तथा नामरूप सामान्य में मन्त्र, जो शब्दविशेष ही हैं एक हो जाते हैं, अर्थात् उसके अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि सामान्य में विशेष का अन्तर्भाव है, यही एकाकारता सी है ॥ १ ॥

विशेष—मन्त्र जो कि शब्दरूप हैं, वे नाम में एक हो जाते हैं, इस का अभिप्राय यह है कि वे नाम के अन्तर्गत हैं। क्योंकि विशेष सामान्य के अन्तर्गत

होता है। मन्त्रों में कर्म एक होते हैं अर्थात् मन्त्रों से प्रकाशित किये हुए ही कर्म किये जाते हैं, कोई कर्तव्य ऐसा नहीं है जो मन्त्रों में न बतलाया गया हो। जो कर्म मन्त्र में प्रकट होकर=प्रकाश पाकर आत्मलाभ कर चुका है, ब्राह्मणभाग उस के विषय में यह विधान करता है कि अमुक कर्म इस फल के लिए विधान करना चाहिये, इत्यादि। और जो ब्राह्मणों में कर्मों की उत्पत्ति देखी जाती है याने उन ग्रन्थों में जो कर्म नये से हुए प्रतीत होते हैं, वे जो कर्म मन्त्रों में=संहिता में सत्ता पा चुके हैं, जो मन्त्रों में संक्षेप से आ चुके हैं, उन ऐसे कर्मों को स्पष्ट किया गया है। ऐसा कोई कर्म नहीं जिस की उत्पत्ति केवल ब्राह्मण में हो और मन्त्रों ने उस का प्रकाश न किया हो। यह बात संसार में सब जानते हैं कि कर्म त्रयी से विधान किये गये हैं, और त्रयी शब्द ऋक्, यजु, साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों का नाम है। मुण्डक में तो यह स्पष्ट ही है कि मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा, इत्यादि। इसलिए यह कथन ठीक ही है कि मन्त्रों में कर्म एक होते हैं॥ १॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषाᳪं संक्लृप्त्यै वर्षᳪं संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नᳪं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाᳪं संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाᳪं संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाᳪं संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वᳪं संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति॥ २॥

भावार्थ—निश्चय करके पूर्वोक्त मन आदि संकल्पाश्रय हैं और संकल्पस्वरूप हैं तथा संकल्प में प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक तथा पृथिवी संकल्पवाले हैं, वायु और आकाश संकल्प से ही प्रतीत होते हैं, जल और तेज सङ्कल्प से जाने जाते हैं। उक्त पदार्थों के सङ्कल्पनिमित्तक वृष्टि सङ्कल्प करती है, वृष्टि के सङ्कल्प के लिए अन्न सङ्कल्प करता है, अन्न के सङ्कल्प निमित्त प्राण सङ्कल्प करते हैं, प्राणों

के सङ्कल्प के लिए मन्त्र सङ्कल्प करते हैं, मन्त्रों के सङ्कल्प निमित्त कर्म सङ्कल्प करते हैं, कर्मों के सङ्कल्प के लिए लोक संकल्प करते है, लोक के सङ्कल्प के लिए सब सङ्कल्प करते हैं। वह यह सब सङ्कल्प है, अतः सङ्कल्प की ही उपासना करो ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वे ये मन आदि ऐसे हैं कि संकल्प ही इन का गमन = लय स्थान है। वे उत्पत्ति के समय संकल्पमय हैं, तथा स्थिति के समय संकल्प में प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि निश्चल दिखाई देते हैं। अतः द्युलोक और पृथिवी ने सङ्कल्प किया है एवं वायु और आकाश तथा जल और तेज ने भी सङ्कल्प किया है, क्योंकि ये भी अपने स्वरूप से निश्चल प्रतीत हो रहे हैं। उन द्युलोक तथा पृथिवी आदि के संकल्प के लिए वर्षा संकल्पित होती है, याने वृष्टि समर्थ होती है। वर्षा के संकल्प के लिए अन्न समर्थ होता है, क्योंकि वृष्टि से ही अन्न उत्पन्न होता है। अन्न की संक्लृप्ति के लिए प्राण समर्थ होते हैं, क्योंकि प्राण अन्नमय हैं और अन्न के ही आश्रय में रहनेवाले हैं। प्राणों के सङ्कल्प के लिए मन्त्र समर्थ होते हैं, क्योंकि प्राणवान् = बलवान् ही मन्त्रों को पढ सकता है, बलहीन नहीं। मन्त्रों द्वारा प्रकाशित कर्म अनुष्ठान किये जाने पर फल प्रदान में समर्थ होता है, अतः मन्त्रों के सङ्कल्प के लिए अग्निहोत्र आदि कर्म समर्थ होते हैं। उन से लोक का फल संक्लृप्त होता है। लोक फल के संकल्प के लिए सम्पूर्ण जगत् अपने स्वरूप की अविकलता में समर्थ होता है। इस प्रकार फलपर्यन्त निखिल जगत् संकल्पमूलक ही है। अतः संकल्प में ही वैशिष्ट्य है, इसलिए सनत्कुमार ने नारद को संकल्प की उपासना करने को कहा ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र में 'समक्लृप्ताम्' 'समकल्पेताम्' 'समकल्पताम्' इन भिन्न भिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग में किस अभिप्राय का भेद है, यह बात स्पष्ट नहीं हुई, न किसी पूर्व व्याख्याकार ने ही की है। द्यौ और पृथिवी संकल्पवाले हैं, इसका अभिप्राय यह है कि ये एक संकल्प के अधीन काम करते हैं। अर्थात् ये सब ईश्वर के संकल्प से सब कुछ कर रहे हैं। इसीलिए ये इस प्रकार काम करते हैं जिससे एक दूसरे के काम में सहायता मिलती है। मानो ये सब एक अभिप्राय को रखकर काम में लगे हुए हैं ॥ २ ॥

अब उक्त संकल्प के ज्ञाता के फल का कथन करते हैं, यथा—

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान्

ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद् भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥३॥

भावार्थ—वह जो ब्रह्म को संकल्प मानकर उपासना करता है, वह स्वयं ध्रुव होकर ध्रुव लोकों को और प्रतिष्ठित होकर प्रतिष्ठित लोकों को तथा दुःख न पानेवाले लोकों को स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार से प्राप्त करता है। जहाँ तक संकल्प की गति है, वहाँ तक उस की यथेच्छ गति हो जाती है जो कि सङ्कल्प की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। नारद ने पूछा—भगवन्! क्या संकल्प से बढ़कर भी कुछ है? सनत्कुमार ने कहा—संकल्प से बढ़कर भी है। यह सुन नारद ने कहा—तब तो भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—वह जो संकल्प की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह विधाता द्वारा क्लृप्त 'इसे ये लोक प्राप्त हों' याने यह फल मिले इस प्रकार समर्थित, संकल्पित, ध्रुव अर्थात् नित्य लोकों को, जो अन्य अनित्य लोकों की अपेक्षा ध्रुव हैं, भोगसामग्री से सम्पन्न हैं, सुखी होकर सब प्रकार से प्राप्त करता है। जहाँ तक संकल्प की पहुँच है, वहाँ तक वह जा भी सकता है। आगे संकल्प से भी बढ़कर जो नारद का प्रष्टव्य है उसे कहा जायगा॥ ३ ॥

विशेष—संकल्प नाम इरादा, ख्याल, कल्पना। मनुष्य का जैसा संकल्प होता है, वैसे ही उस के विचार बनते हैं, जो आगे चलकर कार्य में परिणत होकर फलोन्मुख हो जाते हैं। यहाँ तक जो कहा गया है उस सब का यह अभिप्राय है कि द्यौ और पृथिवी आदि ने जिस अभिप्राय से काम आरम्भ किया है, उस अभिप्राय को पूरा करने के लिए वर्षा बनती है, आगे उस अभिप्राय को पूरा करने के लिए अन्न होता है, अन्न से प्राण यानी जीवन की उत्पत्ति और उस का धारण होता है। जीवन का मार्ग दिखलाने के लिए मन्त्र हैं, मन्त्र कर्म द्वारा सफल होते हैं, कर्म हमारे भविष्य को सुधारते हैं। भविष्य के सुधरने से संसार की प्रत्येक वस्तु हमारे लिए सुखदायी बनती है। प्रतीत होता है, मानो इन सब के अन्दर एक संकल्पशक्ति की धारा प्रवाहित हो रही है, जिस से यह सारा जगत् हमारी सेवा में लग रहा है। संसार के ये सब पदार्थ संकल्प के एक सूत्र में गुँथकर मनुष्य के

गले का हार बन रहे हैं। यह सब ईश्वर का पवित्र और सत्य संकल्प है। ईश्वर का संकल्प याने इरादा सब को ऐसा बना रहा है ॥ ३ ॥

पञ्चम खण्ड

अब सनत्कुमार चित्त को संकल्प से बड़ा वर्णन करते हैं, यथा—

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १ ॥

भावार्थ—चित्त ही संकल्प से बढ़कर है, क्योंकि जिस समय मनुष्य चेतनावाला होता है, तभी-वह संकल्प करता है। फिर मनन करता है, इसके अनन्तर वाणी को प्रेरित करता है, उसे नाम में लगाता है, नाम में मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रों में कर्म एकरूप होते हैं ॥ १ ॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति ॥ २ ॥

भावार्थ—वे ये संकल्पादि एक मात्र चित्तरूप लय स्थानवाले, चित्तमय तथा चित्त में रहते हैं। इस लिए यदि कोई मनुष्य सोच से शून्य हो, अचित्त हो तो चाहे वह बहुत कुछ भी जानता हो, तो भी लोग उसके विषय में कहते हैं कि यह कुछ भी नहीं; याने न होने के बराबर है—जो यह कुछ भी नहीं जानता है। विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त न होता, ऐसा बेसमझ न होता। इसके विरुद्ध यदि कोई पुरुष सोचवाला होता है तो वह चाहे थोड़ा भी जानता हो, लोग उसकी बात को

खुशी से सुनना चाहते हैं। अतः चित्त ही इनका एक मात्र आश्रय केन्द्र है। चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, तुम चित्त की उपासना करो ॥ २ ॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद् भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जो ब्रह्म की चित्त के रूप में उपासना करता है, वह स्वयं दृढ़ ध्रुव, प्रतिष्ठावाला और दुःख से रहित हुआ उन लोकों को प्राप्त होता है, जो चित्त से पूर्ण, अटल, प्रतिष्ठावाले और दुःख से रहित हैं। जहाँ तक चित्त की पहुँच है वहाँ तक इस के लिए कोई रोक नहीं होती। जो चित्त की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उस का ऐसा फल है। इस के अनन्तर नारद ने पूछा कि हे भगवन्! चित्त से बढकर कोई वस्तु है? सनत्कुमार बोले—हाँ, चित्त से बढकर वस्तु है। तब नारद ने कहा कि हे भगवन्! मुझे वही बतलाइये ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—चित्त ही संकल्प से बढकर है। इस में प्राप्तकाल के अनुरूप बोधयुक्त होना और भूत तथा भविष्यत् विषयों के प्रयोजन का निरूपण करने में समर्थ होना, यह संकल्प की अपेक्षा इस में उत्कृष्टता है। सावधान मनुष्य ही किसी काम के करने, त्यागने अथवा किसी वस्तु के लेने या छोड़ने का संकल्प करता है, तब वाणी को नाम में प्रेरित करता है। नाम में मन्त्र एक होते हैं और उन में कर्मों का प्रतिपादन होता है।

इन सब का केन्द्र चित्त है, याने संकल्प से लेकर कर्मफल पर्यन्त सब का चित्त एकगति है। चित्त की महिमा भी बहुत बड़ी है, चित्त ही तो संकल्पादिकों का मूल है। यदि कोई शास्त्रादि का परिज्ञाता बहुज्ञ भी हो, पर अचित्त हो अर्थात् प्राप्त विषयादि के यथार्थ स्वरूप को जानने की सामर्थ्य से रहित हो, तो निपुण लौकिक पुरुष उस के विषय में 'यह कुछ योग्य नहीं, इसने जो शास्त्रादि जाने या सुने हैं, वे भी इस के लिए व्यर्थ हैं' ऐसी धारणा स्थिर कर लेते हैं। जिस का चित्त हीं ठिकाने पर नहीं है वह निकम्मा है। यदि अल्पवित् होने पर भी वह चित्तवान्

होता है तो उस से उस की कही हुई बात को ग्रहण करने के लिए ही लोग सुनने की इच्छा करते हैं। अतः चित्त सब का आश्रयस्थान है, आत्मा है, प्रतिष्ठा है। उसी की उपासना में लग जाओ। इस से लाभ यह होगा कि जहाँ तक चित्त की गति है याने जिस परमावधि तक चित्त जा सकता है, वहाँ तक जाने में उसे कोई रोक नहीं सकता। इतना जान लेने पर नारद के पूछने से सनत्कुमार ने चित्त से भी बढकर जब कोई और पदार्थ का होना स्वीकार किया तब उन्होंने उसे ही बताने को कहा ॥ १-३ ॥

विशेष—चित्त नाम सोच, समझ, चिन्तन, फ़िक़र। अर्थात् अब क्या करना चाहिये ? आगे इस का क्या फल होगा ? और पीछे ऐसी अवस्था में इस प्रकार के कर्मों का क्या परिणाम निकलता है ? किसी अन्य के लिए भी ऐसा ही हुआ ? इत्यादि विषयों में बुद्धि को पूरी तरह लगा देना, प्रवृत्त करना चित्त का काम है ॥१-२

षष्ठ खण्ड

अब चित्त से ध्यान को ज्येष्ठ बोधन करते हैं, यथा—

ध्यानं वाव चित्ताद् भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—ध्यान ही चित्त से बढकर है, यह पृथिवी मानो ध्यान में लगी है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल मानो ध्यान में प्रवृत्त हैं, पर्वत मानो ध्यान मग्न हैं, और देवता तथा मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्यों में महत्त्व प्राप्त करते हैं वे मानो ध्यान के लाभ का

ही कुछ हिस्सा लिये हुए प्रतीत होते हैं। जो छोटे दर्जे के क्षुद्र मनुष्य हैं वे कलह-प्रिय, चुगली करनेवाले और दूसरों के मुख पर ही उन की निन्दा करनेवाले होते हैं। पर जो प्रभुतावाले मनुष्य हैं वे ध्यान के फल का कुछ अंश प्राप्त करनेवाले होते हैं। अतः तुम ध्यान की उपासना करो ॥ १ ॥

ध्यान का फल बताते हैं, यथा—

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद् भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो ध्यान की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, जहाँ तक ध्यान की गति है वहाँ तक उस की स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि ध्यान को ब्रह्म के तौर पर उपासना करता है। तब नारद ने पूछा—भगवन्! क्या कुछ ध्यान से भी उत्कृष्ट है? सनत्कुमार बोले—हाँ, ध्यान से भी उत्कृष्ट कुछ और है। 'भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें' नारद ने यह जिज्ञासा की ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—चित्त से बढकर ध्यान को जानो। जो लोग इस लोक में धन, विद्या अथवा गुणों के कारण महत्त्व प्राप्त करते हैं, निःसन्देह वे महत्त्व के कारण धनादि प्राप्त करते हैं। अर्थात् वे ध्यान के फल की जो प्राप्ति, उस के एक अंश, अवयव याने कला से युक्त होते हैं, वे निश्चल से दिखाई देते हैं। जो क्षुद्र हैं अर्थात् जो उपर्युक्त गुणों से रहित छोटे दर्जे के मनुष्य हैं, वे लड़ाई झगड़ेवाले, चुगलखोर, पीठ पीछे निन्दा करनेवाले होते हैं. वे धनादि के एक अंश को भी प्राप्त नहीं कर सकते। हम लोग अनेक जनों को जो प्रभु याने विद्याचार्य तथा राजेश्वर देखते हैं उन्होंने मानो ध्यान के फल का एक अंश प्राप्त कर लिया है। अतः इस फल से भी ध्यान का महत्त्व प्रतीत होता है, इस लिए यह चित्त से बढकर है। तुम्हें इसी की उपासना करनी चाहिये। उस की यथेच्छ गति को कोई रोक नहीं सकता जो ध्यान को ब्रह्मरूप से उपास्य समझकर तदनुकूल अनुष्ठान में प्रवृत्त है। नारद को सनत्कुमार ने जब यह उत्तर दिया कि ध्यान से बढकर भी कुछ है, तो नारद ने उसे भी जानना चाहा ॥ १-२ ॥

विशेष—ध्यान नाम एकाग्रता, चित्त को एक जगह पर टिका देना। श्री

शङ्कराचार्य कहते हैं कि देवता आदि शास्त्रोक्त आलम्बन में विजातीय वृत्तियों से असंयुक्त एक ही वृत्ति के प्रवाह का नाम ध्यान है। जब कोई पुरुष किसी गम्भीर विषय पर ध्यान लगाता है तो वह शान्त और निश्चल हो जाता है। पृथिवी और अन्तरिक्ष आदि इसी प्रकार से शान्त तथा अपनी मर्यादा में निश्चल हैं। मानो वे ध्यान में लगे हुए हैं। वृक्ष चुप चाप खड़े अपने ऊपर वातातप शीत वृष्टि झेल रहे हैं क्योंकि वे ध्यानावस्थ हैं। जैसे संसारी लोग किसी ध्यानपरायण योगी को जबरदस्ती खींचकर सांसारिक झंझटों में डाल अशान्त सा कर देते हैं, अवसर पाकर फिर तत्काल वह समाहित हो जाता है। इसी प्रकार वृक्षों को वातादि प्रकम्पित कर तो देते हैं पर वे शीघ्र ही वायुवेग के बन्द हो जाने से तदवस्थ हो जाते हैं। यही ध्याननिष्ठा है ॥ १-२ ॥

सप्तम खण्ड

अब ध्यान की अपेक्षा विज्ञान की महत्ता दिखाई जाती है, यथा—

विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास· पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्र· विद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपि· पीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—विज्ञान ही ध्यान से श्रेष्ठ है। विज्ञान द्वारा मनुष्य ऋग्वेद को जानता है, तथा विज्ञान से ही वह यजुर्वद, सामवेद चौथे आथर्वणवेद, वेदों में पाँचवें वेद इतिहास पुराण, व्याकरण या वेदान्त, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त) ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, द्यौ और पृथिवी, वायु और आकाश, जल और तेज, देवता और मनुष्य, पशु और पक्षी, तृण और वनस्पति, सारे हिंस्र जन्तु, कीड़े पतंगे और चिउँटी तक, धर्म अधर्म, सत्य और झूठ, भलाई और बुराई, प्रिय और अप्रिय, अन्न और रस, यह लोक और वह लोक; इन सब को जानता है। अतः तुम विज्ञान की उपासना करो ॥ १ ॥

अब विज्ञान की उपासना का फल कहते हैं, यथा—

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद् भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो विज्ञान की ब्रह्मरूप से उपासना करता है वह विज्ञानवाले तथा ज्ञानवाले लोकों को प्राप्त होता है। जहाँ तक विज्ञान की पहुँच है वहाँ तक उसकी यथेच्छ गति होती है, जो विज्ञान की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। तब नारद बोले—हे भगवन्! विज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु और है? 'विज्ञान से श्रेष्ठ और भी है' सनत्कुमार ने यह जवाब दिया। नारद कहने लगे—भगवन्! मुझे उसी का उपदेश दीजिये ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—ध्यान का कारण होने से ध्यान की अपेक्षा विज्ञान श्रेष्ठ है। क्योंकि विज्ञान से ही मनुष्य ऋग्वेद को 'यह ऋग्वेद है' इस प्रकार प्रमाणरूप से जानता है, जिसका अर्थज्ञान ध्यान का कारण है। इसी प्रकार यजुर्वेद आदिकों का ज्ञान भी विज्ञान से ही होता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत पशु आदि को, शास्त्रसिद्ध धर्म और अधर्म को, लोकदृष्टि से अथवा स्मृतियों द्वारा निर्णीत शुभ और अशुभ को, एवं सम्पूर्ण अदृष्ट विषय को भी मनुष्य विज्ञान से ही जानने में

समर्थ होता है। अतः ध्यान की अपेक्षा विज्ञान की श्रेष्ठता निश्चित होने के कारण तुम उसी की उपासना करो। जो विज्ञानवान् होगा, वह उन ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न पुरुषों से युक्त लोकों को प्राप्त कर लेगा। उसकी गति वहाँ तक निर्बाध हो जायगी जहाँ तक विज्ञान की पहुँच है। इसलिए विज्ञान को ब्रह्म समझकर उपासना करनी उचित है। फिर नारद के पूछने पर सनत्कुमार ने उससे भी श्रेष्ठ पदार्थ बताना स्वीकार किया ॥ १-२ ॥

विशेष—विज्ञान शास्त्रविषयक ज्ञान का नाम है, और ज्ञान उससे अन्य-विषयों सम्बन्धी निपुणता का नाम है। विज्ञान कारण है और ध्यान उसका कार्य है, क्योंकि पहले वस्तु जानी जाती है, तब उस पर ध्यान जमाया जाता है। इस लिए विज्ञान ध्यान से श्रेष्ठ है। आज कल सायंस को भी विज्ञान कहा जाता है, क्योंकि सायन्स की विज्ञता भी अध्ययन का ही फल है, जो तद्विषयक शास्त्रों की निपुणता से होती है ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

अब विज्ञान से बल की श्रेष्ठता बोधन करते हैं, यथा—

बलं वाव विज्ञानाद् भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—बल ही विज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है। बलवाला एक मनुष्य

विज्ञानवाले सौ पुरुषों को कँपा देता है। जब कोई पुरुष बलवाला होता है तो वह उद्योगी बन जाता है याने वह उठनेवाला भी होता है। उठकर ही परिचर्या करने-वाला होता है, तथा परिचर्या करनेवाला होने पर ही समीपगमन करनेवाला होता है और उपसदन करने पर ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करनेवाला होता है, जाननेवाला होता है, कार्य करनेवाला होता है एवं विज्ञानवान् होता है। बल से ही पृथिवी खड़ी है, बल से ही अन्तरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, बल से ही देवता और मनुष्य, बल से ही पशु पक्षी, तृण वनस्पति, सब हिंस्र जन्तु, कीट पतंग और चींटी तक समस्त प्राणी स्थित हैं और बल से ही लोक स्थित है। अतः तुम बल की उपासना करो ॥ १ ॥

अब बलवान् पुरुष के फल का कथन करते हैं, यथा—

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद् भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बल की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँ तक बल की गति है वहाँ तक अबाध गति हो जाती है। जो ब्रह्मरूप से बल की उपासना करता है उसका यह फल है। अब नारद फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! क्या कुछ बल से उत्कृष्ट वस्तु है? सनत्कुमार उत्तर देते हैं—बल से भी उत्तम वस्तु है। तब नारद ने कहा—भगवन्! मेरे प्रति उसी का उपदेश दें॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—बल ही विज्ञान से उत्तम है, चाहे किसी कारण से भी क्यों न हो निर्बल पुरुष कुछ भी करने लायक नहीं रह जाता। सब से पहले तो वह निपट मूर्ख ही रह जायगा, क्योंकि दुर्बलता के कारण वह आचार्य के पास उपसदन नहीं कर सकता। यदि आचार्य के समीप किसी सवारी आदि के साधन से पहुँच भी गया तो अनशन करने के कारण 'मुझे ऋगादि का प्रतिभान नहीं होता' ऐसी असमर्थता प्रकट करने पर बाध्य होता है। बलवान् प्राणी दूसरों को ऐसे कम्पायमान कर देता है जैसे सैकड़ों मनुष्यों को हाथी। फिर निर्बल पुरुष गुरु की परिचर्या भी नहीं कर सकता। इसी प्रकार वह और भी उपयोगी कार्यों से वंचित रह जाता है। वह श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने लायक तो रह

ही नहीं जाता। जो बल को ब्रह्म समझकर उपासना करता है उसे वहाँ तक जाने से रोकने की किसी में शक्ति नहीं जहाँ तक बल की गति है। यह सामर्थ्य उस में आ जाती है जो बल को ब्रह्म जानकर उस की उपासना करता है। अनन्तर बल से बढकर सनत्कुमार ने नारद को और कुछ बताने का वादा किया ॥ १-२ ॥

विशेष—पुष्टिकारक अन्न के उपयोग से जो शरीर में बल उत्पन्न होता है, वही शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य की प्रतिभा को, नयी नयी स्फुरणा को बढाता है, और उपयोगी तथा स्वस्थेन्द्रिय बनाकर उस के लिए नूतन विज्ञान के द्वार खोल देता है। अतः बल विज्ञान से बढकर है। कभी कभी तो सीधी तौर पर भी बल विज्ञान से बढ जाता है, जब कि विज्ञानवालों का वास्ता किसी बलवान् से साक्षात् पड़ जाता है ॥ १-२ ॥

नवम खण्ड

अब बल की अपेक्षा अन्न की महत्ता दिखाते हैं, यथा—

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्याऽऽयै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—अन्न बल से भी बढकर है, इसलिए यदि कोई मनुष्य दस दिन न खाय और वह जीवित भी रहे तो देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने और समझने के अयोग्य हो जाता है। पर जब उसे अन्न प्राप्त हो जाता है तो वह द्रष्टा हो जाता है, श्रोता हो जाता है, मन्ता हो जाता है, बोद्धा हो जाता है, कर्ता हो जाता है और विज्ञाता हो जाता है। अतः तुम अन्न की उपासना करो ॥ १ ॥

अब अन्न के उपासक का फल कहते हैं, यथा—

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतो ऽभिसिध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो

भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्ना-
द्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो कि अन्न की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, वह अन्नवान् तथा पानवान् लोकों को प्राप्त होता है। जहाँ तक अन्न की पहुँच है, वहाँ तक उस की स्वेच्छागति होती है, जो अन्न की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है। अब नारद के यह पूछने पर कि भगवन्! क्या अन्न से बढकर भी कुछ है? सनत्कुमार ने जबाव दिया—अन्न से श्रेष्ठ भी है ही। यह सुन नारद ने फिर प्रार्थना की कि भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें॥ २॥

वि० वि० भाष्य—अन्न ही बल का कारण है, बल का ही नहीं, यह जीवन का हेतु है। दस दिन अन्न न मिलने से मनुष्य क्षीण होकर मर जाता है, यदि जीवित रह भी जाय, क्योंकि बहुत से लोग विना खाये महीने भर या उससे ऊपर भी जीवित देखे गये हैं, तो सब से पहले देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है, फिर और भी ताकत जाती रहती है अस्तु, जो अन्न को ब्रह्म समझकर उपासना करता है उसे वे लोक प्राप्त होते हैं जहाँ खान पान की कोई कमी नहीं है। उसकी पहुँच वहाँ तक हो जाती है जहाँ तक अन्न की पहुँच है। शर्त यह है कि अन्न की 'यह ब्रह्म है' इस भावना से उपासना करे। इसके बाद सनत्कुमार नारद के पूछने पर अन्न से बढ़कर भी एक तत्त्व के बताने की स्वीकृति देते हैं॥ १–२॥

विशेष—अन्न में क्या सामर्थ्य है इसे तो हम नित्य ही देखते हैं। जिनके पेट भरे हैं उन्हें ही पढना, देखना, राग रंग सूझते हैं। जिनके यहाँ भोजनों के भी लाले पड़े हैं वे कुछ सोच समझ नहीं सकते। इस मन्त्र में अन्वय व्यतिरेक से अन्न का महत्त्व बोधन किया गया है। अन्न की महिमा बोधन की एक लोकोक्ति है कि 'किसी की पीठ पर लात चाहे मारे, किंतु पेट पर नहीं।' झोंपड़ी में रहना स्वीकार किया जा सकता है यदि खाने को मिलता रहे तो, पर वे महल नापसन्द हो जायँगे जो अन्न पान के अभावयुक्त होंगे। अन्न की तथा इस के दान की महिमा से ग्रन्थ भरे पड़े हैं पर उनमें से कुछ भी वचनों का यहाँ उल्लेख इस लिए नहीं किया कि सर्वानुभूत अन्न की महिमा गाना यहाँ ऐसा होगा जैसी सूर्य को दीपक से देखने की चेष्टा॥ १–२॥

दशम खण्ड

अब अन्न से जल के अधिक महत्त्व का वर्णन करते हैं, यथा—

आपो वावान्नाद् भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥१॥

भावार्थ—जल अन्न से बढकर हैं, इसी लिए जब अच्छी वर्षा नहीं होती तो प्राण दुखी होते हैं कि अन्न कम होगा। पर यदि अच्छी वृष्टि होती है तो प्राण आनन्द मानते हैं कि अब अन्न बहुत होगा। जल ने ही ये भिन्न भिन्न मूर्तियाँ धारण कर रखी हैं, जो यह पृथिवी है, जो यह अन्तरिक्ष है, जो द्यौ है, जो पर्वत हैं, जो देव और मनुष्य हैं, जो पशु और पक्षी हैं, जो तृण और वनस्पति हैं, जो हिंस्र जन्तु हैं और जो कीट पतङ्ग तथा चींटी तक जीव हैं। जल ही यह है जिस ने भिन्न भिन्न मूर्तियाँ धारण कर रखी हैं, सो तुम जल की उपासना करो ॥ १ ॥

अब जल की उपासना का फल कहते हैं, यथा—

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो जल की ब्रह्मभावना से उपासना करता है, वह सब कामनाओं को प्राप्त हो जाता है और तृप्तिमान् होता है। वह जहाँ तक जल की गति है वहाँ तक यथेच्छ गमन करनेवाला हो जाता है, जो जल की 'यह ब्रह्म है' इस

रूप से उपासना करता है। 'भगवन्! जल से बढकर कोई वस्तु है?' नारद के ऐसा पूछने पर 'हाँ जल से उत्तम है' यह सनत्कुमार ने उत्तर दिया। फिर नारद प्रार्थना करते हुए बोले कि भगवन्! वह मुझे बताइये ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—अवश्यमेव जल उत्कृष्ट है, क्यों कि यह अन्न का कारण है। वृष्टि की सम्भावनामात्र से प्राण मेघदर्शी मयूर की तरह नाचते लगते हैं, जल से ही अन्न होता है जो प्राणिमात्र का जीवन है, जल को 'जीवन' कहा गया है "जीवनं भुवनं वनम्" इस अमरकोश में। क्योंकि मनुष्य अन्न विना तो कुछ दिन जीवित भी रह सकता है, पर जल बिना मछली की तरह शीघ्र ही प्राण छोड़ देता है। जो जल को ब्रह्म समझकर उसकी ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह सब इच्छाओं की पूर्ति करता हुआ तृप्त रहता है, वह जल के समान गतिवाला हो जाता है। यहाँ भी जल से श्रेष्ठ किसी पदार्थ के बताने का नारद से करार किया गया है ॥ १-२ ॥

विशेष—संसार में यह सब कुछ जो मूर्त है, ठोस है वह द्रवावस्था से इस दशा को प्राप्त हुआ है। व्रीहि यवादि धान्यों के दाने पहले जल जैसे तरल थे, पर बाद में कड़े हो गये। सृष्टि के आरम्भ में भी सबसे पहले जल ही जल उत्पन्न हुआ था, उस में परमात्मा के द्वारा वह बीज डाला गया जो जगद्वृक्ष का कारण था ॥ १-२ ॥

एकादश खण्ड
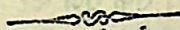
अब जल की अपेक्षा तेज की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं, यथा—

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—तेज जल से बढकर है, क्योंकि तेज वायु के साथ मिलकर आकाश को पूरा पूरा याने सब ओर से तपाता है। तब सब लोग कहते हैं—गर्मी हो रही है, बड़ा ताप है, वर्षा होगी। इस प्रकार तेज ही अपने आप को दिखलाकर तब जलों की उत्पत्ति करता है। तब फिर ऊपर और चारों तरफ चमकती हुई बिजलियों के साथ मेघ की गर्जनाएँ प्रकट होती हैं, याने बिजली के सहित गड़गड़ाहट का शब्द फैल जाता है। तब लोग कहते हैं—चमकता है, गर्जता है, बरसेगा। इस प्रकार यहाँ भी तेज ही पहले अपने आप को प्रदर्शित करके, बिजली के रूप में प्रकट होकर फिर जलों को उत्पन्न करता है। अतः तेज की उपासना करो ॥ १ ॥

अब उक्त तेज के उपासक के लिए फल का कथन करते हैं, यथा—

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो कि तेज की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, वह स्वयं तेजस्वी बनकर उन लोकों को प्राप्त होता है जो तेजवाले हैं, प्रकाश से पूर्ण हैं और तमोहीन हैं। जहाँ तक तेज की गति है वहाँ तक उस की स्वेच्छा-गति हो जाती है, जो तेज की ब्रह्मभावना से उपासना करता है। यह सुनकर नारद ने कहा—भगवन्! क्या तेज से भी बढकर कुछ है ? सनत्कुमार उत्तर देते हैं—तेज से बढकर भी है ही। नारद ने कहा—भगवन्! मुझे उसी का उपदेश करें ॥ २ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—तेज जल का कारण है, इसलिए वह जल की अपेक्षा उत्कृष्ट है। क्योंकि तेज जिस समय वायु को निश्चल कर आकाश को अभितप्त करता है, उस समय लोगों को आकाश के चारों ओर से तपने का अनुभव होता है, इस से वे कहते हैं कि इस तपने से वृष्टि होगी। इस के अतिरिक्त दूसरे प्रकार से भी तेज ही बिजली के रूप में वर्षा का हेतु है। जब बिजली चमकती है और

बादलों में गड़गड़ाहट का शब्द हो जाता है तब लोग समझते हैं कि वर्षा होगी। इस प्रकार पहले तेज ही अपने को प्रदर्शित कर जल को उत्पन्न करता है। इससे तुम्हें तेज की उपासना करनी चाहिये। इस तरह जो तेज की ब्रह्म समझकर उपासना करता है, वह दीप्तिमान् हो जाता है, तेजस्वी लोकों में जाता है, उसे वहाँ जाने में कोई रोक नहीं सकता जहाँ तक तेज की पहुँच है, पर तेज को ब्रह्म समझना उचित है। सनत्कुमार ने नारद के प्रश्न के उत्तर में फिर कहा— इससे भी बढकर और है। नारद ने उसे ही जानना चाहा ॥ १-२ ॥

विशेष—यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि कारण को अभ्युदित हुआ देखनें-वालों की ऐसी बुद्धि होती है कि कार्य होगा। इस प्रकार पहले तेज ही अपने को उद्भूत हुआ दिखलाकर उसके अनन्तर जल प्रकट करता है। अतः जल का स्रष्टा होने के कारण जल की अपेक्षा तेज उत्कृष्ट है ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड
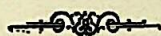
अब तेज की अपेक्षा आकाश को बड़ा कथन करते हैं, यथा—

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—आकाश ही तेज से उत्कृष्ट है, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों तथा विजली नक्षत्र और अग्नि आकाश में स्थित हैं। आकाश के द्वारा ही पुकारा जाता है, आकाश से ही सुनते हैं, आकाश के द्वारा प्रतिवचन होता है। आकाश में ही रमण करते हैं, आकाश में आनन्द नहीं भी भोगा जाता, आकाश में ही उत्पन्न होते हैं और आकाश की ओर ही बढते हैं। तुम आकाश की उपासना करो ॥ १ ॥

अब आकाश के उपासक के फल का कथन करते हैं, यथा—

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसंबाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति याव-दाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो आकाश की ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह आकाश-वान्, प्रकाशवान्, पीड़ारहित तथा विस्तृत लोकों में जाता है। जहाँ तक आकाश की गति है वहाँ तक उसकी अबाध गति हो जाती है जो आकाश की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। तब नारद ने पूछा—भगवन्! क्या आकाश से भी बढ़कर कुछ है ? सनत्कुमार ने उत्तर दिया—क्यों नहीं है, आकाश से भी बढ़कर है। यह सुन नारद बोले—भगवन्! तब तो मुझे आप उसी का बोध करायें ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वायु सहित तेज का कारण आकाश है, इससे आकाश ही तेज से बढ़कर ठहरा। लोक में कार्य की अपेक्षा कारण ही उत्कृष्ट देखा गया है, जिस प्रकार घट शराब आदि की अपेक्षा मृत्तिका उत्कृष्ट है। यह बात युक्तिसिद्ध भी है, जैसे आकाश में ही तेजःस्वरूप सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों हैं, तथा आकाश के भीतर ही तेजोमय विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि है। जो जिसके भीतर होता है वह छोटा होता है, और दूसरा उससे बड़ा होता है। फिर यह भी बात है कि आकाश के भीतर ही एक व्यक्ति दूसरे को पुकारता है, पुकारे जाने पर एक दूसरे की सुनता है। सब लोग आकाश में ही एक दूसरे के साथ क्रीड़ा करते हैं, याने जब कोई किसी से मिलता है तो वह आकाश के अवकाश में ही तो मिले जुलेगा। और स्वजन बन्धु बान्धव का वियोग हो जाने पर जहाँ रमण नहीं कर सकता वह स्थान भी तो आकाश ही है। जो किसी मूर्त पदार्थ से अवरुद्ध नहीं है ऐसे आकाश में ही जीव पैदा होते हैं एवं आकाश की ओर लक्ष्य करके ही अङ्कुरादि बढ़ते हैं, न कि नीचे की ओर। सो तुम आकाश की उपासना करो।

जो आकाश को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है, वह आकाश व

प्रकाशवाले ऐसे लोकों को जाता है, जहाँ कोई दबाव, पीड़ा नहीं है और जो काफी खुले चौड़े हैं। जहाँ तक आकाश की पहुँच है, वहाँ तक उसे कोई रोक नहीं सकता जो आकाश को ब्रह्मरूप से जानता है। इसके बाद यहाँ भी सनत्कुमार ने नारद को आकाश से बढकर कुछ और बताने का वचन दिया ॥ १-२ ॥

विशेष—यहाँ 'आकाशे रमते आकाशे न रमते' ऐसा पाठ आया है। शङ्कराचार्यजी ने इसका यह अर्थ किया है कि आकाश में एक दूसरे के साथ रमण होता है, और स्त्री आदि के वियोग हो जाने पर आकाश में रमण नहीं होता। यहाँ आदि शब्द से सभी भोग्य वस्तुएँ ली गई हैं। भाव यह है कि भोग्य पदार्थ के प्राप्त हो जाने से भोगजन्य आनन्द आकाश के अवकाश में ही मिला करता है। जब उनका वियोग हो जाता है तो खेद का होना स्वाभाविक है, उसका अनुभव-स्थल भी आकाश ही है ॥ १-२ ॥

——:❁❁❁:——

त्रयोदश खण्ड

अब आकाश से स्मरण की उत्कृष्टता बोधन करते हैं, यथा—

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—स्मरण ही आकाश से बढ़कर है, इसी से यदि किसी जगह बहुत से लोग बैठ जायँ, पर वे एक दूसरे की बात को याद न रखें तो वे कुछ भी नहीं सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं, और न जान ही सकते हैं। जब वे स्मरण करते हैं, उसी समय सुन सकते हैं, उसी समय मान सकते हैं और उसी समय जान सकते हैं। मनुष्य स्मृति के द्वारा ही पुत्रों को जानता है और स्मरण से ही पशुओं को। अतः तुम स्मरण की उपासना करो ॥ १ ॥

अब उक्त स्मृति के उपासक के फल का कथन करते हैं, यथा—

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद् भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह जो स्मृति की ब्रह्मरूप से उपासना करता है, उसकी वहाँ तक निर्बाध गति हो जाता है जहाँ तक स्मृति की गति है। स्मृति की 'यह ब्रह्म है' जो ऐसी उपासना करता है उसकी ऐसी महिमा है। तब नारद पूछते हैं—हे भगवन्! स्मृति से बढकर कोई वस्तु है? सनत्कुमार उत्तर देते हैं—हाँ! स्मृति से बढकर और वस्तु अवश्य है। नारद ने कहा—तब तो श्रीमान् मुझे उसे अवश्य बतावें ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य के सब व्यवहार शब्द पर निर्भर हैं, सब से पहले शब्द से मिलाप होता है। मिलते ही मनुष्य शब्द द्वारा एक दूसरे के साथ अपना सम्बन्ध निश्चय कर लेता है, जैसे किसी ने मिलते ही दूसरे को नमस्कार किया, दूसरे ने सुनते ही पहले को आशीर्वचन कहा, इससे यह निश्चय हो गया कि हम में अमुक बड़ा है तथा अमुक छोटा। शब्द आकाश का धर्म है, इससे यह आया कि आकाश के अधीन हमारे व्यवहार चल रहे हैं। किन्तु निखिल शब्द स्मृति के अधीन रहकर ही काम देते हैं। इस अभिप्राय से स्मृति आकाश से बढकर कही है। बिना स्मृति के हर एक वस्तु न होने के बराबर होती है, क्योंकि उन पदार्थों से जो भोग होता है, वह स्मृति के द्वारा ही होता है। स्मृति के बिना तो आकाशादि का होना भी नहीं जाना जा सकता। इस लिए स्मृति की ब्रह्म की तरह उपासना कही गई है। उसका फल भी कहा गया है। यहाँ भी पहले मन्त्रों की तरह सनत्कुमार ने नारद को स्मृति से बढकर और कुछ बताने को कहा है ॥ १-२ ॥

विशेष—यहाँ तक कार्यकारण भाव दिखाकर उत्तरोत्तर पदार्थों में व्यापकता दिखाते आ रहे हैं, अब यही काम निमित्तनैमित्तिक भाव से बताया जायगा। स्मरणशक्ति की महिमा अपार है, यह शक्ति जिसके हिस्से में जितनी अधिक आई है, वह पुरुष उतना ही महत्त्वशाली है। याद रहना यही स्मरणशक्ति है। इसके अभाव से हम ऐसा ग्रन्थ भूल जाते हैं जो हमें सात जन्मों के यत्न से भी मिलना

अति दुर्लभ है, जब हम उसकी याद करते हैं तो अपार हानि समझकर जमीन थामकर बैठ जाते हैं। इससे पाठक स्मरणशक्ति का महत्त्व समझ सकते हैं॥ १-२॥

चतुर्दश खण्ड

अब स्मरण से बड़े का कथन करते हैं, यथा—

आशा वाव स्मराद् भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

भावार्थ—आशा ही स्मरण की अपेक्षा उत्तम है, आशा से दीप्त हुई स्मृति मन्त्रों को पढती है, कर्म करती है, पुत्र और पशुओं की इच्छा करती है, इस लोक तथा परलोक को चाहती है। इस कारण तुम आशा की उपासना करो॥ १॥

अब आशा की उपासना के फल का कथन करते हैं, यथा—

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २ ॥

भावार्थ—जो आशा की 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, आशा के द्वारा उस की सारी कामनायें समृद्ध होती हैं, उस की प्रार्थनायें सफल होती हैं। जहाँ तक आशा की गति है, उस की भी वहाँ तक यथेच्छ गति होती है जो आशा की ब्रह्मरूप से उपासना करता है। नारद पूछते हैं—क्या भगवन्! आशा से बढकर कोई वस्तु है? सनत्कुमार जवाब देते हैं कि हाँ आशा से बढकर है। तब नारद जिज्ञासा करते हैं कि भगवन्! आप मुझे अब वही कहें॥ २॥

वि० वि० भाष्य—आशा को स्मरण की अपेक्षा उत्कृष्टता है, क्योंकि आशा से ही मनुष्य स्मरणीय विषय का स्मरण करता है। आशा से वृद्धि को प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह स्मरण ऋगादि मन्त्रों का अध्ययन करता है, अध्ययन करके विद्वानों से अर्थ तथा विधि ग्रहण कर उन के फल की आशा से ही कर्म करता है, एवं आशा से ही उन के साधनों का अनुष्ठान करता है। आशा से समिद्ध हुआ इस लोक की तथा परलोक की इच्छा करता है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी आशारूप रस्सी से बँधा है, अतः आशा से लेकर नाम पर्यन्त यह जगत्‌रूप चक्र चल रहा है। इस लिए स्मरण से आशा की उत्कृष्टता होने के कारण तुम उसी की उपासना करो। उपासना की हुई आशा से पुरुष की सारी कामनाएँ परिपूर्ण तथा बढकर होती हैं, उस की प्रार्थनाएँ खाली नहीं जातीं। जहाँ तक आशा की पहुँच है, वहाँ पर्यन्त जाने में उसे रोक नहीं रहती जो ऐसी उपासना में लगा है। यहाँ भी ऋषि ने इस से बढकर और कुछ कहना स्वीकार किया ॥ १-२ ॥

विशेष—आशा हमें स्मर्तव्य का स्मरण कराती है, जिस विषय की आशा है उस को और उस की प्राप्ति के साधनों को हम बार बार स्मरण करते हैं। इसी लिए आशा स्मरण का हेतु है, आशा से ही जगत् का सारा काम चल रहा है, अन्यथा यदि जीवन में नैराश्य रहता तो वह कभी का समाप्त हो चुका होता ॥ १-२ ॥
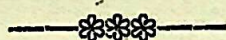
पञ्चदश खण्ड

अब आशा से प्राणों की उत्कृष्टता बोधन करते हैं, यथा—

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

भावार्थ—प्राण ही आशा से बढकर है, जैसे रथ की नाभि में अरे पिरोये

हुए हैं, इसी प्रकार यह सब जगत् प्राण में समर्पित है। प्राण प्राण से चलता है याने अपनी शक्ति के द्वारा गमन करता है। प्राण प्राण को देता है और प्राण के लिए ही देता है। प्राण ही पिता है, प्राण ही माता है, प्राण ही भाई है, प्राण ही बहिन है, प्राण ही आचार्य है, और प्राण ही ब्राह्मण है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—प्राण को आशा से उत्कृष्ट जानना चाहिये। जैसे अरों में पहियों की धारा लगी रहती है और अरे नाभि में लगे रहते हैं, इसी प्रकार यह भूतमात्रा (शब्दादि और पृथिवी आदि विषय) प्रज्ञामात्राओं (शब्दादिकों के ज्ञान और ज्ञान के हेतु इन्द्रियों) में लगी हुई हैं, और प्रज्ञामात्रा प्राण में लगी हुई हैं। इसी से प्राण में ही सब समर्पित हैं। जो वह स्वाधीन प्राण प्राण से गमन करता है, वह अपनी सामर्थ्य से ही, क्योंकि गमनादि क्रियाओं में जो इस का सामर्थ्य है वह किसी अन्य के कारण नहीं है। सम्पूर्ण क्रिया कारक और फलरूप भेदसमूह प्राण ही को जानो। देना लेना भी प्राण से ही हो रहा है, वह जो कुछ देता है उस का स्वात्मा स्वात्मभूत है। प्राण पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य और ब्राह्मण है, क्योंकि प्राण के रहते ही इन में उक्त व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार अपने में प्राण के रहने से इन का पुत्र आदि होना सम्भव है॥ १॥

विशेष—अन्यों की अपेक्षा प्राण में यह विशेषता है कि और जितने भी हैं सब प्राण के द्वारा चेष्टावाले होते हैं, पर प्राण स्वयं अपनी शक्ति से चेष्टावाला होता है। जो स्वतन्त्र होता है वही कुछ दे सकता है। प्राण के अधीन चराचर की गति है, इस लिए देनेवाला, पानेवाला और जो द्रव्य दिया जाता है वह भी प्राण ही है। क्योंकि प्राण सब कुछ जो ठहरा। प्राण को माता पिता कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक माता पिता में प्राण रहते हैं तो उन को अनुचित शब्द के प्रयोग मात्र करनेवाला भी, मारे पीटे बिना ही मातृहत्या तथा पितृहत्या सी करनेवाला समझा जाता है। और फिर वे ही पिता माता हैं, जब कि वे प्राणों से विमुक्त हो गये तो उन को उलट पलटकर जलाने में भी मनुष्य हत्यारा नहीं होता। अतः वस्तुतः प्राण ही माता पिता आदि हैं॥ १॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्यवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै

त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि कोई मनुष्य पिता, माता, भाई, बहिन, आचार्य तथा ब्राह्मण को कोई अनुचित सी बात कह दे तो लोग उसे कहते हैं कि धिक्कार है तुझे, तू निश्चय ही पिता का हनन करनेवाला है, तू माता का हत्यारा है, तू ने भाई की हत्या की है, भगिनी को मारा है, आचार्य की हत्या की है और तू निश्चय ही ब्रह्मघातक है ॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति न भ्रातृहाऽसीति न स्वसृहाऽसीति नाचार्यहाऽसीति न ब्राह्मणहाऽसीति ॥ ३ ॥

भावार्थ—पर जब उन के प्राण निकल गये हैं तब चाहे शूल के समान एकत्रित तथा छिन्न भिन्न टुकड़े टुकड़े करके जला दे तो भी उस से कोई नहीं कहेगा कि तू ने पिता को मारा है, तू मातृहा है, बहिन की हत्या करनेवाला है, तू ने भाई को मारा है, तू आचार्य का घात करनेवाला है और तू ब्राह्मण का हनन करनेवाला है ॥ ३ ॥

अब प्राण को बड़ा माननेवाले के फल का कथन करते हैं, यथा—

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्राण ही ये सब माता पिता आदि हैं। जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार चिन्तन करता है और इस तरह जाननेवाला है, वह अतिवादी होता है। उस से यदि लोग कहें कि तू 'अतिवादी' है तो वह निःशंक कहे कि हाँ मैं अतिवादी हूँ। उसे छिपाना नहीं चाहिये याने इन्कार नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—यह भारतीय वैदिक आर्यजनों का शिष्टाचार है कि

वे माता पिता आदि गुरुजनों का सत्कार और भाई, बहन आदिकों के प्रति प्रेम प्रकट किया करते हैं। इसी को लेकर यहाँ प्राण में महत्त्व बोधन किया गया है। पिता माता आदिकों का जो सत्कार आदि है वह प्राण को लेकर है। जब तक इन में प्राण रहते हैं तब तक मारना ताड़ना तो क्या, गाली देना या उन की रुचि के प्रतिकूल कुछ कह देना भी लोगों की दृष्टि में उन की हत्या समझी जाती है। पर जब उन का प्राणों से वियोग हो जाता है तो उन के जला डालने पर भी, कपाल-क्रिया करने पर भी, काट काटकर पशु पक्षियों को खिला देने पर भी ऐसा करनेवाले को कोई दोषी नहीं ठहराता। यह विचारवैचित्र्य प्राण की महिमा का है। भावार्थ यह है कि प्रतिकूल वचन मात्र कथन से देवदत्त पितृहन्ता हो गया, और जलाकर राख कर देने जैसा कर्म करने पर भी वह सेवक सपूत समझा गया। इस का जो कारण है वह प्राणों का भाव तथा अभाव है। जो प्राण को सब कुछ जाननेवाले को कोई अतिवादी बतावे तो उसे इस के मानने से निषेध नहीं करना चाहिये ॥ २-४ ॥

विशेष—इस खण्ड में प्राण का प्राधान्य बोधन किया गया है, जो कि नाम से लेकर आशा पर्यन्त कार्य कारणत्व एवं नित्य नैमित्तिकत्व रूप से उत्तरोत्तर उत्कृष्टतया स्थित है। जिस प्राण का अस्तित्व 'वह स्मृति का निमित्त है' इस प्रकार सिद्ध होता है, कमलनाल के समान आशारूप तन्तु से चारों ओर से जकड़ा हुआ यह अखिल विश्व जिस में समर्पित है तथा बाहर भीतर व्याप्त हुए जिस सर्वगत सूत्र के द्वारा सूत में मणिगणों के समान यह सब गुँथा और विशेष रूप से धृत है; वह प्राण ही आशा आदि तक सब की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

अतिवादी उसे कहते हैं जो सब से बढ चढकर बातें करे, याने अतिवादी वह मनुष्य है जो किसी ऐसी वस्तु को प्रकट करे जो उन पदार्थों में सब से परे की हो, जिन का वर्णन पहले आ चुका हो। प्रकृत में प्राण को ब्रह्म कहनेवाला उन लोगों में सब से आगे बढकर रहता है जो 'नाम ब्रह्म है' इस से आरम्भ करके 'आशा ब्रह्म है' यहाँ तक पहुँचे हैं। प्राण ही ये सब चर तथा अचर पिता आदि हैं। वह प्राणवेत्ता उपर्युक्त रीति से फलतः अनुभव करता हुआ, स्वरूपतः साक्षात्कार करता हुआ, युक्तियों द्वारा मनन चिन्तन करता हुआ, उपपत्तियों से 'यह ऐसा ही है' यह निश्चय करता हुआ, याने मनन और विज्ञान के द्वारा निष्पन्न हुए शास्त्र के तत्त्वार्थ को निश्चित देखता हुआ पुरुष 'अतिवादी' होता है। ऐसा होने पर उस का नाम से लेकर आशा पर्यन्त सम्पूर्ण तत्त्वों को अतिक्रमण करके बोलने

का स्वभाव हो जाता है। यही उस का अतिवाद है जो बहुत बोलना है, चढ़ बढ़कर बातें करना है। जब वह सर्वातिशायी तत्त्व को जान जायगा तो क्यों नहीं आगे बढ़कर बोलेगा ?

'मैं ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् का प्राण यानी आत्मा हूँ' जो ऐसा कहनेवाला है तथा ऐसा देखता है कि सब लोग सर्वदा सम्पूर्ण शब्दों द्वारा नाम से लेकर आशा पर्यन्त तत्त्वों का अतिक्रमण करके स्थित हुए प्राण का ही वर्णन करते हैं, ऐसी अतिशयोक्ति कहनेवाला अतिवादी है। उस से कोई कहे कि तू अतिवादी है, तो उसे यही उत्तर देना चाहिये कि हाँ मैं अवश्य ही अतिवादी हूँ। अर्थात् उसे छिपाना नहीं चाहिये, याने यह समझकर कि यह निन्दा है, बहुत बढ़कर बोलना अशिष्टता है; इस डर से इन्कार नहीं कर बैठना चाहिये। फिर वह अतिवादित्व को छिपा भी तो नहीं सकता। जो सर्वेश्वर प्राण को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मभाव से प्राप्त हो गया है वह अपने 'अतिवदन' को किस प्रकार छिपायेगा ? अर्थात् उस के लिए अतिवादित्व को छिपाने का कोई प्रयोजन नहीं। जिस में जो योग्यता है उसे छिपाया न भी जाय तो हर्ज ही क्या है ? सच्चे माने में यह अतिवादित्व गुण ही है ॥ २-४ ॥

सोलहवाँ खण्ड

सब से बढ़कर प्राण ही है, इस से परे और कुछ नहीं है, ऐसा समझकर नारद ने आगे प्रश्न नहीं किया। अतः सनत्कुमार नारद को मिथ्या ज्ञान के चक्कर से बचाने की इच्छा से बोले—

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्य-मिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

भावार्थ—वस्तुतः अतिवादी वह है जो सत्य (ब्रह्म) को सब से बढ़कर कहता है। नारद ने कहा—भगवन् ! मैं तो परमार्थ सत्य विज्ञान के कारण ही अतिवदन करता हूँ। सनत्कुमार ने कहा—तब तुम्हें सत्य के जानने की इच्छा

होनी चाहिये। नारद ने कहा—भगवन्! मैं विशेष रूप से सत्य की जिज्ञासा करता हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—सनत्कुमार ने कहा—अतिवदन करने का अधिकारी वही है जो परमार्थविज्ञानी होने के कारण ऐसा करता है। यह सुनकर नारदजी ने कहा कि भगवन्! आप मुझे इस प्रकार उपदेश करें जिस से मैं सत्य ज्ञान के कारण अतिवदन कर सकूँ। सनत्कुमार बोले—यदि तुम इस प्रकार सत्य के द्वारा अतिवदन करना चाहते हो तो तुम्हें सत्य की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। ऐसा कहे जाने पर नारद बोले—ठीक है, मैं सत्य की जिज्ञासा करता हूँ, याने आप के द्वारा विशेष रूप से सत्य को जानने की इच्छा करता हूँ॥ १॥

विशेष—नारद ने आगे नहीं पूछा कि क्या कोई वस्तु प्राण से बढकर है? प्राण को ब्रह्म कहनेवाला अतिवादी है, यह सुनकर वे सन्तुष्ट हो गये, याने यह समझा कि प्राण ही सब से बढकर परब्रह्म है। पर सनत्कुमार इस योग्य शिष्य को सच्चा अतिवादी बनाना चाहते थे। इसी लिए वे आगे उन्हें सत्य ब्रह्म तक ले जाना चाहते हैं। यही सोलहवें खण्ड से लेकर छब्बीसवें खण्ड तक का उपदेश है॥ १॥

सत्रहवाँ खण्ड
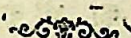
नारद के ऐसा कहने पर सनत्कुमार उत्तर देते हैं, यथा—

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

भावार्थ—जब कोई मनुष्य सत्य को विशेष रूप से समझता है, तभी वह सत्य कहता है। बिना जाने सत्य नहीं बोलता, किन्तु विशेषतया जाननेवाला ही सत्य बोलता है। अतः विज्ञान की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। नारद ने कहा—भगवन्! मैं इस विज्ञान को जानना चाहता हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—पुरुष जिस समय 'यह परमार्थतः सत्य है' ऐसा जानता है, उसी समय मिथ्या वाचारम्भण विकारजात को त्यागकर 'सम्पूर्ण

विकार में स्थित एक सत् ही सत्य है' ऐसा जानकर फिर जो कुछ कहता है सही सही कहता है। किन्तु बिना उस की जिज्ञासा किये वह विज्ञान जाना नहीं जा सकता। जब नारद को यह मालूम हो गया कि मैं जिज्ञासा करने पर ही उसे जान पाऊँगा, तब नारद ने कहा—भगवन्! मैं विज्ञान को विशेष तौर पर जानने को इच्छुक हूँ॥ १॥

विशेष—जो सत्य को नहीं समझता, वह सत्य को नहीं बतला सकता; ऊपर यह कहा है। क्योंकि जिस अग्नि को मनुष्य सत्य समझता है वह अग्नि केवल तीन तत्त्वों का मेल है, जो केवल विकाररूप नाम मात्र है। इसी प्रकार वे तीन तत्त्व भी विकाररूप नाम मात्र से भिन्न अनृत हैं। जो इस से परे जानता है वह असली सत्य को जानता है। इसी अध्याय के अष्टम खण्ड में जो 'विज्ञान' शब्द आया है वहाँ उस का तात्पर्य केवल शास्त्रज्ञान से है, किन्तु यहाँ इस का विशेष ज्ञान याने वास्तविक ज्ञान अर्थ है॥ १॥
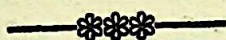
अठारहवाँ खण्ड

ऐसा सुनकर सनत्कुमार ज्ञान का भी कारण बतलाते हैं, यथा—

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

भावार्थ—सनत्कुमार ने कहा—जिस समय मनुष्य मनन करता है, तभी वह विशेष रूप से जानता है। बिना मनन किये कोई नहीं जानता, किन्तु मनन करने पर ही जानता है। इस कारण मति की ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी उचित है। यह सुन नारद बोले—भगवन्! मैं मति के जानने की इच्छा करता हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—मनुष्य बिना सोचे समझे कुछ जान नहीं सकता। जब मनन करेगा, मन से किसी वस्तु पर विचार करेगा तभी वह उस की तह तक

पहुँच सकता है। जो लोग किसी काम में मन नहीं लगाते वे उस में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। इस सर्वानुभूत विषय को कौन नहीं जानता ?॥ १॥

विशेष—मति नाम मनन याने तर्क, अर्थात् मन्तव्य विषय के प्रति आदर। वह मति है जिससे विशेष प्रकार से जिज्ञासा का लक्ष्य ज्ञात होता है॥ १॥

—※※※—

उन्नीसवाँ खण्ड

—∞○∞—

ऐसा पूछने पर गुरु उस मति की भी कारणपरंपरा का उपदेश देते हैं, यथा—

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

भावार्थ—सनत्कुमार ने कहा—जब कोई मनुष्य श्रद्धा रखता है तब वह उस का मनन करता है, वह जो श्रद्धा नहीं रखता, मनन नहीं करता। केवल वही जो श्रद्धा रखता है, मनन करता है। सो हमें श्रद्धा की जिज्ञासा करनी चाहिये। नारद ने कहा—भगवन्! मैं श्रद्धा को जानना चाहता हूँ॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—श्रद्धा के बिना कोई किसी महापुरुष के कथन तथा शास्त्रोक्ति के विषय में मनन नहीं कर सकता। संसार के सारे काम श्रद्धा से चलते हैं, पर आत्मज्ञान में तो यह अन्यतम साधन है। जब तक किसी के प्रति श्रद्धोदय न होगा तब तक वह उस के वचनों को महत्त्व नहीं दे सकता। श्रद्धा के विषय में धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं, अतः प्रसिद्ध विषय समझकर इस की व्याख्या की यहाँ पुनरुक्ति करना उचित नहीं समझा गया॥ १॥

विशेष—आस्तिक्य बुद्धि का नाम श्रद्धा है। जो इससे युक्त नहीं हैं वे नास्तिक कहाते हैं, उन की दृष्टि में वेद भी कुछ नहीं है। महात्माओं का कथन है कि 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' इस शास्त्रोक्ति का उन को पालन करना चाहिये जो कुछ जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं॥ १॥

—※※※—

बीसवाँ खण्ड

अब सनत्कुमार नारदोक्ति सुनकर निष्ठा को जानने योग्य बताते हैं, यथा—

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

भावार्थ—सनत्कुमार बोले—जिस समय पुरुष की निष्ठा होती है तभी वह श्रद्धा करता है। बिना निष्ठा के कोई श्रद्धा नहीं करता, अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है। अतः निष्ठा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिये। नारद बोले—भगवन्! मैं निष्ठा को विशेष रूप से जानता चाहता हूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—नारद की प्रार्थना सुनकर सनत्कुमार ने कहा—बिना निष्ठा के श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। निष्ठा में सेवा आदि के द्वारा त्याग करना पड़ता है, समय लगाना पड़ता है। निष्ठा के महत्त्व को समझकर ही महात्मा पुरुषों को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है ॥ १ ॥

विशेष—गुरुशुश्रूषा आदि व्यवहार को निष्ठा कहते हैं। इस दशा में ब्रह्मविज्ञान के लिए तत्पर रहना होता है। सेवा शुश्रूषा को परम धर्म कहा गया है, जो योगियों के लिए भी परम अगम्य है, सेवा शुश्रूषा में अपना अस्तित्व मिटा सा देना पड़ता है। प्रसिद्ध विषय समझकर यहाँ ब्रह्मज्ञान प्रकरण में इस पर कुछ अधिक नहीं लिखते हैं ॥ १ ॥

इक्कीसवाँ खण्ड

अब सनत्कुमार कृति को जानने योग्य बताते हैं, यथा—

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

भावार्थ—सनत्कुमार ने कहा—जिस समय मनुष्य कुछ करता है, उस समय वह निष्ठा भी करने लगता है। जो अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता, वह निष्ठावान् नहीं बनता। केवल वही जो अपने कर्तव्य को पूरा करता है, निष्ठावाला होता है। अतः विशेष रूप से कृति की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। नारदजी ने कहा—मैं कृति की विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—विना कर्तव्य पालन की भावना जागृत हुए किसी काम में सफलता नहीं मिलती। कर्तव्याकर्तव्यविमर्शशून्य प्राणी को मनुष्य नहीं कहा जा सकता। जब कि प्रकृति के नियन्त्रण में सूर्य चन्द्र पवन जल प्रभृति सभी कृति में याने कर्तव्य पालन करने में जुटे हुए हैं तो मनुष्य को इस की महिमा अधिक रूप में समझनी चाहिये। जो कर्तव्य पालन नहीं करता वह कुछ नहीं करता॥१॥

विशेष—इन्द्रियसंयम और चित्त की एकाग्रता करने को कृति कहते हैं। उस के होने पर ही निष्ठा से लेकर विज्ञान पर्यन्त समस्त साधन होते हैं। कृति का अर्थ कर्तव्य है, जो इन्द्रियसंयम और चित्त की एकाग्रता आदि का कारण होता है। क्या इन्द्रियों और मन को अनाप सनाप विषयों में लगाये रखना पुरुषार्थ है, कर्तव्य है? नहीं। मनुष्य यम-नियम साधनों का कर्तव्य पालन करनेवाला है, उसे कर्तव्य से परम पद प्राप्त करना होगा॥ १॥

बाईसवाँ खण्ड

अब सुख को जानने योग्य बताते हैं, यथा—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

भावार्थ—सनत्कुमार कहते हैं कि मनुष्य को जिस समय सुख प्रतीत होता है, तभी वह करता है। बिना सुख मिले कोई कर्तव्य नहीं करता, अपितु सुख मिलने पर ही करता है। इस से सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। नारद बोले—मैं सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ॥ १॥

वि० वि० भाष्य—कृति भी तभी होती है जब आगे सुखप्राप्ति की आशा हो। जिस प्रकार लौकिक कृति दृष्टफलजनित सुख के लिए होती है, उसी तरह प्रकृत में भी बिना सुखाशा के कोई कुछ नहीं करता। क्योंकि सुखों के उद्देश्य से ही सब प्रवृत्तियाँ हैं, जो की जाती हैं ॥ १ ॥

विशेष—कृति से लेकर उत्तरोत्तर साधनों के होने पर सत्य का स्वयं ही अनुभव हो जायगा, उस के विज्ञान के लिए पृथक् प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। इसी से यह कहा गया है कि सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। फिर 'भगवन्! मैं सुख की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ' इस प्रकार सुख विज्ञान के प्रति अभिमुख हुए नारदजी से सनत्कुमार और भी कुछ कहते हैं ॥ १ ॥

तेईसवाँ खण्ड

अब सनत्कुमार भूमा को जिज्ञासा करने योग्य बताते हैं, यथा—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

भावार्थ—निश्चय करके जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं, भूमा ही सुखरूप है। इस लिए भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये। नारद ने कहा—हे भगवन्! मैं भूमा की ही जिज्ञासा करता हूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—जो वस्तु अल्प है, वह असली सुख का हेतु नहीं है। क्योंकि अल्प वस्तु अधिक की तृष्णा का हेतु बनती है और तृष्णा दुःख का बीज है। इस लिए विषय का सुख तृष्णा को बढाकर उस का हेतु बनता है। यद्यपि विषय-सुख ऊपर से रमणीय प्रतीत होता है, पर वस्तुतः दुःख का बीज होने के कारण दुःखरूप ही है। वह भूमा ही है जो केवल सुखरूप है। यहाँ तृष्णा का बना रहना असम्भव है, क्योंकि वह निरतिशय सुख है ॥ १ ॥

विशेष—भूमा नाम बड़ा, निरतिशय, असीम। अल्प=छोटा, सातिशय, सीमावाला। भूमा के महान्, निरतिशय, बहु ये पर्याय हैं। भूमा सब से ऊँचा है

है याने पूरा है, अन्य जो हैं वे अल्प हैं। यहाँ यह परंपरा है कि अल्प में तृष्णा है, तृष्णा से दुःख है, दुःख में प्रतिकूलता है, बस यही अनिष्ट है, जैसे दुःख के बीजभूत जरादि सुखरूप नहीं देखे गये। अतः 'अल्प में सुख नहीं' यह कहावत ठीक है॥ १॥

चौबीसवाँ खण्ड

यह भूमा किन लक्षणों करके युक्त है, यह बतलाते हैं, यथा—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥ १ ॥

भावार्थ—जहाँ पुरुष न कुछ और देखता है, न कुछ और जानता है, वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य है। नारद ने कहा—हे भगवन्! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है? सनत्कुमार ने कहा—अपनी महिमा में, या यों कहो कि किसी भी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं॥ १॥

यदि भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है तो फिर उसे अप्रतिष्ठित क्यों कहा जाता है, यथा—

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

भावार्थ—संसार में लोग गौ और घोड़ा, हाथी और सोना, दास और स्त्री, क्षेत्र और घर; इन को महिमा कहा करते हैं। किन्तु मैं ऐसा नहीं कहता,

क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य में प्रतिष्ठित होता है; मैं तो यह कहता हूँ। सनत्कुमार ने ऐसा कहा॥ २॥

वि॰ वि॰ भाष्य—सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि जिस पदार्थ के बुद्धि में निश्चय होने पर ज्ञानी पुरुष अपने से भिन्न किसी पदार्थ को श्रोत्र से श्रवण नहीं करे, अपने से भिन्न किसी पदार्थ को चित्त में धारे नहीं याने अपने से भिन्न किसी पदार्थ को मनन करके जाने नहीं, उस त्रिविधपरिच्छेदभिन्न ब्रह्म को 'भूमा' कहते हैं। और जिस पदार्थ को अज्ञानकाल में अपने से भिन्न देख सके, अपने से भिन्न पदार्थ को सुन सके तथा अपने से भिन्न पदार्थ को मनन करके जान सकें उस परिच्छिन्न पदार्थ को अल्प कहते हैं। जो भूमा है वह मरणधर्म से रहित होने के कारण अमृत है, और जो अल्प है वह मरणधर्मवाला है। फिर नारद ने उस भूमा की प्रतिष्ठा याने आश्रय पूछा तो सनत्कुमारजी ने कहा—अपनी महिमा में उस की प्रतिष्ठा है। फिर यह भी साथ ही कह दिया कि किसी भी महिमा में वह प्रतिष्ठित नहीं। लोक में गौ अश्वादि को महिमा कहा गया है। मैं भूमा को ऐसा नहीं कहता, क्योंकि ऐसा कहने में स्वामी अपने स्वामित्व में प्रतिष्ठित होता है। भाव यह है कि सर्वत्र गौ अश्वादि को महिमा मानकर जिस प्रकार देवदत्त नामक कोई पुरुष उन के आश्रित, उन में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही भूमा भी देवदत्त के समान ही अपने से भिन्न महिमा में आश्रित है; ऐसा मैं नहीं कहता। किन्तु मैं तो यह कहता हूँ; ऐसा कहकर सनत्कुमार ने "स एव अधस्तात् स उपरिष्टात्" इत्यादि वचन कहा॥ १–२॥

विशेष—प्रकृत में नारद ने 'भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः' याने हे भगवन्! वह भूमा कहाँ रहता है? यह पूछा है। और अपनी महिमा में स्थित है, अथवा अपनी महिमा में भी नहीं, यह जो तेजस्तिमिरवत् एक ही साथ 'हाँ' भी और 'न' भी विलक्षण उत्तर दिया गया है, इस का क्या अभिप्राय है? इस के समाधानार्थ सनत्कुमार कहते हैं—हे नारद! तुम व्यवहारदृष्टि से भूमा का आश्रय पूछते हो या परमार्थदृष्टि से? प्रथम पक्ष में उत्तर यह है कि 'स्वे महिम्नि'—जैसे देवदत्त नामक कोई मनुष्य पशु, स्वर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र, गृहादिरूप अपनी विभूति के आश्रय में स्थित प्रतीत होता है, वैसे ही माया और माया के कार्यरूप अपनी महिमा में भूमा स्थित है। द्वितीय पक्ष में उत्तर है कि 'यदि वा न महिम्नीति'—वह भूमा वास्तव में अपनी महिमा में भी स्थित नहीं है, क्योंकि गौ, अश्व, हस्ती, स्वर्ण,

दास, भार्या, क्षेत्र और गृह इत्यादि विभूतिरूप देवदत्त की महिमा में जैसे देवदत्त स्थित है; वैसे भूमा ब्रह्म वास्तव से कहीं स्थित नहीं होता। घटादिकों से भिन्न भूतलादिक ही उन घट आदिकों के आधार हो सकते हैं, पर सर्वरूप तथा सर्वव्यापक भूमा का कोई आधार नहीं बनता ॥ १-२ ॥

पच्चीसवाँ खण्ड
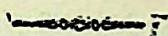
तब फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है? अब इसी बात को कहते हैं, यथा—

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

भावार्थ—वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दाहिने है, वही बायीं ओर है और यह सब कुछ वही है। अब उसी में अहङ्कारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दाहिने हूँ, मैं ही बाँये हूँ, और मैं ही यह सब हूँ ॥ १ ॥

अज्ञानी लोग अहङ्कार से देहादि संघात का भी आदेश करते हैं, अतः उसमें आत्मत्व की शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं, यथा—

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाᳬ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

भावार्थ—अब भूमा का आत्मरूप से ही आदेश किया जाता है—आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाहिने है, आत्मा ही बाँये है और आत्मा ही यह सब कुछ है। वह यह इस प्रकार देखता हुआ, इस प्रकार मनन करता हुआ और विशेष रूप से इस प्रकार जानता हुआ, आत्मा में रमता है, आत्मा में खेलता है तथा आत्मा के साथ मिलता है। वह स्वतन्त्र अधिपति बन जाता है, उसका सब लोकों में यथेच्छाचार होता है। किन्तु जो इसके विपरीत जानते हैं, वे अन्यराट् और क्षयलोक होते हैं अर्थात् वे क्षय होने-वाले लोकों में रहते हैं और वहाँ उन पर दूसरे राज्य करते हैं, तथा उनका सब लोकों में यथेच्छ विचरण नहीं होता ॥ २ ॥

वि० वि० भाष्य—वह भूमा ही नीचे है, वह भूमा ही ऊपर है, वह भूमा ही पश्चिम पूर्व उत्तर दक्षिण आदि दिशाओं में व्यापक है। अर्थात् भूमा से भिन्न और कोई वस्तु ही नहीं जो उसके ऊपर नीचे दाहिने बाँये स्थित हो सके। जैसे कि आकाश एक ही है तो वही सब के आगे पीछे रहेगा। वह भूमा भूत भविष्यत् तथा वर्तमान काल में व्यापक है। देश काल वस्तु सब ही उस भूमा से पृथक् नहीं हैं, वह भूमा ही प्रत्यगात्मस्वरूप है। अतः यहाँ प्रत्यगात्मरूप से ही भूमा का वर्णन किया गया है, जैसे—मैं ही नीचे ऊपर, पूर्वादि दिशाओं तथा भूत आदि कालों में व्यापक हूँ, सब देश, सब काल तथा सब वस्तु मेरे से किंचित् भिन्न नहीं हैं। 'अहम्' शब्द का अर्थ तो यह शरीर भी है, इस शरीर की सर्वरूपता कहनी विरुद्ध है, इस शङ्का की निवृत्ति के लिए 'आत्मा ही सर्व देश कालादिरूप है' श्रुति भगवती यह कहती है। इस जड़ परिच्छिन्न शरीर में तो सर्वरूपता बन नहीं सकती, इससे भिन्न ही आत्मा है।

अब आत्मज्ञान के फल जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति को कहते हैं—जो मनुष्य वा गुरु शास्त्रोपदेश से संशय विपर्य से बिना अपने रूप को यथार्थ जानता है, वह विद्वान् जीवन्मुक्त आत्मरति है। जैसे कामी पुरुष विदेश में गया हुआ भी अपनी स्त्री में प्रेम रखता है, वैसे ही जीवन्मुक्त आत्मा में रति रखता है। जैसे बालक दूसरे बालकों से क्रीड़ा करता है, वैसे विद्वान् वेदान्त के चिन्तनकाल में आनन्दरूप आत्मा में ही क्रीड़ा करता है ॥ १-२ ॥

विशेष—जीवन्मुक्त पुरुष की दो अवस्थायें हैं, एक व्युत्थान, दूसरी समाधि। व्युत्थानकाल में वेदान्तचिन्तन करता हुआ विद्वान् 'आत्मक्रीड' इस नामवाला होता है। स्नान भोजनादि काल में आत्मचिन्तन करनेवाले विद्वान् को 'आत्मरति'-कहते हैं। समाधि दो प्रकार की है, एक सविकल्प दूसरी निर्विकल्प। जैसे एकान्त में मिथुनभाव को प्राप्त हुए स्त्री पुरुष आनन्द को प्राप्त होते हैं, वैसे ही ध्याता ध्येय के सहित सविकल्प समाधि में जो विद्वान् आनन्द को प्राप्त होता है, उसे 'आत्ममिथुन' कहते हैं। त्रिपुटीरहित निर्विकल्प समाधि में निर्विकल्प ब्रह्मानन्द को प्राप्त हुए विद्वान् को 'आत्मानन्द' नाम से कहा जाता है।

हे नारद! अब विदेहमुक्ति के विषय में कुछ प्रकृत बात सुनो—इस प्रकार वर्तमान जो ज्ञानी पुरुष है वह प्रारब्ध को भोग के द्वारा क्षय करता हुआ शरीर के नाश होने से ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। वह किसी के वश नहीं होता तथा परिच्छिन्न पदार्थों के विषय में इच्छा नहीं करता। अब भूमाविद्या के ऐसे फल को कहकर आत्मज्ञानरहित पुरुष के प्रति अनर्थ प्राप्ति कहते हैं, यथा—जो पुरुष भूमा ब्रह्म को आत्मरूप से नहीं जानता, वह सर्वदा परवश होकर नाशवान् लोकों को प्राप्त होता है। ऐसे लोग अपनी इच्छानुसार सब लोकों में गमन नहीं कर सकते ॥ १-२ ॥

छब्बीसवाँ खण्ड

विद्या की प्रशंसा के लिए विद्वान् के स्रष्टृत्व का वर्णन करते हैं—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामाऽऽत्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥ १ ॥

भावार्थ—जो इस प्रकार देखता है, इस प्रकार मानता है और इस प्रकार जानता है, उस विद्वान् के लिए आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, और आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भाव तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से सङ्कल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाक्, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म तथा आत्मा से ही यह सब होता है ॥ १ ॥

ब्राह्मण में कहे हुए विद्या के फल के विषय में मन्त्र का भी संवाद देते हैं, यथा—

तदेष श्लोकः। न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ॥ इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा। सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः। शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिः ॥ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

भावार्थ—इस विषय में यह मन्त्र है, यथा—विद्वान् न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःख को ही। वह जो यह देखता है कि यह सब कुछ आत्मा से ही होता है, ऐसा पश्य-पुरुष सब को आत्मरूप ही देखता है, अतः सब को प्राप्त हो जाता है, याने हर एक वस्तु को पा लेता है। वह एक प्रकार से है, फिर वही तीन, पाँच सात और नौ रूप से हो जाता है। फिर वही ग्यारह प्रकार का बतलाया गया है, तथा वही सौ, दस, एक और बीस भी हो जाता है। जब मनुष्य का आहार शुद्ध हो जाता है, तो उस की इन्द्रियों का आहार (शब्द आदि विषयों का भोग) राग द्वेष मोह रूप दोषों से शुद्ध होता है। अर्थात् विषयोपलब्धिरूप विज्ञान की शुद्धि होने पर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर निश्चल स्मृति हो जाती है, याने स्मरण अटल हो

जाता है। तथा जब भूमा आत्मा की स्मृति पक्की हो जाती है, तब सारी गाँठें खुल जाती हैं। सो इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने, जिन की वासना क्षीण हो गई थी उन नारद को अन्धकार का परला किनारा दिखला दिया। उन सनत्कुमार को लोग 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं, लोगों में वह स्कन्द नाम से विख्यात हैं। भाव यह है कि नारदजी के राग द्वेष शोक मोह अविद्यान्धकाररूप प्रबल शत्रुसैन्य के संहार के कारण ऋषि को 'स्कन्द' सेनापति कहा गया प्रतीत होता है॥ २॥

वि० वि० भाष्य—जिस विद्वान् ने तत्पदार्थरूप भूमा को अपना स्वरूप जान लिया है, उस विद्वान् से ही नामादि प्राण पर्यन्त पंचदश तत्त्व उत्पन्न होते हैं। उस विद्वान् से ही स्वर्गादि फल सहित कर्म तथा ऋगादि वेद उत्पन्न होते हैं। भूमा को जानता हुआ विद्वान् मृत्यु तथा रोगों एवं रोगादिनिमित्तक दुःखों को नहीं देखता। वह सर्वभाव को प्राप्त हुआ सर्व प्रपंच को अपने में कल्पित देखता है। कल्पित रूप से जाना हुआ पदार्थ इन्द्रजाल के सर्प की तरह दुःखप्रद नहीं हो सकता। सनत्कुमार कहते हैं कि हे नारदजी! ज्ञानी तेज, जल, पृथिवी रूप से तीन प्रकार का होता है, आकाशादि रूप से पाँच प्रकार का है, तथा सूर्यादि नवग्रह रूप से नौ प्रकार का, मन सहित दस इन्द्रिय रूप से एकादश प्रकार का, और मन सहित दस इन्द्रियों की दस वृत्तियोंवाला होने से एक सौ एक प्रकार का होता है। मनुष्य के दिन रात्रि में इक्कीस हजार छै सौ श्वास प्रश्वास चलते हैं। उस श्वास प्रश्वासरूप वायु से उच्चारण किये हुए जो 'हंस' मन्त्र हैं, उन मन्त्रों से वह विद्वान् इक्कीस हजार छै सौ प्रकार का हो जाता है। उपाधि भेद करके उस विद्वान् के इतने भेद हैं, वास्तव में तो वह एक अद्वितीय ब्रह्म है।

हे नारद! चित्त की शुद्धि बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता, अतः मुमुक्षु को चित्तशुद्धि अवश्य करनी चाहिये। चित्तशुद्धि आहारशुद्धि से होती है। अपने वर्णाश्रमानुसार अन्न जलादिकों के ग्रहण का नाम आहार है। उस की यही शुद्धि है कि राग द्वेष रहित होकर अन्न जलादिकों का ग्रहण करे। जिन की पदार्थप्राप्ति जितनी ही पापबुद्धि से रहित होगी वे उतने ही परिशुद्ध कहायेंगे। इस प्रकार की आहारशुद्धि के बिना तथा रागादिकों से रहित शब्दादिकों के ग्रहणरूप आहार-शुद्धि बिना चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। जब चित्त शुद्ध होता है तब भूमा ब्रह्म की निश्चल स्मृति होती है। जिस को भूमा ब्रह्म की अचल स्मृति हो गई है, वह विद्वान् ब्रह्मज्ञान के द्वारा काम, कर्म, अध्यास तथा संशयादि सर्व ग्रन्थियों से निवृत्त हो

जाता है। इस रीति से राग द्वेषादि दोषरहित अन्तःकरणवाले नारद को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञान से रहित शुद्ध ब्रह्म का परिचय करा दिया ॥ १-२ ॥

विशेष—सनत्कुमारजी का स्कन्द (स्वामी कार्तिकेय) नाम होने में ज्ञानी महानुभावों से जो पौराणिक आख्यान सुना है उसे संक्षेप में कहते हैं, यथा—

एक समय काशी में भवानी सहित महादेवजी गङ्गातट पर पधारे, वहाँ बैठे हुए सब ऋषियों ने गौरीशङ्कर को अभ्युत्थान दिया और स्तुति की, महादेवजी ने भी उनको यथेच्छ वर दिया। किन्तु सनत्कुमारजी शंकरजी को देखकर खड़े नहीं हुए, क्योंकि उस समय वे समाधि में लीन थे, इससे नमस्कारादि भी न कर सके। महादेवजी तो सनत्कुमार को ब्रह्मवित् जानकर प्रसन्न हुए, किन्तु पार्वती ने इसे अशिष्टता जानकर शंकरजी का अपमान समझा। अतः पार्वतीजी सनत्कुमार पर कुपित होकर बोलीं कि जगत् के हर्ता कर्ता मेरे पति महादेवजी का अपमान करने के कारण मैं शाप देती हूँ कि तू अश्वपाल हो जा, याने घोड़ोंवाला हो जा। पार्वतीजी ने यह काम महादेवजी के रोकने पर भी क्रोध में आकर कर डाला। कुछ दिन बाद भवानी सहित महादेवजी ने जब उस दशा में सनत्कुमार ऋषि को देखा तो भी वे बहुत ही प्रसन्न प्रतीत हो रहे थे। ऐसा देख पार्वतीजी प्रसन्न होकर बोलीं—वर माँगो। यह सुनकर भी ऋषि अन्यमनस्क से खड़े रहे। पार्वतीजी उनकी अशिष्टतापूर्ण उपेक्षास्थिति पर अप्रसन्न होकर बोलीं—जा तू ऊँट हो जा।

इसके अनन्तर कुछ काल बाद भवानी सहित महादेवजी ने जब उष्ट्रयोनि-प्राप्त ऋषि को देखा, तो भी वह परम प्रसन्न था और काँटों सहित बबूर खाकर पुष्ट तुष्ट हो रहा था। पार्वतीजी ने ऋषि की यह सहनशीलता देख प्रसन्न होकर कहा—वरदान माँगो। ऋषि ने कहा कि मुझे यह ऊँट का शरीर ही सब से अच्छा लगता है, इसमें मुझे परमानन्द मिलता है। अतः यह मेरा शरीर निवृत्त न हो, यही सदा बना रहे। तात्पर्य यह है कि पूर्णकाम सनत्कुमारजी ने प्रसङ्ग आने पर भी कोई वर नहीं लिया। यह देखकर उलटी पार्वतीजी ही प्रार्थना करने लगीं कि तुम मेरे घर में पुत्ररूप से उत्पन्न होवो, मैं यह वर तुम से माँगती हूँ। सनत्कुमार ने 'तथास्तु' कहा। इसके बाद ब्रह्मचारीरूप में स्वामी कार्तिकेय नाम से वे पार्वती के पुत्र हुए जिन्हें स्कन्द कहते हैं। ये देवताओं के प्रधान सेनापति हैं ॥ १—२ ॥

इस अध्याय में बड़े महत्त्व का विषय आया है, उसका संक्षेप से पाठकों की सुविधा के लिए सिंहावलोकन कर देना अनुचित न होगा—

"तं स्कन्द इत्याचक्षते" यह पाठ दो बार अर्थ की दृढ़ता के लिए आया है।

नारदजी ने नियमपूर्वक जाकर सनत्कुमार से अध्ययन की प्रार्थना की थी। जब सनत्कुमार ने नारद से पूछा कि बताओ तुमने पढा क्या क्या है? तब नारद ने उत्तर दिया कि मैं पढा बहुत कुछ हूँ, ऋगादि वेद सम्पूर्ण, तर्कशास्त्रादि और ब्रह्मविद्यादि का भले प्रकार अध्ययन किया है। इतना सब कुछ करने पर भी मेरा शोक नहीं गया। चित्त ऐसा प्रसन्न नहीं हुआ जैसा चाहिये, प्रत्युत मलिन रहता है। यह सुनकर सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि तुमने नाम मात्र से उक्त वेद तथा अन्यान्य विद्यायें पढी हैं, इसीलिए तुम शोकातुर हो। कुछ विद्या, बल या धन आदि की शक्ति से शोक थोड़े ही दूर होता है, अर्जुन प्रथम श्रेणी का योद्धा तथा बुद्धिमान् था, पर उसका पीछा भी शोक ने कहाँ छोड़ा था? अब पहले तुम नाम यानी संज्ञासञ्ज्ञी भाव की उपासना करो अर्थात् इस तत्त्व को विचारो कि ऋग्वेदादि किसका स्तवन कर रहे हैं, ये सब किसके गीत गा रहे हैं?

ऐसा सुनकर नारद बोले कि भगवन्! क्या नाम से भी कोई और चीज बढ चढकर है? सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि जिसमें सब नाम माला के मणिकों के समान पिरोये हुए हैं, वह वाणी नाम से बड़ी है। इस प्रकार नाम से वाणी, वाणी से मन, मन से सङ्कल्प एवं उससे भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ का उपदेश करते हुए अन्त में उन्होंने नारद को ब्रह्म का उपदेश किया। यहाँ पर नामादिकों की उपासना में तात्पर्य नहीं है, किन्तु सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना के लिए उनका उपन्यास किया गया है, अर्थात् सब पदार्थों का बलाबल कथन करते हुए अन्त में उसी को सर्वोपरि ठहराया है। उसका स्वरूप वर्णन ऐसा किया गया है कि वह सर्वत्र व्यापक तथा सर्वाधार है। ज्ञाता, श्रोता, मन्ता तथा बोद्धादि कोई उसके सदृश नहीं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाला जीव भी वही है। वह परमात्मा किसी महत्त्व के आश्रित नहीं हैं, संसार में कहीं भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो उसका ऐश्वर्य बढाने में समर्थ हो। देवदत्त पशु, हिरण्य आदिकों से बड़प्पन पाता है, पर उस भूमा के लिए यह बात कभी नहीं है। प्रत्युत सम्पूर्ण महत्त्व उसी के आश्रित हैं। जो पदार्थ सौन्दर्य की झलक दिखाकर सबको मोहित कर रहे हैं, यह कोई उनकी प्रभुता नहीं है, यह उसी का दिया हुआ चमत्कार का कण है, जिसके कारण उसे नमस्कार हो रहा है। अर्थात् वही ऊपर, वही नीचे, पूर्वादि में तथा दाहिने बाँये सर्वत्र परिपूर्ण है। जब कि वही वह ठहरा, फिर आगे पीछे आदि में दूसरा कौन नजर आ सकता है?

जब पुरुष अहंग्रह उपासना करता है तब यह कथन करता है कि मैं ही ऊपर

हूँ, मैं ही नीचे हूँ—"अहमुपरिष्टात् अहमेवाधस्तात्"। इसका तात्पर्य यह न लगा बैठना कि यह कोई दूसरा ही कह रहा है, अहंग्रह उपासना के अभिप्राय से इस प्रकार का कथन है। जब उपासक उसका आत्मत्वेन कथन करता है तब यह कहता है कि आत्मा ही ऊपर नीचे और आत्मा ही सब दिशाओं में है, आत्मा की महिमा के बिना तो यह जड़ जगत् कर ही कुछ नहीं सकता। इस में सत्ता स्फूर्ति तो उसी से आ रही है। इस प्रकार जाननेवाले पुरुष के लिए यह फल कथन किया गया है कि वह ब्रह्म में ही क्रीडा करता है और ब्रह्म में ही उसका संयोग होता है। वह सर्वथा स्वतन्त्र होकर सब लोकों में स्वच्छन्द विचरता है, प्राणादिक सब उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। जब उपासक उसकी निदिध्यासनरूपा भक्ति करता है तब उसमें अपरिमित सामर्थ्य बढ़ जाती है, वह उसी का रूप हो जाता है। इसी अभिप्राय से मन्त्र में "एकधा भवति त्रिधा भवति" ऐसा कहा है, जिसका विस्तृत अर्थ उपर्युक्त मन्त्र के भाष्य में किया गया है।

यह योग्यता तभी प्राप्त होती है जब आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि और अन्तःकरण की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति उत्पन्न होती है। उस ध्रुवा स्मृतिरूप सामर्थ्य से अन्तःकरण की सब गाँठें खुल जाने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस तत्त्व का महामुनि सनत्कुमार ने शुद्ध अन्तःकरणवाले नारदजी के प्रति उपदेश किया है। श्रेष्ठता बोधन करने के अभिप्राय से ही यहाँ सनत्कुमारजी को 'स्कन्द' नाम से कहा गया है। स्कन्द देवताओं के प्रधान सेनापति हुए हैं। भारत में शस्त्रधारी भी शास्त्रार्थज्ञ होते रहे हैं, राजा भी विरक्तों के कान काटते रहे हैं, व्याध, कसाई, गणिका तक बड़े बड़े संतों से टप गये हैं। जांगलिकों ने नागरिकों की अपेक्षा बाजी मार ली थी। इस से यह आता है कि ब्रह्मज्ञानप्राप्ति में लौकिक व्यवहार बाधक नहीं हो सकते॥

छब्बीसवाँ खण्ड और सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टम अध्याय प्रारम्भ

प्रथम खण्ड

सप्तम अध्याय में भूमा का भले प्रकार से वर्णन किया गया है, इस अध्याय में दहराकाश का कथन करते हैं, यथा—

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह जो ब्रह्मपुर है [ब्रह्म का पुर–शरीर है] इस में एक छोटा सा कमलाकार स्थान है। उस में जो सूक्ष्म आकाश है, उस के भीतर जो वस्तु है उस का अन्वेषण करना चाहिये, उसी की जिज्ञासा करनी उचित है॥ १॥

वि॰ वि॰ भाष्य—यह शरीर ब्रह्म याने परमात्मा का पुर है, जैसे राजा का नगर होता है, जिस में अनेक प्रजा तथा उस के भृत्य अमात्यादि रहते हैं। यह शरीर भी आत्मदेव नामक अपने अध्यक्ष का अर्थ सिद्ध करनेवाली अनेकों इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि से युक्त है। नगर में राजा का मकान होता है। इसी तरह इस ब्रह्मपुररूप शरीर में एक सूक्ष्म घर है, हृदयकमलरूप भवन है, अर्थात् ब्रह्म की उपलब्धि का अधिष्ठान है। जैसे शालग्राम की शिला विष्णु की उपलब्धि का अधिष्ठान होती है।

इस अपने विकाररूप कार्य शरीर में सत्संज्ञक ब्रह्म नाम रूप की अभिव्यक्ति करने के लिए जीवात्मभाव से अनुप्रविष्ट है। इस का भाव यह है कि जिन्होंने इस हृदयकमलरूप घर में स्व इन्द्रियवर्ग का उपसंहार कर लिया है, ऐसे, बाह्य विषयों से विरक्त, विशेषतः ब्रह्मचर्य एवं सत्यरूप साधनों से सम्पन्न तथा वक्ष्यमाण योग्यताओं से युक्त पुरुषों द्वारा चिन्तन किये जाने पर ब्रह्म की

उपलब्धि होती है। इस सूक्ष्म गृह में दहर=अत्यन्त सूक्ष्म अन्तराकाश है, याने आकाशसंज्ञक तत्त्व है। उस आकाशसंज्ञक तत्त्व के भीतर जो वस्तु है, गुरु के आश्रय तथा श्रवणादि उपायों से अन्वेषण करके उस का साक्षात्कार करना चाहिये ॥ १ ॥

विशेष—ब्रह्म को आकाश के समान कहने का तात्पर्य यह है कि एक तो ब्रह्म और आकाश दोनों शरीररहित हैं, दूसरे सूक्ष्म तत्त्वरूप हैं, तीसरे दोनों में सर्वगतत्व है। यह ब्रह्म की आकाश के साथ समानता है। पिछले छठे और सातवें अध्याय में 'ब्रह्म एक अद्वितीय है और दिशा तथा कालादिकों की सीमा से बाहर है' यह वर्णन किया गया है। अब इस आठवें अध्याय में उस की प्राप्ति का स्थान हृदय, प्राप्ति का उपाय ब्रह्मचर्यादि, उपासना का फल और आत्मा के परमार्थ स्वरूप का वर्णन किया जायगा ॥ १ ॥

श्रुति आप ही शिष्यरूप से प्रश्न करती है, यथा—

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ २ ॥

भावार्थ—गुरु से शिष्य पूछें कि इस ब्रह्मपुर में जो सूक्ष्म कमल के समान घर है, उस में जो अन्तराकाश है, उस के भीतर क्या वस्तु है जिस का अन्वेषण करना चाहिये, अथवा जिस की जिज्ञासा करनी चाहिये ? तब ऐसा पूछनेवाले को गुरु यह उत्तर दे ॥ २ ॥

वि० बि० भाष्य—पहले मन्त्र में जो कहा गया है कि 'हृदयकमलस्थ सूक्ष्म आकाश में जो वस्तु है, उसे खोजना तथा जानना चाहिये'। इस यथाश्रुत अर्थ को ग्रहण करके श्रुति स्वयं प्रश्न करके समझाती है कि आचार्य से शिष्य यह शङ्का कर सकता है इस परिच्छिन्न ब्रह्मपुर में भीतर जो कमल के समान सूक्ष्म स्थान है, उस के भीतर तो उस से भी सूक्ष्म आकाश है। पहले तो उस कमलाकार घर में रह ही क्या सकता है ? फिर उस से भी स्वल्पतर आकाश में तो कोई वस्तु रह ही कैसे सकती है ? याने कुछ भी नहीं रह सकता। तब ऐसी वस्तु के जानने या ढूँढने से हमें क्या प्रयोजन है ? ऐसा कहनेवाले से आचार्य को इस प्रकार कहना चाहिये ॥ २ ॥

विशेष—इस मन्त्र का तात्पर्य यों समझना चाहिये—छोटा सा तो हृदय, उस

के भीतर और भी छोटा सा आकाश, अब उस के अन्दर भला क्या होगा जिस को ढूँढना चाहिये ? यदि ढूँढने पर मत्थापच्ची करने से वहाँ बेर के समान कुछ मिल भी जाय तो उस से खोजनेवाले को क्या पल्ले पड़ेगा ? इसी के लिए इतने गौरव से उपदेश दिया जा रहा है कि उस छोटे से आकाश के अन्दर जो कुछ है उस का अन्वेषण करो तथा उस की जिज्ञासा करो। यदि शिष्य यों कहें तो गुरु को उत्तर देना चाहिये कि—॥ २ ॥

अब आचार्य उक्त शङ्का का समाधान करते हैं, यथा—

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ३ ॥

भावार्थ—जितना बड़ा यह बाहर का आकाश है, उतना ही बड़ा यह हृदय के अन्दर का आकाश है। द्युलोक और पृथिवी ये दोनों लोक ठीक तरह से इस के भीतर समाये हुए हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु ये दोनों, सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों एवं बिजली और नक्षत्र, तथा इस आत्मा का जो इस लोक में है और जो नहीं है वह सब सम्यक् प्रकार से इसी में स्थित है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हृदय के भीतर आकाश से ब्रह्म अभिप्रेत है, इस लिए हृदय के अन्दर छोटा सा आकाश कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि बस, वह हृदय के भीतर सारा समाया हुआ है, प्रत्युत न केवल हृदय, अपितु यह सारा ब्रह्माण्ड उस के भीतर समाया हुआ है। जो यह हृदय में आकाश है यह छोटा सा नहीं है, किन्तु इतना बड़ा है जितना बाह्य भौतिक आकाश है। किन्तु वह शुद्ध स्वच्छ विज्ञान ज्योतिःस्वरूपत्वेन हृदय में उतना मात्र साक्षात् होता है, इस लिए छोटा सा कहा है। यहाँ बाह्य आकाश की उपमा भी उसे बड़ा बतलाने में है। वस्तुतः भौतिकाकाश भी उस के भीतर है, यही क्या, इस बुद्ध्युपाधिविशिष्ट आकाश के भीतर द्युलोक, पृथिवी, अग्नि वायु, सूर्य चन्द्रमा, बिजली तथा नक्षत्र सब कुछ हैं। इस देहवान् आत्मा का आत्मीय रूप से जो कुछ पदार्थ इस लोक में है, और जो कुछ स्वकीय रूप से इस समय नहीं है, नष्ट हो गया अथवा भविष्यत् में नहीं होगा, यह सब इसी में स्थित है ॥ ३ ॥

विशेष—जिन्होंने अपनी इन्द्रियों का उपसंहार कर लिया है, उन योगियों को उस विशुद्ध अन्तःकरण में जल में प्रतिबिम्ब के समान तथा स्वच्छ दर्पण में रूप के समान विशुद्ध विज्ञानज्योतिःस्वरूप से प्रतीत होनेवाला ब्रह्म उसी आकाश के बराबर उपलब्ध होता है। इसी से कहा था कि अन्तःकरणरूप उपाधि के कारण अन्तःकरणवर्ती आकाश सूक्ष्म है। ॥ ३ ॥

अब यहाँ भी शङ्का समाधान को दिखाते हैं, यथा—

तं चेद् ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरामाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि आचार्य से शिष्य लोग कहें कि यदि यह सब इस ब्रह्मपुर में समाया हुआ है, और सारे भूत तथा सारी कामनाएँ सम्यक् प्रकार से इस में स्थित हैं, तो जब इसे बुढापा आ घेरता है अथवा यह नष्ट हो जाता है, उस समय पीछे क्या बच जाता है ? ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—इस ब्रह्मपुरोपलक्षित अन्तराकाश में यह सब ठीक ठीक स्थित है, तथा सम्पूर्ण भूत और समग्र इच्छायें भी इस में स्थित हैं, तो जिस समय यह वृद्ध या नष्ट हो जाता है क्या शेष रह जाता है ? हम तो समझते हैं कि कुछ भी नहीं रह जाता। भाव यह है कि जिस समय ब्रह्मपुरसंज्ञक शरीर झुर्रियाँ पड़ जाने तथा बालों के पक जाने, आयु के क्षय होने तथा शस्त्रादि से काटा जाने पर नष्ट हो जाता है, तो उस से भिन्न और क्या बाकी रह जाता है ? अभिप्राय यह निकला कि घड़े के फूट जाने पर उस में रखा दूध दही भी बरबाद हो जाता है, इसी प्रकार देह का नाश होने पर तदाश्रित सब कुछ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार नाश से भिन्न और क्या रह जाता है ? ॥ ४ ॥

विशेष—यहाँ यह शंका होती है कि आचार्य ने जिन का निरूपण नहीं किया, उन कामनाओं को शिष्य लोग ऐसी क्यों कहते हैं कि वे ब्रह्मपुर में स्थित हैं ? उत्तर यह है कि यहाँ यह शंका नहीं बनती, क्योंकि आचार्य ने कहा है कि 'इस लोक में जो कुछ इसका है और जो कुछ नहीं है' इससे मानो कामनाओं के विषय में कह दिया है। फिर यह भी बात है कि सर्व शब्द के प्रयोग से कामनाएँ भी आ जाती हैं। अतः कोई शंका नहीं है ॥ ४ ॥

शिष्यों के इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर—

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थ—आचार्य को कहना चाहिये कि इस शरीर के बुढापे से वह हृदयाकाशस्थ जीर्ण याने बूढा नहीं होता और इस के वध से उस का नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें सम्पूर्ण कामनाएँ सही तौर पर स्थित हैं। यह आत्मा है, धर्माधर्म से रहित है। जराहीन, मृत्युरहित, शोकविहीन, भोजन की इच्छा से परे, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सच्चे संकल्पवाला है। जैसे लोक में प्रजाएँ राजा की आज्ञा का अनुवर्तन करती हैं, याने प्रजा शासक के आदेशानुसार चलती हैं, तो वे जिस जिस वस्तु की इच्छा करती हैं तथा जिस जिस देश या भूभाग (क्षेत्र के टुकडे) की कामना करती हैं उस उस का ही उपभोग करती हैं ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—आचार्य को चाहिये कि शिष्यगणों की शून्यविषयिणी बुद्धि की निवृत्ति कर दे, याने उनसे ऐसा कहे—जिसमें सब कुछ स्थित है उस अन्तराकाशसंज्ञक ब्रह्म का देह की वृद्धावस्था से कोई विकार नहीं होता। न शस्त्रादिकों के आघात से आकाश की तरह उसका वध होता है। फिर उससे भी सूक्ष्मतर अशब्द एवं अस्पर्श ब्रह्म का देह एवं इन्द्रियों के दोष से स्पर्श नहीं होता; इस विषय में तो कहना ही क्या है? यह आत्मा तुम्हारा हमारा सब का स्वस्वरूप है, इसमें पाप पुण्य का लेश नहीं है, यह सत्यसंकल्प तथा सत्यकाम है। हे शिष्यो! तुम्हारी यह शंका भी ठीक नहीं है कि उसे न भी जानें तो क्या हानि है? देखा जाता है कि इस लोक में अपने से भिन्न किसी अन्य स्वामी को माननेवाली प्रजा जैसी अपने स्वामी की आज्ञा होती है उसी प्रकार अनुवर्तन करती है। इसी प्रकार

स्वामी के तुल्य आत्मा को समझो। यह दृष्टान्त पुण्य फलोपभोग में अस्वातन्त्र्य दोष के प्रति है ॥ ५ ॥

विशेष—'अपहतपाप्मा' इस विशेषण के देने से 'विजर' 'विमृत्यु' 'विशोक' इन विशेषणों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि इनके कारण 'अपहत-पाप्मत्व' का ही निषेध होता है, जरा, मृत्यु और शोक पाप के ही कार्य हैं। कारण के न रहने से कार्य सुतरां नहीं होगा। अथवा यह बात है कि जरा आदि के प्रति-षेध द्वारा धर्माधर्म का कोई कार्य न रहने से विद्यमान रहते हुए भी उनका न होने जैसा ही हो जायगा। अतः यदि कहो कि इन दोनों का पृथक् निर्देश व्यर्थ है, तो इस शंका का समाधान यह है कि अधर्म के कार्यरूप जरादिकों से भिन्न स्वाभाविक जरादि दुःख का होना भी सम्भव है। जैसे ईश्वर में धर्म का कार्यभूत आनन्द न हो, पर स्वाभाविक आनन्द तो उसमें है ही। इसलिए धर्माधर्म से जरादि का पृथक् प्रतिषेध करना उचित है। यहाँ जरादिकों का ग्रहण सम्पूर्ण दुःखों के उपलक्षण के लिए है, पापनिमित्तक दुःख तो अनन्त हैं, उन सबका गिनाना असम्भव है।

इस आत्मा को न जानें तो क्या हानि है? ऐसा कहनेवाले को जो पहले उत्तर दिया गया था उसका स्पष्ट तात्पर्य यह है—आत्मा के न जानने से पुण्य का जो फल है वह विनाशी और पराधीनता सहित उत्पन्न होगा, जैसे राजा के भृत्य आदि राजा की आज्ञा को मानते हुए देश में क्षेत्रभाग आदि को पराधीनता से प्राप्त होते हैं। अतः नित्यानन्द के लिए आत्मज्ञान आवश्यक है। भाव यह है कि जो स्वाराज्य की कामनावाले हैं उनके लिए इस आत्मा का जानना आवश्यक है। क्योंकि केवल कर्म का फल थोड़ा और क्षीण होनेवाला है, फिर भी कर्म करने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। हाँ ज्ञान का फल स्वाराज्य है, स्वतन्त्रता है। यही राजा के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है ॥ ५ ॥

अब उस कर्मफल के क्षय के लिए श्रुति द्वारा दूसरा दृष्टान्त दिया जाता है, यथा—

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्य-जितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भव-त्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे यहाँ कर्म से जीता हुआ लोक क्षीण हो जाता है, याने खेती आदि या सेवा आदि का फल कर्मों से मिला हुआ अन्त में नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार परलोक में भी वह फल क्षीण हो जाता है जो यहाँ पुण्य कर्मों के पूरे करने से जीता गया है। जो लोग इस लोक से आत्मा को और इन सत्य कामनाओं को जाने बिना ही परलोक सिधार जाते हैं, उनकी सब लोकों में यथेच्छ गति नहीं होती। और जो आत्मा को तथा इन सच्ची कामनाओं को पाकर इस लोक से चलते हैं, उनका सब लोकों में स्वच्छन्द गमन होता है॥ ६॥

वि० वि० भाष्य—संसार में अपने मालिक की आज्ञानुसार वर्तनेवाली प्रजा सेवादि काम करने से जो फल पा जाती है, अन्त में वह विनष्ट हो जाता है, फिर लौकिक सेवा से जो मिलता है उसे वे स्वतन्त्रतापूर्वक भोग भी नहीं सकते। उसी प्रकार यहाँ सम्पादित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त किया हुआ लोक भी, जिसका उपभोग पराधीन है परलोक में क्षीण हो ही जाता है। ज्ञान कर्म के अधिकारी योग्यतासम्पन्न होकर जो लोग शास्त्राचार्योपदिष्ट उपर्युक्त लक्षणसम्पन्न आत्मा को बिना जाने याने आत्मसंवेद्यता को बिना प्राप्त किये इस देह का परित्याग करके परलोक चले जाते हैं, अर्थात् सत्यसङ्कल्प की कार्यभूत स्वान्तःकरणस्थ सत्य कामनाओं का ज्ञान प्राप्त किये बिना मर जाते हैं, उनकी सब लोकों में गति का इस प्रकार बाध हो जाता है, जैसे राजाज्ञा का अनुवर्तन करनेवाली प्रजाओं की स्वतन्त्रता का। और जो लोग शास्त्र तथा आचार्य के उपदेशानुसार आत्मा को जानकर परलोकगामी होते हैं, उन्हें सार्वभौम राजा की तरह कहीं भी जाने से कोई रोक नहीं सकता॥६॥

विशेष—किसी की सेवा चाकरी से जो वस्तु दुनियाँ में किसी को मिल जाती है तो वह सदा नहीं रहती। इसी तरह अग्निहोत्र, दान, धर्म से उत्पन्न हुए फल द्वारा जो परलोक मिल जाता है, वह भी कुछ दिन के बाद हाथ से निकल जाता है। जो ज्ञानी हैं, उनका यहाँ भी भला है, वहाँ भी भला है॥ ६॥

—:※※※:—

द्वितीय खण्ड

अब उक्त ब्रह्मवेत्ता पुरुष के ऐश्वर्य का कथन करते हैं, यथा—

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते॥ १॥

भावार्थ—वह यदि पितृलोक की कामनावाला होता है तो उसके संकल्प-मात्र से पितर उसके सामने प्रकट होते हैं, याने पितृगण आत्मसम्बन्धी हो जाते हैं। उस पितृलोक से सम्पन्न होकर वह ऐश्वर्य को प्राप्त होता है, अर्थात् पितृलोक की सम्पत्ति प्राप्त करके आनन्दित होता है ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥२॥

भावार्थ—यदि वह पुरुष मातृलोक की कामनावाला होता है तो उसके सङ्कल्पमात्र से ही वहाँ मातायें उपस्थित हो जाती हैं। उस मातृलोक से सम्पन्न होकर वह आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते ॥३॥

भावार्थ—यदि वह भ्रातृलोक की कामनावाला होता है तो उसके संकल्प से ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस भ्रातृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमा को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन संपन्नो महीयते ॥४॥

भावार्थ—यदि वह भगिनीलोक की कामनावाला होता है तो उसके सङ्कल्प मात्र से बहनें उसके सामने प्रकट हो जाती हैं, और वह भगिनीलोक से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य को प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते ॥५॥

भावार्थ—यदि वह मित्रलोक की कामनावाला होता है तो उसके सङ्कल्पमात्र से मित्र प्रकट होते हैं,और वह मित्रलोक से सम्पन्न होकर महिमा को प्राप्त होता है ॥५॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि वह गन्ध और माला के लोक की कामना करता है तो उसके सङ्कल्प से गन्ध माल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्य के लोक से सम्पन्न होकर वह महिमा को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते ॥७॥

भावार्थ—यदि वह अन्न पान सम्बन्धी लोक की कामनावाला हो तो उसके सङ्कल्प से ही अन्न पान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। उस अन्न पान के लोक से सम्पन्न होकर वह महिमा को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ८ ॥

भावार्थ—यदि वह गीत और बाजे के लोक की अभिलाषावाला होता है तो उसके सङ्कल्पमात्र से गीत और बाजे प्रकट होते हैं। गीतवादित्रादि लोक से सम्पन्न होकर वह आनन्द भोगता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते ॥ ९ ॥

भावार्थ—यदि वह स्त्रीलोक की कामनावाला होता है तो उसके सङ्कल्प से स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। वह उस स्त्रीलोक से सम्पन्न हो महिमान्वित होता है ॥ ९ ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते ॥ १० ॥

भावार्थ—वह जिस जिस विषय से प्रीति करता है, याने जिस प्रदेश की कामना करनेवाला होता है और जिस जिस भोग की इच्छा करता है, वह सब उसके सङ्कल्प से ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न होकर वह महिमा को प्राप्त होता है ॥ १० ॥

वि० वि० भाष्य—उस दहर आत्मा के उपासक पुरुष का यदि परलोक में

मृत हुए पितरों की प्राप्ति की इच्छा हो तो उस उपासक की इच्छानुसार उसे पितर प्राप्त होते हैं। उस पितृलोक में समृद्धि ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ उपासक पुरुष महा-महिमा का अनुभव करता है। शुद्ध चित्त होने से ईश्वर के समान सत्यसंकल्प होने के कारण वह उस पितृलोक के भोग से सम्पन्न हो जाता है। पितृगण भी उस के आत्मीय हो जाते हैं, उसे अपना ही समझकर सब कुछ समर्पण कर देते हैं। आत्मज्ञ पुरुष की कामनायें अप्रतिहतगति हो जाती हैं, यद्यपि उसे आनन्द धन प्राप्त हो जाने पर और कोई अभिलाषा ही नहीं उदय होती, यदि प्रारब्धवशात् या अन्य किसी कारण से यदा कदा हो भी जाय तो तुरत पूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार माता, भ्राता, भगिनी, सखा आदि की कामनायें भी उस की पूर्ण हो जाती हैं, याने वे उसे स्वयं आ मिलते हैं, आनन्द भी देते हैं। अधिक कहाँ तक कहें, उपासक जिस जिस पदार्थ की कामना करता है, वे सब सङ्कल्प मात्र से आ उपस्थित होते हैं। ब्रह्मवेत्ता का सभी कुछ अपना है॥ १-१०॥

विशेष—इस खण्ड में ब्रह्मवेत्ता पुरुष का ऐश्वर्य इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह सब लोक लोकान्तरों में स्वेच्छाचारी होकर विचरता है, और उस की ऐसी अपूर्व सामर्थ्य होती है कि उस के लिए सब भोग आत्मभूत हो जाते हैं। अर्थात् वह अपनी सामर्थ्य से ही उक्त भोगों का लाभ कर लेता है, उसे किसी विषयान्तर की आवश्यकता नहीं होती। प्रतीत होता है, आर्य लोग बन्धन को सब से बुरा समझते थे, यह बात उपनिषदों के मन्त्रों में बार बार कही गई है। याने 'ब्रह्मज्ञ' स्वेच्छातृप्त होता है, उसे किसी स्थूल विषय की आवश्यकता नहीं होती। उस की गति अर्थात् कहीं भी वेरोक टोक आना जाना रुक नहीं सकता। वह स्वच्छन्द विचरणशील होता है॥ १-१०॥

तृतीय खण्ड

उपर्युक्त आत्मध्यानरूप साधन के अनुष्ठान के प्रति साधकों में उत्साह पैदा करने के लिए दयालु श्रुति कहती है, यथा—

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाᳬं सत्यानाᳬं सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते॥ १॥

भावार्थ—वे ये सच्ची कामनाएँ झूँठ से ढकी हुई हैं, अर्थात् यद्यपि ये कामनायें सत्य हैं पर इन पर एक ढकना है जो भूँठ है। क्योंकि इस प्राणी का जो सम्बन्धी यहाँ से मरकर जाता है, वह फिर उसे देखने के लिए नहीं मिलता ॥ १ ॥

अब सत्य कामनाओं के ज्ञाता विद्वान् पुरुष का फल कथन करते हैं, यथा—

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

भावार्थ—इस विद्वान् पुरुष के जो सम्बन्धी जीवित हैं, और जो मर गये हैं, तथा जो अन्य पदार्थ हैं, उन की इच्छा करता हुआ भी यह उन्हें नहीं प्राप्त कर सकता। पर सब को वह इस हृदयाकाशस्थ ब्रह्म में जाकर प्राप्त कर लेता है। क्योंकि यहाँ तो इस के सत्य काम अनृत से आच्छादित हुए रहते हैं। उक्त विषय में दृष्टान्त है—जैसे क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र को भले प्रकार न जाननेवाला ऊपर ऊपर व्यापार करते हुए भी क्षेत्र के भीतर गड़ी हुई हिरण्यनिधि को नहीं जानता। इसी प्रकार ये सब प्रजायें प्रतिदिन ब्रह्म को प्राप्त होती हुईं भी, सुषुप्ति-काल में हृदयस्थ ब्रह्म में लीन होती हुईं भी अनृत से ढकी हुईं होने के कारण इस ब्रह्मलोक का लाभ नहीं कर सकतीं ॥ २ ॥

क्या जैसे नामादिकों में है, उसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्मदृष्टि का आरोप मात्र है ? इस शङ्का का निवारण करते हैं, यथा—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृदय-मिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ३ ॥

भावार्थ—निश्चय करके जो यह आत्मा है, उस का यही निर्वचन है कि "हृदि+अयम् इति, तस्मात् हृदयम्" हृदय में यह आत्मा है, इसी कारण इस को 'हृदय' कहते हैं। ऐसा जाननेवाला अवश्य ही प्रतिदिन (सुषुप्ति में) स्वर्गलोक को (हृदयस्थ ब्रह्म को) प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

वि॰ वि॰ भाष्य—सच्ची कामनाएँ, जिनका पहले और दूसरे खण्ड में वर्णन है, वे हर एक के हृदय के अन्दर सदा विद्यमान हैं। उन कामनाओं को प्रत्येक मनुष्य इसलिए नहीं पा सकता कि उनके ऊपर एक परदा पड़ा हुआ है, और वह परदा झूँठ का है। अर्थात् बाहर के विषयों में तृष्णा और उस के परवश होकर स्वेच्छाचारी होना, न कि शास्त्र की मर्यादा में रहना, ये कामनाएँ मिथ्या ज्ञान से होती हैं, इसलिए झूँठी हैं। जब यह झूँठ का परदा उठ जाता है तो वे सच्ची कामनायें प्रकाशित होती हैं॥ १-३॥

विशेष—'हृदय' इस नाम के निर्वचन की प्रसिद्धि से 'आत्मा अपने हृदय में स्थित है' ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोक (हृदयस्थ ब्रह्म) को प्राप्त होता है। यहाँ यह शंका होती है कि इस प्रकार से न जाननेवाला भी सुषुप्ति काल में ब्रह्म को प्राप्त होता ही है, तो फिर उस के जानने न जानने के फल में विशेषता क्या हुई? उत्तर यह है कि कुछ विशेषता अवश्य है, जैसे विद्वान् तथा अविद्वान् सभी जीव सद्ब्रह्म ही हैं, तथापि 'तू ब्रह्म है' इस प्रकार बोधित किया हुआ विद्वान् 'मैं सत् ही हूँ, और कुछ नहीं' इस प्रकार जानता हुआ सत् ही हो जाता है। इसी प्रकार यद्यपि सुषुप्ति में विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं, तो भी केवल इस प्रकार जाननेवाला ही स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

हृदय में होने से आत्मा का नाम 'हृदय' है। जो मनुष्य आत्मा को अपने हृदय में निरन्तर विद्यमान मानकर सांसारिक यात्रा करते हैं, वे सदा ही उन्नत होते हैं। अर्थात् वे परमात्मा के न्यायरूप दण्ड से भयभीत होकर वेदोक्त आज्ञा पालन करने के कारण पाप के भागी नहीं होते। वे सदा ही सत्य का अवलम्बन करते हैं। इसी से कथन किया गया है कि उन की उच्च गति होती है, ऊँची अवस्था होती है॥ १-३॥

अब मुक्ति के आलम्बन ब्रह्म की विद्वान् के तादात्म्य से स्तुति करते हुए कहते हैं, यथा—

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४॥

भावार्थ—यह जो सम्प्रसाद है वह इस भौतिक शरीर से उठकर परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप से युक्त हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत है, एवं अभय है और यही ब्रह्म है; ऐसा आचार्य ने कहा। उस ब्रह्म का 'सत्य' यह नाम है ॥ ४ ॥

उपास्य की स्तुति के लिए 'सत्य' इस नाम के अक्षरों का वर्णन करते हैं, यथा—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस 'सत्यम्' नाम में तीन अक्षर हैं, 'स, ती, यम्'। उन में जो सत् 'सकार' है वह अमृत है, जो ती 'तकार' है वह मर्त्य है, और जो यम् 'यकार' है, उस से वह दोनों का नियमन करता है, इसीलिए इससे वह दोनों को नियम में रखता है। इसलिए 'यम्' इस प्रकार जाननेवाला प्रतिदिन ही स्वर्गलोक को जाता है ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—श्रुति में जो 'सम्प्रसाद' शब्द आया है, उस से सामान्यतः सभी जीवों का ग्रहण हो सकता है, पर यहाँ प्रकरणप्राप्त विद्वान् के लिए ही वह प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि एतद् शब्द स्व-समीप का ही परामर्शक होता है, समीप में विद्वान् ही मिलता है, क्योंकि उसी का प्रकरण है। प्रकरण तो आत्मा का भी है? ऐसी शंका करनेवाले को यह उत्तर है कि यहाँ जो एतद् शब्द का प्रयोग किया गया है, भाष्यकार कहते हैं, बस उसी यत्नविशेष से सम्प्रसाद शब्द से यहाँ विद्वान् का ग्रहण करना, जीव का नहीं। संप्रसाद शब्द की यह व्युत्पत्ति की गई है—"सुषुप्तौ स्वेन आत्मना सता सम्पन्नः सन् सम्यक् प्रसीदति इति सम्प्रसादः विद्वान्"। ऐसा विद्वान् शरीर को त्यागकर, इस शरीर से उत्थान कर अर्थात् देहात्मबुद्धि को त्यागकर परमात्मलक्षण विज्ञप्तिस्वरूप ज्योति को प्राप्त हो अर्थात् आत्मस्थिति में पहुँचकर स्वकीय यानी अपने स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। स्वरूप प्राप्ति से पहले वह अपररूप देह को ही अविद्या के कारण आत्मभाव से समझता था ॥ ५ ॥

विशेष—सत्य शब्द में स+त+य ये तीन अक्षर हैं, इन में जो इकार आदि अतिरिक्त वर्ण हैं वे अनुबन्ध हैं, याने उच्चारणमात्र के लिए हैं, उन का और कोई प्रयोजन नहीं। किसी किसी महात्मा से हमने सत्य शब्द का यह भी निर्वचन सुना है कि 'स' का अर्थ अमृत जीवात्मा है तथा 'त' का अर्थ मर्त्य प्रकृति है और 'य' का अर्थ ब्रह्म है। अर्थात् जीव तथा प्रकृति को जो अपने वश में रखता है उस का नाम सत्य है। क्योंकि उस के महदादि कार्य आविर्भाव तिरोभाव को प्राप्त होते हैं। अतः जो सत्य को भले प्रकार से जानता है, वह प्रतिदिन उच्च गति को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

चतुर्थ खण्ड
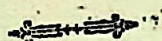
उक्त सम्प्रसाद स्वरूपभूत जो ब्रह्म है, उस की स्तुति गुणों से, ब्रह्मचर्यरूप साधन से सम्बन्ध कराने के लिए पुनः की जाती है, यथा—

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहत-पाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥ १ ॥

भावार्थ—जो आत्मा है वह इन लोकों के पारस्परिक संघर्ष के लिए इन्हें विशेष रूप से धारण करनेवाला सेतु है। दिन और रात इस सेतु को नहीं उल्लंघन करते, तथा इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य और न पाप ही स्पर्श करते हैं। इस से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप से रहित है ॥१॥

जो सेतु कहा गया है, उसके फल का कथन करते हैं, यथा—

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥ २ ॥

भावार्थ—इसलिए वह जो इस सेतु से पार होता है, वह यदि अंधा है तो अनन्ध हो जाता है, विद्ध होने पर भी अविद्ध होता है, याने घायल होने पर भी जख्मी नहीं होता, रोगी है तो निरोगी हो जाता है। इसलिए जब मनुष्य इस सेतु से पार हो जाता है तो रात भी दिन ही बन जाती है ? सारा अन्धेरा दूर हो जाता है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है ॥ २ ॥

यह फल विद्या की महिमा से किसको सिद्ध होता है, इसकी अपेक्षा में कहते हैं, यथा—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे पुरुष जो निश्चय करके ब्रह्मचर्य द्वारा ब्रह्मलोक को जानते हैं, उन्हीं को यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है, और उन्हीं का सब लोकों में स्वच्छन्द गमन होता है ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—यह आत्मा ही भूः आदि लोकों की रक्षा के लिए वर्णाश्रमादि भेदवाले जन्तु मात्र का धारण करनेवाला है। जैसे मिट्टी या काष्ठ से निर्मित बाह्य सेतु जलों का भेदक है, वैसे ही यह आत्मा भी है। इस सेतुरूप आत्मा को दिन रात्रि परिच्छिन्न नहीं कर सकते, जरा, मृत्यु, शोक, धर्म और अधर्म इत्यादि पापरूप सर्व इस आत्मा से निवृत्त हैं, इसी से यह आत्मा अपहतपाप्मा है। धर्म को भी जो यहाँ पाप कहा गया है, इसका अभिप्राय यह है कि यह भी जन्ममरणादियुक्त लोकों का कारण है। अध्यास से जो अन्धत्वादि शरीर के धर्म आत्मा में भास रहे थे, देह से भिन्न आत्मा को जाननेवाला विद्वान् उनका त्याग कर देता है। शरीराध्यस्त रोगादि भी आत्मज्ञानी में नहीं होते। आत्मा में रात्रि दिन का तो सम्बन्ध ही नहीं है। ऐसे प्रकाशरूप आत्मा को विवेकी ही प्राप्त होता है। इस आत्मा की प्राप्ति ब्रह्मचर्य से होती है, ब्रह्मचर्यसहित विद्वान् का सब लोकों में इच्छापूर्वक विचरण होता है और ब्रह्मचर्य से ही यह अपने स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ १-३ ॥

विशेष—वह परमात्मा अपहतपाप्मा है, जो इस सारे ब्रह्माण्ड को नियम में चलानेवाला है, वह विरज, विमृत्यु और विशोकादि गुणोंवाला सा है, वही इस संसार का सेतु है। यदि ईश्वर इस संसार को धारण न करे तो इस में गड़बड़

होकर यह तत्काल ही नष्ट हो जाय। जगत् में जल की कमी नहीं है, न अग्नि वायु की ही, यदि ये परस्परविरुद्ध पदार्थ क्रुद्ध होकर आपस में टकरा जाँय तो हमारी सब की क्या गति हो जाय ? अतः इस संसार की रक्षा के लिए ब्रह्म ही सेतु और विधृति है। जो मनुष्य उस की आज्ञा पालन करते हुए अर्थात् उस के नियम के अनुकूल चलते हुए (जिस की सूची वेद वेदान्त में दी है) जीवन व्यतीत करते हैं, वे भी परमात्मा के उक्त गुणों को धारण करते हुए अमृत हो जाते हैं ॥१-३॥

पञ्चम खण्ड

सेतुत्वादि गुणों से स्तुत आत्मा की प्राप्ति के लिए ज्ञान से इतर ब्रह्मचर्य का विधान करना आवश्यक है। क्योंकि यह ज्ञान का सहकारी है, इस से इसे श्रुति कहती है, और इस की पालन विधि के लिए यज्ञादि रूप से स्तुति करती है, यथा—

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥ १ ॥

भावार्थ— जिस को धार्मिक लोग यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह जो जाननेवाला है उस को (ब्रह्मलोक को) पा लेता है। जिसे इष्ट कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

भावार्थ—तथा जिसे लोग सत्त्रायण ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही वह सत् (सत्य ब्रह्म) से अपनी रक्षा को पाता है। इस के अतिरिक्त जिसे मौन कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पुरुष आत्मा को ढूँढकर उस पर ध्यान जमाता है, मनन करता है ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयँ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितँ हिरण्मयम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिसे लोग अनाशकायन (नष्ट न होनेवाला) कहते हैं, वह भी वास्तव में ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि साधक जिसे ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होता है, वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता। और लोग जिसे अरण्यायन ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि इस ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' ये द समुद्र हैं। यहाँ से तीसरे द्युलोक में 'ऐरंमदीय' सरोवर है, 'सोमसवन' नाम का अश्वत्थ है, अर्थात् जिस से सोम रस बहता है ऐसा अश्वत्थ वृक्ष है। वहाँ ब्रह्मा की 'अपराजिता' पुरी है और वहाँ प्रभु ब्रह्मा का विशेष रूप से निर्माण किया हुआ एक सुनहरा मण्डप है ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाँ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

भावार्थ—अब वे लोग जो ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक में वर्तमान अर और ण्य इन दो समुद्रों को प्राप्त करते हैं, वह ब्रह्मलोक उन्ही लोगों का हो जाता है, उन के लिए सब लोकों में स्वच्छन्द गति हो जाती है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्मचर्य को ही यज्ञरूप से कथन करते हैं, दर्श पौर्णमासादि इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही हैं। ईश्वर का आराधनरूप इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य करके ही आत्मा का पूजन करता हुआ विद्वान् आत्मा को प्राप्त होता है। सत्रायण कर्म भी ब्रह्मचर्यरूप है। क्योंकि विद्वान् ब्रह्मचर्य करके ही सत्यस्वरूप अपने आत्मा की रक्षा करता है। ध्यानरूप मौन भी ब्रह्मचर्य है, कारण कि ब्रह्मचर्य से ही गुरु के उपदेश से आत्मा का श्रवण करके पुनः मनन ध्यान किया जाता है।

उपवासादिरूप अनाशकायन भी ब्रह्मचर्य है, उस ब्रह्मचर्य से प्राप्त जो आत्मा है उस का नाश नहीं होता। वनवास को अरण्यायन कहते हैं, 'अर' 'ण्य' इन दो नामवाले ह्रदों सहित जो ब्रह्मलोक है, उस की प्राप्ति का कारण होने से ब्रह्मचर्य का नाम अरण्यायन है।

अब ऐसे ब्रह्मचर्य सहित उपासना करके प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोक का निरूपण करते हैं—इस लोक से लेकर तीसरे स्थान में स्थित ब्रह्मलोक में अरण्य नामवाले समुद्र के तुल्य दो ह्रद हैं, उस ब्रह्मलोक में ही अन्न का रसरूप तथा मद (हर्ष) को उत्पन्न करनेवाला ऐरंमदीय नाम का सरोवर है। उसी लोक में अश्वत्थ वृक्ष के समान सोमरसामृत बहानेवाला सोमसवन नामक वृक्ष है। उसी ब्रह्मलोक में हिरण्यगर्भ की पुरी है, वह ब्रह्मचर्यादि साधनयुक्त पुरुषों से भिन्न मनुष्यों करके न प्राप्त होने योग्य है, इस कारण उस का नाम अपराजिता है। और उस ब्रह्मलोक में प्रभु हिरण्यगर्भ द्वारा रचित स्वर्ण का मण्डप है। ऐसे ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त किया जाता है। उस ब्रह्मचर्य की महिमा ऐसी है कि उस के प्रभाव से साधक सब लोकों में यथेच्छ जा सकता है ॥ १-४ ॥

विशेष—वेद तथा शास्त्रों में ब्रह्मप्राप्ति के अनेक साधनों का कथन किया गया है, परन्तु मुख्य साधन ब्रह्मचर्य ही है। गत चौथे खण्ड में ब्रह्मलोक की प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है। इस पाँचवें खण्ड में उसकी महिमा दिखलाई है, यह दर्शाया गया है कि वैदिक कर्म जो मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र करते हैं और जिनका परमफल ब्रह्मलोक है, ब्रह्मचर्य उन सबकी जगह को अकेला पूर्ण कर देता है। यज्ञ ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्यवाला उस फल को ब्रह्मचर्य के द्वारा लाभ कर लेता है जिसको पुरुष यज्ञ के द्वारा लाभ करता है। यज्ञ का परम फल ब्रह्मलोक है और यह फल ब्रह्मचर्य से प्राप्त हो जाता है, इसलिए यज्ञ भी ब्रह्मचर्य ही है। इसी प्रकार इष्ट और सत्रायण आदि के विषय में भी जानना, जो भाष्य में ऊपर कहा गया है।

यहाँ विचार करना चाहिये—जहाँ वस्तुतः फल के विषय में ब्रह्मचर्य यज्ञ आदि के बराबर है, वहाँ दूसरी ओर शब्दरचना शैली से भी ब्रह्मचर्य उनके बराबर दर्शाया है। जैसे—'यज्ञ' ब्रह्मचर्य है, क्योंकि "यो ज्ञाता" (जो जाननेवाला है) इस शब्द से यज्ञ बना है। जो जाननेवाला है वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इसलिए ब्रह्मचर्य यज्ञ है। इसी प्रकार इष्ट "इष्ट्वा" (अन्वेषण करके) शब्द से, सत्रायण "सतः त्राणम्" (सत् से अपनी रक्षा) से, मौन "मनुते"

(ध्यान जमाता है) से, अनाशकायन "न नश्यति" (नष्ट नहीं होता है) से और अरण्यायन "अर+ण्य+अयनम्" (अर और ण्य को प्राप्त होना) शब्दों से बने हैं। इष्ट यज्ञविशेष का नाम है। सत्रायण वह यज्ञ है जिस में बहुत यजमान होते हैं। मौन वाणी का रोकना है। अरण्यायन (वन में जाना) वानप्रस्थ का जीवन कहाता है। इन सबका फल ब्रह्मचर्य से मिल जाता है, इसलिए ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करना चाहिये।

इस अध्याय के दूसरे खण्ड में जो पिता माता आदि कहे हैं, और यहाँ पाँचवें खण्ड में जो ब्रह्मलोक में 'अर' 'ण्य' दो समुद्र, ऐरंमदीय (ऐरं=अन्न से पूर्ण और मदीय=हर्ष देनेवाला) सरोवर, अश्वत्थ का वृक्ष—जिससे सोमरस का अमृत बहता है, अपराजिता—जिसको वे लोग नहीं जीत सकते जिनके पास ब्रह्मचर्य का साधन नहीं है ऐसी पुरी और सुनहरी मण्डप; ये सब मानस रूप से प्रतीत होते हैं, न कि स्थूल रूप से। ये शुद्ध हुए अन्तःकरण के सङ्कल्प से प्रकट होते हैं, इसलिए निरतिशय सुखकारक होते हैं। इस खण्ड में ब्रह्मचर्य की महिमा का प्रसङ्ग आया है, इसलिए शास्त्रों में तथा विद्वानों के निबन्धों में और महात्माओं के सत्सङ्ग में जो पढा, विचारा तथा सुना गया था ऐसा उसका विवरण यहाँ लिखा गया है, जिसमें पाठक ब्रह्मचर्य का महत्त्व समझें ॥ १-४ ॥
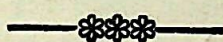
षष्ठ खण्ड

जो मनुष्य ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न और बाह्य विषयों की मिथ्या तृष्णा से निवृत्त होकर अपने हृदयकमल में विराजमान, उपर्युक्त गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करता है, उसको यहाँ मूर्धन्य नाडी के द्वारा गति कही जायगी, इसलिए इस नाडीखण्ड का आरम्भ किया जाता है, यथा—

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

भावार्थ—अब ये जो हृदय की नाडियाँ हैं, वे भूरे सूक्ष्म रस से भरी हुई हैं तथा श्वेत, नीले, पीले और लाल रस से भरी हुई हैं। ऐसे ही यह आदित्य पिङ्गलवर्ण है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लोहितवर्ण है ॥ १ ॥

शरीर के भीतर नाड़ियों के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार होता है, इस विषय में श्रुति कहती है, यथा—

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

भावार्थ—यहाँ यह दृष्टान्त है कि जैसे एक लम्बी चौड़ी सड़क दो ग्रामों को जाती है, इधर समीप के ग्राम को, उधर उस दूर के ग्राम को। इसी प्रकार ये सूर्य की किरणें दोनों लोकों को जाती हैं, इधर इस लोक शरीरलोक को और उधर उस लोक सूर्यलोक को। वे उस सूर्य से ही निकलती हैं और इन नाड़ियों में आकर प्रवेश करती हैं, इन नाडियों से चलती हैं और सूर्य में जाकर प्रवेश करती हैं ॥ २ ॥

उक्त नाडियों के विज्ञानमय की स्वोपाधिकरणता से स्तुति के लिए स्वप्न को कहते हैं, यथा—

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह मनुष्य जिस काल में सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियों का अपने में संहार कर लेता है, तब भले प्रकार से प्रसन्नचित्त हुआ वह स्वप्न नहीं देखता। उस समय में वह इन नाडियों में प्रविष्ट हो जाता है, तब उसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता। क्योंकि तब वह अपने तेज से सम्पन्न होता है ॥ ३ ॥

ऐसा होने पर—

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब कोई पुरुष पूरी निर्बलता में मरने के निकट पहुँच जाता है, तब उस के इधर उधर बैठे हुए बन्धु बान्धव उससे कहते हैं—क्या तुम मुझे जानते हो, क्या तुम मुझे जानते हो ? वह जब तक इस शरीर से निकल नहीं जाता है, तब तक उन को जानता है ॥ ४ ॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस काल में यह जीव इस शरीर से निकलता है, उस समय किरणों से ही ऊपर की ओर चढता है। वह ॐ ऐसा कहकर ब्रह्म का ध्यान करता हुआ ऊर्ध्वलोक को अथवा अधोलोक को जाता है। वह जितनी देर में मन जाता है उतने ही समय में आदित्यलोक में पहुँचता है । निश्चय करके यही ब्रह्मलोक का द्वार विद्वानों के लिए खुला हुआ है, और अविद्वानों के लिए बंद है ॥ ५ ॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस विषय में यह मन्त्र प्रमाण है, यथा—हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं। उन में से एक नाड़ी मूर्धा की ओर निकली हुई है, उस नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर जानेवाला जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है। और जो इधर उधर जानेवाली नाड़ियाँ हैं, वे केवल उत्क्रमण के लिए हैं ॥ ६ ॥

वि० वि० भाष्य—अब ब्रह्मचर्य से सम्पन्न जो हृदयस्थ ब्रह्म का उपासक है उसकी मूर्धन्य नाडी द्वारा गति को कहने के लिए नाडियों का निरूपण करते हैं, यथा—इस हृदयकमल के साथ सम्बन्ध रखनेवाली नाड़ियाँ सूक्ष्म पिंगल वर्णवाले अन्नरस करके परिपूर्ण हुई स्थित हैं। शुक्ल, नील, पीत और रक्तादिरूप सूक्ष्म अन्न के कारण नाड़ियाँ भी शुक्ल पीतादिरूप हुई वर्तती हैं। इन नाड़ियों का नील, पीतादिरूप होना भी नील पीतादिरूप सूर्य के सम्बन्ध से है। इस अर्थ के सूचन करने के लिए सूर्य भगवान् को पिंगल, शुक्ल, नील, पीत तथा लोहित रूप से श्रुति में कहा

है। जैसे इस लोक में कोई महान् मार्ग दो ग्रामों से सम्बन्धवाला होता है, वैसे ही सूर्य की रश्मियाँ इस पुरुष से तथा आदित्यमण्डल से सम्बन्धवाली होती हैं। किरणें आदित्यमण्डल से इस संसार में फैलती हैं और मनुष्य की नाड़ियों के साथ सम्बद्ध होती हैं। यह विज्ञानमय जीव, जब सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब इन्द्रिय तथा मन आदिकों के लीन होने से स्वप्रादिकों के विशेष ज्ञान से रहित हुआ ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है। उस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में द्वार नाडियाँ हैं। उस ब्रह्म से अभिन्न हुए जीव का धर्माधर्म से सम्बन्ध नहीं होता। जब वृद्धावस्था-प्रयुक्त निर्बलता के कारण मरणासन्न प्राणी के सम्बन्धी उसे घेरकर "तुम पुत्र को जानते हो? तुम पिता को पहचानते हो?" यह पूछते हैं तो वह तब तक उन का उत्तर देता है जब तक प्राणों का बहिर्गमन नहीं हुआ है। वह बाह्य परलोक में भी उन नाडियों से ही गमन करता है। वह उपासक प्रणव का ध्यान करता हुआ इस देह का इस लोक में त्याग करके मन के वेग की तरह शीघ्र आदित्यमण्डल को प्राप्त हो जाता है। वह आदित्यमण्डल ब्रह्मलोक की प्राप्ति में द्वार है। उस आदित्यमण्डल द्वारा वह उपासक ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। उपासनादि साधनरहित मनुष्य को आदित्यमण्डल की प्राप्ति नहीं होती। इन नाडियों करके बाह्य गमन करने में ब्राह्मण-भागरूप छान्दोग्य श्रुति आप ही इस विषय में मन्त्रभाग की सम्मति देती है, यथा—हृदयरूप कन्द की सम्बन्धी एक सौ एक १०१ प्रधान नाडियाँ हैं, उन नाडियों में एक सुषुम्रा नामवाली नाडी मस्तक से निकली है। उस सुषुम्रा नाडी से ऊपर आदित्यमण्डल की प्राप्ति द्वारा उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। और दूसरी जो नाडियाँ हैं वे तो नाना योनिग्रहणरूप संसारप्राप्ति के वास्ते ही होती हैं॥ १-६॥

विशेष—उक्त तृतीय मन्त्र में "सुप्तः समस्तः" ऐसा पाठ है, इसमें सुप्त का समस्त यह विशेषण दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय यह जीव इस सुषुप्ति अवस्था अर्थात् निद्रा को प्राप्त होकर सो जाता है, उस समय इस की सम्पूर्ण इन्द्रियों का उपसंहार हो गया, ऐसा हो जाता है। यहाँ स्वप्न और गाढ सुषुप्ति, इन भेदों से (जिनको दर्शनवृत्ति तथा अदर्शनवृत्ति कहते हैं) निद्रा की दो वृत्तियाँ कही गई हैं। अतः स्वप्न की व्यावृत्ति के लिए समस्त पद प्रयोग किया गया है। प्रश्नोपनिषद् में शरीरवर्ती कुल बहत्तर करोड, बहत्तर लाख, दस हजार, दो सौ एक नाडियाँ गिनाई गई हैं। जब यह बात है तो इस खण्ड में एक सौ एक ही नाडियाँ क्यों कही गईं? इस शङ्का का समाधान यह है कि हृदय की जो एक सौ एक नाडियाँ हैं, वे नाडियों में प्रधान हैं। जैसे श्री कृष्ण की सोलह
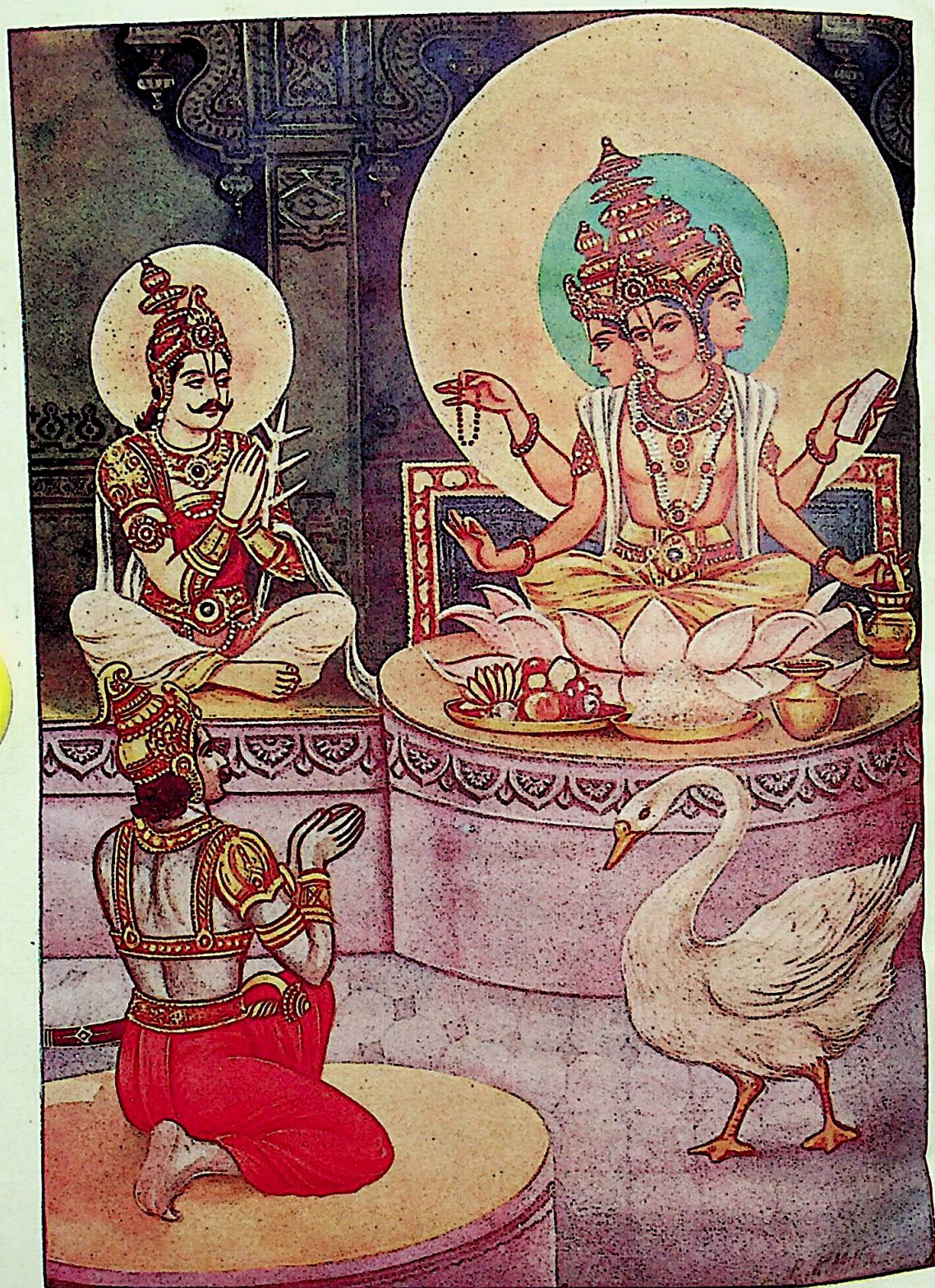
इन्द्र और विरोचन को ब्रह्माजी का उपदेश (अ. ८ ख. ७)

ઇંદ્ર તથા વિરોચનને બ્રહ્માજીનો ઉપદેશ (અ. ૮ ખં. ૭)

सहस्र एक सौ आठ रानियों में आठ प्रमुख थीं। इस खण्ड भर का भाव यह है कि उन सब नाडियों में से एक सुषुम्ना नाड़ी है जो ऊपर मूर्द्धा की ओर निकली है, मुक्त पुरुष उसी नाडी द्वारा उत्क्रमण करता है। और जो अन्य नाडियाँ हैं वे केवल साधारण पुरुषों के उत्क्रमण के लिए हैं ॥ १-६ ॥

सप्तम खण्ड

विगत खण्ड में 'जो यह सम्प्रसाद इस शरीर से निकलकर पर ज्योति को प्राप्त होता है' यह कहा है। उसमें सम्प्रसाद क्या वस्तु है? किस साधन से वह परमात्मा को प्राप्त होता है? अधिगम्यमान याने जिस परमात्मा को वह प्राप्त होता है, उसका क्या स्वरूप है और कैसे उसकी प्राप्ति होगी? इत्यादि प्रश्नों के निर्णय के लिए पहले प्रजापति के वाक्य का अनुवाद करते हैं, यथा—

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

भावार्थ—जो आत्मा पापरहित है, और जरावस्थारहित, मृत्यु से रहित, शोक से रहित, क्षुधा रहित, पिपासा रहित, सत्य की कामनावाला, तथा सत्यसङ्कल्प है, वही खोजने योग्य एवं वही जिज्ञासा के योग्य है। जो उस परमात्मा को खोजकर जानते हैं, वे सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रजापति ने कहा ॥ १ ॥

अब विद्या के ग्रहण की विधि दिखलाने के लिए जिस से विद्या की प्रशंसा हो ऐसी आख्यायिका की रचना करते हैं, यथा—

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज

विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

भावार्थ—देवता और दैत्य दोनों ने उक्त शब्द सुने, और उन्होंने कहा—अहो ! उस आत्मा का अन्वेषण करना चाहिये, जिस आत्मा को ढूँढकर पुरुष सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पा लेता है। यह कहकर देवताओं में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन निकले। वे दोनों परस्पर विवाद न करते हुए याने एक दूसरे से बिना सलाह किये हुए शिष्य के तौर पर समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के पास आये ॥ २ ॥

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे वहाँ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचारी बनकर रहे, तब प्रजापति ने उन से कहा—तुम दोनों किस प्रयोजन से यहाँ रह रहे हो ? उन्होंने उत्तर दिया—"जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, क्षुधारहित, तृषारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, उस का अन्वेषण करना चाहिये, उस की जिज्ञासा करनी चाहिये। जो उस आत्मा का अन्वेषण कर उसे विशेष रूप से जान लेता है वह सारे लोकों को और सम्पूर्ण कामनाओं को पा लेता है" इस श्रीमान् के वाक्य को शिष्ट जनों से सुना है। उस आत्मा को जानने की इच्छा से हम दोनों ने यहाँ आप के समीप निवास किया है ॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेत्यथ योऽयं

भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायत इति होवाच ॥ ४ ॥

भावार्थ—उन दोनों से प्रजापति बोले कि जो यह पुरुष नेत्र में दीखता है, यही आत्मा है तथा यही अमृत है, यह अभय है और यह ब्रह्म है। इस के अनन्तर उन्होंने पूछा—हे भगवन्! यह जो सब ओर जलों में प्रतीत हो रहा है, और दर्पण में दिखाई दे रहा है, उन में आत्मा कौन सा है? तब प्रजापति बोले कि मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुष का वर्णन किया है, निश्चय करके वही आत्मा अपहतपाप्मादि गुण-विशिष्ट है ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—'यह जो नेत्र में पुरुष दीखता है' इस कथन से प्रजापति का अभिप्राय यह है कि आँख अपने देखने के काम से जिस सत्ता की ओर इशारा करती है, वह आत्मा है। क्योंकि देखनेवाली वास्तव में आँख नहीं है, आँख एक साधन है, वह देखनेवाली शक्ति इस से अतिरिक्त तथा इस के भीतर है जो इस झरोखे में बैठकर बाहर के दृश्य देखती है। है तो यह बात, पर प्रजापति के शिष्य इस अभिप्राय तक नहीं पहुँचे। वे नेत्र के अन्दर रहकर उस देखनेवाले को आत्मा नहीं समझे। किन्तु जो नेत्र के भीतर पुरुष का आकार, छाया दीखती है, उसी को आत्मा समझ गये। इस लिए वे आगे पूछते हैं कि जल में और शीशे में जो दीखता है वह कौन है?

प्रजापति ने जो सब से प्रथम नेत्र में आत्मा का अस्तित्व बोधन किया है उस का अभिप्राय यह है कि वे अपने शिष्यों को पहले पहल जाग्रत में आत्मा के अस्तित्व का अलग निश्चय कराना चाहते हैं। वस्तुतः 'आत्मा सब के भीतर है' इस उच्च अभिप्राय से प्रजापति ने उत्तर दिया है। पर यह जानकर कि शिष्यों ने पुरुष से शरीर ही समझा है, उन का अज्ञान दिखाने के लिए अगला उपदेश "जो जल में दीखता है, जो शीशे में दीखता है" यह आरम्भ किया गया है ॥ १-४ ॥

विशेष—इन्द्र और विरोचन के पूछने पर प्रजापति ने कहा—मैंने जो नेत्रान्तर्गत द्रष्टा बतलाया है, वही आत्मा है। इसी बात को मन में रखकर उन्होंने फिर कहा कि वह इन जलादि सभी के भीतर दिखाई देता है। इस उक्ति से यह सूचित कर दिया कि तुम मेरा अभिप्राय नहीं समझे, मैंने द्रष्टा को आत्मा बतलाया है, और तुम दृश्य को आत्मा समझ बैठे हो। यहाँ शङ्का है कि निर्दोष आचार्य ने

शिष्यों की इस विपरीत धारणा का कि जलों में जो दीखता है, तथा शीशे में जो दिखाई देता है, अनुमोदन क्यों किया ? उत्तर यह है कि प्रजापति ने अनुमोदन नहीं किया। यह तो विदित है कि इन्द्र और विरोचन लोक में प्रतिष्ठित थे और ये दोनों अपने को पाण्डित्य, महत्त्व और ज्ञातृत्वविशिष्ट समझते थे। यदि प्रजापति ऐसी स्थिति के व्यक्तियों से कहते कि तुम मूढ हो और उलटा समझनेवाले हो, तो उन के चित्त में दुःख होता। उस अवसाद से फिर प्रश्न करने, सुनने, ग्रहण करने और समझने के लिए उन के उत्साह का ह्रास हो जाता। अतः प्रजापति ने ऐसा करके शिष्यों की रक्षा ही की है। याने प्रजापति ने समझा कि ये अभी विपरीत ग्रहण करते हैं तो भले ही करें, मैं जल के सकोरे आदि के दृष्टान्त से इन की शङ्काओं को निवृत्त कर दूँगा। तब भी प्रजापति को झूँठ बोलने का दोष तो आता ही है। इसका उत्तर यह है कि शिष्य के ग्रहण किये हुए छायात्मा से प्रजापति का स्वयं बताया हुआ नेत्रान्तर्गत पुरुष उन के मन में बहुत समीपवर्ती है। 'आत्मा सब के भीतर है' 'यही यह आत्मा है' इस श्रुतिवाक्य से प्रजापति ने उसी का निर्देश किया है, अतः उन्होंने मिथ्या भाषण नहीं किया, उन्होंने तो उन के विपरीत ग्रहण की निवृत्ति के लिए इस प्रकार कहा है ॥ १-४ ॥

अष्टम खण्ड

इस के बाद प्रजापति उन के विपरीत ग्रहण की निवृत्ति के उपाय का उपदेश करते हैं, यथा—

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥१॥

भावार्थ—जल से भरे सकोरे में तुम दोनों आत्मा (अपने आप) को देखो, तुम आत्मा के विषय में जो न जान सको, वह मुझे बताओ; प्रजापति ने ऐसा कहा। उन्होंने जलपूर्ण सकोरे में देखा। तब प्रजापति ने उन से कहा—तुम क्या देखते

हो ? उन्होंने उत्तर दिया—हे भगवन् ! हम अपने इस समस्त आत्मा को लोम और नखपर्यन्त याने सिर से लेकर पैर तक ज्यों का त्यों देखते हैं ॥ १ ॥

जिन का विपरीत ग्रहण निवृत्त नहीं हुआ, उपर्युक्त कथन करते हुए उन—

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २ ॥

भावार्थ—दोनों से प्रजापति ने कहा—तुम अच्छी तरह अलंकृत होकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर तथा क्षौर आदि से भव्याकृति होकर फिर जल के सकोरे में देखो। तब उन्होंने अच्छे भूषण और वस्त्र धारण कर तथा अपने आप को साफ सुथरा बनाकर जल के सकोरे में देखा। तब उन से प्रजापति ने पूछा—क्या देखते हो ? ॥ २ ॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविस्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥ ३ ॥

भावार्थ—उन्होंने उत्तर दिया—भगवन् ! जैसे हम ये अच्छे सुन्दर भूषण वस्त्र धारण किये हुए और परिष्कृत हैं, उसी प्रकार हे भगवन् ! ये दोनों भी (हमारे आत्मा अर्थात् प्रतिबिम्ब) अच्छी तरह अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रधारी और परिष्कृत हैं। प्रजापति ने कहा—यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है। तब वे दोनों प्रसन्नचित्त होकर याने शान्ति के साथ चले गये ॥ ३ ॥

भोगासक्त राजा इन्द्र और विरोचन को पहले कहे हुए आत्मलक्षण का इस प्रकार कहे जाने पर कहीं विस्मरण न हो जाय, ऐसी आशंका से प्रत्यक्ष वचन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उन के हार्दिक दुःख की निवृत्ति चाहनेवाले—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा

वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनो-ऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजापति उन दोनों को दूर जाते हुए देखकर बोले—ये दोनों आत्मा की उपलब्धि याने साक्षात्कार किये बिना जा रहे हैं। इन दोनों में से जो कोई देव हो या असुर इस उपनिषद् का (देह आत्मा है इस सिद्धान्त का, याने इस निश्चय का) अनुसरण करेगा, उस का पराभव होगा, वह नष्ट हो जायगा। अब विरोचन तो वैसा ही प्रसन्नचित्त हुआ असुरों के पास पहुँचा और उन को यह आत्मविद्या सुनाई—इस संसार में आत्मा (देह) केवल पूजा के योग्य है और आत्मा ही सेवनीय है। जो यहाँ आत्मा (देह) को पूजता है और आत्मा की सेवा करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों लोकों का लाभ कर लेता है ॥४॥

इस कारण असुरों (नास्तिकों) का सम्प्रदाय आज कल भी चला आ रहा है; यथा—

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाᳬ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सᳬस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसलिए आज भी लोक में दान न देते हुए, परलोकविषयक श्रद्धा न रखते हुए और यज्ञ न करते हुए को खेद से शिष्ट पुरुष 'अरे ! यह तो असुर= आसुरी स्वभाववाला ही है' ऐसा कहते हैं। यह उपनिषद्—आत्मविषयक सिद्धान्त याने ज्ञान असुरों का ही है। वे ही मृतक पुरुषशरीर को गन्ध माला आदि से, वस्त्रों से और भूषणों से सजाते हैं, और ऐसा मानते हैं कि इसके द्वारा हम परलोक जीत लेंगे याने प्राप्त कर लेंगे ॥ ५ ॥

वि० वि० भाष्य—उन दोनों शिष्यों की मूढता की निवृत्ति के लिए ब्रह्मा-जी उपाय कहते हैं कि हे इन्द्र और विरोचन ! जल से भरे सकोरे में अपने आपको देखकर तब तुम आत्मा का निश्चय न कर सको तो फिर मुझ से कहना। तब दोनों

ने सकोरे के जल में अपने आपको देखा, तब ब्रह्माजी ने पूछा—क्या देखा ? इन्द्र विरोचन ने उत्तर दिया—हमने नख लोमादियुक्त इस शरीर के प्रतिबिम्बरूप आत्मा को देखा है। फिर विरोचन ने तो छाया में आत्मत्वबुद्धि का परित्याग करके छायावाले देह में आत्मत्वबुद्धि कर ली, याने वह तो देह को ही आत्मा समझ बैठा। छाया में विरोचन ने यह त्रुटि देखी कि छोटे दर्पण में छोटी छाया और बड़े दर्पण में बड़ी छाया होती है। इसी प्रकार दर्पणोपाधि के नील पीतादि होने से छाया भी वैसे ही रंगोंवाली हो जाती है। विशेषता यह है कि जिसकी छाया होती है वह देह तो एक जैसा है, इससे देह ही आत्मा है। इत्यादि युक्तियों से विरोचन ने शरीर में ही आत्मरूपता निश्चय कर ली।

'देह में अथवा छाया में जो इनका विपरीत प्रत्यय हो गया है, अब उसकी निवृत्ति करनी चाहिये' इस अभिप्राय से भगवान् प्रजापति ने उनसे कहा—हे इन्द्र विरोचन ! तुम मुण्डन कराकर तथा सुन्दर वस्त्र भूषणादिकों से अलङ्कृत होकर फिर जलपूरित पात्र में अपने आप को देखकर मुझको कहो। ब्रह्माजी के ऐसा कहने का अभिप्राय यह था कि यह स्थूल देह विलक्षण हो जायगा, इससे इस परिणामी शरीर में तथा छाया में इनकी आत्मत्वबुद्धि निवृत्त हो जायगी। पर इन्द्र विरोचन तो इतना करने पर भी देह में ही आत्मत्वबुद्धि किये रहे। फिर प्रजापति ने उन से पूछा—तुमने मुण्डनादि कराकर जलपात्र में क्या देखा ? वे बोले—भगवन् ! सुन्दर वस्त्र भूषणसहित यह देह ही इस जल में मालूम पड़ी। उनकी उक्त बात सुनकर प्रजापति ने जाना कि इन्होंने स्थूल देह ही आत्मरूप निश्चय कर ली है। तब प्रजापति अपने मन में सोचने लगे कि जैसे इन्द्र विरोचन ने आत्मा के विषय में दोष देखकर अनात्मता निश्चय कर ली है, वैसे ही इस देह में जड़ता, परिच्छिन्नता तथा जरा मरणादि अनेक दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं, इससे यह देह भी आत्मा नहीं है। इस तरह इस शरीर में भी इन्द्र विरोचन अनात्मता का निश्चय कर लें, इस अभिप्राय से देह में जिन धर्मों का सम्भव न हो सके उन आत्मधर्मों का प्रजापति उपदेश करते हैं, यथा—हे इन्द्र विरोचन ! यह चिद्रूप आत्मा मरण से रहित है, भय से विवर्जित है और देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित ब्रह्मरूप है। इस तरह ब्रह्माजी ने देह में न बननेवाले धर्मों का उपदेश किया भी, परन्तु वे अभिमानी इन्द्र विरोचन प्रजापति के अभिप्राय को न जानते हुए चले गये।

विरोचन ने तो रसायन, मन्त्र तथा योगादि उपायों से इस शरीर में ही

आत्मा के अजर, अमर तथा अभयत्वादि धर्मों को जान लिया, मान लिया और इन्द्र ने छाया में ही आत्मरूपता निश्चय कर ली। जब प्रसन्न होकर दोनों जाने लगे तो प्रजापति ने कहा—जो देवता अथवा असुर अजर, अमर, अभय आत्मा को गुरु और शास्त्र से न जानकर तथा अपरोक्ष निश्चय बिना इन्द्र विरोचन की तरह निश्चय कर बैठेंगे वे क्लेश का ही अनुभव करेंगे। अस्तु, विरोचन शान्त होकर याने प्रसन्नता के साथ असुरसमाज में जाकर उन्हें यह उपदेश देने लगा कि हे असुरो! प्रजापति ने इस देह को ही आत्मा बताया है, इस शरीररूप आत्मा का ही पूजन तथा अनेक प्रकार के वस्त्र भोजन भूषण आदि भोगों से सेवन करना चाहिये। ऐसे देहरूप आत्मा की पूजा तथा सेवा करनेवाला इस लोक को तथा परलोक को प्राप्त होता है।

यह कोई पुरानी ही बात नहीं है और यह भी नहीं है कि ऐसे देहात्माभिमानी लोग पहले ही हो चुके हैं, किन्तु आज कल भी ऐसे नास्तिक दुनियाँ में बहुत पड़े हैं। वे मनुष्य देहात्मवादरूप असुरों के सम्प्रदाय को मानकर अतिथि भिक्षु आदिकों के लिए अन्नादिकों को श्रद्धापूर्वक नहीं देते, ऐसे अश्रद्धालु पुरुषों को उत्तम मनुष्य असुर कहते हैं॥ १-५॥

विशेष—इस प्रकरण का भाव यह है कि इन्द्र और विरोचन ये दोनों छायात्मा को आत्मा समझते थे। प्रजापति ने उनकी भ्रान्ति दूर करने के लिए छायात्मा की स्थिति देह के आश्रित दिखलाई, तथापि उनकी भ्रान्ति दूर न हुई। इसी लिए प्रजापति ने फिर अपने अभिप्रेत आत्मा को मन में रखकर 'यह आत्मा है' इत्यादि उसका स्वरूप कह दिया, जिससे छाया या देह का आत्मा न होना उनको प्रतीत हो जाय। तब भी वे नहीं समझे और सन्तुष्ट होकर चल दिये। विरोचन ने तो देह की आत्मता का निश्चय करके फिर आचार्य के समीप आना उचित ही नहीं समझा। पर इन्द्र ने आगे भी विचार किया॥ १-५॥

नवम खण्ड
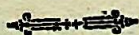
इस प्रकार 'स ह शान्तहृदयः' इस विरोचनविषयक विशेषण को कहकर इन्द्रगत विशेषण को कहते हैं, यथा—

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

भावार्थ—किन्तु इन्द्र ने देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही यह भय देखा कि निश्चय ही जैसे इस शरीर के भले प्रकार अलङ्कृत होने पर यह छाया-पुरुष भी अलङ्कृत होता है, शरीर के उत्तम वस्त्रधारी होने से छाया भी विभूषित होती है, इस शरीर का परिष्कार होने से छाया भी परिष्कृत होती है। वैसे ही शरीर काना होने से यह छायापुरुष भी काना होता है, इस शरीर के अंधा होने पर यह भी अंधा होता है, इस शरीर के छिन्न भिन्न होने पर छायापुरुष भी छिन्न भिन्न होता है और इस शरीर के नष्ट होने पर इसका भी नाश हो जाता है। सो मैं इस सिद्धान्त में कोई भोग्य, अच्छा फल याने बड़ाई नहीं देखता ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तँ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

भावार्थ—वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के समीप आया। उस प्रसिद्ध इन्द्र को देखकर प्रजापति बोले—हे इन्द्र ! तुम तो विरोचन के साथ शान्तचित्त होकर चले गये थे, अब फिर किस इच्छा से आये हो ? उसने कहा—भगवन् ! जिस प्रकार यह छायात्मा इस शरीर के अच्छी तरह अलङ्कृत होने पर अच्छे प्रकार से अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होने पर सुन्दर वस्त्र धारण करनेवाला होता है, और परिष्कृत होने पर परिष्कृत हो जाता है। उसी प्रकार

इसके अंधे होने पर अंधा, काना होने पर काना और खण्डित होने पर खण्डित हो जाता है, तथा इस शरीर के नष्ट होने पर यह भी नष्ट हो जाता है। सो मैं इस सिद्धान्त में कोई भलाई नहीं देखता ॥ २ ॥

यह सुनकर प्रजापति कहते हैं, यथा—

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—निःसन्देह यह ऐसी ही बात है, हे मघवन्! तुमने ठीक समझा, क्योंकि छाया आत्मा नहीं है। मैं उसी असली आत्मा का फिर व्याख्यान करूँगा, जिसका व्याख्यान पहले कर चुका हूँ। तुम जो उसे नहीं समझे, सो तुम्हारे अन्तःकरण पर अभी कोई मैल है, पहले उसके दूर करने के लिए और बत्तीस वर्ष मेरे पास ब्रह्मचर्य के साथ वास करो। इन्द्र ने और बत्तीस वर्ष उनके पास वास किया, तब प्रजापति ने कहा ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—अब इन्द्र के विषय में वृत्तान्त कहा जाता है, देवता होने से सात्त्विक इन्द्र देवसमाज में पहुँचे बिना ही आधे रास्ते में छाया को आत्मा मानने में निम्नलिखित भय को देखने लगा—इस शरीर के भूषणादिकों के कारण सुन्दर अलङ्कृत होने से छाया भी अलङ्कृत होती है। इस देह में अन्धत्वादि होने से छायात्मा में भी अन्धत्वादि दोष आ जाते हैं, इस शरीर के हस्तादिकों के कटने से छायात्मा के भी वे अङ्ग कटे हुए प्रतीत होते हैं, और इस देह के नष्ट होने से छायात्मा का भी नाश हो जाता है। इस छायात्मा के ज्ञान से हमको कुछ फल नहीं प्रतीत होता। छायात्मा के इन दोषों को देखता हुआ इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुआ। शरणागत इन्द्र को देखकर प्रजापति बोले—हे इन्द्र! तुम तो शान्तचित्त होकर विरोचन के साथ चले गये थे, फिर अब किस काम से आना हुआ है? यह सुन इन्द्र ने कहा—हे भगवन्! इस स्थूल देह के अंधे होने पर छायात्मा भी अंधा हो जाता है, इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर उस का भी नाश हो जाता है। आप ने तो आत्मा को अजर, अमर, अभय निरूपण किया है। इस छायात्मा में तो आत्मा के धर्म घटते ही नहीं हैं, और ऐसे छायात्मा के ज्ञान से लाभ भी क्या हो सकता है?

इन्द्र के इस प्रकार के वचन सुनकर प्रजापति कहते हैं—हे इन्द्र! विरोचन सहित तुम को मैंने पहले जिस आत्मा का उपदेश दिया था उसी आत्मा का उपदेश फिर मैं तुम को दूँगा। किन्तु अन्तःकरण की शुद्धि के लिए बत्तीस वर्ष पर्यन्त फिर ब्रह्मचर्य पूर्वक मेरे पास रहो। इन्द्र के ऐसा ही करने पर बत्तीस वर्ष के बाद शरणापन्न इन्द्र को प्रजापति ने कहा—॥ ३ ॥

विशेष—यहाँ प्रजापति के असली अभिप्राय समझने में दोनों को भ्रान्ति हो गई। विरोचन ने यह समझ लिया कि प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है, और इन्द्र ने यह समझा कि शरीर की छाया को आत्मा कहा है। प्रजापति का उपदेश भी ऐसा ही था जिस में भ्रान्ति हो सकती थी। प्रजापति भी असमंजस में पड़े थे, उन के पास दो शिष्य ऐसे आ गये जो राजा थे, दलपति थे, समूहों के नेता थे। इन का जीवन भोगोन्मुख था, ऐसे लोगों को जरा संभलकर रास्ते पर लाना पड़ता है। क्योंकि ये अभिमानी भी किसी से कम न थे। अतः प्रजापति ने इन की मान रक्षा करते हुए जो कुछ किया, उचित ही किया। फिर प्रजापति को यह भी जानना था कि इन में कहाँ तक जिज्ञासा का भाव है, याने कहाँ तक विषय के समझने की गहराई की लगन है। यह बात इन्द्र में मिली, विरोचन में नहीं ॥३॥

दशम खण्ड

अपहतपाप्मादि लक्षणोंवाले जिस आत्मा की 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि वाक्य द्वारा व्याख्या की गई है, वह यह है, यथा—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

भावार्थ—यह जो स्वप्न में पूजित होता हुआ विचरता है, वह आत्मा है; यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापति ने कहा। इसे सुनकर

इन्द्र शान्तहृदय होकर चला गया। पर देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही उस ने यह भय देखा कि यद्यपि यह ठीक है कि यह शरीर अन्धा भी हो जाय तो वह स्वप्नद्रष्टा आत्मा अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो तो वह स्वप्नशरीर काना नहीं होता, इस के किसी दोष से वह दूषित नहीं होता है ॥ १ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

भावार्थ—इस शरीर के वध से आत्मा नहीं मरता, इस के काना होने से वह काना नहीं होता। किन्तु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताड़ित करता हो, यह मानो अप्रियवेत्ता हो और रुदन करता हो; ऐसा हो जाता है। अतः इस प्रकार के आत्मदर्शन में याने इस सिद्धान्त में मैं कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥३॥

भावार्थ—वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के निकट आया। तब इन्द्र से प्रजापति बोले—तुम शान्तहृदय होकर चले गये थे, अब फिर किस इच्छा से आये हो? वह इन्द्र बोला—हे भगवन्! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है तो भी यह स्वप्नशरीर अंधा नहीं होता। शरीर का कोई अङ्ग भङ्ग हो जाता है पर आत्मा पूर्ण रहता है। इस शरीर के दोष से यह स्वप्नद्रष्टा आत्मा दूषित नहीं होता ॥ ३ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥४॥

भावार्थ—न इस के वध से उस का वध होता है, न इस की क्षति से वह विक्षत होता है, किन्तु उसे कोई मानो मारता हो, कोई ताड़ित करता हो और उस के कारण मानो वह अप्रियवेत्ता हो तथा रुदन करता हो; ऐसी प्रतीति होने के कारण उस में मैं कोई फल नहीं देखता। तब प्रजापति बोले—हे इन्द्र! यह आत्मा ऐसा ही है। प्रजापति ने फिर कहा—मैं आत्मतत्त्व की व्याख्या करूँगा, बत्तीस वर्ष मेरे निकट और निवास करो। इन्द्र ने वहाँ बत्तीस वर्ष और वास किया, तब प्रजापति बोले— ॥ ४ ॥

वि० वि० भाष्य—हे इन्द्र! जिस पुरुष का तुम को मैंने उपदेश दिया था वही यह पुरुष स्वप्न अवस्था में अपनी अविद्या द्वारा रचित पदार्थों का अनुभव करता है। वही यह आत्मा अमृत, अभय, ब्रह्मस्वरूप है। ऐसे उपदेश को सुनकर सूक्ष्म शरीरविशिष्ट स्वप्नावस्था के अभिमानी तैजस नामक जीव को आत्मरूप जानकर प्रसन्नता को प्राप्त हुआ इन्द्र चला गया। आगे आधे रास्ते में ही स्वप्नावस्थावाले तैजस को आत्मतत्त्व मानने में इन्द्र ऐसी उधेड़बुन में पड़ गया कि यद्यपि यह सही है कि छाया की तरह इस स्वप्नद्रष्टा में स्थूल शरीर के अन्धत्व काणत्वादि धर्मों का सम्बन्ध नहीं है। तथापि व्याघ्रादिकों करके अनेक क्लेशों का यह स्वप्नद्रष्टा जीव अनुभव करता है और प्रिय पुत्रादिकों के वियोग से महान् रुदन करता है। आत्मा तो सर्वोपद्रवशून्य है। इस प्रकार विचार करता हुआ इन्द्र पुनः समित्पाणि होकर प्रजापति की शरण को प्राप्त हुआ। प्रजापति ने कहा—तुम प्रसन्नता के साथ यहाँ से चले गये थे, अब फिर कैसे आगमन हुआ? इन्द्र ने उपर्युक्त दोषों का स्वप्नद्रष्टा पुरुष में निरूपण किया। यह सुन प्रजापति ने कहा—तुम्हें मेरे पास फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ेगा, मैं तुम को ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान का याने आत्मतत्त्व का उपदेश करूँगा। इन्द्र के ऐसा ही करने के अनन्तर प्रजापति ने कहा— ॥ १-४॥

विशेष—इस खण्ड के "घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव" इस दूसरे मन्त्र में जो 'इव' [मानो] शब्द का प्रयोग किया गया है इसका अभिप्राय यह है—यद्यपि न कोई उसे मारता है, न भगाता है, न वह अप्रिय देखता है और न रोता है, तथापि स्वप्नसमय में ऐसा ही वह देखता है। यहाँ इसी लिए 'इव' शब्द कहा है। यहाँ स्वप्न के द्रष्टा को आत्मा बतलाने से प्रजापति ने देहात्मा की भ्रान्ति को दूर किया है। अब फिर भी इन्द्र को बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रहने की आज्ञा देते हुए प्रजापति ने यह समझा कि मेरे दो बार युक्तिपूर्वक बतलाने पर भी यह ठीक ठीक नहीं समझता, प्रतीत होता है पहले की तरह

अब भी इसमें कोई प्रतिबन्धक कारण विद्यमान है। प्रजापति ने उसकी निवृत्ति के वास्ते इन्द्र को बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करने की आज्ञा दी। इससे कोई ऐसा न समझे कि प्रजापति ऐसा कहकर जिज्ञासु इन्द्र को बार बार हैरान कर रहे हैं। विषय कठिन है, योगियों द्वारा भी बड़ी कठिनता से गम्य है। इधर इन्द्र परम भोगों की सामग्री से युक्त है। उसे बार बार ब्रह्मचर्यानुष्ठान कराकर प्रजापति उसकी भोगवासना की जड़ तक को काटकर फैंकना चाहते हैं ॥ १-४ ॥

एकादश खण्ड

प्रजापति ने पूर्ववत् 'मैं तेरे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा' ऐसा कहकर—

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाहं खल्वयमेवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

भावार्थ—जब यह सोया हुआ, दर्शनवृत्ति से रहित और भले प्रकार आनन्द का अनुभव करता हुआ स्वप्न का अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है। यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है; ऐसा प्रजापति ने कहा। यह सुनकर इन्द्र शान्तचित्त हो चला गया। किन्तु देवताओं के पास पहुँचने से पहले ही उसने यह भय देखा कि यह सुषुप्तावस्था का आत्मा अपने आप को भी इस प्रकार ठीक ठीक नहीं जानता है कि यह मैं हूँ। और न ही इन भूतों को जानता है, जिस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न में जानता है, मानो विनाश में ही लीन हुआ विनष्ट सा होता है। मैं इस सिद्धान्त में कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति

स होवाच नाहं खल्वयं भगव एवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

भावार्थ—तब वह समिधा हाथ में लेकर फिर लौट आया। उसको प्रजापति ने कहा—हे मघवन्! तुम शान्तहृदय होकर चले गये थे, किस प्रयोजन के लिए पुनः आये हो? उसने कहा—हे भगवन्! इस सुषुप्ति अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है। यह विनाश को प्राप्त सा हो जाता है। इस सिद्धान्त में भी मैं कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ २ ॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजापति ने उत्तर दिया—हे मघवन्! निःसन्देह वह ऐसा ही है, मैं इसी का फिर व्याख्यान करूँगा, आत्मा इससे भिन्न नहीं है। अभी पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक और यहाँ निवास करो। उसने पाँच वर्ष और वहीं वास किया। ये सब मिलाकर एक ऊपर सौ वर्ष हो गये। इसी से यहाँ लोग कहा करते हैं कि इन्द्र ने प्रजापति के निकट एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य वास किया, तब प्रजापति ने उसको उपदेश दिया था ॥ ३ ॥

वि० वि० भाष्य—हे इन्द्र! सुषुप्ति अवस्था में यह पुरुष इन्द्रियादिकों के अभिमान बिना स्थित हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है तथा किसी स्वप्न को नहीं देखता। यह सुषुप्ति का द्रष्टा पुरुष ही आत्मा है, तथा अमृत, अभय ब्रह्मरूप है। यह सुनकर इन्द्र चला गया। फिर रास्ते में ही वह विचार करने लगा कि सुषुप्ति अवस्था के अभिमानी प्राज्ञ में भी भय है, अपसिद्धान्तता है। यद्यपि सुषुप्ति में स्वप्न के रोदनादि दुःख नहीं हैं तथापि यह कादाचित्क है एवं आगामी भय का और दुःखों का बीज है। यह प्राज्ञ सुषुप्ति अवस्था में अपने को तथा अन्य भूतों को भी

नहीं जानता। जैसे मृतक पुरुष स्व पर ज्ञानरहित हो जाता है, वैसे ही यह सुषुप्त मनुष्य जड की तरह हो जाता है, अतः इस सुषुप्त पुरुष में भी अमृत, अभयरूप ब्रह्मता नहीं बनती। इसके ज्ञान से हमारी किस पुरुषार्थ की सिद्धि होगी ? याने किसी की भी नहीं। ऐसा विचार कर इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापति के पास गया। प्रजापति के यह पूछने पर कि तुम तो प्रसन्न होकर चले गये थे, फिर इतनी जल्दी कैसे आगमन हुआ ? इन्द्र ने निवेदन किया—भगवन् ! यह प्राज्ञ जीव अनेक दोषों से ग्रस्त है, आत्मा तो अजर, अमर, अभयरूप आप ने कहा था। इससे कृपा करके यथार्थ रूप से आत्मा का उपदेश करिये। ऐसा सुनकर प्रजापति इन्द्र से फिर पाँच वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास करने को कहते हुए बोले—मैं आत्मा के यथार्थ स्वरूप का तुमको उपदेश करूँगा। इन्द्र ने ऐसा ही किया। इस प्रकार एक सौ एक वर्ष तक इन्द्र ने ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया, वही यहाँ श्रुति में कहा है। तब कहीं जाकर प्रजापति ने उपदेश देने की कृपा की ॥ १-३ ॥

विशेष—इस खण्ड के दूसरे मन्त्र में 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा' यह कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस आत्मा का पहले जाग्रत् में उपदेश दिया है, उसी का फिर स्वप्न, पुनः सुषुप्ति संबन्धी उपदेश दिया है। अब तीनों अवस्थाओं से अलग हुए उसी आत्मा का स्वरूप वर्णन करेंगे। इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया। ३२+३२+३२+५= १०१ इस प्रकार ये वर्ष हुए। इस घोर यत्न करने का बोधन करती हुई, शिष्ट जनों पर अनुग्रह करनेवाली श्रुति भगवती इसे स्वयं आख्यायिका के रूप में बोधन करती है। भाव यह है कि इस प्रकार अनेक अश्वमेधादि यज्ञानुष्ठानसाध्य, विघ्नसङ्कुल तपस्या से प्राप्त जो इन्द्रपद है, उससे भी गुरुतर इस आत्मज्ञान को इन्द्र ने भी एक सौ एक वर्ष तक किये हुए परिश्रम से बड़े यत्नपूर्वक प्राप्त किया था। अतः इससे बढकर और कोई पुरुषार्थ नहीं है, इस प्रकार श्रुति में आत्मज्ञान की स्तुति और उसका महत्त्व बोधन किया गया है। इससे यह आता है कि कोई कितना भी ऐश्वर्यवान् क्यों न हो, उसे सच्ची शक्ति ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान के बिना नहीं प्राप्त हो सकती। संसार की अन्यान्य सामग्रियाँ साधन का काम दे सकती हैं, यदि बुद्धिमत्तापूर्वक उनका सदुपयोग बन सके तो। पर साध्य तो आत्मज्ञान ही है, शिष्ट जन ऐसा कहते हैं ॥ १-३ ॥

द्वादश खण्ड

यह कहा गया है कि विश्व और तैजस कार्यकारण शरीरों से घिरे हुए हैं। इसका भी व्याख्यान किया गया है कि प्राज्ञ कारणमात्र से बँधा हुआ है। इस समय शरीर सहित तुरीय के उपदेश के लिए "सशरीर ही विशेष ज्ञानवाला होता है, अशरीर को ज्ञान का अभाव रहता है, इस कारण से तुमको विनाश का भ्रम हो गया है, किन्तु वह नष्ट नहीं होता" इस अभिप्राय को लेकर शरीर की निन्दा करते हैं, यथा—

मघवन्मर्त्यं वा इद्ꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ १ ॥

भावार्थ—हे इन्द्र! यह शरीर मरनेवाला है, यह मृत्यु से ग्रस्त हुआ सा, मानो पकड़ा हुआ है। यह इस अमर, शरीररहित आत्मा का अधिष्ठान, रहने की जगह है। जब तक यह शरीर है, यानी शरीर के साथ एक हो रहा है, शरीर में आत्माभिमान रखता है, यह प्रिय और अप्रिय से, हर्ष शोक से ग्रसा हुआ है। जब तक यह सशरीर है तब तक इसके प्रियाप्रिय का नाश नहीं हो सकता। परजब यह अशरीर होता है यानी शरीर से अपने आपको अलग समझता है तो इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते ॥ १ ॥

अब उक्त भाव को यहाँ दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं, यथा—

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

भावार्थ—वायु अशरीर है, मेघ, बिजली तथा गर्जन ये सब शरीररहित, बिना हाथ पाँवों आदि के हैं। ये जैसे उस आकाश से उठकर सूर्य की परम ज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, याने स्व कारण को प्राप्त हो निज निज रूप से अपने कारण में स्थित होते हैं— ॥ २ ॥

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥ ३ ॥

भावार्थ—उसी प्रकार यह सम्प्रसाद (निर्मल हुआ आत्मा) इस शरीर से उठकर परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह इस अवस्था में उत्तम पुरुष है। इस अवस्था में वह हँसता, क्रीडा करता और स्त्री, यान अथवा इष्ट मित्रों के साथ रमण करता, अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है। जैसे गाड़ी में घोड़ा या बैल जुता रहता है, वैसे ही वह यह प्राण = प्रज्ञात्मा इस शरीर में जुडा हुआ है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिसमें यह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है, आकाश (आँख के छिद्र) में जो नेत्र जडा हुआ है, वहाँ जो पुरुष है वह चाक्षुष नेत्र का पुरुष है; उसके रूपग्रहण के लिए नेत्रेन्द्रिय है। जो यह जानता है याने अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है; उसके गन्धग्रहण के लिए नासिका है याने साधन है। और जो ऐसा जानता है कि मैं शब्द बोलूँ, वही आत्मा है, उसके शब्दोच्चारण के लिए वागिन्द्रिय है। तथा जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह भी आत्मा है, श्रोत्रेन्द्रिय उसके सुनने का साधन है ॥ ४ ॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो 'इसका मनन करूँ' यह जानता है, वह आत्मा है, मन उसकी दिव्य दृष्टि है। वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है, आनन्द भोगता है॥ ५॥

किन भोगों को देखता है, इस पर श्रुति उनका विशेषण बतलाती है, यथा—

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाᳬ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाᳬश्च लोकानाप्नोति सर्वाᳬश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

भावार्थ—जो ये भोग इस ब्रह्मलोक में हैं, उन्हें देखते हुए एवं रमण करते हुए उस आत्मा की देवता लोग उपासना करते हैं। इसी कारण सारे लोक तथा सारी कामनाएँ, भोग उन के वश में हैं। जो उस आत्मा को शास्त्र तथा आचार्य के उपदेशानुसार जानकर साक्षात् रूप से अनुभव करता है, वह सारे लोकों और सारी कामनाओं को प्राप्त होता है। ऐसा प्रजापति ने कहा—प्रजापति ने कहा॥६॥

वि० वि० भाष्य—हे इन्द्र! यह स्थूल शरीर विनश्वर होने से मृत्यु से ग्रस्त है तथा सुख दुःखादिकों से व्याप्त हो रहा है। सूक्ष्म शरीर में भी विनश्वरता, जड़ता एवं सुख दुःख समान हैं, तथा कारणशरीररूप अज्ञान भी सर्व दुःखों का बीज एवं विनश्वरता तथा सुख दुःखादि अनेक धर्मों से युक्त है। चिद्रूप आत्मा में तो विनश्वरता तथा सुख दुःखादि अनात्मधर्मों का सम्बन्ध किंचित् भी नहीं है। जैसे हस्तपादादि युक्त शरीर से रहित वायु, मेघ, विद्युत् आदि प्राणियों के कर्मानुसार अकस्मात् प्रकट होकर वृष्टि आदि कार्यों को करते हैं, वे वृष्टि आदि कार्यों को करके सुख दुःख से रहित हुए ही अपने स्व स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वैसे ही यह जीव शरीरों के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त हुआ किसी दयालु गुरु के उपदेश को ग्रहण कर उन शरीरों में अध्यास के त्याग से अपने स्व प्रकाश ब्रह्मरूप को प्राप्त होता है। उस ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न हुए पुरुष को उत्तम पुरुष कहते हैं। ऐसा उत्तम पुरुष जीवन्मुक्त, प्रारब्ध कर्मानुसार अनेक प्रकार के विषयों को भोगता हुआ तथा अपने स्त्री, सम्बन्धी आदिकों के साथ रमण करता हुआ तथा रथादिकों पर आरूढ होता हुआ इन सबों के समीप वर्तमान अपने शरीर का स्मरण नहीं करता है। जैसे सारथि के उपराम हुए भी शिक्षित अश्व रथ को अपने गन्तव्य स्थल में

पहुँचा देते हैं, वैसे ही इस जीवन्मुक्त उत्तम पुरुष के उपराम हुए भी कर्म प्रारब्ध के अनुसार इस देह की प्राण रक्षा करते हैं।

प्रजापति ने जिस आत्मा का उपदेश किया था वह आत्मा ही रूपादिकों के ज्ञान के लिए नेत्रगोलक के कृष्ण ताराग्र में स्थित हुआ चक्षु इस नाम से कहा जाता है। उस आत्मा का जब गन्ध ग्रहण का संकल्प होता है तब आत्मा ही घ्राण नाम-वाला कहा जाता है। जब शब्द के उच्चारण का संकल्प वह करता है तब वाक् इस नाम से अभिहित होता है। जब शब्द के श्रवण करने का सङ्कल्प करता है तब उस का श्रोत्र नाम हो जाता है। यह आत्मा ही जब मनन का सङ्कल्प करता है तब दैवचक्षु नामक मन नाम से कहा जाता है। दैवचक्षु मन से व्यवहित तथा भूत भविष्यत् पदार्थों का ज्ञाता होता है, और मुक्त पुरुष भी इस दैवचक्षु मन के संकल्प मात्र से ब्रह्म में स्थित नाना प्रकार के भोगों को प्राप्त होता है।

ऐसे आत्मा के उपदेश को सुनकर आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ इन्द्र सर्व भोग्य पदार्थों को प्राप्त हो गया, और सब देवताओं को भी इस का उस ने उपदेश किया। इन्द्र की तरह जो कोई आज कल का मनुष्य अजर, अमर, अभय ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानता है, वह मनुष्य सब पदार्थों को तथा सब लोकों को प्राप्त होता है, यह प्रजापति ने कहा ॥ १-६ ॥

विशेष—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा को सशरीर दिखलाकर अब यहाँ अपने स्वरूप में आत्मा को दिखलाया है। प्रसंग से यह भी दिखलाया है कि सुख दुःख और विनाश आदि के सारे भय सशरीरता में हैं, अशरीर आत्मा इन से ऊपर है।

यहाँ दोनों 'परं ज्योतिः' शब्दों के द्वारा एक से सूर्य का ताप और दूसरे से परब्रह्म ये दोनों अभिप्रेत हैं। वायु जब चल नहीं रहा है तो वह आकाश में उस के साथ इस तरह एक हो रहा है, जैसे शरीर में शरीर के साथ आत्मा। इसी प्रकार बादल, बिजली और गर्जन भी आकाश में लीन हो रहे हैं। सूर्य की गरमी पाकर वायु अपने असली रूप को धारण कर बहने लगता है, बादल प्रकट होते हैं, बिजली चमकती है और गर्जना प्रकट होती है। इसी प्रकार यह आत्मा जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर में छिपा हुआ है, वह परब्रह्म को पाकर अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होता है। मन को यहाँ दिव्यदृष्टि या दैवचक्षु कहा गया है। इस का अभिप्राय यह है कि इस से आत्मा केवल वर्तमान स्थूल और व्यवधानरहित को

ही नहीं देखता, किन्तु भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, दूर स्थित और ओट में स्थित को भी देख लेता है। जिस प्रकार रथ का चलानेवाला घोड़ा रथ से अलग है, इसी प्रकार इस शरीर का चलानेवाला प्रज्ञात्मा इस से भिन्न है ॥ १-६ ॥

त्रयोदश खण्ड
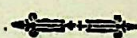
उक्त दहर विद्या के शेषरूप जपादि विधान के लिए मन्त्रों को कहते हैं, यथा—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति ॥ १ ॥

भावार्थ—मैं हार्द ब्रह्म से विराट् ब्रह्म को प्राप्त होता हूँ, और विराट् ब्रह्म से हृदयस्थ ब्रह्म को प्राप्त होता हूँ। जैसे घोड़ा अपने रोमों को कँपाकर निर्मल हो जाता है और जैसे राहु के मुख से मुक्त होकर चन्द्रमा निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार मैं पापों से पृथक् होकर कृतार्थ हुआ शरीर को त्याग कर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ, हाँ प्राप्त होता हूँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—अब पूर्व कही हुई दहर विद्या के अङ्गभूत मन्त्रों के अर्थ को कहते हैं—उपासक कहता है, मैं हार्द ब्रह्म के ध्यान से ब्रह्मस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होता हूँ, केवल नाम रूप उपाधि से परिछिन्न सूक्ष्म रूप हार्द ब्रह्म को मैं प्राप्त हुआ था। वास्तव में मैं ब्रह्म हूँ, इस कारण अपने वास्तविक रूप को ही प्राप्त होता हूँ। जैसे अश्व अपने रोमों को कम्पायमान करने से धूलिरहित होता है और जैसे चन्द्रमा राहु से मुक्त हुआ आकाशरूप स्वच्छ होता है, वैसे ही उपासक हार्द ब्रह्म के ज्ञान से सब कर्मों को दूर करता हुआ अपने प्रकाशरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विशेष— पर' और 'अपर' ब्रह्म को 'श्याम' और 'शबल' नाम से वर्णन किया है। श्याम = काला वर्ण, और शबल = चितकबरा। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप मन वाणी से परे है, वह अज्ञेय है, उस पर अँधेरा सा छाया हुआ है, इस लिए वह

श्याम है। और शबल के धर्म सापेक्ष हैं, बाहर के पदार्थों की अपेक्षा से हैं, इस लिए उस का यह स्वरूप दोरंगा कहा है ॥ १ ॥

चतुर्दश खण्ड

'आकाशो वै' इत्यादि श्रुति उत्तम प्रकार से ध्यान करने के निमित्त ब्रह्म का लक्षण निर्देश करने के लिए है, यथा—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दुमाऽभिगां लिन्दुमाऽभिगाम् ॥ १ ॥

भावार्थ—आकाश नाम से प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करनेवाला है। वे नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं, मध्य में हैं वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है। मैं प्रजापति के सभागृह को, उस सम्पूर्ण प्रजा के स्वामी सर्वपालक ब्रह्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। मैं यशःसंज्ञक आत्मा हूँ, मैं ब्राह्मणों के यश, क्षत्रियों के यश और वैश्यों के यश (यशःस्वरूप आत्मा) को प्राप्त होना चाहता हूँ। अर्थात् मैं यशस्वी होऊँ तथा ब्राह्मणों क्षत्रियों एवं वैश्यों के मध्य में यश को प्राप्त होऊँ। मैं यशों का यश हूँ। मैं उस श्वेत को जो बिना दाँत भी खानेवाला है, रोहितवर्ण, पिच्छिल मातृचिन्ह है उसको प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ ॥ १ ॥

वि० वि० भाष्य—पहले निरूपण किया हुआ जो दहराकाश है वह आकाश ही बाह्यभूत आकाश की तरह व्यापक है. उस दहराकाश में नाम रूप वर्तमान हैं। वह दहराकाश ही अमृत ब्रह्मरूप है, वह दहराकाश ही आत्मरूप है। अब उपासक प्रार्थना करता है, यथा—मैं उपासक प्रजापति के सभामन्दिर,

में प्राप्त होऊँ, मैं ही ब्राह्मणों का तथा राजाओं एवं वैश्यों का आत्मा हूँ और ब्राह्मणादिकों की इन्द्रियों का साक्षी हूँ। मैं उस साक्षी स्वस्वरूप को प्राप्त होना चाहता हूँ। हे परमात्मन्! मैं गर्भ के क्लेश को प्राप्त न होऊँ। विषयों के दाँत नहीं होते पर वे मनुष्य के तेज, बल, यश आदि को खा जाते हैं इसलिए उन्हें 'अदत्क' कहा है ॥१॥

विशेष—यहाँ ब्रह्म को आकाश कहा है, क्योंकि वह आकाश की तरह अशरीर है, और परम सूक्ष्म है। इस खण्ड के मन्त्र के अन्त में "श्वेतमदत्कमदत्कम्" इत्यादि जो पाठ आया है, उसके प्रत्येक शब्दों का प्रचलित अर्थ लिखना कठिन है। यदि ऐसा है तो फिर वेद में ये शब्द क्यों कहे गये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वेद स्वतन्त्र हैं, हम उनके निग्रहावग्रह में असमर्थ हैं। श्री कृष्ण ने गोवर्द्धनोत्तोलन कर लिया था, हम तो उसके एक शिलाखण्डांश को भी नहीं हिला सकते। यहाँ श्री शङ्कराचार्य के भाष्य का अनुसरण कर भावार्थ लिखा गया है, जिसे पाठक सरलता से समझ लेंगे ॥ १ ॥

——❀❀❀——
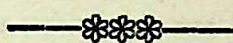
पञ्चदश खण्ड

मनुष्य उक्त आत्मा की उपेक्षा न करें, इस लिए अनादि परंपरा दिखाते हैं, साथ ही नियम और फल का भी वर्णन करते हैं, यथा—

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिꣳसन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

भावार्थ—इस आत्मज्ञान का ब्रह्मा ने प्रजापति के प्रति कथन किया,

प्रजापति ने मनु को, मनु ने प्रजावर्ग को उपदेश किया। इस प्रकार सम्प्रदाय की परंपरा से आया हुआ यह उपनिषद्विज्ञान अब तक सुरक्षित है। जिज्ञासु नियमानुसार आचार्यकुल में जाकर गुरु के कर्तव्यों को समाप्त करता हुआ बाकी बचे हुए समय में यथाविधि वेद का अध्ययन करे। अनन्तर समावर्तन होने के बाद कुटुम्ब में स्थित होकर शुद्ध देश में स्वाध्याय करता हुआ और पुत्र तथा शिष्यों को धार्मिक बनाता हुआ, अपनी समस्त इन्द्रियों को आत्मा (हार्द ब्रह्म) में लीन करके, सिवाय तीर्थों के, अन्यत्र किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। वह जो आयु भर ऐसा करता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर नहीं लौटता, उस की पुनरावृत्ति नहीं होती है॥ १॥

वि० वि० भाष्य—पूर्व में कहा गया जो साधना सहित आत्मज्ञान है उसे ब्रह्मा ने प्रजापति विराट् को कहा, विराट् ने अपने पुत्र मनु को कहा और उन्होंने त्रैवर्णिक पुरुषों के प्रति उपदेश किया। मनु ने कहा—हे द्विजाति के लोगो! ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जब तक तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध न हो तब तक चार आश्रमों में से किसी एक आश्रम को ग्रहण करके शुभ कर्मों को करो। कर्मों से शुद्धान्तःकरण होकर ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त होओगे। इस उपनिषद् की समाप्ति में कर्मी पुरुषों के सन्तोष के लिए ऐसा कहा है।

जो मनुष्य सर्वदा गुरु की सेवा में तत्पर रहते हुए सेवा से शेष रहे काल में गुरु से वेद का अध्ययन करके गुरुकुल से आकर स्त्री-ग्रहणपूर्वक गृहस्थाश्रम को प्राप्त हो, तथा पवित्र देश में स्थित होकर वेदों को पढता है, और अपनी सब इन्द्रियों को निषिद्ध विषयों से निवृत्त करता है। ऐसा मनुष्य हिंसा से रहित हुआ, एवं जन्म भर शुभ कर्म करता हुआ शरीर को त्याग कर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। ऐसा पुरुष इस संसार में पुनः आवृत्ति को प्राप्त नहीं होता। उपनिषद् की समाप्ति के बोधन करने के लिए 'न च पुनरावर्तते' यह पाठ दो बार पढा गया है॥ १॥

विशेष—यहाँ प्रजापति से कश्यप का ग्रहण किया गया है, इन्हीं को किसी ने विराट् भी कहा है, इन का पुत्र मनु था। इस मन्त्र में यह वाक्य विचारने योग्य है—"अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः" अर्थात् सिवाय तीर्थों के, किसी भी प्राणी को पीड़ा न दे। इस का अभिप्राय यह है कि भिक्षा के निमित्त घूमने आदि से भी प्राणियों को पीड़ा हो सकती है, इसलिए कहा है कि तीर्थों के अतिरिक्त।

तीर्थ अर्थात् जिस विषय में शास्त्र अनुज्ञा देता है उस के सिवा, हिंसा के कार्य न करे। कुछ अन्य विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं कि तीर्थों के सिवा और सब जगह अहिंसा का ही विधान है।

इस प्रकार अनुष्ठान के कर्ता का फल कहते हैं—'न च पुनरावर्तते शरीर-ग्रहणाय' वह फिर शरीर ग्रहण करने के लिए नहीं लौटता, क्योंकि पुनरावृत्ति की प्राप्ति का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु अर्चिःआदि मार्ग से कार्यब्रह्म के लोक को प्राप्त होकर जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति रहती है, तब तक वहीं रहता है, उस का नाश होने पर भी वह वहाँ से नहीं लौटता। अर्थात् शरीर ग्रहण करने के लिए फिर वापिस नहीं आता। चन्द्रलोक से जैसे पुनरावृत्ति होती है उस की तरह ब्रह्मलोक से भी प्राप्त हुई जो पुनरावृत्ति है, उस का यह निषेध है। कोई यह समझने की भूल न करे कि जब तक ब्रह्मलोक बना है तब तक तो मुक्तात्मा वहाँ रहता है, पर जब ब्रह्मलोक नष्ट हो जाता है तब तो मुक्त व्यक्ति यहाँ लौट ही आयेगा। यह कोई बात नहीं है, उस लोक के नष्ट होने से वह ब्रह्म में लीन हो जाता है, दूसरे किसी लोक में नहीं जाता। क्योंकि ब्रह्मलोक के नाश होने के बाद तो कोई और लोक ही नहीं रह जाता। अतः वह उस से भी ऊँचे पद पर चला जाता है, याने ब्रह्मलीन हो जाता है, नीचे याने यहाँ इस लोक में मुक्तात्मा का आगमन नहीं होता। वह ब्रह्मसायुज्य को पहुँच जाता है॥ १॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

पञ्चदश खण्ड और अष्टम अध्याय समाप्त।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

श्रीमत् प० प० ब्र० नि० गीताव्यास महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी विद्यानन्दजी महाराज विरचित छान्दोग्योपनिषद् पर विद्याविनोद भाष्य समाप्त।

इति श्री छान्दोग्योपनिषत् संपूर्णा

गीताधर्मसंबन्धी यत्किंचित्

हिंदी गुजराती का सचित्र

धार्मिक मासिक पत्र

वार्षिकमूल्य—देश में रु० ६-४-० विदेश में ८-१२-०या शि० १३॥

गीताधर्म पत्र १९४९ में अपने चौदहवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इसने अपने गत तेरह वर्षों के जीवन में देश धर्म की जो सेवा की है वह किसी प्रभुप्रेमी सज्जन से छिपी नहीं है। आनन्दकन्द श्री कृष्ण परमात्मा की प्रेरणा से परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ लोकसंग्रही गीताव्यास श्री १०८ जगद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज ने इस पत्र को संस्थापित कर और अपनी ओर से पाल पोसकर चौदह वर्ष का वयस्क बना दिया है। यद्यपि अवस्था में यह छोटा जँचेगा पर इसके गुण, स्वभाव और स्वरूप ऐसे है कि यदि इसके ऊपर सभी धार्मिक जन अपना तन मन धन तक न्योछावर कर दें तो भी थोडा है।

यह ठीक है कि आप महानुभावों ने गीताधर्म के लिए बहुत कुछ किया है और आगे भी करते रहेंगे। फिर भी भगवान् के मूल आदेश और स्वामीजी महाराज के समस्त उद्देश्य को सफल करने के लिए आप से हमारी प्रार्थना है कि जिस प्रकार आप स्वयं गीताधर्म के ग्राहक बने हैं, उसी प्रकार अपने दो दो मित्रों को भी इस के ग्राहक अवश्य बना दें। इस कार्य में सहायता करने से आप प्रभु की कृपा तथा स्वामीजी के आशीर्वाद के साथ ही साथ अमर कीर्ति के भागी बनेंगे। आशा है इस प्रार्थना पर ध्यान देकर आप तन मन धन से गीताधर्म की सहायता अवश्य करेंगे।

प्रार्थी—गीताधर्मकार्यालय, काशी

अध्यात्मरामायण (विशेषाङ्क)

गीताधर्म के नौवें दसवें बारहवें वर्षों के विशेषाङ्करूप में यह ग्रन्थ तीन खण्डों में पूरा प्रकाशित हो चुका है।

जीव, जगत्, माया, अविद्या, ईश्वर, ब्रह्म, सृष्टिप्रक्रिया, चित्जडग्रन्थि, भक्ति, ज्ञान, क्रियायोग, इन सभी विषयों को इस ग्रन्थ में श्री रामकथा के सहारे सरलता से समझाया गया है। सुप्रसिद्ध 'गीतागौरव भाष्य' की शैली पर प्रासंगिक दृष्टान्त और उपदेशों के साथ सरल व्याख्या है। तीनों भागों की द्वितीय आवृत्ति भी हो चुकी है। अब प्रथम द्वितीय भाग तीसरी बार छपने जा रहा रहे हैं।

गीता के प्रमेयविषय इस में विस्तारपूर्वक समझाये गये हैं, वेदान्त के गहन विषयों का स्पष्टीकरण बहुत ही सरल हुआ है।

पक्की जिल्द, रंगीन सादे डेढ सौ चित्र, प्रायः पाँच सौ से उपरांत पृष्ठ समेत, प्रत्येक भाग का मूल्य (डाक खर्च सहित) ... ५) पांच रु० ।

गीतागौरवांकों की सूचना

यह तो सभी गीताप्रेमी जानते हैं कि समग्र गीता की हृदयग्राही व्याख्या-रूप गीतागौरव भाष्य गीतार्थजिज्ञासुओं के लिए निराला अद्वितीय ग्रन्थ है। इस की माँग देश भर में इतनी अधिक है कि इस की अनेक आवृत्तियाँ छपते रहते पर भी पाँचों भागों में से कोई न कोई अङ्क समाप्त ही रहता है। कागज की दुर्लभता से समय पर रिक्त अङ्क की छपाई भी शीघ्र नहीं हो पाती।

इस के लिए पाठकों से अनुरोध किया जाता है कि वे गीतागौरव पाँचों भागों के पूरे सेट की राह न देखकर जो भाग अभी मिलते हों उन्हें मगा लें, शेष फिर छपने पर मगाने चाहिएँ। क्योंकि जब तक अन्य दूसरे भाग छपते हैं तब तक वर्तमान भाग समाप्त होने लगते हैं। अतः सब भाग पूरे होने की राह न देखकर गीतागौरवांक के जो भी भाग मिल रहे हों उन्हें शीघ्र मँगा लेना चाहिये। अन्य भाग कब छप चुके; इस की सूचना 'गीताधर्म' पत्र से ज्ञात होती रहेगी।

प्रत्येक भाग का मू०.... .... ५)

अध्यात्मरामायणांक, उपनिषदंक आदि के लिए भी ऐसा ही समझना चाहिये।

—व्यवस्थापक, गीताधर्मकार्यालय, काशी।

विद्यानन्द-ग्रन्थमाला

(गीताधर्म-ग्रन्थमाला)

का

सरस साहित्य

१ गीताप्रश्नोत्तरी या अद्भुत संवाद १)	७ श्रीमद्भगवद्गीता हिंदी टीका ॥=)
२ आदर्श और यथार्थ ।॥)	८ अरविन्द =)
३ विद्यानन्दविनोद ॥)	९ कला में कृष्ण ≡)
४ हिलोर ॥)	१० श्रीकृष्णजन्मभूमि =)
५ व्यास (वेदव्यासजी की जीवनी) ॥)	११ कुलपति मालवीय =)
६ त्रैभाषिक गीता (हिंदी-गुज० अंग्रेजी) २॥)	१२ विन्ध्यवासिनी स्तोत्र)

कलापूर्ण चित्र

दर्शनीय, पूजनीय, देवी देवताओं की छबियाँ

श्री गीतादेवी	१०×१५ (रंगीन)	मूल्य रु०	०—६—०
गायत्री मन्त्र	१०×१५ (रंगीन)	मूल्य रु०	०—६—०
अन्य देवता	१८×२३ (रंगीन)	मूल्य रु०	०—६—०
	१०×१५ ,,	,, ,,	०—२—०
	७॥×१० ,,	,, ,,	०—१—६
	७॥×१० (सादा एकरंगे)	,,	०—१—०

(चित्रों को कम से कम एक दर्जन मंगाने से डाकखर्च कम पड़ेगा और चित्र भी सुरक्षित पहुँच सकेंगे। एक रुपये से कम की वी० पी० नहीं की जाती।

पत्र व्यवहार का पता—व्यवस्थापक,

गीताधर्म कार्यालय, काशी (युक्तप्रांत)

प्रबोध

रे मन आपु कों पहिचानि।
सब जनम तैं भ्रमत खोयौ अजहुँ तौ कछु जानि।
ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै सो तौ ताके पास।
भ्रमत ही वह दौरि ढूँढ़ै जब हिं पावै बास।
भरम ही बलवन्त सब में ईस हू कें माह।
जब भगत भगवन्त चीन्है भरम मन तें जाइ।
स[illegible] ज्यों सब रंग तजि कें एक रंग मिलाइ।
'सूर' जो द्वै रंग त्यागै यहै भक्त सुभाइ॥

卐

जा दिन मनपंछी उडि जइ हैं।
ता दिन तेरे तनतरुवर के सबै पात झरि जइ हैं।
या देही कौ गरब न करिये स्यार काग गिध खइ हैं।
तानिन में तन कृमि, कै विष्ठा, कै ह्वै खाक उड़इ है।
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा कहँ रंग रूप दिखइ है।
जिन लोगन सों नेह करत है तेई देखि घिनइ हैं।
घर के कहत सवारे काढौ भूत होइ धरि खइ है।
जिन पुत्रनहिं बहुत प्रतिपाल्यौ देवी देव मनइ हैं।
तेई लै खोपरी बाँस दै सीस फोरि बिखरइ हैं।
अजहूँ मूढ करौ सत संगति संतन में कछु पइ है।
नरबपु धारि नाँहि जन हरि कौं जम की मार सो खइ है।
'सूरदास' भगवन्तभजन बिनु वृथा सु जनम गँवइ है॥